प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ

रामशरण शर्मा

93998

प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ

मूल्य रु 200 00

दूसरा परिवर्धित संस्करण 1990
प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्रा लि ,
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,
नई दिल्ली-110 002
टाइपसैटिंग जोनामा एंटरप्राइजेज,
101-ए सूर्यकिरण, कस्तूरबा गांधी मार्ग,
नई दिल्ली-110 001
मुद्रक गायत्री ऑफसेट प्रेस
ए-66, सैक्टर-2, नौएडा-201 301
कलापक्ष नरेंद्र श्रीवास्तव

PRACHIN BHARAT MEIN RAJNITIK VICHAR EVAM SANSTHAYEN

by Prof R S Sharma

ISBN-81-7178-083-0

प्रकाशकीय

समाज, संस्कृति, इतिहास, दर्शन और राजनीतिशास्त्र के प्रख्यात विद्वानों की कलम से लिखी गई पुस्तकों से हिंदी जगत को समृद्ध करने और एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए **राजकमल** ने जो विस्तृत योजना बनाई है, यह पुस्तक उसी की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

यह एक तथ्य है कि हिंदी मे सामाजिक विज्ञान विषयक स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों तथा संदर्भग्रंथों का अभाव है। यों इस अभाव को दूर करने के प्रयास भी हुए हैं, पर बहुत आगे वे नही बढ़ पाए। लेकिन अब, जबकि प्राय सभी हिंदीभाषी राज्यो मे हिंदी को उच्च शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है, यह और जरूरी है कि हिंदी में ऐसी पुस्तके उपलब्ध कराई जाएँ। इससे हिंदी की उपयोगी भूमिका में तो व्यापकता आएगी ही, उच्चाध्ययन और शोध के क्षेत्र मे आनेवाली व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी दूर होंगी।

उल्लेखनीय है कि इस योजना के अंतर्गत प्रकाशित की जा रही प्राय सभी पुस्तकें अनूदित हैं, लेकिन ये अनुवाद मूल कृति के विषय और संबंधित भाषाओ पर गहरी पकड रखनेवाले विद्वान लेखको द्वारा ही किए गए हैं। इसलिए विषयगत गंभीरता के बावजूद प्रत्येक अनुवाद सहज ग्राह्य है और प्रेरक भी, क्योंकि स्तरीय पुस्तको के अच्छे अनुवाद संबद्ध विषय में अक्सर ही मूल लेखन की जमीन तैयार करते हैं।

राजकमल की यह प्रकाशन-योजना भारतीय इतिहास के विविध कालखंडों और पक्षो से जुडी पुस्तको से आरंभ हुई है। योजना के पहले चरण मे प्रो राधाकुमुद मुखर्जी, प्रो. दामोदर धर्मानंद कोसंबी, प्रो. रोमिला थापर, प्रो. रामशरण शर्मा सरीखे इतिहासकारो के इतिहास-ग्रंथ और प्रो इरफान हबीब द्वारा संपादित वार्षिकी *मध्यकालीन भारत* के तीन अंक एक साथ प्रकाशित किए जा रहे हैं। इनमे कुछ ग्रंथ एकदम नए हैं, और जो नए नही हैं उन्हे भी पूर्णतया संशोधित-परिवर्धित किया गया है।

प्रो. शर्मा ने अपनी इस पुस्तक मे प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओ-संस्थाओ के साम्राज्यवादी और राष्ट्रवादी स्वरूप का सर्वेक्षण किया है। उनका मानना है कि इस काल में जिन राजनीतिक विचारो का जन्म हुआ उनके पीछे जाति, वर्ण, धर्म और अर्थव्यवस्था की भूमिका को समझे बिना इन विचारो की तह तक पहुँचना संभव नही है। इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व इन मुद्दों पर व्यापक रूप से विचार नही किया गया था।

प्रस्तावना

इस पुस्तक का दूसरा हिंदी संस्करण कई वर्षों के बाद निकल रहा है। अतएव इसमें कई ऐसे अध्याय जोड़े गए हैं जिन पर हाल में शोध हुआ है या चल रहा है। उदाहरणार्थ प्राचीन भारत में राज्य निर्माण के चरण और प्रक्रिया संबंधी अनेक पक्ष उजागर किए गए हैं। राजनीतिक संस्थाओं और विचारों का आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों से क्या संबंध है—इस प्रश्न पर अधिकांश लेखकों का ध्यान नहीं गया है—इस पुस्तक में इसे दर्शाने का प्रयास किया गया है। वैदिक काल में राजतंत्र का क्या रूप था, और फिर वह उत्तर वैदिककाल, प्राङमौर्यकाल, मौर्यकाल, सातवाहन-कुषाणकाल तथा गुप्तकाल में कैसे बदलता गया, इस पर भी प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में यह दिखलाने की भी चेष्टा की गई है कि वर्ण-व्यवस्था का राजतंत्र के विभिन्न अंगों पर, विशेषतः इसकी विधि-व्यवस्था पर, कैसा प्रभाव पड़ा था। साथ ही, अंधविश्वास को बढ़ावा देकर कैसे कर वसूला जाता था और राजशक्ति को मजबूत किया जाता था, यह भी बतलाया गया है।

इस संस्करण के तैयार करने में मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय के डा. कृष्णदत्त शर्मा तथा पटना विश्वविद्यालय के प्रोफेसर राजेश्वर प्रसाद सिंह से बड़ी सहायता मिली है। श्री मोहन गुप्त ने प्रेस कॉपी तैयार की है। मैं इन सभी सज्जनों का आभारी हूँ।

वेस्ट बोरिंग कैनाल रोड,
पटना
1 दिसंबर, 1989

रामशरण शर्मा

द्वितीय संस्करण का आमुख

पुस्तक के प्रथम सस्करण की समीक्षा और आलोचना का प्रस्तुत संस्करण में ध्यान रखा गया है। प्रथम सस्करण के जो अध्याय रखे गए हैं उनमें छोटे-मोटे परिवर्तन-परिवर्धन के अलावा कुछ बडे परिवर्तन भी किए गए हैं। चूँकि पूर्वमौर्यकालीन भूराजस्व प्रणाली और सामंतवाद के उदय विषयक अध्यायों में बहुत सी सामग्री ऐसी है जिसका सबध पूर्वकालीन अर्थव्यवस्था से है, इसलिए वे अध्याय निकाल दिए गए हैं। स्रोत और पद्धति, सभा और समिति, सातवाहन राज्यव्यवस्था, गुप्तकालीन राज्यव्यवस्था और प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था के विभिन्न चरण नामक नए अध्याय जोड दिए गए हैं। उतना ही परिवर्धन किया गया है जितना नए सर्वेक्षण या अन्वेषण पर आधारित है।

मैं डाक्टर श्रीमती सुवीरा जायसवाल, श्री जगन्नाथ मिश्र, डा सीताराम राय और श्री पी सी राय की सहायता का आभारी हूँ। डा. द्विजेंद्र नारायण झा ने प्रूफ सशोधन और अनुक्रमणिका तैयार करके मेरी सहायता की, अत: वे मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

इतिहास विभाग,
पटना विश्वविद्यालय
मई, 1968 ई.

रामशरण शर्मा

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

1951 ई. में जब पटना विश्वविद्यालय में इतिहास के एम. ए. के पाठ्यक्रम में एक विशेष पत्र के रूप में प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधारा और प्रशासन (पालिटिकल थाट ऐंड ऐडमिनिस्ट्रेशन इन एंशिएंट इंडिया) की पढ़ाई आरंभ की गई तब मैंने छात्रों को व्याख्यान देने के लिए इस विषय का अधिक सावधानी से अध्ययन शुरू किया। इस अध्ययन के दौरान मैंने पाया कि इस विषय पर दो दर्जन शोधप्रबंधों के लिखे जाने के बावजूद नई दिशाओं में खोज की काफी गुंजाइश रहती है। इस पुस्तक में उसी खोज के परिणाम अंकित हैं, और इनका उद्देश्य केवल उन्हीं संस्थाओं पर प्रकाश डालना है जिन्हें या तो न्यूनाधिक दुरूह माना गया है या जिन पर नए सिरे से विचार करना आवश्यक था। इस पुस्तक का लगभग आधा हिस्सा लेखों के रूप में प्रकाशित हो चुका है। लेकिन पुस्तक में शामिल करने के लिए उन्हें संशोधित और संपादित करके (रूपाकार और सार दोनों दृष्टियों से) उनमें नई सामग्री जोड़ दी गई है। विशुद्ध राजनीतिक चिंतनवाले अध्याय शुरू में रखे गए हैं तथा बाकी अध्यायों को कालानुक्रम के मुताबिक रखा गया है। सामंतवाद के उद्भव पर विचार करने के क्रम में उसके आर्थिक पहलुओं की भी चर्चा की गई है यद्यपि पुस्तक के प्रतिपाद्य से उनकी विशेष संगति नहीं है। पुस्तक जैसी बन पड़ी है, उसको देखते हुए यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह इस विषय का सुसंगत अध्ययन प्रस्तुत करती है, फिर भी यह ऐसे सूत्रों और मान्यताओं से रहित भी नहीं है जो इसे एक संयोजित रूप प्रदान करते हों।

1955-57 ई. में पुस्तक की आधी से अधिक सामग्री का अवलोकन करके प्रोफेसर ए. एल. बैशम के इसके प्रणयन में मुझे बहुमूल्य सहायता और मार्गदर्शन प्रदान किया है। डा. योगेंद्र मिश्र ने पुस्तक की प्रेस कापी तैयार करने में मुझे अनेक चूकों और त्रुटियों से बचाया है। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। श्री सुरेंद्र गोपाल, श्री चंद्रशेखर प्रसाद सिंह, डा. उपेंद्र ठाकुर तथा अन्य अनेक मित्रों और छात्रों ने विभिन्न प्रकार से जो मेरी सहायता की है उसके लिए वे सब मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। प्रूफ संशोधन में सहायता देने के लिए श्रीमती सुवीरा जायसवाल तथा अनुक्रमणिका तैयार करने में मदद देने के लिए डा. देवराज चानना का मैं कृतज्ञ हूँ। और अंत में मैं अपनी पत्नी श्रीमती मलिना शर्मा को धन्यवाद दूंगा, जिन्होंने प्रसन्नतापूर्वक घर-गृहस्थी का झंझट झेलकर मुझे अपना समय प्रस्तुत अध्ययन में लगाने की सुविधा प्रदान की।

—रामशरण शर्मा

भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि।
कारणाद्देशकालस्य देशकाल स तादृश ।।

शांतिपर्व, 79/31

देशकाल का ऐसा प्रभाव होता है कि एक ही काम एक समय में धर्म हो सकता है और वही समय बदलने पर अधर्म भी बन सकता है।

अनुक्रम

1. प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था पर इतिहासलेखन

1930 ई. तक

पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने भी भारत के अतीत के अध्ययन का प्रथम गंभीर प्रयास 1857-59 ई. के विद्रोह के बाद ही आरंभ किया।[1] सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट की भूमिकाओं के अवलोकन से प्रकट होता है कि वर्षों तक चलनेवाले इस महान कार्य के पीछे कौन-सी प्रेरणा काम कर रही थी। ब्रिटिश शासकों ने महसूस किया कि यह विद्रोह भारतीय धर्म, रीति-रिवाजों और इतिहास से उनकी अनभिज्ञता के कारण हुआ। उन्हें यह भी लगा कि जब तक मिशनरियों को भारतीय सामाजिक ढाँचे की कमजोरियों का पता नहीं चलेगा तब तक यहाँ के लोगों के मन में ईसाई धर्म के प्रति और उसके माध्यम से साम्राज्य के प्रति श्रद्धा नहीं जगाई जा सकती। मैक्समूलर के अनुसार ईसाई धर्मप्रचारकों के लिए भारतीय धर्मग्रंथों का सही ज्ञान प्राप्त करना उतना ही अनिवार्य था जितना किसी सेनापति के लिए शत्रु देश की जानकारी हासिल करना होता है।[2] भारत के प्राचीन इतिहास के अध्ययन से पाश्चात्य विद्वानों ने दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले, जिनका सारांश मैक्समूलर के शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है। 1859 ई. में उसने लिखा कि भारत दार्शनिकों का देश है और भारतीय मनीषियों में राजनीतिक या भौतिक चिंतन का अभाव है तथा भारतीयों में कभी भी राष्ट्रीयता की भावना नहीं रही।[3] हमें यह तो नहीं मालूम है कि मैक्समूलर के इस विचार के पीछे अरस्तू की इस प्रसिद्ध उक्ति की प्रेरणा थी या नहीं कि प्राच्य शासन का स्वरूप स्वेच्छाचारी है; लेकिन इसमें संदेह नहीं कि उनका यही विचार अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के यूरोप के बड़े-बड़े इतिहासकारों की रचनाओं का मुख्य आधार बना रहा। उदाहरण के लिए गिब्बन ने लिखा कि 'पूरा प्राच्य इतिहास पराक्रम, महानता, अपकर्ष और पतन का अविच्छिन्न अभिलेख है।' मिल ने कहा : 'पूर्वी दुनिया के साम्राज्य मुख्यतः कर वसूल करनेवाली संस्थाएं हैं। ये अपनी प्रजा पर प्रचंडतम बल प्रयोग करते हैं, '(और) समय-समय पर जारी किए गए विशेष

आदेशो के सिवा किसी प्रकार का कानून लागू नही करते।[4] लब्धप्रतिष्ठ प्राच्यविदो की रचनाओ मे भी ऐसे ही विचार बराबर व्यक्त होते रहे। सेनर्ट ने 1898 ई मे लिखते हुए कहा कि भारत मे राज्य या स्वदेश का भाव कभी जगा ही नही[5] और किसी राजनीतिक संविधान का विकास तो वह वैचारिक धरातल पर भी नही कर पाया।[6]

भारत के अतीत के इतिहास और उसकी राज्यव्यवस्था के बारे में यह दृष्टि स्पष्टत साम्राज्यवादी विचारधारा का परिणाम थी। उस समय की राजनीतिक परिस्थिति के सदर्भ मे इस विचारधारा के फलितार्थ भारत में स्वशासन की माग के लिए बडे खतरनाक थे। इस विचारधारा का अर्थ अतत· यही था कि यदि भारतवासी तत्वत आध्यात्मिक समस्याओ मे खोए रहनेवाले दार्शनिक हैं तो उनके भौतिक मामलो का सबध उनके साम्राज्यवादी प्रभुओ के हाथों मे रहना ही चाहिए। यदि भारतवासी स्वेच्छाचारी शासन के अभ्यस्त हैं और उन्हे कभी भी राष्ट्र, राज्य या स्वशासन का बोध नही रहा तो यह उनकी परपरा के अनुरूप ही है कि उन पर ब्रिटिश गवर्नर जनरल और वाइसराय का स्वेच्छाचारी शासन कायम रहे।

प्राचीन इतिहास, और खासकर प्रारंभिक भारतीय राज्यव्यवस्था, के स्वरूप के बारे मे यह साम्राज्यवादी विचारधारा भारतीय विद्वानो और इस विचारधारा के प्रभाव से मुक्त कतिपय विदेशी विद्वानो के समक्ष भी चुनौती बनकर आई। मैक्समूलर ने कहा था · 'यूनानियो के लिए जीवन उमग और वास्तविकता से परिपूर्ण है, हिंदुओ के लिए वह स्वप्न और माया है।'[7] 1889 ई. मे इसका खडन करते हुए महान अमरीकी मनीषी हॉपकिंस ने कहा कि विशाल पुरोहितेतर जनसमुदाय के जीवन पर धर्म का कोई गहरा प्रभाव नही था।[8] किंतु इस चुनौती का सबसे प्रबल उत्तर खुद भारतीय विद्वानो ने ही दिया। उन्नीसवी शताब्दी के अंतिम तीन दशको के दौरान भगवानलाल इद्रजी, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, राजेद्रलाल मित्र और बाल गगाधर तिलक ने साम्राज्यवादी विचारधारा का खोखलापन साबित करने का प्रयास किया। इनमें से अधिकाश विद्वान अपने जमाने के राजनीतिक और सामाजिक आदोलनों से सक्रिय रूप से जुडे हुए थे। अपने देश के अतीत के इतिहास के विभिन्न पहलुओ पर शोध करके इन लोगो ने अपने समय मे देश की राजनीतिक और सामाजिक प्रगति की जोरदार पैरवी की। तब से भारतीय अतीत का अध्ययन मुख्यतया राष्ट्रवादी विचारधारा से अनुप्राणित रहा। प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था पर हुए शोधकार्यों पर एक सरसरी निगाह डालने से यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है।

जिस प्रकार राष्ट्रवादी आंदोलन के विकास के कुछ समय तक नरम विचारधारा का जोर रहा और तत्पश्चात उग्रपंथ का बोलबाला हुआ, उसी प्रकार

प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था संबंधी शोध भी प्रगति के ऐसे ही दो दौरों से गुजरा। प्रारंभ में भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन की मुख्य मांग यह थी कि केंद्र और प्रांतीय सरकारों में लोकतत्व का समावेश करके स्वेच्छाचारी वाइसराय के अधिकारों को मर्यादित किया जाए। अतः 1887 ई. में रमेशचंद्र दत्त ने ब्राह्मणकालीन सभ्यता पर एक लेख लिखकर यह दिखाने का प्रयत्न किया कि प्राचीन काल में राजा सभी के प्रति न्याय करता था।[9] पूर्णेंदुनारायणसिंह ने 1894 ई. में एक लेख लिखकर सर ऑकलैंड कॅलविन के इस कथन का जोरदार खंडन किया कि 'यह बात सबसे पहले ब्रिटेनवासियों ने ही सिखाई कि शासन का उद्देश्य और प्रयोजन शासक की निजी शक्ति का विवर्धन नहीं, बल्कि जनसामान्य का कल्याण है।' प्राचीन भारतीय शासनपद्धति को सीमित राजतंत्र घोषित करते हुए उन्होंने कहा कि इस धारणा का कारण प्राचीन भारतीय शासनतंत्र से लोगों की अनभिज्ञता है।[10]

1905 ई. में बंग-भंग के बाद राष्ट्रवादी आंदोलन की जो जबरदस्त लहर उठी उसने प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था संबंधी शोधकार्य को और भी गति प्रदान की। पूर्वी दुनिया के लोगों के चरित्र के बारे में कर्जन के वक्तव्य, बंगाल को खंडित करने के लिए उसके द्वारा की गई स्वेच्छाचारपूर्ण कार्रवाइयों और कलकत्ता निगम में निर्वाचित प्रतिनिधियों पर किए गए उसके आक्षेपों से प्राचीन राज्यव्यवस्था संबंधी शोधकार्य का प्रभावित होना अनिवार्य था। 1907 ई. में लिखे अपने एक लेख में ए. सी. दास ने पूर्ववर्ती विद्वानों के इस मत को और भी जोर देकर दुहराया कि यह मानना गलत होगा कि हिंदू लोग स्वेच्छाचारी शासन के अभ्यस्त रहे हैं और इस देश में एक सुस्पष्ट शक्ति के रूप में लोकतंत्र का अस्तित्व कभी नहीं रहा। उन्होंने आगे कहा कि 'जो राजतंत्र प्राचीन भारत में फूला-फला, वह निरंकुश नहीं बल्कि सीमित राजतंत्र था।'[11] कदाचित प्रकारांतर से कलकत्ता निगम में निर्वाचित प्रतिनिधित्व के विरुद्ध कर्जन के आक्षेप का अनौचित्य बताने के लिए उसी वर्ष एक दूसरे लेख में दास ने लिखा कि 'आज ब्रिटिश शासन में हमें जैसा स्थानीय स्वशासन प्राप्त है, उससे कहीं बेहतर स्थानीय स्वशासन प्राचीन भारत में मौजूद था।'[12] चार वर्ष बाद चोल प्रशासन पर अपने एक शोधप्रबंध में प्रो. एस. के. अय्यंगार ने निर्वाचित ग्राम पंचायतों के कार्यकलाप पर प्रकाश डालते हुए दिखलाया कि किस प्रकार चोल राजाओं के अधीन पूर्व मध्यकाल में ये पंचायतें सभी कार्यों का संपादन करती थीं।[13]

राष्ट्रवादी आंदोलन के कारण प्राचीन पांडुलिपियों के अन्वेषण में तेजी आई और इसके फलस्वरूप 1905 ई. में कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' का पता लगा, जिसे शामशास्त्री ने 1909 ई. में प्रकाशित किया। इस ग्रंथ की खोज प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था के अध्ययन के इतिहास में एक युगांतरकारी घटना सिद्ध हुई, क्योंकि

इससे वह बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हुई जिसका उपयोग 'आधुनिक विवादों के सदर्भ मे राजनीतिक नजीरे देने के लिए किया जा सकता था।'[14] यह महत्त्वपूर्ण ग्रथ प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था पर अनेक विवेचनात्मक और वर्णनात्मक कृतियो की रचना में सहायक और प्रेरणादायक रहा।[15]

1905 ई से आगे का काल उग्रपथी राजनीति का काल था। मदगामी सुधारो की प्राप्ति के सवैधानिक तरीको मे उग्रपंथियों का विश्वास नही था। उन्होने बगाल और महाराष्ट्र मे क्रातिकारी सस्थाओं का जाल बिछा दिया। इस आदोलन पर हिंदू पुनरुत्थानवाद का रग चढ़ा हुआ था। इन सस्थाओ के नाम से ही अतीत सस्कृति के प्रति इनके प्रेम का भान होता है। दृष्टांतस्वरूप, 1905 ई. मे जो अनुशीलन समिति स्थापित हुई, उसका अर्थ ही सस्कृति और शिक्षा को प्रोत्साहित करनेवाली समिति है। 1907 ई तक इसकी 550 शाखाए खुल गईं। यद्यपि यह समिति क्रांतिमार्गी थी, फिर भी ऐसा सोचना शायद गलत न होगा कि इसने कुछ शोध पुस्तिकाए भी अवश्य प्रकाशित की होगी, जिनकी हमे जानकारी नही है। इन सस्थाओ ने देश को एक क्रांतिकारी मिजाज दिया और अनेक बुद्धिजीवियों के मानस को मातृभूमि की पूर्ण स्वतत्रता के लिए तैयार किया। इन्हीं सस्थाओ की मारफत 'स्वराज्य' शब्द का दूर-दूर तक प्रचार हुआ। एक वामपंथी पत्र द्वारा प्रस्तुत की गई व्याख्या के अनुसार इस शब्द का अर्थ है : 'स्व कराधान, स्व विधान और स्व प्रशासन।'[16] इन सस्थाओ से काशीप्रसाद जायसवाल का कोई सबंध था या नही, यह तो हम नही जानते, किंतु बगाल की सरकार ने उन्हे कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विभाग मे अपने पद से त्यागपत्र देने को बाध्य कर दिया था, जिससे सूचित होता है कि वह उन्हे 'राजद्रोह की प्रचारशालाओं' का एक सभाव्य भावी सहयोगी मानती थी।[17] प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था पर रची गई महानतम कृति के लिए भारत-विद्या (इडोलॉजी) स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल की ही ऋणी है। जैसा कि डी आर. भडारकर, रमेशचंद्र मजुमदार, बी. के. सरकार आदि परवर्ती विद्वानो ने स्वीकार किया, 1912 और 1915 ई. के बीच 'माडर्न रिव्यू' मे प्रकाशित उनके लेखो ने वास्तव मे शोध के नए क्षेत्रो, नई दिशाओ का उन्मेष किया। यही लेख बाद मे उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदू पालिटी' के रूप मे 1924 ई. मे प्रकाशित हुए। सर्वप्रथम उन्होने ही प्राचीन भारतीय इतिहास में गणराज्यों का महत्व दिखलाया। उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्राचीन हिंदू राजनीतिक ढाचा अंशतः एथेंस के गणतत्रों और अंशतः ब्रिटेन के ढग के सवैधानिक राजतंत्रो से बना हुआ था। इसमे पौर और जानपद जैसी जनसभाए थी, जो राज्यशक्ति पर अकुश रखती थी। उनके अनुसार, ये सस्थाए उन सस्थाओ से अधिक उन्नत थी जिन पर आधुनिक स्विट्जरलैंड या सयुक्त राज्य अमरीका गर्व कर सकता है। अपने अनुशीलन का उपसहार उन्होने

निम्नलिखित शब्दों में किया : 'हिंदुओं द्वारा की गई संवैधानिक प्रगति को मात देने की बात तो दूर, उसकी बराबरी भी सभवतः कोई प्राचीन राज्यव्यवस्था नहीं कर सकती।' अंत मे देशभक्ति की अदम्य आशा को स्वर देते हुए उन्होंने कहा, 'उनकी (हिंदुओं की) राज्यव्यवस्था का स्वर्णयुग मात्र अतीत की ही चीज नहीं है, बल्कि वह भविष्य में भी निहित है।'[18] उनके शोध के निहितार्थ स्पष्ट हैं। उनके निष्कर्षों मे हमे पहली बार इस बात का प्रबल वैचारिक आधार देखने को मिलता है कि भारत पूर्ण स्वतत्रता और गणतत्रात्मक शासनव्यवस्था का पात्र है। यही कारण है कि विभिन्न प्रसगों पर जितना अधिक 'हिंदू पॉलिटी' को उद्धृत किया गया है उतना प्राचीन भारतीय इतिहास सबधी अन्य किसी शोधग्रथ को नही किया गया है। यह पुस्तक भारत के राष्ट्रवादियों के लिए वेद बन गई। जो ठीक पढ़ा-लिखा हो, ऐसे किसी भी वृद्ध आदमी से मिलकर आप देख ले, वह 'हिंदू पॉलिटी' से अवश्य परिचित होगा।

जायसवाल के बाद अनेक विद्वानो ने 'मॉडर्न रिव्यू' 'हिंदुस्तान रिव्यू' और 'इडियन ऐटिक्वेरी' मे राष्ट्रवादी दृष्टि से लिखे शोध-निबंधों की भरमार कर दी और बहुत-से शोधप्रबंध भी लिखे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद 1916 और 1925 ई. के बीच यूरोप और एशिया में राष्ट्रवादी और क्रांतिकारी आंदोलनो की जबरदस्त लहर उठी। यह काल अनेक दृष्टियो से हमारे राष्ट्रवादी आदोलन के भी चरमोत्कर्ष का काल है। प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था पर जितने शोधप्रबंध नौ वर्षों की इस अवधि मे प्रकाशित हुए, उतने बीसवी शताब्दी के किसी भी अन्य काल में नही हुए। हिंदू राजनीतिक सिद्धांतो और सस्थाओं पर लिखे गए लेखों को अलग रखे तो भी केवल प्रबंधों की संख्या एक दर्जन से अधिक होगी। सभी कृतियों के वैचारिक आधार की चर्चा करना तो यहां संभव नही है, किंतु प्रमुख प्रवृत्तियों की जानकारी हासिल करने के लिए कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रबंधों का विवेचन किया जा सकता है।

हम राज्यव्यवस्था पर लिखी सामान्य ढंग की पुस्तकों से प्रारंभ करें। 1916 ई. मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन एंशिएट इंडिया' में पी. एन. बनर्जी का कहना है, 'इस प्रकार प्राचीन शासनपद्धति को संवैधानिक राजतंत्र की संज्ञा दी जा सकती है।' यह 'सचिवतंत्र' था।[19] वह आगे कहते हैं कि प्राचीन काल में राजतांत्रिक राज्यों में ही नहीं, वरन गणराज्यो में भी जनसभाओं का बड़ा महत्त्व था।[20] उसी वर्ष के. बी. रंगस्वामी अय्यंगार की 'सम आस्पेक्ट्स आफ एंशिएंट इडियन पालिटी' नाम की पुस्तक निकली, जो 1914 ई. मे दिए गए उनके व्याख्यानों पर आधारित थी। इस पुस्तक मे लेखक ने आधुनिक राजनीतिक विवादों के अखाड़े में लड़ने के लिए 'अपने प्राचीन राज्यव्यवस्था रूपी अस्त्रागार में हथियार ढूंढ़ने की प्रवृत्ति की निंदा की है।'[21] किंतु साथ ही, उसने कहा है कि

प्राचीन भारतीय संस्थाएं और राजनीतिक सिद्धांत अप्रगतिशील थे, इस 'प्रचलित' मान्यता का खोखलापन साबित करना दीर्घकाल तक प्राचीन भारतीय राज्य-व्यवस्था के सफल ऐतिहासिक अध्ययन की अनिवार्य शर्त बना रहेगा।[22] 'कॉरपोरेट लाइफ इन एंशिएंट इंडिया' (1918) नामक अपने शोधप्रबंध में रमेशचंद्र मजुमदार जैसे संतुलित दृष्टि वाले इतिहासकार ने भी स्वीकार किया है कि सभ्यता की इस अतिविकसित अवस्था में 'सहकारिता की भावना' का महत्त्व देखकर ही वह इस दिशा में अन्वेषण करने को प्रेरित हुए।[23] पुस्तक की भूमिका की प्रारंभिक पंक्तियों में ही वह कहते हैं कि 'संस्कृति के इस विशेष क्षेत्र में भारत अभी बहुत पिछड़ा हुआ है, किंतु अगले पृष्ठों का उद्देश्य यह दिखलाना है कि अतीत में स्थिति बिल्कुल भिन्न थी।' उन्हें इसका बड़ा दुःख था कि आज हमें सहज ही इस बात का विश्वास नहीं होगा कि जिन राजनीतिक संस्थाओं को 'हम पश्चिम की देन' समझने के अभ्यस्त हैं वे बहुत पहले भारत में भी फूली-फली थी।[24] वह इस सामान्य धारणा का भी खंडन करते हैं कि भारत केवल धर्म में ही लीन था। उनके शोध का उद्देश्य यह दिखलाना था कि 'लोगों का ध्यान पूर्णतः या अनावश्यक रूप से धर्म में लीन नहीं था।' ऐसे ही विचार शामशास्त्री ने अपनी पुस्तक 'इवॉल्यूशन ऑफ इंडियन पॉलिटी' (1920) में व्यक्त किए हैं। उनका कहना है कि वैदिक काल अथवा कौटिल्य के युग में राजा की दैवी उत्पत्ति या उसके दैवी अधिकार की कल्पना की गई हो, ऐसा नहीं मालूम पड़ता।[25] अब एन. एन. लॉ (1927) की 'आस्पेक्ट्स आफ एंशिएंट इंडियन पॉलिटी' पर विचार करें। इसके प्राक्कथन में कीथ का कहना है, 'भारत में राजनीतिक आकांक्षाओं के उदय का एक शुभ परिणाम यह है कि विद्वानों में भारतीय राज्यव्यवस्था-विषयक सिद्धांतों के इतिहास के प्रति गहरी अभिरुचि पैदा हुई है।'[26] उक्त पुस्तक का सबसे बड़ा अध्याय (IX) 'दि रिलीजस आस्पेक्ट्स ऑफ एंशिएंट हिंदू पॉलिटी' (प्राचीन हिंदू राज्यव्यवस्था के धार्मिक पक्ष) है। इसका उपसंहार करते हुए लॉ कहते हैं कि 'राजनीतिक प्रवृत्तियों के अनेक व्यापक क्षेत्रों में हिंदुओं ने धार्मिक विश्वासों से असंपृक्त विवेक और प्रतिभा का परिचय दिया है।'[27] 1922 ई. तक बी. के. सरकार की 'पॉलिटिकल इंस्टिट्यूशंस ऐंड थीअरीज आफ दि हिंदूज' तैयार हो चुकी थी। इसके आमुख में उनका दावा है कि यह पुस्तक बुनियादी मुद्दों पर 'एशिया के संबंध में पश्चिमी दुनिया के उन परंपरागत पूर्वग्रहों पर सीधा प्रहार है, जिनके उदाहरणों से हीगैल, काजिअन, मैक्समूलर, मेन, जैने, स्मिथ, विलोबी और हंटिंगटन जैसे विचारकों की कृतियां भरी पड़ी हैं।[28] इन्हें इस बात का दुःख है कि 'आज के दास और विपन्न एशिया' और प्राचीन काल के उस एशिया के बीच कोई फर्क नहीं किया जाता जो मानवजाति की प्रगति का अगुआ था।[29] भारत में राजनीति पर धर्म के प्रभाव के आरोप का खंडन करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि

'हिंदू राज्य पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष थे।'[30] धर्मनिरपेक्षता संबंधी स्थापना को एन. सी. बंद्योपाध्याय ने भी जारी रखा। उनके अनुसार 'प्राचीन भारतीय राजा न तो देवत्व का दावा कर सकता था और न उसे कोई परमाधिकार ही प्राप्त था।'[31] उनके मतानुसार जिन चिंतकों ने अत्याचारी शासक की पदच्युति या विनाश को न्यायसंगत ठहराया है, उनके विचार वास्तव में दैवी सिद्धांत का खंडन करते हैं।[32]

1923 ई. में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ए हिस्टरी ऑफ हिंदू पॉलिटिकल थीअरीज'[33] में यू. एन. घोषाल ने बड़े कुशल ढंग से मैक्समूलर और ब्लूमफील्ड के इस मत का खंडन किया कि अपनी कुछ सहज चारित्रगत प्रवृत्तियों के कारण हिंदू लोग राज्य जैसी किसी चीज की परिकल्पना नहीं कर सके, और उनकी योजना में राज्य के हित की कोई व्यवस्था नहीं है। उन्होंने खासतौर से राजनीतिक विचारधारा का इतिहास लिखनेवाले जैने, डनिंग और विलोबी जैसे पाश्चात्य लेखकों पर चोट की है। उन्होंने जैने के इस अनुमान को चुनौती दी कि भारतीय मनीषी जिस एकमात्र पुरराज्य के विषय में सोच पाए वह था स्वर्गपुरी का राज्य। घोषाल कहते हैं कि संतुलित तथ्यों की कसौटी पर परखने से यह अर्धसत्य ही लगेगा।[34] डनिंग का कहना है कि भारतीय आर्य यूरोपीय आर्यों की तरह राजनीतिविज्ञान को एक स्वतंत्र विधा के रूप में विकसित नहीं कर पाए और उसे धर्मशास्त्र तथा अध्यात्म के पाश से कभी मुक्त नहीं कर सके। विलोबी का विचार है कि सारी सृष्टि दैवी कृतित्व है, इस बात में उनका विश्वास इतना प्रबल था कि अपनी संस्थाओं के वास्तविक हेतु की बुद्धिपूर्वक छानबीन करने को वे कभी प्रेरित ही नहीं हुए।[35] इस मत को अस्वीकार करते हुए घोषाल कहते हैं कि बौद्ध राजनीतिक विचारधारा की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें 'सारा चिंतन बड़ी निर्भीकता और स्पष्टता के साथ बुद्धि के धरातल पर प्रस्तुत किया गया है।'[36] इसके अतिरिक्त उन्होंने इस आम धारणा का भी खंडन किया कि सभी भारतीय राज्य एक ही सांचे में, यानी निरंकुश राजतंत्र के सांचे में, ढले हुए थे।[37]

'सम आस्पेक्ट्स ऑफ एंशिएंट हिंदू पॉलिटी' (प्राचीन हिंदू राज्यव्यवस्था के कुछ पहलुओं) पर दी गई अपनी व्याख्यानमाला में डी. आर. भंडारकर ने डनिंग, मैक्समूलर और ब्लूमफील्ड के उपर्युक्त विचारों का खंडन करने के उद्देश्य से उन्हें फिर उद्धृत किया। डनिंग को प्राच्यविद्या का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं था, इस बात को देखते हुए वह डनिंग के विचार-दोष को किसी हद तक क्षम्य मानते हैं। लेकिन उन्हें मैक्समूलर और ब्लूमफील्ड जैसे प्राच्यविद्याविशारदों के इस कथन का कोई औचित्य दिखाई नहीं देता कि भारतीयों ने राष्ट्रीयता की भावना कभी नहीं जानी और राष्ट्र की महानता की कल्पना से उनका हृदय स्पंदित नहीं हुआ।[38] उनके अनुसार, खासतौर से 'अर्थशास्त्र' की खोज के बाद[39] ऐसा कहना सही नहीं रह जाता कि हिंदू मानस राजनीतिक सिद्धांतों के विकास के लिए अनुकूल नहीं था और

भारतीयों ने राजनीति को स्वतंत्र विधा के रूप में कभी प्रतिष्ठित नहीं किया। गणराज्यों की जनसभाओं की कार्य नियमावली पर विचार करते हुए उन्हें इस बात की बड़ी चिंता है कि कहीं उनके निष्कर्षों को 'देशप्रेम की भावना से प्रेरित' न मान लिया जाए।[40]

राज्यव्यवस्था संबंधी शोधकार्यों में प्रतिबिंबित राष्ट्रवादी विचारधारा की पराकाष्ठा वी. आर. आर. दीक्षितार की पुस्तक 'हिंदू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टिट्यूशंस' में देखने को मिलती है। यह डाक्टरेट की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया उनका शोधप्रबंध था जिसे उन्होंने 1923 ई. में प्रारंभ किया और 1927 ई. में पूरा किया। कह सकते हैं कि इसमें उन्होंने हमारी अतीत की संस्थाओं का गुणगान करने में कुछ अति कर दी। वह हिंदू राज्यव्यवस्था को लगभग आधुनिक मानते हैं। प्राचीन भारत को कभी भी देशभक्ति की भावना का भान नहीं हुआ, इस विचार का जोरदार खंडन करते हुए वह कहते हैं कि 'देश की भौगोलिक अखंडता तथा दिग्विजय के द्वारा कन्याकुमारी से हिमालय तक के भूभाग का चक्रवर्ती शासक बनने के प्रत्येक राजा के आदर्श को देखते हुए इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि इस देश में प्रबल राष्ट्रवादी भावना विद्यमान थी।' और फिर वह प्रसिद्ध श्लोक 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' को उद्धृत करते हैं। उपसंहार में लिखी उनकी पंक्तियों में ठीक वही भाव व्यक्त हुआ है जो जायसवाल की कृति में मिलता है। वह कहते हैं : 'यद्यपि हर देश ने अपनी एक विशिष्ट राज्यव्यवस्था का विकास किया, किंतु जैसी सहज जीवनशक्ति हिंदू व्यवस्था में थी वैसी और किसी में नहीं थी।' अपनी कृति के अंत में वह जायसवाल की इस अदम्य आशावादिता को दुहराते हैं कि 'उनकी (हिंदुओं की) राज्यव्यवस्था का स्वर्णयुग अतीत में नहीं, बल्कि भविष्य में निहित है।'[42]

इस प्रकार 1916 ई. और 1925 ई. के बीच राज्यव्यवस्था के संबंध में लिखी गई सामान्य वर्ग की पुस्तकों के सिंहावलोकन से प्रकट होता है कि उनके पीछे भारतीय राष्ट्रवादियों के हाथों में एक वैचारिक अस्त्र देने की प्रवृत्ति काम कर रही थी। यही बात विशेष वर्गों की—जैसे प्राचीन भारतीय स्वशासन और अंतर्राष्ट्रीय कानून से संबंधित—कृतियों पर भी लागू होती है। राधाकुमुद मुखर्जी की पुस्तक 'लोकल गवर्नमेंट इन एंशिएंट इंडिया' में उन आलोचकों की राय के परिमार्जन का प्रयत्न किया गया है जो यह कहते हैं कि 'प्राचीन भारत में ग्राम और केंद्रीय शासन के बीच राजनीतिक संस्था जैसी कोई चीज ही नहीं थी।'[43] अन्य विद्वानों की तरह मुखर्जी भी महसूस करते हैं कि भारतीय इतिहास को स्वेच्छाचारी और धर्मतांत्रिक संस्थाओं की अंतहीन पुनरावृत्ति समझना ऐतिहासिक भ्रांति का एक बहुत बड़ा कारण है।[44] उनका दावा है कि प्राचीन भारत की स्थानीय संस्थाओं का अध्ययन हमें उनके विकास का वह मार्ग सूचित करेगा जिसका अनुसरण पुनर्निर्माण कार्य में

होना चाहिए; दूसरी ओर वह 'लोगो को एक नई प्रेरणा देगा, उन्हें राष्ट्रीय आत्मसम्मान का एक नया आधार प्रदान करेगा, और वे पीछे मुडकर अपनी उन सस्थाओ के इतिहास की ओर गर्व के साथ दृष्टिपात करेगे जिनके फलस्वरूप उन्हें न केवल स्वशासन का वरदान प्राप्त हुआ, वरन् वह साधन भी सुलभ हुआ जिसके सहारे प्रतिकूल राजनीतिक परिस्थितियों में भी वे अपना राष्ट्रीय चरित्र कायम रख सके।'[45]

पी एन. बनर्जी की कृति 'इंटरनेशनल लॉ ऐड कस्टम्स इन एँशिएट इंडिया' (1920) मे भी ऐसी ही भावना व्यक्त हुई है। बनर्जी का कहना है कि साम्राज्यवादी विचारो से प्रेरित होकर हॉल ने अतर्राष्ट्रीय कानून को तो ऐसा विषय मान लिया है जिस पर मानो यूरोपीय राष्ट्र-परिवार का 'एकाधिकार' हो।[46] उनकी शिकायत है कि लारेस जैसा विचारशील पत्रकार भी भारतीय फौज को 'अर्ध सभ्य' समझता है और ऐसा सुझाव देता है कि उसका उपयोग सीमावर्ती जनजातियो के विरुद्ध और उसी के जैसे सस्कारवाले लोगो के साथ होनेवाले युद्ध मे किया जाए।[47] बनर्जी के शोधप्रबध का उद्देश्य 'आपातत: अविश्वसनीय प्रतीत होनेवाले इस सत्य को प्रतिपादित करना है कि प्राचीन भारतीयो को अंतर्राष्ट्रीय विधि के नियमो का सुनिश्चित ज्ञान था और वे अपने अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार को उसी के अनुसार परखते थे।'[48] 'इटरनेशनल लॉ इन एँशिएट इंडिया' मे एस. वी विश्वनाथ ने प्रथम विश्वयुद्ध और प्राचीन भारत के युद्धो के बीच तुलना करके दिखलाया है कि जहा प्रथम महायुद्ध मे राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार के समस्त स्वीकृत सिद्धांतो का उल्लघन किया गया और अतर्राष्ट्रीय नैतिकता को तिलांजलि देकर युद्ध करने और नही करनेवालों, दोनों को समान रूप से तबाह किया गया,[49] वहा प्राचीन भारत के युद्ध *धर्मयुद्ध के नियमानुसार लडे गए, जिनमें अंधाधुध विनाश और विध्वस* वर्जित थे।

प्राचीन राज्यव्यवस्था पर 1925 ई. और 1930 ई. के बीच, 1916 ई. और 1925 ई. के काल की अपेक्षा कम कृतिया प्रकाशित हुईं। 1927 ई. मे एन. सी. बद्योपाध्याय की दो पुस्तके प्रकाशित हुईं 'डेवलपमेट ऑफ हिंदू पॉलिटी ऐड पॉलिटिकल थीअरीज' और 'कौटिल्य'। पहली पुस्तक मे उन्होने इस मान्यता का खडन करने का प्रयास किया कि भारत निरंकुश सत्ता की जन्मभूमि है और उसकी मिट्टी उसके लिए विशेष रूप से उपयुक्त रही है। दूसरी मे उनका निष्कर्ष यह है कि कौटिल्य 'एक सच्चे राष्ट्रीय राजा' की कल्पना करता है—ऐसे राजा की जो राष्ट्रीय रीति-नीति और भाषा में अपने अस्तित्व को भी विलीन कर दे।'[50] किंतु बेनीप्रसाद ने लगभग उन्ही दिनो प्रकाशित अपनी 'स्टेट इन एँशिएंट इडिया' और 'गवर्नमेट इन एँशिएंट इंडिया' नाम की पुस्तको मे प्राचीन सस्थाओं में बहुत ज्यादा आधुनिक विचार ढूढने के विरुद्ध चेतावनी दी। फिर भी, यूनान और रोम की

राजनीतिक सस्थाओ की तुलना में प्राचीन भारत की राजनीतिक सस्थाओ की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए उन्होने कहा कि प्राचीन भारत में कोई वैसा अभिजात वर्ग नही था जैसा यूनान और रोम में था।[51] पद, सपत्ति और जन्म पर आधारित प्रतिष्ठा, इन तीनों का जो सामजस्य अन्य देशों में पाया जाता था वह वर्णव्यवस्था के कारण भारत मे सभव नही था।[52] 1931 ई. मे एस. के. अय्यगार ने 'इवॉल्यूशन ऑफ हिंदू ऐडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम इन साउथ इंडिया' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसका उद्देश्य 'शासन के विशुद्ध भारतीय सिद्धात का बोध कराना' था, 'ताकि इस देश की सांविधानिक आवश्यकताओ को ठीक से समझा जा सके।'[53] वह एक प्रकार के आत्मसतोष के भाव के साथ कहते हैं कि प्राचीन भारत में प्रचलित 'शासनप्रणाली उन आदर्शों के बहुत निकट पहुची दिखाई देती है जिन्हे साकार करने के प्रयत्न मे आधुनिक लोकतत्र आज भी जुटा हुआ है।'[54] विशिष्ट श्रेणी की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक यू. एन. घोषाल की 'कंट्रीब्यूशस टु द हिस्टरी ऑफ दि हिंदू रेवेन्यू सिस्टम' थी। यह 1929 में प्रकाशित हुई थी। इसमे लेखक का कहना है कि कराधान के जिन सिद्धातो की रचना उन्होने की, वे 'प्राचीन यूनान और रोम की तद्विषयक उपलब्धियो को बहुत पीछे छोडकर अठारहवी तथा प्रारंभिक उन्नीसवी शताब्दियो के यूरोपीय चितको के विचारो की ऊचाई को छूते से प्रतीत होते हैं।'[55] उनकी राय मे, 'कर को राजा से मिलनेवाले सरक्षण के एवज में उसे दिया जानेवाला पावना मानना सत्रहवी और अठारहवी शताब्दियों मे यूरोप मे प्रचलित ऐसे ही सिद्धात से मेल खाता है।'[56]

इस प्रकार, 1929 मे दीक्षितार की 'हिंदू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टिट्यूशस' के एक समीक्षक ने ठीक ही कहा कि 'पिछले पद्रह वर्षों की कृतियों की सामान्य प्रवृत्ति यह दिखाने की रही है कि प्राचीन काल मे देश का शासन गैरजिम्मेदार नही था, लोकमत और उसकी अभिव्यक्ति के स्वीकृत माध्यम विद्यमान थे, शासक करीब-करीब सभी मामलो में लोकमत का आदर करते थे, कभी-कभी लोकमत इतना प्रबल हो जाता था कि शासक को या तो सिहासन त्यागना पडता था या उसे सिहासन च्युत कर दिया जाता था, आदि-आदि।'[57] इसमे कोई सदेह नही कि राजनीतिक सिद्धातों और सस्थाओ के इतिहास पर लिखी गई शोधपुस्तकों की इस पूरी शृखला के पीछे एक निश्चित प्रयोजन था। इसका उद्देश्य राष्ट्रवादी लोगो के लिए खुराक जुटाना और राष्ट्रवादी आदोलन को बल देना था। 1930 के बाद शोधकार्यों में गतिरोध आया और लगभग उसके बाद के 20 वर्षों मे राज्यव्यवस्था पर बहुत थोडा-सा लेखनकार्य हुआ। जो पुस्तकें इस अवधि मे निकली उनमे अधिकाशत वही पुरानी बाते दुहराई गई थी।

अब हम भारत के अतीत की राज्यव्यवस्था के अध्ययन में इस राष्ट्रवादी और पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण के गुण-दोषो पर तनिक विचार करें। इस अध्ययन का

एक बड़ा परिणाम यह हुआ कि अतीत की उत्साहवर्द्धक तसवीर सामने लाकर इसने लोगों में प्रबल आत्मविश्वास जगाया। जैसा कि 1902 ई. में हिंदू राज्यव्यवस्था के एक विद्वान ने कहा, 'तरुण भारत का राष्ट्रवादी आंदोलन, जो 7 अगस्त, 1905 ई. से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक विश्वशक्ति के रूप में मान्य हुआ है, प्राचीन काल के संबंध में किए जानेवाल असंदिग्ध अन्वेषणों के ठोस परिणामों से सचेत मार्गदर्शन और दिशानिर्देश प्राप्त कर रहा है।'[58] प्राचीन राज्यव्यवस्था संबंधी इस जानकारी ने उन लोगों को वाणी प्रदान की जो भारत के स्वशासन और स्वतंत्रता की हिमायत कर रहे थे। यदि उन्हें अतीत में स्वशासन प्राप्त था तो कोई कारण नही कि उन्हे वर्तमान मे भी वह क्यों नही मिले। दूसरे, इस विचारधारा के कारण उत्कृष्ट शोधग्रंथ प्रकाशित हुए और प्राचीन भारत मे सीमित राजतंत्र, गणतंत्र, स्थानीय स्वशासन और अंतर्राष्ट्रीय विधि के अस्तित्व के संबंध मे कुछेक बातें करीब-करीब सभी विद्वानो ने स्वीकार कर ली, हालाँकि विंसेंट स्मिथ अपनी असहमति जाहिर करते हुए यह चेतावनी देते रहे कि आदर्श राजा के बारे में प्राचीन मनीषियों के प्रबोधनों पर भरोसा करना निरापद नहीं है।

परंतु इस राष्ट्रवादी विचारधारा की अपनी मर्यादाए भी हैं। पहली बात तो यह कि जहां एक ओर इस विचारधारा ने विदेशी शासन के विरुद्ध शिक्षित मध्यम वर्ग में जागृति लाने का काम किया, वहीं दूसरी ओर, यह किसानो और मजदूरो के विशाल समुदाय के हितों की चिंता करनेवाले उन सजग बुद्धिजीवियों के मन को नहीं छू पाई जो 1920 ई. से ही राष्ट्रीय संग्राम की ओर आकृष्ट हो रहे थे। प्राचीन हिंदू संस्थाओं के अत्यधिक गुणगान का एक सहज परिणाम मुसलमानों में विरोधभाव पैदा करना हुआ, यद्यपि ऐसा जानबूझकर नहीं किया जा रहा था। दूसरे, इस विचारधारा ने हममें अतीत के मूल्यो के विषय में एक भ्रांत धारणा पैदा कर दी। इसमें इस तथ्य को नजरअंदाज कर दिया गया है कि चाहे राजतंत्र हो या गणतंत्र, ऊपर के दो वर्णों ने नीचे के दोनों वर्णों पर अपना प्रभुत्व कायम रखा और सामान्यतः उन्हें सभी राजनीतिक पदो से वंचित रखा। इस बात की ओर भी ध्यान नही दिया गया कि हमारे विधिनिर्माण की एक मूलभूत विशेषता उच्च वर्णों के हितों की रक्षा करनी थी। शासन वर्ग ने अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए जानबूझकर धर्म का दुरुपयोग किया, इस तथ्य से भी शोधकर्ता कतराकर निकल गए। इसमे कभी भी इस तथ्य पर विचार नही किया गया कि धन और राजनीतिक पद एक-दूसरे के सहगामी हैं।

तीसरे, अनेक भारतीय विद्वान प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था के धार्मिक पहलुओ के विवेचन से बचते रहे और अपनी दोष-भावना छिपाने के लिए, काफी प्रयत्नपूर्वक भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को सिद्ध करते रहे। उन्होने यह नही सोचा कि पश्चिमी देशो में भी पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष राज्य 1784 ई. के पहले

स्थापित नही हुआ और भारत के अलावा अन्य देशों में भी राजनीतिक विचारों और कार्यों पर धर्म का असर था।[59]

चौथी बात यह कि प्राचीन पाश्चात्य संस्थाओं की तुलना में अपनी सस्थाओं की श्रेष्ठता सिद्ध करने की धुन में इसने, नृतत्वशास्त्र (एंथ्रोपॅलॉजी) के माध्यम से आदिम जातियो के विकास की जो तसवीर सामने आती है, उसे ध्यान में रखकर अथवा अन्य भारोपीय (इडोयूरोपियन) जातियों की प्राचीन संस्थाओ को दृष्टि में रखकर भारतीय सस्थाओं पर विचार करने की चेष्टा शायद ही कभी की।

इस समय तो इस विचारधारा की मुख्य मर्यादा इस बात मे निहित है कि देश पर साम्राज्यवादी आधिपत्य समाप्त हो चुका है। आज हमारे सामने जो नई समस्याए उपस्थित हैं उनका संबध उन आम लोगो के उत्थान से है जिनके लिए राष्ट्रीय सग्राम छेड़ा गया। इन मर्यादाओ के कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि विशुद्ध राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था सबधी शोधकार्य की सभावनाए लगभग समाप्त हो चुकी हैं। इस समय तो हमें एक ऐसे वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो सपाट किस्म के सामान्यीकरण से मुक्त हो। 1951 ई मे के. ए नीलकठ शास्त्री ने एक नई विचारधारा की ओर सकेत देते हुए कहा कि आपस्तंब और मनु मे कल्याणकारी राज्य की व्यवस्था है।[60] इस बात का निर्णय तो भारतीय शासनव्यवस्था के अध्येताओ को ही करना होगा कि यह दृष्टिकोण अतिरिक्त शोध की सभावनाए कहा तक प्रस्तुत करता है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 यद्यपि 1784 ई मे रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल की स्थापना के समय से ही प्राचीन भारतीय ज्ञान की ओर पाश्चात्यों की अभिरुचि जगी, फिर भी 1859 ई. तक प्रकाशित पुस्तकों की सख्या कम ही थी। मैक्समूलर 'ए हिस्टरी ऑफ एंशिएट सस्कृत लिट्रेचर', पृ 1
2 सै बु ई.,1 भाग, खड 1, आमुख, पृ XI
3 मैक्समूलर, उपरिवत्, पृ 16
4 बेनीप्रसाद दि स्टेट इन एंशिएट इंडिया, पृ 498 पर उद्धृत
5 कास्ट इन इंडिया, पृ 198
6 वही, पृ 212
7 ए हिस्टरी ऑफ एंशिएट सस्कृत लिटरेचर, पृ 18
8 पोजीशन ऑफ द रूलिंग कास्ट, आदि ज ए ओ एस, जिल्द 13, पृ 182
9 कलकत्ता रिव्यू, जिल्द 35 (1887), पृ 266
10 वही, जिल्द 98' (1894), पृ 301
11. लिमिटेड मौनार्की इन एंशिएट इंडिया, मॉडर्न रिव्यू, II (1907), पृ 346 और आगे
12 वही

13 एंशिएट इंडिया, पृ 158-191
14 रंगस्वामी अय्यंगार, सम आस्पेक्ट्स ऑफ एंशिएट इंडियन पॉलिटी, पृ 87.
15 1965 में बम्बई विश्वविद्यालय से प्रकाशित आर पी कांगले की कृति, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 3, में उस समय तक इस विषय पर लिखी समस्त कृतियों की बृहत सूची दी गई है.
16. हीरेन मुखर्जी कृत इंडिया स्ट्रगल्स फॉर फ्रीडम, पृ 88 पर उद्धृत
17 हिंदू पालिटी, प्रारंभिक पाठेतर सामग्री, पृ 25
18 वही, पृ 366
19 वही, पृ 51
20 वही, पृ 97
21 रंगस्वामी अय्यंगार, सम आस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन पॉलिटी पृ 3-4 इस पुस्तक का 1935 का संस्करण देखा गया, लेकिन पाद टिप्पणी और परिशिष्ट को छोड़कर विषयवस्तु में कोई अंतर नहीं है
22 रंगस्वामी अय्यंगार की पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 65
23 भूमिका, पृ 1
24 कारपोरेट लाइफ इन एंशिएंट इंडिया, पृ 122
25 वही, पृ 145
26 वही प्रा पा सा पृ 8
27 वही, पृ 218
28 वही, प्रा पा सा पृ 8
29. वही, पृ 9
30 वही, पृ 13
31. वही, पृ 94
32. वही, पृ 294
33. यही पुस्तक 1959 ई. में मूल से दुगुने से भी बड़े आकार म 'ए हिस्टरी ऑफ पालिटिकल आइडियाज' शीर्षक से पुन निकली ब्यौरों के लिए यह पुस्तक एक अच्छा सदर्भ ग्रंथ है, लेकिन सारत मूल की अपेक्षा इसमे कुछ अधिक नही दिया गया है
34 वही, पृ 5
35 वही, पृ 8
36 वही, पृ. 9
37. वही, भूमिका, पृ 2
38 वही, पृ 2
39. वही, पृ. 3
40 वही, पृ. 77
41. वही, पृ 78
42 वही, पृ. 384, कोष्ठक का अंश हमारा है
43. वही, पृ 316
44 वही, भूमिका, पृ 13
45 वही, पृ. 21-22
46 ज इ हि ले, 1 (1920), पृ. 202.

47 वही, पृ 203
48 वही
49 वही, पृ 3-4
50 वही, पृ 126
51 वही, पृ 298
52 द स्टेट इन एँशिएट इंडिया, पृ 7-8
53 प्रा , पृ 5
54 वही, पृ 379
55 वही, पृ 14
56 वही, पृ 17
57 ज इ हि , VIII (1929), पृ 405
58 बी के सरकार द पालिटिकल इंस्टिट्यूशस एड थीअरीज ऑफ द हिंदूज, पृ 4
59 हाल में चार्ल्स ड्रेकमायर ने 'कम्युनिटी ऐंड किंगशिप इन अर्ली इंडिया' (1962) में और जे डब्ल्यू स्पेलमैन ने 'पालिटिकल थीअरी ऑफ एँशिएट इंडिया' (1963) में धार्मिक पहलू पर जोर दिया है
60 प्रोसीडिंग्स ऑफ दि सिक्स्टीथ सेशन ऑफ दि आल इंडिया ओरिएटल कान्फ्रेंस, लखनऊ, 1951, पृ 67-68

2. स्रोत और पद्धति

धर्मसूत्रो की कोटि में आनेवाले सबसे प्रारंभिक विधिग्रथो के पूर्व प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों और संस्थाओ के अध्ययन का प्रमुख स्रोत वैदिक साहित्य है। इस साहित्य की प्राचीनतम पांडुलिपियां भी ईसा की दसवीं शताब्दी से पहले की नहीं हैं तथा ईसापूर्व पद्रहवीं और तीसरी शताब्दी के बीच भारत में लेखनकला का कोई अभिलेखगत साक्ष्य नहीं मिलता। किंतु ईसापूर्व चौदहवी शताब्दी के मितानी अभिलेखो मे ऋग्वैदिक देवताओं के उल्लेख मिलते हैं और ऋग्वेद के प्रति लोगो में जो अतिशय श्रद्धाभाव था उसको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि ईसापूर्व बारहवीं सदी के आसपास कम से कम इसका मौखिक सकलन संपन्न हो चुका होगा। दरअसल इस श्रद्धाभाव के कारण ही इस ग्रंथ के शुद्ध सस्वर पाठ पर विशेष आग्रह रखा जाता रहा और इमसे यह लेखनकला के अभाव मे भी सुरक्षित रह सका। लेकिन शुद्धता के आग्रह के बावजूद अन्य अनेक प्राचीन भारतीय ग्रंथों की तरह इसके भी आदि और अत में अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ने से लोग बाज नही आए। अतः सभा, समिति, विदथ, गण आदि जनजातीय संस्थाओ, या ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सामाजिक वर्गों अथवा राजन् शब्द और इसके पर्यायों का अध्ययन करने के लिए 'ऋग्वेद' का उपयोग करने में इसके प्रथम और दशम मंडलो मे इन शब्दो के उल्लेखो के प्रति सजग दृष्टि से काम लेना चाहिए। ये मंडल मुख्य ग्रंथ में बाद मे जोडे गए। आठवें और नवे मंडल भी बाद के मालूम पडते हैं। ऋग्वेदोत्तर काल के अध्ययन के लिए दशम मंडल का उपयोग करना शायद बेहतर होगा। 'ऋग्वेद' मे कही गई बातो का जिस क्षेत्र से संबंध है वह आमतौर पर पजाब या पंचनद प्रदेश माना जाता है, किंतु इस क्षेत्र मे रहनेवाली जनजातियो के बीच प्रचलित कतिपय संस्थागत रीतिरिवाजों के प्रतिरूप उन अन्य प्राचीन भारोपीय ग्रंथो मे भी मिल सकते हैं जिनकी रचना यूनान या ईरान में हुई। विभिन्न देशो में प्रचलित ऐसे समान संस्थागत रीतिरिवाजो के अध्ययन से हम पता लगा सकते हैं कि वैदिक जनों के सार्वजनिक जीवन के वे कौन से तत्व हैं जो उन्हे अन्य समुदायों के साथ अपने मूल निवासस्थान से विरासत मे मिले।

उत्तर वैदिक ग्रथों का संकलन पश्चिमी उत्तरप्रदेश, अर्थात कुरु और पांचाल

देश मे हुआ। 'ऋग्वेद' मे तो केवल प्रार्थनाए हैं, पर उत्तर वैदिक रचनाओं में प्रार्थनाओ के साथ कर्मकाडो का भी समावेश है। ईसापूर्व करीब 1000 से लेकर 500 तक के काल की राज्यव्यवस्था का चित्र तैयार करने के लिए यह आवश्यक है कि कर्मकाड की छानबीन विवेकपूर्वक की जाए। विभिन्न कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेदीय संहिताए सामुदायिक और वैयक्तिक कर्मकांड के भंडार हैं। अथर्ववेद में कर्मकाड का उतना जोर नही है, पर इसमे बीमारी और विपत्तियो से बचने के लिए, राजपद पुन. प्राप्त करने के लिए और इसी प्रकार की अन्य मनोकामनाओं को पूरा करने के लिए इतने मत्र दिए गए हैं कि उनसे तत्कालीन राज्यव्यवस्था पर काफी प्रकाश पडता है। किंतु इन संहिताओं का उपयोग करने में इस बात का ध्यान रखना होगा कि एक ही संहिता के विभिन्न अंशो की रचना अलग अलग कालों में हुई। उदाहरण के लिए, 'तैत्तिरीय संहिता' के 19 से 40 तक के अध्यायो की रचना काफी बाद में की गई।

ब्राह्मणो मे कर्मकाड के साथ-साथ राजा की उत्पत्ति के सबंध मे भी कुछ व्याख्याए और परिकल्पनाए प्रस्तुत की गई हैं। ये मुख्यत: 'ऐतरेयब्राह्मण' और 'शतपथब्राह्मण' मे पाई जाती हैं। लेकिन इन ब्राह्मणों का रचनाकाल ईसापूर्व प्राय 700-600 वर्ष से पीछे नही ले जाया जा सकता। 'शतपथब्राह्मण' के भौगोलिक क्षेत्र में पूर्वी उत्तरप्रदेश और उत्तर बिहार का गंडक से पश्चिम पडने वाला हिस्सा शामिल है। संहिताओ और ब्राह्मणो मे उल्लिखित कर्मकांड से जिस प्रकार के राजनीतिक सगठन का पता चलता है वह सामान्यतया ई. पू. 1000-500 में, उत्तरप्रदेश में, विशेषकर इसके पश्चिमी भाग मे, प्रचलित था, यद्यपि आर्य सस्कृति पूर्व में गंडक नदी तक और दक्षिण में नर्मदा नदी तक पहुच गई थी। अतः शतपथब्राह्मण और ऐतरेयब्राह्मण मे पाए गए शासन सबंधी उल्लेख एक अश तक उत्तरप्रदेश के बाहर भी लागू हो सकते हैं।

उपनिषदें तत्वचिंतन विषयक ग्रथ मानी गई हैं, किंतु राजा की उत्पत्ति और ऐसा ही अन्य बातो से इनका कोई सबध नही है। इनमे समिति के और जनजातीय जीवन की कतिपय विशेषताओ के जो उल्लेख प्रसगवश हुए हैं उनसे उत्तर वैदिक कालीन राज्यव्यवस्था पर थोडा प्रकाश पडता है, यद्यपि जिन ग्रथाशों में इनका उल्लेख है वे ईसापूर्व पाच सौ वर्ष से पहले के नही हो सकते।

विश्वेश्वरानद इंस्टिट्यूट (होशियारपुर) की ओर से वैदिक साहित्य की जो विशद शब्दानुक्रमणिका प्रकाशित हुई है उसके फलस्वरूप इस साहित्य में सस्थाद्योतक शब्दो को खोज निकालना अब कठिन नही रहा। किंतु इसमे उन ब्राह्मणों, उपनिषदो और श्रौतसूत्रो का भी उपयोग हुआ है जो ईसापूर्व 500 के बाद, और उसके भी बहुत बाद ईस्वी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में सकलित हुए। अतएव अनुक्रमणिका से जानकारी लेने में सतर्कता बरतने की जरूरत है।

चूंकि वैदिक साहित्य में प्रार्थनाओं और कर्मकांड का बाहुल्य है, उनमें से राज्यव्यवस्था संबंधी तथ्यो को अलग करना कठिन है। धर्मसूत्रों अर्थात प्रायः 500-200 ई. पू. के दौरान गद्य में रचित प्राचीनतम विधिग्रंथों के साथ यह कठिनाई नही है। चार धर्मसूत्रों मे से गौतम का ग्रंथ सामान्यतया प्राचीनतम माना जाता है, किंतु वास्तव मे सबसे पुराने आपस्तब और बौधायन के ग्रथ प्रतीत होते हैं। वसिष्ठ का धर्मसूत्र भी परवर्ती रचना है।

धर्मसूत्रो मे राजा और चतुर्वर्णों के कर्तव्यो का प्राचीनतम विवचन है और कराधान तथा संपत्ति, परिवार और व्यक्ति की रक्षा संबंधी सबसे पुरानी व्यवस्था है। सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के सबध मे ब्राह्मण मत का क्रमबद्ध प्रतिपादन सबसे पहले इन्ही मे हुआ है। इनमें जो चित्र उपस्थित किया गया है वह वास्तविक नही वरन आदर्श स्थिति का वर्णन है। यूनानी विवरणो और प्रारंभिक पालि ग्रथो की सहायता से इस चित्र को एक सीमा तक वास्तविक बनाया जा सकता है।

धर्मसूत्रों को धर्मशास्त्र भी कहा जाता है, और धर्मशास्त्र की संज्ञा स्मृतियो और विधिग्रंथो पर सभी प्रकार की टीकाओ को भी दी जाती है। धर्मसूत्र गद्य में लिखे गए थे। कालांतर से वे पद्यबद्ध स्मृतियो के रूप मे विकसित हुए। सर्वाधिक प्राचीन और सुविख्यात स्मृति मनु की है, जिसे 'मनुस्मृति' या 'मानव धर्मशास्त्र' भी कहा जाता है। प्रायः एक सदी पूर्व ब्यूलर ने इसे 200 ई. पू. से 200 ईस्वी के बीच की रचना माना था। आगे चलकर जायसवाल ने इस आधार पर इसे शुगकालीन कृति माना कि इसमें ब्राह्मणों को बहुत उच्च स्थान दिया गया है और राजत्व को दैवी आधार प्रदान किया गया है। किंतु शैली और वर्ण्य विषय से प्रतीत है कि यह ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में सकलित हुई। इसका कुछ अंश, जिसमें वर्णसंकर जातियों का उल्लेख है, और भी बाद का मालूम पड़ता है। हमारे प्रयोजन के लिए इसके सातवें अध्याय मे वर्णित विषय, अर्थात राजधर्म, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमे राजा के कर्तव्य और कराधान के सिद्धांतो का विवेचन किया गया है, और साथ ही दंड—अर्थात बलप्रयोग—का महत्त्व बताया गया है। 'विष्णुस्मृति' ईसा की तीसरी शताब्दी की रचना प्रतीत होती है। उत्तराधिकार समस्या के विवेचन में यह ग्रथ कानूनी चिंतन की विकसित अवस्था का परिचय देता है।

'याज्ञवल्क्य स्मृति' ईस्वी सन की प्रायः दूसरी से चौथी सदी के बीच की रचना मानी गई है। इसमे मनु की सामग्री को संक्षिप्त और क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसकी और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की, जिससे इसने स्पष्ट ही काफी सामग्री ली है, अनेक व्यवस्थाएं एक-सी हैं। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' और पश्चिमी भारत मे विज्ञानेश्वर द्वारा ग्यारहवी शताब्दी मे रचित इसकी 'मिताक्षरा' टीका,

दोनों मिलकर हिंदू सिविल विधि (सिविल लॉ) की आधारभूत सामग्री प्रस्तुत करती हैं।

किंतु पूर्णतया वैधानिक स्मृतियां तीन हैं : नारद, बृहस्पति और कात्यायन। प्रथम दो ईस्वी सन् की पाचवी शताब्दी, और अंतिम संभवतः छठी शताब्दी, की रचना है। नारद 'दीनार' शब्द का प्रयोग करते हैं, जो ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी के अभिलेखो मे मिलता है। रोम साम्राज्य से संपर्क होने के कारण इस शब्द का प्रयोग भारत में सोने के सिक्कों के लिए होने लगा। इस आधार पर नारद का कालनिर्धारण करने में सहायता मिलती है। बृहस्पति इससे कुछ परवर्ती हो सकते हैं। उनका ग्रंथ विधि के इतिहास में युगातरकारी घटना है, क्योंकि उन्होंने 18 खडों (शीर्षकों) के अतर्गत विधि का विवेचन किया है। इसमें से 14 को सिविल विधि (दीवानी) और 4 को दड विधि (फौजदारी) के अतर्गत रखा जा सकता है। कात्यायन का केवल 'व्यवहार खड' ही प्राप्त हुआ है, जिसको देखने से प्रकट होता है कि यह विशुद्ध रूप से सिविल विधि का ग्रंथ है। इसमें विस्तृत न्यायप्रक्रिया का भी विधान किया गया है।

स्मृतियों के अध्ययन में दो कठिनाइया हैं। पहली यह है कि वे एक ही विचार और कथन को वे इतना अधिक दुहराती हैं कि पढ़नेवाला ऊब जाता है। अधिकाश परवर्ती स्मृतिया—जैसे कि याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति की—मनु पर आधारित हैं और विभिन्न विषयो पर उनके द्वारा दी गई व्यवस्था की ही व्याख्या और विस्तार करती हैं। इससे यह धारणा बधती है कि ईसा की प्रथम छह शताब्दियों के दौरान प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था का बहुत कम विकास हुआ। किंतु विभिन्न विषयों के संबध में अलग-अलग स्मृतियो में यत्र-तत्र जो अतर देखने को मिलते हैं उनकी सावधानी से छानबीन करने पर यह धारणा निश्चय ही मिट जाएगी। दूसरी कठिनाई यह है कि टीका लिखने का काम 16वी शताब्दी या इसके बाद तक भी चलता रहा, और हर टीकाकार मूल रचनाकार पर अपना व्यक्तित्व थोपता रहा, नवी से सोलहवी सदी तक मनु पर सात लोगों ने टीकाए लिखीं। स्वभावतः इनमें से प्रत्येक ने अपने देश-काल-समाज और पूर्वाग्रह के अनुसार मूल की व्याख्या की है। इससे मनुकाल की राज्यव्यवस्था या सामाजिक सरचना का सही चित्र सामने नही आता है। यह बात अन्य स्मृतियों के संबध मे भी लागू है।

यदि हम उपर्युक्त दो कठिनाइयो से बचकर चलें तो स्मृतियों में हमें राजा के दायित्वों और अधिकारो, मत्री, सचिव, अमात्य, पार्षद और सभ्य नामक परामर्शदाताओं के स्थान और कर्तव्य तथा अतःराज्य संबंधों की अच्छी जानकारी मिल सकती है। सबसे बढ़कर तो इन स्मृतियो में हमें न्यायतत्र की जानकारी ठीक से मिलती है और पता चलता है कि यह तंत्र किस प्रकार के कानूनों से काम लेता था। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में प्रायश्चितो और आचारों की भी व्यवस्था

है। इन व्यवस्थाओ को आधुनिक दृष्टि से विधि (ला) नहीं कहा जा सकता; किंतु नारद, बृहस्पति और कात्यायन की स्मृतियां प्रायः पूर्ण रूप से विधिग्रंथ हैं।

स्मृतियों के अंश महाकाव्यों और पुराणों में भी मिलते हैं। सामाजिक तथा राजनीतिक विचारो और सगठनो का अध्ययन करने के लिए हमें इस मान्यता को त्यागकर चलना होगा कि महाकाव्य काल जैसा भी कोई काल था। 'महाभारत' से प्राप्त सामग्री का उपयोग किसी एक काल के लिए करना कठिन है। जहां इसके आख्यानात्मक अंश से दसवी शताब्दी ई. पू. की झांकी मिलती है, वहीं इसके उपदेशात्मक तथा वर्णनात्मक अंशो का सबंध काफी परवर्ती काल से, यानी ईसा की चौथी शताब्दी से, मालूम होता है। मूलतः इस महाकाव्य में 8800 श्लोक थे और यह रचना 'जय' कहलाती थी। फिर वे बढ़कर 24 हजार हुए और रचना का नाम भारत पडा। बाद मे बढ़कर वे एक लाख हो गए और यह ग्रंथ महाभारत कहलाया। गुप्तकालीन अभिलेखो मे एक लाख का उल्लेख है, यद्यपि समीक्षित सस्करण मे अभी प्रायः 82 हजार श्लोक मिलते हैं। 'सभा', 'शांति' और 'अनुशासन'—ये तीन पर्व राजनीतिक विचारो और व्यवहारों के इतिहास के लिए उपयोगी हैं। रचना की दृष्टि से सभापर्व सबसे पुराना मालूम पडता है, फिर भी इसके संकलन का काल ईसापूर्व पहली शताब्दी से पहले नही माना जा सकता। संभवतः 'अनुशासन पर्व' और 'शांतिपर्व' करीब-करीब एक ही समय संकलित हुए। निस्संदेह 'शांतिपर्व' का 'राजधर्म' प्रकरण हमारे प्रयोजन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसमे 'मनुस्मृति' से मिलते-जुलते अनेक श्लोक हैं; खासकर राजा की दैवी उत्पत्ति, ब्राह्मणो के दावे और दंड के महत्त्व के सबंध मे यह प्रकरण मुख्यतः उपदेशात्मक है, और ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'शांतिपर्व' मे ईस्वी सन् की प्रथम और चौथी शताब्दियो के बीच किसी समय सन्निविष्ट किया गया। इसमे यूनानियों, शकों और खासकर ईस्वी सन् की पहली शताब्दी मे पश्चिमोत्तर भारत में शासन करनेवाले पहलवों या पार्थियनो का भी उल्लेख है। अतः यह उक्त काल से अधिक प्राचीन नहीं माना जा सकता। इसलिए, उत्तर वैदिक काल या वेदोत्तर काल की राजनीतिक संस्थाओ के अध्ययन के लिए शांतिपर्व की सामग्री का उपयोग करना—जैसा कि अभी तक सामान्यतया किया गया है—गलत होगा। गण के गठन या काम-काज के संबंध मे इसमे जो विवेचन है वह भी वेदोत्तर काल पर सामान्य ढंग से ही लागू हो सकता है। जहां तक इसमें वर्णित राज्य का सप्ताग सिद्धांत, राजा के अधिकार, कर्तव्य, मंत्रिपरिषद का गठन, युद्ध नियम, कर के स्रोत और सिद्धांत आदि का सबंध है, ये सभी ईस्वी सन की प्रारंभिक शताब्दियों की परिस्थितियों के द्योतक हैं। राजत्त्व की उत्पत्ति संबंधी परिकल्पना 'शांतिपर्व' के 'राजधर्म' प्रकरण का सर्वाधिक उर्वर और मौलिक अंश है। इस परिकल्पना मे ब्राह्मणवादी दृष्टि से राजपद के औचित्य को बुद्धिपूर्वक सिद्ध करने का प्रथम

प्रयास किया गया है ।

परवर्ती महाकाव्य 'रामायण' न तो उतना विशाल है और न हमारे अध्ययन के लिए उतना उपयोगी ही । इसका आलोचनात्मक सस्करण भी तैयार हो गया है । ईस्वी सन के प्रारंभिक काल मे लिखे कुछ जैन और बौद्ध ग्रंथो मे इसके श्लोको की सख्या 12 हजार बताई गई है । आरभ मे केवल छह हजार श्लोक थे । गुप्तकाल तक यह सख्या 24 हजार हो गई, जो आज भी कायम है । इसके वर्ण्य विषयो मे से जो बात हमारा ध्यान बलात आकृष्ट करती है, वह है अराजक (राजा रहित) राज्य का वर्णन । इसमे राजा के कर्तव्यों, राज्य के अधिकारियो और राजनीतिक सस्थाओ का वर्णन है । लेकिन ये सारे गुप्तकालीन राजनीतिक सस्थाओं के आदर्शगत और सरलीकृत रूप प्रतीत होते हैं ।

पुराण भी महाकाव्यो की कोटि के ही हैं । इनमे भी काफी उपदेशात्मक प्रकरण हैं, जिनमें राजा के अधिकारो और कर्तव्यो और अन्य सबद्ध विषयों की चर्चा है । अनेक पुराण जैसे कि 'वायु' और 'मत्स्य' पुराण (जिनका उल्लेख 'महाभारत' मे भी है) गुप्तकाल तक पूरे हो चुके थे । ये गुप्तकालीन राजनीतिक सस्थाओ की वैचारिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं ।

इधर 'महाभारत' के राजनीतिक विचारो पर अनेक शोधप्रबंध लिखे गए हैं, और उनमे से कुछ प्रकाशित भी हुए हैं । किंतु इन शोधप्रबधों में अधिकाशत· उसी पद्धति का अनुसरण किया गया है, जिसे महाभारत में शासक जाति की स्थिति पर लिखे गए निबध मे हॉपकिस ने अपनाया था । फलत· इनसे कुछ अतिरिक्त ब्यौरे भले मिल जाए, पर ज्ञानवर्द्धन नही होता है । इसी प्रकार यदि 'रामायण' से ज्ञात सस्थाओ को कोसल के प्रारंभिक इतिहास से जोडने या रामायण मे वर्णित राज्यव्यवस्था के ऐतिहासिक परिवेश को ध्यान मे न रखा जाए तो फिर इससे हमारी ज्ञानवृद्धि नही होगी । पुराणो मे व्यक्त राजनीतिक विचारो की ओर लोगो का ध्यान थोडा-बहुत गया है, किंतु एकमात्र सार्थक प्रयास हाल मे 'अग्निपुराण'[1] पर किया गया कार्य है । यह पुराण हमारे अध्ययनकाल के दायरे मे नही पडता ।

धर्मसूत्र, स्मृतिया, महाकाव्य और पुराण धार्मिक तथा पूर्णतः ब्राह्मणवादी परपरा मे लिखे गए ग्रथ हैं । कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' मे इससे कुछ भिन्न परपरा प्रस्तुत की गई । यह ग्रथ अधिक व्यावहारिक और धार्मिक विचारो से कम प्रभावित है । यह अपने ढग का प्राचीनतम और आधारभूत ग्रथ है, इसलिए इसको लेकर विशाल साहित्य की रचना हुई है । प्राचीन भारत से सबंधित कदाचित किसी भी प्रश्न पर इतना तीव्र विवाद नही हुआ जितना कि इस ग्रथ के रचनाकाल और प्रामाणिकता को लेकर हुआ है । भारतीय विद्वान इसे मौर्यकालीन मानते हैं, जबकि यूरोपीय विद्वान इससे चार या पाच शताब्दी परवर्ती । किंतु किसी भी दशा मे 'अर्थशास्त्र' की सामग्री का उपयोग मौर्यकाल के सदर्भ में नही किया जा सकता

है।[2] इसका जैसा पाठ हमें अभी उपलब्ध है, इसको देखते हुए ऐसा नहीं लगता कि यह एक समय और स्थान पर लिखा गया समरूप पाठ है। पुस्तक का अधिकतर अंश ईसापूर्व प्रथम शताब्दी तक प्रचलित सूत्रशैली का अनुसरण करके गद्य मे लिखा गया है। किंतु इसका पद्य (श्लोक) भाग बाद मे सन्निविष्ट किया गया है। इसकी शैली पर विचार करना तो भाषाविदो का काम है, लेकिन शैली के आधार पर पाठ के विभिन्न स्तरो को एक-दूसरे से अलग करना हमारे लिए लाभदायक होगा। जहां तक भाषा का प्रश्न है, अशोककालीन प्राकृत और कौटिल्यकालीन संस्कृत का भेद तो स्पष्ट ही है। कौटिल्य ने जिन राजनीतिक संगठनो का उल्लेख किया है वे अशोककालीन अभिलेखो मे निर्दिष्ट प्रणाली से भिन्न हैं। कौटिल्य केंद्रीकरण पर जोर देता है, तो अशोक विकेंद्रीकरण पर। 'महामात्र', 'राजुक', 'प्रादेशिक', 'प्रतिवेदक' आदि अशोककालीन विशिष्ट अधिकारियो का उल्लेख 'अर्थशास्त्र' मे नही है। अशोक के अभिलेखो मे 'महामात्र' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अधिकारी प्रतीत होते हैं। 'अर्थशास्त्र' मे मात्र उनके पद 'महामात्रीयम्' का एक बार उल्लेख हुआ है, लेकिन उनके अधिकारो और कर्तव्यो का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। हां, अशोक के काल के 'युक्त' नाम एक छोटे अधिकारी की जानकारी कौटिल्य को थी, लेकिन इससे कोई खास बात साबित नहीं होती। इसी प्रकार अशोक की 'आहार' नामक प्रशासनिक इकाई की चर्चा कौटिल्य ने नही की है। दूसरी ओर 'अर्थशास्त्र' की कुछ राजस्विक तथा प्रशासनिक शब्दावली ईसा की पहली और दूसरी शताब्दियो के शासन अभिलेखो मे मिलती है। 'भोग', 'प्रणय', 'विष्टि' और 'परिहार' (तथा तरदेय) दक्षिण और पश्चिम भारत के अभिलेखों मे आए हैं और 'अर्थशास्त्र' मे भी हैं। इनमे से 'परिहार' शब्द—जिसका मतलब है अनुदत्त भूमि मे करो की माफी—बडा महत्त्वपूर्ण है। शक और सातवाहन के अभिलेखो मे इसका बार-बार प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'अमात्य' शक और सातवाहनकालीन पुरालेखों मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अधिकारी के रूप मे सामने आता है, और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी वैसे ही स्थान पर आसीन है। गरज यह कि पुरालेखिक साक्ष्यों से ऐसा सकेत मिलता है कि कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' का कुछ अंश ईस्वी सन की प्रथम दो शताब्दियों मे सकलित हुआ और इस ग्रंथ मे उल्लिखित अनेक राजस्व स्रोत ईस्वी सन की दूसरी शताब्दी की वस्तुस्थिति को प्रतिबिंबित करते हैं।

किंतु आर्थिक प्रवृत्तियों पर जिन राजकीय नियंत्रणो का उल्लेख मेगास्थनीज ने किया है उनसे कौटिल्य द्वारा सुझाए गए नियंत्रणो की आंशिक समानता को देखने से 'अर्थशास्त्र' के दूसरे अधिकरण पर, जिसमे अध्यक्षो के कर्तव्यो का विवेचन है, किंचित वास्तविक मौर्य प्रभाव परिलक्षित होता है। यही बात तीसरे और चौथे अधिकरणों पर भी लागू हो सकती है, जिनमे दीवानी कानूनो और दंडविधान पर

विचार किया गया है। जिन प्रकरणो में अंत:राज्य सबंध और युद्ध का विवेचन है वे काफी विकसित हैं और यह तय कर पाना बहुत कठिन है कि उन्हें कहां रखा जाए। इसमें सदेह नही कि सैनिक शिविर के पर्याय 'स्कंधावार' शब्द को, 'अर्थशास्त्र' के पहले अधिकरण मे वही प्रमुख स्थान प्राप्त है जो सातवाहन-अभिलेखों में देखने को मिलता है।

चूंकि 'अर्थशास्त्र' के सभी वर्ण्य विषय किसी एक काल से सबंधित प्रतीत नही होते, इसलिए उनका सक्षिप्त रूप प्रस्तुत करना इतिहासकार के लिए अधिक उपयोगी नही होगा। 15 अधिकरणों और 180 प्रकरणों में विभक्त इस ग्रंथ में करीब-करीब सभी विषय आ गए हैं—जैसे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति, आदि। किंतु इसके अधिकतर भाग में प्रशासनिक समस्याओं का विवेचन हुआ है। इसमें राज्य के सात अगो, राजा के प्रशिक्षण, कर्तव्यो और दोषो, अमात्यों और मंत्रियों की नियुक्ति और उनके कर्तव्यों, दीवानी और फौजदारी कानूनों के प्रशासन तथा शिल्पिसघों और निगमो का विवेचन है। गणतत्र एक पूरे अध्याय में वर्णित है। इसके अतिरिक्त, इस ग्रथ मे अत:राज्य सबंधों के सिद्धातों का निरूपण और सैन्यसगठन का वर्णन है। इसमे यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार युद्ध जीता जा सकता है और जीते हुए क्षेत्र मे लोकप्रियता पाई जा सकती है। किंतु इसके वर्ण्य विषयों की सबसे बडी विशेषता यह है कि राजसत्ता को अत्यंत उच्च स्थान प्रदान किया गया है और राजा को अनेक सामाजिक तथा आर्थिक दायित्व सौंपे गए हैं।

वर्ण्य विषयो के आधार पर कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' को, आधुनिक अर्थों मे, राजनीतिविज्ञान की पाठ्यपुस्तक नही माना जा सकता। यह ठीक-ठीक प्लेटो के 'रिपब्लिक' या अरस्तू के 'पॉलिटिक्स' जैसा भी नही है। इसके व्यावहारिक स्वरूप को देखे तो यह 'पॉलिटिक्स' से अधिक मिलता-जुलता लगता है। जिस प्रकार दोनो यूनानी कृतियाँ विशुद्ध रूप से राजनीतिविज्ञान के ग्रथ नहीं हैं, उसी प्रकार कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' भी मात्र राजनीतिशास्त्र की पुस्तक नही है। लेकिन इसमें कोई सदेह नही कि ग्रथ का अच्छा-खासा भाग राजनीति से सबंधित है। और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कौटिल्य ने राजनीति को धर्म और नैतिकता के प्रभाव से मुक्त करने का सजग प्रयास किया है। सच तो यह है कि राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने धर्म और नैतिकता को तिलाजलि देने का भी विधान किया है।

इस प्रकार 'अर्थशास्त्र' केवल सपत्तिशास्त्र ही नही, वरन दडनीति का शास्त्र, अर्थात राजनीतिविज्ञान भी है। कौटिल्य पाच स्कूलो और तेरह अलग-अलग लेखकों के उद्धरण देता है, जिनसे पता चलता है कि राजनीतिशास्त्र उसके काल में पूर्णरूपेण सुस्थापित हो चुका था। इनमें से कुछ लेखको का उल्लेख 'शांतिपर्व' में

भी है। यह खेद का विषय है कि कौटिल्य के पूर्ववर्ती लेखको के ग्रंथों का अभी तक पता नहीं चला है, और कौटिल्य ने जिन कुछेक अंशों को उनके चिंतन के रूप में प्रस्तुत किया है वे इतने थोड़े हैं कि उनसे कौटिल्य से पहले की राजनीतिक मान्यताओं का कोई साफ चित्र नही उभर पाता।[3]

कौटिल्य के ठीक बाद उसका अनुगमन करनेवाले कौन-से दडनीतिवेत्ता हुए, इसका तो पता नहीं चलता, किंतु पूर्वमध्यकाल मे ऐसे कुछेक विचारक अवश्य हुए। यह काल इस अध्ययन का विषय नही है। फिर भी, हम 'कामंदक नीतिसार' का उल्लेख कर सकते हैं, जो 800 ई. के आसपास सकलित हुआ। कामंदक कौटिल्य का ऋण स्पष्ट शब्दो में स्वीकार करता है। उसने उसकी सामग्री को इतनी अच्छी तरह आत्मसात किया है कि उधार ली गई सामग्री मूल से अधिक सुव्यवस्थित रूप में सामने आई है। कौटिल्य के विचारो की पुनरावृत्ति से मात्र इतना सकेत मिलता है कि उसकी विचारधारा की प्रतिष्ठा और प्रभाव परवर्ती काल मे कायम रहा। किंतु कामदक के काल की नई बातों को जानने के लिए भिन्नताओं का ध्यान रखना होगा जो उसके ग्रथ मे देखने को मिलती हैं। इनमे मे कुछ सेना और अत:राज्य सबधो के बारे मे हैं।

दूसरे 'नीतिसार' से, जो कि शुक्र का है, आधुनिक लेखको[4] ने काफी सामग्री ली है, जिसके कारण प्रारंभिक काल की भारतीय राज्यव्यवस्था पर लिखी उनकी पुस्तको के आकार मे खूब वृद्धि हुई है। किंतु इस ग्रथ का संकलन 19वी शताब्दी के आरंभ मे हुआ, इसके संबंध मे बहुत से विश्वसनीय तर्क दिए गए हैं, और इसलिए प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारों और सस्थाओ का इतिहास पढने के निमित्त इस सामग्री का प्रयोग करने के प्रलोभन से बचना चाहिए।

राज्यव्यवस्था विषयक साहित्य किसके लिए लिखा गया? निश्चय ही यह न तो सर्वसाधारण के लिए था और न उस पुरोहित (ब्राह्मण) वर्ग के लिए, जिसने इसकी रचना की थी। शासन का प्रचलित रूप राजतंत्रात्मक होने के कारण राज्यव्यवस्था संबंधी ग्रंथ राजकुमारों को शासनकला का अनुदेश और प्रशिक्षण देने के लिए लिखे गए। कौटिल्य ने राजकुमारो की शिक्षा पर उसी प्रकार एक पूरा प्रकरण लिखा है जिस प्रकार 'रिपब्लिक' मे प्लेटो ने अभिभावक वर्ग को शिक्षित करने के लिए पूरी शिक्षा योजना प्रस्तुत की है। कामदक कहता है कि उसकी पुस्तक राजा को ('भूमीश्वरं प्रति') सबोधित है।

चूंकि धर्मशास्त्र-साहित्य धर्म का, और अर्थशास्त्र अर्थ का ध्यान रखकर लिखा गया, इसलिए इन दोनो विचारधाराओ के अतर की ओर दृष्टिपात करना स्वाभाविक है। धर्मशास्त्रो का रुझान सामान्यतः ब्राह्मणो के अधिकारो को बढ़ा-चढाकर बताने की ओर है, और इनमे उन विधानों पर जोर दिया गया है जिनसे सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओ का नियमन होता है। दूसरी ओर,

अर्थशास्त्र राजा के अधिकारों को सुप्रतिष्ठित करता है और उन विधानों पर जोर देता है जिनका उद्देश्य राजनीतिक और आर्थिक ढाचे का नियमन है। प्रथम प्रकार के साहित्य का रूप सैद्धांतिक और दूसरे प्रकार का व्यावहारिक प्रतीत होता है। लेकिन दोनो के अतर को इससे आगे ले जाना सभव नही है, क्योंकि दोनों वर्णविभाजित समाज के बारे में एक सामान्य दृष्टि और आदर्श प्रस्तुत करते हैं तथा राजा को इसकी मर्यादा का रक्षक मानते हैं।

जहा तक राज्यव्यवस्था और राजनीतिक विचारो पर प्रकाश डालनेवाली बातो का सबध है, प्रारंभिक पालि धर्मग्रथ कुछ दूसरा ही चित्र प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि उनका अंतिम रूप श्रीलका मे ईसापूर्व पहली शताब्दी में निश्चित हुआ, फिर भी उनमें राजतत्रो और गणतत्रो के विषय मे जो बाते कही गई हैं उनका सबंध सभवत बुद्धकालीन मगध और कोसल की वस्तुस्थिति से है। यही बात कदाचित विभिन्न राज्यो और उनके आपसी सबधो के बारे मे भी सही हो सकती है। लेकिन जहा तक राज्यो की शासनव्यवस्था के बारे में किए गए सकेतो का सबध है, उन पर हठात विश्वास नही करना है। 'विनयपिटक' के 'महावग्ग' और 'चुल्लवग्ग' अशों में बौद्ध धर्मसस्था के गठनसबधी ढेर सारे आकडे प्रस्तुत किए गए हैं। यह कहा गया है कि जिन नियमों-विनियमो द्वारा बौद्ध भिक्षुको का समष्टिगत आचरण शासित होता था वे बुद्धकालीन गणराज्यों से लिए गए हैं। यह अनुमान चाहे जितना युक्तियुक्त दीख पडे, हमे यह पता लगाना होगा कि मूल नियमों मे कहां तक परिवर्तन किए गए और उन्हे धार्मिक सगठन की आवश्यकताओ के अनुरूप किस सीमा तक ढाला गया।

यदि यूनानी विवरणों और पाणिनि का सहारा न लिया जाए तो मौर्यपूर्व गणतत्रीय सस्थाओ के अध्ययन के लिए और कोई समसामयिक साक्ष्य नही मिलते हैं। जातको के आधार पर विद्वानो ने लिच्छवि संविधान का स्वरूप प्रस्तुत किया है, पर अपने वर्तमान रूप मे वे ईसापूर्व दूसरी शताब्दी से पहले के नही हैं। 'जातक' प्रधानत' लोककथाएं हैं। इनमें राजा के कर्तव्यो, न्याय-प्रशासन, वर्णों और जातियो तथा आर्थिक कार्यकलापो का उल्लेख हुआ है। इनके आख्यानात्मक अश को और भी पहले की स्थिति की जानकारी का आधार बनाया जा सकता है, किंतु ईस्वी सन की पाचवी शताब्दी मे श्रीलंका में सकलित इनकी टीकाओं का उपभोग शाक्य-संविधान की रूपरेखा तैयार करने के लिए कदापि नही किया जा सकता। जैसे धर्मशास्त्र-साहित्य और उसकी टीकाओ मे अतर है, उसी प्रकार प्रारंभिक पालि पुस्तकों में प्रस्तुत किए गए ढांचे और परवर्ती टीकाकारो द्वारा उसके ऊपर रचे गए ढाचे के बीच अतर है।

'दीर्घ निकाय' मे, जिसमे बुद्ध के उपदेशो का सग्रह है, राजत्व या राज्य और समाजव्यवस्था की उत्पत्ति के सबंध मे क्रमबद्ध चितन का सबसे पहला उदाहरण

सामन आता है। यह चितन 'अम्बट्ठसुत्त' मे वर्णित सृष्टि-कथा के एक हिस्से के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इस पूरे ग्रथ को ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में रखा जा सकता है, जिससे प्रकट होता है कि राज्य के उत्पत्तिविषयक क्रमबद्ध सिद्धात तब प्रतिपादित हुए जब राज्य सुस्थापित सस्था बन चुका था। 'महावस्तु' जैसे परवर्ती बौद्ध ग्रंथ, जो ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के हैं और सधुक्कडी सस्कृत (हाइब्रिड सस्कृत) में लिखे गए हैं, राजत्व की उत्पत्तिविषयक मूल कथा को ही साज-सवारकर और परिवर्द्धित रूप में रखते हैं, जबकि मूल कथासूत्र ज्यो का त्यो रह जाता है।

जैन प्राकृत ग्रथो मे, जो अंतिम रूप से ईस्वी सन् की छठी शताब्दी मे बलभी मे सकलित हुए, थोडी-बहुत उपयोगी सामग्री मिलती है, लेकिन इस सामग्री का कालक्रम ठीक से निश्चित नही हुआ है। सिद्धातनिरूपण करनेवाले कतिपय प्राचीनतम जैन ग्रथो मे भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक दृष्टि से 'उत्तराध्ययन सूत्र' सबसे पुराना ग्रथ है। जैन आगमो के पद्यो मे अन्योक्तियो, उपमाओ तथा कथोपकथनो के रूप मे जिन विषयों का वर्णन हुआ है उनमें से कुछ की चर्चा में से कुछेक प्रतिरूप जातकों और 'शातिपर्व' मे भी मिलते हैं। इस प्रकार के साहित्य में हम प्रशासन पद्धति सबंधी प्रासंगिक उल्लेखो को यत्र-तत्र ढूंढ सकते हैं। आठवी और नौवी शताब्दियो मे सगृहीत जैन पुराणों में सृष्टिकथा का वर्णन है, जिसमे राज्य और जातियो की उत्पत्ति के सबध में भी अटकले लगाई गई हैं। इन कृतियो मे विशेष रूप से राज्यपूर्व समाज का चित्र किंचित विस्तार से दिया गया है। किंतु जैन धर्म के प्राकृत ग्रथो मे उपलब्ध सामग्री प्रारंभिक राज्यव्यवस्था-विषयक आधुनिक पाठ्य पुस्तको में कोई स्थान नही पा सकी है। अभी तक जिस एकमात्र जैन ग्रंथ का उपयोग इस प्रयोजन से हुआ है, वह है 'नीतिवाक्यामृत', जिसे ईस्वी सन् की दसवी शताब्दी मे जैन ग्रंथकार सोमदेव सूरि ने लिखा। किंतु यह ग्रंथ उन पूर्ववर्ती ब्राह्मण-ग्रथो का बहुत अधिक ऋणी है, जिन्हे इसमे उद्धृत किया गया है। तो भी यह नीतिसार की शृंखला मे आता है, और पूर्व मध्यकाल की राज्यव्यवस्था पर प्रकाश डालनेवाले ग्रंथ के रूप मे इसका उपयोग लाभकर हो सकता है।

देशी साहित्यिक स्रोतो के सर्वेक्षण मे लगभग पांचवी सदी ई. पू. के पाणिनि व्याकरण और लगभग दूसरी सदी ई. पू. के पातजल महाभाष्य को शामिल किया जा सकता है। पाणिनि के व्याकरण में बहुत-से ऐसे उदाहरणों का प्रयोग किया गया है जिनमे समसामयिक गणराज्यो के उल्लेख हैं, और पतंजलि की अहमियत इस बात मे समाई हुई है कि वह प्रकारांतर से मौर्योत्तर काल की प्रशासनिक रीति पर प्रकाश डालता है। गुप्तकाल के सबध में वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' का भी ऐसा उपयोग किया जा सकता है। किंतु व्याकरण और गणित ज्योतिष या फलित

ज्योतिष के ग्रथो में प्रसगवश कही गई बातें किसी काल की राज्यव्यवस्था के अध्ययन का आधार नही बन सकती। वे हमारे ज्ञान की पूरक मात्र हो सकती हैं।

देशी साहित्यस्रोतो से प्राप्त सामग्री अनेक कठिनाइया उपस्थित करती है। पहली कठिनाई यह है कि इनमें से किसी का, और खासकर जैन ग्रंथों का, आलोचनात्मक ढग से सपादन नही हुआ है। अत. क्षेपको के कारण हमारे भ्रम में पड जाने की गुजाइश सदा बनी रहती है। दूसरी कठिनाई यह है कि ये ग्रथ अधिकाशतः उपदेशात्मक हैं, जिसके कारण प्रशासन पद्धति की सही स्थिति का पता लगाना कठिन होता है, यद्यपि इनमें राजनीतिक विचार और सिद्धात अवश्य प्रतिबिंबित हुए हैं। तीसरी यह है कि 'अर्थशास्त्र' जैसे ग्रथ के भी देशकाल के बारे मे हम निश्चित नही हैं। तथापि, कुल मिलाकर प्राचीन देशी साहित्यस्रोतों से हमें प्राचीन राजनीतिक सस्थाओ के सैद्धातिक पक्ष की जानकारी तो मिलती ही है।

पुरातात्विक परिवेश तथा सिक्को और अभिलेखो के अध्ययन से हमे राजनीतिक सस्थाओ के व्यावहारिक पहलू का पता चलता है। ये स्रोत ऊपर बताई गई कठिनाइयो से अपेक्षाकृत मुक्त हैं। किसी देश और काल के पुरातत्व को उसके राजनीतिक ढाचे के साथ बहुत परोक्ष रूप से ही जोडा जा सकता है। खेती के औजारो का पता पुरातत्व से लगता है। समाजशास्त्रियों का अनुमान है कि जिस समाज मे ठीक से खेती न चल पडी हो, वहां की सरकार पांच लाख से अधिक लोगो पर शासन नहीं कर सकती है। यदि पुरातत्व के सहारे हमे स्थायी रूप से बसे ग्रामीण समुदायो या शहरी क्षेत्रों का पता चल जाता है तो इस ज्ञान की सहायता से हम साहित्यस्रोतो मे विशाल और कुशल साम्राज्यीय सगठन की की गई कल्पना को मर्यादित करके उन्हे तथ्यों के अधिक निकट ला सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि किसी काल मे बडे पैमाने पर नगरों के अस्तित्व का साक्ष्य मिलता है तो वह इस बात का भी सकेत होगा कि उस काल में नगर प्रशासन की आवश्यकता रही होगी।

प्राचीनतम भारतीय मुद्राए, जिन्हे आहत मुद्रा कहते हैं और जो ईसापूर्व छठी शताब्दी की बताई जाती हैं, राज्यव्यवस्था के अध्ययन में अधिक सहायक नही हैं। लेकिन मौर्योत्तर काल से सिक्के हमारे प्रयोजन के लिए उपयोगी बन जाते हैं। कुषाणकालीन सिक्कों पर उत्कीर्ण उपाधियो से राजपद पर—और विशेषतया उसके दैवी पहलुओ पर—कुछ प्रकाश पडता है। अनेक कुषाण सिक्कों पर शिव की आकृति से धर्म और राजनीति का आपसी सबंध स्पष्ट होता है। सिक्कों से पता चलता है कि कुछ राज्य, जैसे कि कुणींदो का राज्य, देवताओ को अर्पित थे। कुछेक समकालीन सिक्को पर राजाओ के नही, बल्कि कबीलो या जनजातियो के नाम हैं, जैसे कि मालव और यौधेय, जिससे यह सकेत मिलता है कि ये गणराज्य थे। गुप्तकालीन सिक्को से अधिक जानकारी नही मिलती, फिर भी इन पर उत्कीर्ण

कुछ उपाधियों और अभिलेखों से हम राजत्व और प्रशासन का स्वरूप निर्धारित कर सकते हैं। स्थानाभाव के कारण सिक्कों पर बहुत अधिक बातें नहीं अंकित की जा सकतीं, लेकिन उन पर थोड़ी-बहुत जो भी सामग्री अंकित है, वह प्रशासनिक इतिहास के लिए महत्त्व की है।

जो कुछ सिक्कों पर संक्षेप में अंकित है वही अभिलेखों में विस्तार से उत्कीर्ण किया गया है। जिन्हें पढ़ा जा सका है, ऐसे सबसे पहले भारतीय अभिलेख अशोक के हैं। साम्राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक शिलाखंडों और स्तंभों पर खुदे ये लेख सामाजिक, धार्मिक तथा प्रशासनिक आचरणों को विनियमित करने के निमित्त जारी किए गए राजकीय समादेश या उद्घोषणाएं हैं। ये सामान्यतः प्राकृतिक भाषा और ब्राह्मी लिपि में खुदे हैं पर कुछ अभिलेख खरोष्ठी लिपि और ग्रीक भाषा में भी पाए जाते हैं। अशोक की राजाज्ञाओं को धर्मलेख कहा गया है, लेकिन इनमें ऐसे विषयों का उल्लेख नहीं है जिन्हें विशुद्ध रूप से धार्मिक कहा जा सके। इसके विपरीत इनके विषय हैं राजा और परिसा (परिषद) के आपसी संबंध, न्याय प्रशासन, राजकों और महापात्रों जैसे उच्चपदस्थ राज्याधिकारियों के अधिकार और कर्तव्य, तथा राजा के पितृवत आदर्श। यद्यपि कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में अशोककालीन अधिकांश अधिकारियों का उल्लेख नहीं है, किंतु मेगास्थनीज और कौटिल्य की कृतियों से मोटे तौर पर जिस व्यापक राजकीय नियंत्रण का संकेत मिलता है, अशोक द्वारा अपने राजत्वकाल के प्रारंभ में जारी किए गए आदेशों से सामान्यतः उसकी पुष्टि होती है।

मौर्योत्तर और गुप्तकालीन अभिलेख मोटे तौर पर गैरसरकारी और सरकारी, इन दो कोटियों में आते हैं। गैरसरकारी अभिलेख मुख्यतः अनुदान लेख हैं, जो छोटे होने पर भी सामान्यतः दाताओं की सरकारी हैसियत का वर्णन करते हैं। ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों ही लिपियों में लिखे ये अभिलेख अपने काल के प्रशासनतंत्र पर काफी प्रकाश डालते हैं।

सरकारी अभिलेखों में कुछ तो प्रशस्तियां हैं, किंतु सामान्यतः शासन पत्र या भूमि अनुदान पत्र हैं। प्रशस्तियों में राजाओं की बहुमुखी उपलब्धियों, उनकी विजयों, उनके द्वारा दिए गए धार्मिक अनुदानों आदि का गुणगान है। इस कोटि में खारवेल का हाथिगुंफा अभिलेख और समुद्रगुप्त का इलाहाबाद अभिलेख आते हैं। पहले में खारवेल के राजत्व काल की वर्षवार घटनाएं दी गई हैं और उसकी शिक्षा, राजतिलक तथा नगरीय और ग्रामीण लोगों (पौर जानपदों) पर किए गए उसके अनुग्रहों की चर्चा है। दूसरे अभिलेखों से हमें विभिन्न कोटियों के उन राजाओं और गणों के साथ समुद्रगुप्त के संबंधों की जानकारी प्राप्त होती है जिन्हें उसने जीत लिया था और जिनके साथ अब अधीनस्थ सामंतों और करदों जैसा व्यवहार किया जाता था।

किंतु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कोटि के सरकारी अभिलेख वे भूमि अनुदान पत्र हैं, जिन्हे जारी करने का क्रम सबसे पहले सातवाहनो ने आरभ किया। यह सिलसिला काफी व्यापक पैमाने पर 13वी-14वी शताब्दी तक चलता रहा जिसके बाद तुर्क मुसलमानो की भारत-विजय और कागज के प्रचलन के फलस्वरूप यह प्रवृत्ति कमजोर पडती गई। वैसे ये अनुदान अधिकाशतः धार्मिक प्रयोजनों से दिए गए हैं, फिर भी इनमे राजस्विक और प्रशासनिक इकाइयों के उल्लेख हैं, राजस्व के स्रोतों का वर्णन है, और जिन अधिकारियों को भूमि दान की सूचना दी गई है उनके नाम हैं। अशोक की राजकीय उद्घोषणाए सिर्फ एक-दो अधिकारियों को संबोधित हैं, जिनमे कुमार या आर्यपुत्र नामक प्रातीय शासक तथा महामात्र नामक उच्चाधिकारी आते हैं। सातवाहनो के राजकीय शासन पत्र सदा अमात्यों को ही सबोधित हैं। गुप्तकाल से शासन पत्रो मे उल्लिखित अधिकारियों की संख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और पूर्व मध्यकाल मे पाल राजाओ के शासन पत्र मे इनकी सख्या तीन दर्जन तक पहुच गई। इन अभिलेखो मे प्रयुक्त राजस्विक और *प्रशासनिक शब्दो का अर्थ लगाना आसान नही है*, *फिर भी ईस्वी सन् की प्रथम* शताब्दी से यही शब्द हमे कराधान और शासनपद्धति की जानकारी सुलभ करानेवाले एकमात्र विश्वसनीय स्रोत का काम करते हैं। यदि गुप्तकालीन अभिलेखो का वाचन समकालीन स्मृतियों के साथ मिलाकर किया जाए तो इस काल की राज्यव्यवस्था का अच्छा-खासा चित्र हमारे सामने आ जाएगा।

जिन अभिलेखो मे काल का उल्लेख किया गया है उन्हे भी पुरालिपिशास्त्र (पैलियोग्राफी) के आधार पर छोटे-छोटे क्रमिक कालखडो मे विभक्त किया जा सकता है, और इसलिए प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था के अध्ययन मे उनका महत्त्व विधिग्रथो से कतई अधिक है। राजस्विक और प्रशासनिक अर्थ रखनेवाले पारिभाषिक पुरालेखीय (एपिग्राफिक) शब्दो की सहायता से हम कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र', धर्मशास्त्रो और अन्य सबद्ध साहित्य के विभिन्न स्तरो का काल-निर्धारण कर सकते हैं। 'प्रणय', 'विष्टि', 'हिरण्य', 'परिहार', 'दीनार', 'सांधिविग्रहिक', 'कारणिक' आदि शब्दो का उपयोग हम कसौटी के रूप मे कर सकते हैं और ऐसा मान सकते हैं कि यदि अमुक अभिलेखो मे उल्लिखित शब्द अमुक ग्रथो मे भी आए हैं तो वे ग्रथ उसी काल के आसपास के होगे जिस काल के वे अभिलेख हैं। यद्यपि दिनेशचद्र सरकार की पुस्तक 'इडियन एपिग्राफिकल ग्लासरी' में सर्वत्र यह नही बताया गया है कि इन शब्दो का प्रथम प्रयोग कब और किस खास क्षेत्र मे हुआ, फिर भी यह पुस्तक इनका पता लगाने के लिए एक सुविधाजनक और उपयोगी चयनिका (कर्पोडियम) है। यदि पाडुरग वामन काणे की पुस्तक 'हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र' और लक्ष्मणशास्त्री जोशी की पुस्तक 'धर्मकोश' का अध्ययन *उपर्युक्त 'ग्लॉसरी' मे मिलाकर किया जाए तो भारत की*

प्रारंभिक काल की राज्यव्यवस्था के अध्ययन के दो महत्त्वपूर्ण स्रोतो के बीच के अंतराल को दूर करने मे सहायता मिलेगी।

सामग्री के स्रोतो का सर्वेक्षण तब तक पूर्ण नही होगा जब तक यूनानी और चीनी विवरणों का हवाला नही दिया जाए। इनमे प्रशासनपद्धति से सबंधित कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य विद्यमान हैं। महान सिकंदर का उल्लेख भारत के समसामयिक स्रोतों में नही मिलता। पर उसके काल के यूनानी इतिहासकारों ने उसके भारतीय अभियान (ई. पू 327-325) के विस्तृत ब्यौरे रख छोडे हैं। इनमे से कुछ में उन राज्यों के आतरिक गठन का वर्णन है जिनके साथ पंजाब और सिंध मे मुकाबला हुआ। चूंकि यूनान मे नगर राज्यों का प्रचलन था, इसलिए यूनानी लेखक कुछ राज्यो को नगर राज्य की पद्धति पर गठित बताते हैं; फिर भी इसमे सदेह नहीं कि ईसापूर्व चौथी शताब्दी मे अनेक गणराज्य पश्चिमोत्तर भारत में फूले-फले थे। मौर्य शासन प्रणाली का अध्ययन करने के लिए मेगास्थनीज का विवरण अत्यत महत्त्वपूर्ण है। यह पाटलिपुत्र में चद्रगुप्त मौर्य के दरबार में राजदूत के रूप मे रहा था। यद्यपि अभी तक उसकी सारी 'इडिका' प्राप्त नही हो सकी है, और परवर्ती लेखकों ने उसके जो छिटपुट उद्धरण दिए हैं उन्हें एरियन जैसे यूनानी लेखकों ने हर प्रसंग में विश्वसनीय नहीं माना है, फिर भी एकमात्र उसी का विवरण ऐसा है जिसका काल निश्चित है। चूंकि कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' का कालनिर्धारण संदेह से परे नहीं है, इसलिए मेगास्थनीज से दिए गए उद्धरण ही मौर्यसाम्राज्य के सस्थापक के प्रशासन के विषय मे हमारी जानकारी के एकमात्र निश्चित और प्रत्यक्ष स्रोत हैं। इन उद्धरणों में राजा की दिनचर्या, पार्षदो के मुख्य कार्यों और साथ ही सिंचाई आदि कार्यकलापो पर नियत्रण रखनेवाले दंडाधिकारियो (मजिस्ट्रेटों) के प्रमुख दायित्वों का भी वर्णन है। इनमे पाटलिपुत्र का नगर प्रशासन और साम्राज्य के सैन्यसंगठन का खाका तथा साथ ही राजतत्र के पतन और लोकतंत्री राज्यो के उत्थान से संबंधित अनुश्रुतियां अभिलिखित हैं। मौर्योत्तर कालसबंधी यूनानी और लातीनी विवरण आर्थिक इतिहास के लिए खासतौर से महत्त्वपूर्ण हैं।

गुप्त और गुप्तोत्तर कालो की जानकारी के लिए चीनी यात्रियो के विवरण उपयोगी हैं। यद्यपि फाहियान और ह्वेनत्साग—दोनो भारत के बौद्ध धर्म की स्थिति का पता लगाना चाहते थे, फिर भी प्रशासन संबंधी कुछ बातो का उल्लेख उन्होने किया है। फाहियान ने द्वितीय चद्रगुप्त के शासनकाल मे 399 से 414 ईस्वी के बीच भारत की यात्रा की और अपने विवरण में उसने मध्य देश, अर्थात आधुनिक उत्तरप्रदेश और पश्चिमी बिहार, की शासन-प्रणाली की चर्चा की है। उसने राजा के परिचरो और अगरक्षकों को वेतन देने की रीति भी बतलाई है। किंतु इस चीनी यात्री ने गुप्त राजा या गुप्त साम्राज्य के बारे मे उस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से

कुछ नही कहा है जिस प्रकार ह्वेनत्साम ने हर्षवर्धन के बारे में कहा है। ह्वेनत्साग ने ईस्वी सन् 629 और 641 के बीच मे भारत का भ्रमण किया। उसका विवरण अधिक विस्तृत और सुनिश्चित है। उसने अपने संरक्षक की शासनपद्धति की प्रशंसा की है और उसकी सैन्य शक्ति का आकडा बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया है। किंतु फिर भी, ह्वेनत्साग ही वह एकमात्र महत्त्वपूर्ण स्रोत है जिसके माध्यम से हर्षवर्धन की राजस्वव्यवस्था और सैन्यपद्धति की जानकारी प्राप्त होती है।

यूनानी और चीनी भाषाओ से अनभिज्ञ रहने के कारण अधिकांश विद्वानों को अंगरेजी अनुवादों पर निर्भर रहना पडता है जो अब सौ वर्ष पुराने हो चुके हैं और जिनका पुनरीक्षण नितात आवश्यक है। यूनानी विवरणों मे मिलनेवाले भूस्वामित्व या उत्पादन में राजा के हिस्से से सबंधित अत्यंत महत्त्वपूर्ण अवतरणों का अनुवाद अनेक प्रकार से किया गया है। इसी प्रकार अधिकारियो को वेतन देने की विधि से सबंधित फाहियान के अवतरणों का भी तीन भिन्न-भिन्न प्रकार से अनुवाद किया गया है। अतः इस तरह के सभी प्रसंगो मे यह तय करना होगा कि सही अनुवाद क्या होगा। यूनानी और चीनी लेखको के बौद्धिक परिवेश का भी खयाल रखना होगा, क्योंकि भारतीय शासनपद्धति के वर्णन मे उन्होने अपने-अपने देश की प्रशासनिक रूढ़ियो का सहारा लिया है। हमे 19वी शताब्दी के अनुवादकों और प्रस्तावना लेखको की दृष्टियों के बारे में भी सावधान रहना होगा क्योंकि एक तो उस समय भारत के सबध में बहुत सीमित ज्ञान उपलब्ध था और दूसरे वे भारतीय समाज और सस्थाओ को गतिहीन मानते थे।

उन्नीसवीं सदी मे, बल्कि बीसवी सदी के भी प्रारंभिक वर्षों मे, जनगणना-अधीक्षको, नृतत्वशास्त्रियों, मिशनरियो और अन्य लोगों ने हिंदू रियासतों की प्रशासनिक रूढ़ियो और रीतियो के सबध मे जो कुछ लिखा है उससे एक हद तक धर्मशास्त्रो के विधान पर प्रकाश पड सकता है। कुछेक प्राचीन रीतिरिवाज हाल तक कायम रहे हैं। उदाहरणस्वरूप नेपाल और उडीसा मे हाल तक यह प्रथा प्रचलित थी कि वहा के हिंदू राजा लोगो को श्रेष्ठतर जाति मे शामिल करते या निम्नतर जाति में च्युत करते थे। यह प्रथा हमे धर्मशास्त्रों के उस नियम की याद दिलाती है जिसमे राजा को वर्णव्यवस्था का रक्षक बताया गया है। इसी प्रकार यह हमे 'अर्थशास्त्र' का स्मरण कराती है, जिसके अनुसार राजा इस व्यवस्था का प्रवर्तक भी है। पुरानी प्रशासनिक उपाधिया और शब्द, जैसे अमात्य, नायक, सामत, (चौरोद्धरणिक से) चौधरी, महामात्र, (दण्डपाशिक से) दडौसी, (कोष्ठागारिक) कोठारी, (विष्टि से) बैठ, आदि जो अभी भी खासतौर से उन प्रातो मे प्रचलित हैं जिन पर भारत-फारसी प्रशासन पद्धति की गहरी छाप नही पडी, यदि अधिक पहले से नही तो कम-से-कम गुप्तकाल से तो चले ही आ रहे हैं। इन उपाधियों को धारण करनेवाले परिवारों मे प्रचलित परपरा की कुछ जानकारी

प्राप्त की जाए तो उससे इस बात के संकेत मिल सकते हैं कि मूलतः इन्हें कौन से कार्य सौंपे गए थे।

कुल मिलाकर प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों और संस्थाओं के अध्येताओं की चिंता का विषय यह नहीं है कि सामग्री का अभाव है, बल्कि यह कि जो सामग्री है उसकी ठीक से छानबीन नहीं हुई है। दुर्भाग्यवश अधिकांश मूल सामग्री आंख मूंदकर ज्यों की त्यों स्वीकार कर ली गई है, यद्यपि ऐसी बहुत-सी सामग्री का देशकाल और प्रामाणिकता अनिश्चित है। साहित्यिक सामग्री का सावधानी से उपयोग करने की आवश्यकता है। यदि 'ब्राह्मणों' का काल ईसापूर्व 1000 वर्ष रखा जाए, संपूर्ण 'महाभारत' का उपयोग मौर्यपूर्व काल के लिए और 'शुक्रनीतिसार' का 600 से 1200 ई. तक की स्थिति के लिए किया जाए[2], तो स्पष्ट है कि राजनीतिक विचारों और संस्थाओं का सही इतिहास तैयार नहीं हो पाएगा। राजनीतिक चिंतन तथा प्रशासन के विकास का स्पष्ट बोध प्राप्त करने के लिए यह निर्णय करना आवश्यक है कि कौन-से ग्रंथ कब रचे गए। अनेक प्राचीन ग्रंथ संग्रह के रूप में पाए जाते हैं; इसलिए एक धर्मशास्त्र और दूसरे धर्मशास्त्र के बीच तथा एक पुराण और दूसरे पुराण के बीच सरसरी निगाह से देखने से अंतर नहीं मालूम पड़ता है। ऐसे ग्रंथ का इतिहास के लिए ठीक से उपयोग तभी हो सकता है यदि यह पता चले कि इसका कौन-सा अंश बिलकुल अपना है जो और ग्रंथों में नहीं पाया जाता है। अभिलेखों से प्रस्तावना वाले हिस्सों को तथा जिन हिस्सों में वे पारंपरिक बातें कही गई हैं जो सामान्यतः सभी अभिलेखों में देखने को मिलती हैं, उनको हटाकर उनके अभिलक्षक (टिपिकल) अंशों का पता लगाना आसान है, किंतु किसी स्मृति, पुराण या नीतिसार के संबंध में ऐसा करना बहुत कठिन है, क्योंकि इनमें से अधिकांश अपने ढंग के पूर्ववर्ती साहित्य से प्रचुर सामग्री उधार लेकर तैयार की गई सार-संग्रह किस्म की रचनाएं हैं। जब तक ऐसे ग्रंथों के अभिलक्षक (टिपिकल) अंश अलग नहीं कर लिए जाते, जैसाकि 'अग्निपुराण' के संबंध में किया गया है, तब तक प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था के अध्येता उनका सही उपयोग नहीं कर सकते। और अंत में हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि धर्मशास्त्रों और साहित्यिक ग्रंथों का उपयोग मुख्यतः राजनीतिक सिद्धांतों के इतिहास के लिए किया जा सकता है, किंतु शासन प्रणाली के इतिहास की पुनर्रचना के लिए एक तो सिक्कों और अभिलेखों का सहारा लेना होगा, दूसरे विदेशी विवरणों का और तीसरे आधुनिक युग में दिखाई पड़नेवाले प्राचीन व्यवस्था के अवशेषों का।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 बी बी मिश्र, पॉलिटी इन दि अग्निपुराण, कलकत्ता, 1965
2 यू एन घोषाल ने 'ए हिस्टरी ऑफ इंडियन पब्लिक लाइफ' (आ यू प्रे, 1966) के दूसरे अध्याय में यही किया है
3 यू एन घोषाल ने ए हिस्टरी ऑफ इंडियन पॉलिटिकल आइडियाज' के पाचवें अध्याय में इस पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है
4 एक महत्त्वपूर्ण दृष्टात ए एस अल्तेकर कृत 'स्टेट एड गवर्नमेंट इन एंशिएट इंडिया' है.
5 अल्तेकर ने 'स्टेट एड गवर्नमेंट इन एंशिएट इंडिया' में सामान्यत ऐसा ही किया है.

3. सप्तांग राज्य सिद्धांत

यद्यपि उत्तर वैदिक संहिताओ और ब्राह्मण ग्रथो मे विविध यज्ञों और विविध विधानों की सैद्धांतिक व्याख्या की गई है, तथापि हमें न तो वैदिक साहित्य मे, और न प्रारंभिक विधि ग्रंथों अर्थात धर्मसूत्रों में ही राज्य की कोई परिभाषा मिलती है। कारण यह है कि तब तक राज्य की संस्था ठोस रूप से स्थापित नहीं हो पाई थी। बुद्ध के युग में कोसल और मगध जैसे सुसंगठित राज्यों के उत्थान के बाद सबसे पहले कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में इसे सात अंगों से युक्त संस्था बतलाया गया। यह परिभाषा बाद के ग्रंथों के लिए सूत्ररूप बन गई। ईसा की सोलहवी शताब्दी[1] में 'सरस्वतीविलास' नामक ग्रंथ के रचनाकार ने गौतम धर्मसूत्र को उद्धृत करते हुए इस सिद्धात के प्रतिपादन का श्रेय गौतम को दिया है।[2] किंतु वस्तुतः इसका मूल उस ग्रंथ में नहीं ढूंढ़ा जा सकता। जैसा कि अन्यत्र बतलाया गया है, इस ग्रंथ में काफी हेर-फेर किया गया प्रतीत होता है, और इसलिए लगता है, यह एक परवर्ती संकलन है।[3] यद्यपि कुछ प्रारंभिक धर्मसूत्रो में भी 'राजा', 'अमात्य', 'विषय' आदि कतिपय अंगों का उल्लेख मिलता है, लेकिन हमें राज्य की पूर्ण परिभाषा सबसे पहले कौटिल्य से ही प्राप्त होती है।

कौटिल्य ने जिन सात अंगो का उल्लेख किया है : वे हैं, स्वामी, 'अमात्य', 'जनपद', 'दुर्ग', 'कोश', 'दंड' और 'मित्र'।[4] राज्य व्यवस्था संबंधी अधिकांश ग्रथों मे इन सातों अंगों का उल्लेख मिलता है,[5] यद्यपि कुछेक में कुछ अंगों के भिन्न पर्यायो का प्रयोग हुआ है। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में, जो ईसा की करीब पांचवी शताब्दी की रचना है,[6] स्वामी और अमात्य के बदले क्रमशः साम (शांतिस्थापन) और दान नामक दो नए अंगों का उल्लेख है।[7] किंतु ध्यातव्य है कि यह उल्लेख अंतःराज्य संबंधो के संदर्भ में किया गया है और इस अंतर का कारण भी शायद यही है। स्पष्ट है कि इन दो अंगों का आपस में मेल नही बैठता, और इसमें कोई संदेह नहीं कि कौटिल्य ने राज्य की जो सप्तांग परिभाषा दी है उसे करीब-करीब सभी लेखकों ने राज्य के प्रामाणिक गुणनिर्देश के रूप मे स्वीकार किया है। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में भी अन्यत्र सही परिभाषा उद्धृत की गई है।[8] हां, *'शांतिपर्व' की कुछेक पांडुलिपियो मे एक अंतर मिलता है।* इस पर्व के समीक्षित संस्करण[9] मे 'अष्टांगिक राज्य' शब्दपद का प्रयोग मिलता है, लेकिन आठवें अंग

का उल्लेख कही नही है।

'अर्थशास्त्र' में जहां पर सभी अंगों का विवेचन किया गया है, वहां दो अंगो, अमात्य और दुर्ग, की परिभाषा नही दी गई है। इन दो का विवेचन पृथक् रूप से किया गया है। किंतु कुल मिलाकर इसमें सप्ताग का विवेचन सांगोपाग और क्रमबद्ध है जो अन्यत्र दुर्लभ है। परवर्ती ग्रंथो में इन अंगो के पारस्परिक संबंधों के बारे में 'अर्थशास्त्र' से कुछ भिन्न बातें कही गई हैं, लेकिन कौटिल्य की परिभाषा मे उन्होंने कोई महत्त्व का परिवर्तन नही किया है। अतः सप्ताग के विश्लेषण के लिए हमें कौटिल्य की परिभाषा पर निर्भर रहना है।

स्वामी का अर्थ है प्रधान या अधिपति। इसका उल्लेख सभी स्रोत ग्रंथों मे इसी रूप में हुआ है।[10] सभवत· राजतत्र और गणतंत्र, दोनों के प्रधान को राजा की संज्ञा दी गई है, क्योंकि कौटिल्य 'राजा' पर आनेवाली विपत्तियो पर विचार करते समय 'वैराज्य', अर्थात राजारहित राज्य, की कमजोरियों का भी उल्लेख करता है।[11] जहां तक पुरालेखो का सबध है, 'स्वामी' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम शक अभिलेखों में हुआ है। ध्यान देने की बात है कि सप्तांग सिद्धात के प्रतिपादन के परिवेश मे राज्य के प्रधान के लिए किसी भी ग्रथ में राजा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है; इसके बजाय स्वामी[12] शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है अधिपति। चूंकि इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम कौटिल्य ने किया है, इसलिए इसका सही अर्थ अर्थशास्त्र मे व्यक्त किए गए अन्य विचारों के संदर्भ में अच्छी तरह समझा जा सकता है। इस शब्द के प्रयासो के द्वारा राज्य के प्रधान के आधिपत्य पर जोर दिया गया है क्योंकि कौटिल्य द्वारा वर्णित व्यवस्था में राज्यप्रधान को अत्यंत उच्च स्थिति प्रदान की गई है। अर्थशास्त्र मे स्वाम्युचित गुणों का किंचित विस्तार से विवेचन किया गया है। उसके मतानुसार स्वामी को आभिजात्य, प्रज्ञा, उत्साह तथा वैयक्तिक गुणों से सपन्न होना चाहिए। आभिजात्य से उत्पन्न होनेवाले गुण पर जोर देने की यह बात सामान्य कुलों में उत्पन्न व्यक्तियों के राजपद पाने की कोई सभावना नही छोड़ती।[13]

दूसरा अग है 'अमात्य', इसका उल्लेख भी सभी ग्रथो में इसी रूप मे हुआ है। यहा यदि अमात्य के सामान्य पर्याय मंत्री शब्द का प्रयोग करें तो उससे यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि अमात्य मत्री के रूप मे काम करने के लिए रखे जाते थे। मंत्रियों की संख्या थोडी होती थी जब कि 'शांतिपर्व' जैसी परवर्ती रचनाओ में भी अमात्यो की सख्या सैंतीस बताई गई है। वे मंत्रियो से, जिनकी संख्या आठ[14] विहित की गई है, भिन्न बताए गए हैं। 'अर्थशास्त्र' मे अमात्य एक स्थायी सेवा-सवर्ग (सर्विस काडर) के सदस्य हैं। इसी संवर्ग से प्रधान पुरोहित, मत्री, समाहर्ता, कोषपाल, दीवानी और फौजदारी मामलों की देख-रेख के लिए जिम्मेदार अधिकारी, अंतःपुर का प्रबंध करनेवाले अधिकारी, दूत, विभिन्न विभागों के

अधीक्षक आदि उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है।[15]

अमात्य परिषद पर विचार करते समय भी कौटिल्य मंत्रियों और अमात्यों के अतर का ध्यान रखता है। वह मंत्रियों की संख्या तीन या चार तक सीमित रखता है, लेकिन अमात्यों के संबंध में कहता है कि इनकी संख्या इनके नियोक्ता की क्षमता पर निर्भर होनी चाहिए।[16] अमात्यों के लिए अपेक्षित योग्यता बताते हुए उसका कहना है कि देश, काल और कार्य की आवश्यकताओं को देखकर किसी को भी अमात्य नियुक्त किया जा सकता है। लेकिन यह बात मंत्रियो के साथ नहीं लागू की जा सकती।[17] यहां वह सात विचारको के मतो को उद्धृत करता है, जिनमे से दो आनुवंशिकता और आभिजात्य पर आधारित पात्रता को अधिक महत्त्व देते हैं।[18]

चूंकि कौटिल्य का 'अमात्य' और पालि का 'अमच्च' दोनो एक ही हैं, इसीलिए प्रारंभिक पालि ग्रंथों के आधार पर हम उसके स्थान और कार्यों को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। जातको से पता चलता है कि अमात्य सैकडों की संख्या में नियुक्त किए जाते थे, और ग्रामीण, विक्रय कार्यों के पर्यवेक्षक, न्यायाधीश, सांसारिक और आध्यात्मिक विषयों के मार्गदर्शक, सर्वेक्षक आदि के रूप में कार्य करते थे।[19] अधिकाश उल्लेखो से प्रकट होता है कि अमच्चों (अमात्यों) को व्यवहारों (वोहार) अर्थात कानूनी विवादों को निबटाने और विनिश्चय (विनिच्चय) अर्थात आरोपों की सुनवाई करने के लिए न्यायाधीशो और दडाधिकारियों के रूप में नियुक्त किया जाता था।[20] प्रारंभिक बौद्ध ग्रंथों से इस मत की पुष्टि नहीं होती कि यूरोप के नाइटो की तरह अमात्यो का कोई विशेष वर्ग था।[21] इसके विपरीत ऐसा प्रतीत होता है कि अमात्य मंत्रियों या नाइटों अर्थात अभिजात वर्ग के लोगो के बजाय अक्सर सामान्य प्रकार के अधिकारी होते थे। शुरू में ये राजा के सखा, मित्र और सभासद प्रतीत होते हैं, जिनका शायद उससे कौटुम्बिक संबंध भी होता था, किंतु कालांतर मे वे राज्याधिकारी बन गए। उनकी स्थिति मे परिवर्तन का यह क्रम शायद प्राङ्मौर्य काल मे शुरू हुआ और मौर्य काल में स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा। अमात्यों के संबंध में कौटिल्य के विचार जातकों में इनके दिए गए स्थान से प्रायः संगत हैं। कौटिल्य ने इन्हें खेती-बाड़ी की निगरानी, दुर्ग-निर्माण की देख-रेख, जनपद-कल्याण, विपत्तियों के निवारण, अपराधियो को दंड देने और राजकीय पावनो की तहसील जैसे कार्य सौंपे हैं।[22] इससे प्रकट होता है कि अमात्य शब्द का प्रयोग शासन चलानेवाले विभिन्न प्रकार के अधिकारियो के लिए किया गया है। कामंदक ने भी अमात्य का प्रयोग जातिवाचक अर्थ में ही किया है लेकिन वह इसे सचिव के साथ मिला देते हैं, क्योंकि अमात्यो की योग्यता निश्चित करते समय वह अमात्य और सचिव दोनों शब्दो का प्रयोग बिना किसी भेद के करते हैं।[23] किंतु कामंदक के अमात्य मंत्रियो से भिन्न हैं। मंत्रियो का कर्तव्य राजा को परामर्श देना और मंत्र (मंत्रणा) की रक्षा करना है।[24] दोनो के बीच का अंतर एक

स्थान पर साफ कर दिया गया है, जहां कहा गया है कि राजधानी में रहते हुए राजा को, कोष और सेना से सज्जित होकर, अपने मंत्रियों और अमात्यों के साथ मिलकर अपने राज्य के कल्याण का विचार करना चाहिए।[25] मौर्योत्तर काल में अमात्यो को आमतौर पर सचिव कहते थे, और, जैसा कि रुद्रदामन के अभिलेख[26] में प्रयुक्त मतिसचिव और कर्मसचिव शब्दों से स्पष्ट है, ये सरकारी अमलो के उस सामान्य सवर्ग (काडर) के सदस्य होते थे जिसमें से बड़े-बड़े पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी।

तीसरा अग 'जनपद' है। इसका शाब्दिक अर्थ जनजातीय बस्ती है। दो मौर्योत्तर ग्रथो[27] मे इसका उल्लेख 'राष्ट्र' के रूप में और एक गुप्तकालीन विधिग्रथ[28] मे मात्र जन के रूप में हुआ है। राष्ट्र शब्द स्पष्टतया भूभाग का बोधक है, जबकि जन शब्द नि सदेह जनसख्या का बोधक है। 'अर्थशास्त्र' मे परिभाषित जनपद शब्द से यह सकेत मिलता है कि इसमें भूभाग और जनसंख्या दोनों का समावेश है। उसमें कहा गया है कि भूभाग में अच्छी जलवायु, पशुओं के लिए चरागाह और कम मेहनत से उपज देनेवाली भूमि होनी चाहिए। इसमें ऐसे परिश्रमी कृषकों का निवास होना चाहिए जो कर और दड का बोझ वहन करने की क्षमता रखते हो। इसमें बुद्धिमान मालिक होने चाहिए और निम्न वर्णों के लोगो की बहुलता रहनी चाहिए, तथा इसकी प्रजा स्वामिभक्त एव निष्ठावान होनी चाहिए।[29] कामदक इस कथन को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भूभाग मे शूद्रों, कारीगरों, व्यापारियो तथा परिश्रमी और उद्यमी कृषकों का निवास होना चाहिए।[30] गुप्तकालीन दो पुराणो मे कहा गया है कि राजा को ऐसे देश में रहना चाहिए जिसमें ज्यादातर वैश्य और शूद्र, थोड़े से ब्राह्मण और अधिक सख्या में भाड़े के श्रमिक हों। इस प्रकार जिन स्रोतों से जनसख्या के स्वरूप का पता चलता है उन सबमें इस बात पर जोर दिया गया है कि उसमे उत्पादकों की संख्या प्रमुख होनी चाहिए।[31] सामान्यत. इनमें भूभाग का आकार या जनसख्या निर्धारित नही की गई है, यद्यपि उस भूभाग को बसाने के सबध मे कौटिल्य का कहना है कि ग्राम में एक सौ से पाच सौ तक परिवार होने चाहिए, और 'स्थानीय' में, जो 'जनपद' की सबसे बड़ी इकाई है, आठ सौ ग्राम होने चाहिए।[32]

कौटिल्य द्वारा उल्लिखित चौथा अग 'दुर्ग' है, जिसे मनु ने 'पुर' कहकर तीसरा स्थान दिया है।[33] दुर्ग से किले का बोध होता है।[34] लेकिन 'पुर' के पर्याय के रूप में 'दुर्ग' को किलाबद राजधानी का बोधक मानना चाहिए, और यही अर्थ कौटिल्य के 'दुर्गविधान' और 'दुर्गनिवेश' नामक दो पृथक प्रकरणों मे भी निकाला जा सकता है। 'दुर्गविधान' मे किले के निर्माण[35] का वर्णन है और 'दुर्गनिवेश' में राजधानी की योजना और विन्यास बताया गया है।[36] 'शांतिपर्व' मे 'जनपद' और 'पुर' का भेद किया गया मालूम होता है। जनपद से देहात का और पुर से राजधानी का बोध

होता है।[37] अन्य अंगों की विशेषताओं की चर्चा करते हुए कौटिल्य ने दुर्ग का भी उल्लेख किया है, जिसकी विशेषताओं पर उन्होंने 'दुर्गनिवेश' प्रकरण में प्रकाश डाला है।[38] राजधानी केंद्रीय स्थान पर बनाई जानी चाहिए। इसकी योजना बनाने में विभिन्न वर्णों के लोगों, कारीगरों और देवताओं के लिए अलग-अलग क्षेत्र छोड़े जाने चाहिए।[39] यह ध्यातव्य है कि इस संबंध में ऊन, धागा, बांस, कच्चे चमड़े, हथियार आदि का काम करनेवाले कारीगरों, धातुकर्मियों और रत्नकर्मियों तथा विभिन्न प्रकार के शिल्पियों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।[40] इस प्रकार शिल्पिवर्ग को शायद महत्त्वपूर्ण समझा गया है कि वह प्रतिरक्षा की दृष्टि से विशेष उपयोगी था।

कोष या खजाना कौटिल्य के ग्रंथ और अन्य स्रोतों में भी पांचवें अंग के रूप में आया है। कौटिल्य के अनुसार राजा को नेक और वैध उपायों से संचित कोष रखना चाहिए, या उसे इन्हीं उपायों से समृद्ध बनाना चाहिए।[41] सोने-चांदी और रत्नादि से भरे-पूरे कोष को ऐसा समृद्ध होना चाहिए कि अकाल आदि विपत्तियों के समय वह खर्च का भार वहन कर सके। कौटिल्य का कहना है कि कोष के अभाव में सेना रखना और उसकी निष्ठा का भी पात्र बने रहना संभव नहीं।[42] यह राज्य के दो अंगों के महत्त्वपूर्ण पारस्परिक संबंध की स्पष्ट स्वीकृति है, यद्यपि उसका यह व्यापकतर कथन भी हमें देखने को मिलता है कि समस्त प्रवृत्तियाँ वित्त पर ही आश्रित हैं।[43]

दंड का अर्थात मुख्यतया सेना के रूप में सुलभ बल के प्रयोग की शक्ति का उल्लेख छठे अंग के रूप में हुआ है, और कभी-कभी दंड और कोष को समकक्ष माना गया है।[44] कौटिल्य के अनुसार इस अंग में पुश्तैनी, भाड़े पर रखे गए, वन और निगम के सैनिक आते हैं, जो पदाति (पैदल), रथारोही, हस्तिसैनिक और अश्वारोही इन चार भागों में बंटे होते हैं। लेकिन 'शांतिपर्व' में दंड नामक विषय पर विचार करते हुए यह कहा गया है कि सेना में हाथी, घोड़े, रथ, पदाति (पैदल), नाव, बेगार, देशी और भाड़े के सैनिक होते हैं। इसीलिए इसे अष्टांग बल कहा गया है।[45] कौटिल्य ने अनेक स्थलों पर दंड की विशेषता का उल्लेख किया है। क्षत्रियों को सेना के लिए सबसे उपयुक्त माना गया है।[46] यह बात सभी ब्राह्मणवादी और बौद्ध ग्रंथों में उन्हें सौंपे गए युद्धकर्म के अनुरूप ही है। आपातिक (संकटकालीन) स्थितियों में मनु ने ब्राह्मणों और वैश्यों को भी शस्त्र धारण करने की अनुज्ञा दी है, लेकिन शूद्रों को नहीं।[47] किंतु, कौटिल्य वैश्यों और शूद्रों के संख्या-बल का विचार करते हुए उन्हें सेना में भरती करने की सिफारिश करता है।[48] इसके अलावा, उनके मतानुसार, सेना वंशानुगत और निष्ठावान होनी चाहिए। उनके बाल-बच्चों और पत्नियों के भरण-पोषण के लिए इतना दिया जाना चाहिए जिससे वे संतुष्ट रहें। आक्रमण के समय सेना को सभी

आवश्यक उपादानों से सज्जित होना चाहिए। उसे अपराजेय, धैर्यशाली, कार्यकुशल, हार-जीत के प्रति तटस्थ और राजा की इच्छानुसार कार्य करनेवाली होना चाहिए।[49]

कौटिल्य द्वारा उल्लिखित सातवां और अंतिम अंग 'मित्र' है, जो अनेक अन्य ग्रंथों मे सुहृद के रूप में भी अभिहित किया गया है। उसके अनुसार मित्र बनावटी नही, वशानुगत होना चाहिए, जिसके साथ विभेद की गुंजाइश ही न हो, और जो अवसर आने पर सहायता के लिए तैयार रहे।[50] इसके विपरीत शत्रु की परिभाषा लोभी, अन्यायी स्वेच्छाचारी और दुष्ट व्यक्ति के रूप में की गई है।[51]

जितना सही यह कथन है कि राज्य का संविदा सिद्धांत (*कंट्रैक्ट थीअरी*) बौद्ध विचारधारा की देन है उससे कही अधिक उपयुक्त यह कहना होगा कि राज्य का उपर्युक्त सप्तांग सिद्धात विशुद्ध रूप से ब्राह्मण विचारधारा की उपज है क्योंकि बौद्ध विचारधारा में सप्तांग सिद्धात का उल्लेख कही नही है। बौद्ध चिंतन के अनुसार राज्य का एकमात्र विशिष्ट लक्षण कर हैं। यहां हम एक बौद्ध स्रोत को, जिसे मौर्यकालीन बताया जाता है, उद्धृत कर सकते हैं : 'मनुष्यों में जो कोई भी ग्राम से या भूमि से अपना लगान प्राप्त करता है उसके बारे मे हे वासेठ्ठ, यह जानो कि वह ब्राह्मण नही, राजा है।'[52] इस कथन से राजा के लिए कोप का महत्त्व तो परिलक्षित होता है किंतु इसमे अन्य पाच अंगों का उल्लेख नही है।

बौद्ध विचारधारा मे चाहे जो कमी हो, इसमें संदेह नही कि राज्य (जिसका शाब्दिक *अर्थ शासनकार्य या प्रभुसत्ता है*) की परिभाषा राजनीतिक सिद्धांतों के इतिहास को पूर्वकालीन भारतीय विचारधारा की एक विशिष्ट देन है। प्लेटो और अरस्तू को हम राज्य की उत्पत्ति पर विचार करते तो देखते हैं पर वे इसकी वैसी सुनिश्चित और सुस्पष्ट परिभाषा नही दे सके जैसी पूर्वकालीन भारतीय चिंतकों ने दी है। इस अर्थ मे कौटिल्य ने राज्य की जैसी परिभाषा प्रस्तुत की है उससे अधिक पूर्ण परिभाषा देना प्राचीन काल मे सभव नही था। यूनानी विचारकों ने राज्य के घटकों पर शायद ही कहीं विचार किया है। प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' में इस दिशा मे थोडा प्रयास किया है। उनके दार्शनिक की तुलना स्वामी से, योद्धा की दंड से तथा कारीगर और खेतिहर की (कुछ हद तक) जनपद से की जा सकती है। अरस्तू *को पढ़ने से लगता है कि उनके गृहपति और नागरिक राज्य के घटक हैं*। अपने आदर्श राज्य के भौतिक अंग विहित करते हुए वह नगर का आकार और जनसंख्या की सीमा बताते हैं। लेकिन इनमें से किसी मे भी राज्य की परिभाषा उतनी पूर्णता से नहीं दी गई है जितनी कि कौटिल्य में पाई जाती है। कीथ का कहना है कि यदि भारत के पास प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' या अरस्तू की पुस्तक 'पॉलिटिक्स' का मुकाबला करने के लिए 'अर्थशास्त्र' से श्रेष्ठतर कोई कृति न हो तो यह दु:ख का विषय होगा,[54] लेकिन जहां तक राज्य की परिभाषा का प्रश्न है, ऐसी आलोचना का

कोई आधार नहीं दिखाई देता। इस क्षेत्र में कौटिल्य यूनानी विचारकों को पीछे छोड गए हैं।

सामान्यतः यह स्वीकार किया गया है कि आधुनिक काल में राज्य के जो चार घटक प्रभुसत्ता, सरकार, क्षेत्र और जनसंख्या माने जाते हैं, वे राज्य के सप्तांग सिद्धांत के क्रमशः चारो अंगो 'स्वामी', 'अमात्य' और 'जनपद' के अंतर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार प्रभुसत्ता का 'स्वामी' में, सरकार का 'अमात्य' में तथा क्षेत्र और जनसंख्या का 'जनपद' में समावेश हो जाता है। प्रभुसत्ता और राज्याध्यक्ष को एक समझने में कठिनाई हो सकती है, क्योंकि राज्याध्यक्ष को धर्मशास्त्रों ने धर्मविधान के अनुसार शासन करने को कहा है। लेकिन अन्य अंगों के संबंध में ऐसा संदेह नहीं होना चाहिए। यहां हम यह भी कह सकते हैं कि आधुनिक काल में जब तक कोई राज्य अन्य राज्यों की मान्यता प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक विधितः राज्य के रूप में प्रतिष्ठित नही हो पाता। आधुनिक राज्य के इस अंग की तुलना शायद मित्र के साथ की जा सकती है, यद्यपि प्राचीन काल में इसका उद्देश्य अन्य राज्यों की मान्यता प्राप्त करना नही, वरन उनकी मित्रता संपादित करना था। ऐसा कहा गया है कि सप्तांग सिद्धांत में जनसंख्या का इसलिए उल्लेख नहीं किया गया कि यह इतना प्रत्यक्ष अंग था कि इसका उल्लेख करना बेकार था।[53] लेकिन, जैसाकि हम पहले देख चुके हैं, कम-से-कम एक ग्रंथ में राज्यसरचना के एक अंग के रूप मे जन या जनसंख्या का उल्लेख साफ-साफ किया गया है।[54] अन्य ग्रंथों मे जनपद शब्द स्पष्टतया बसे हुए भूभाग का द्योतक है। दूसरी ओर राज्य की आधुनिक परिभाषा में सेना, कराधान, राजधानी और मित्र का कहीं स्थान नहीं है। सेना और कराधान का समावेश कदाचित प्रभुसत्ता की परिकल्पना में हो जाता है, क्योंकि बलप्रयोग और करसंग्रह के अधिकार उस सत्ता में सहज समाहित हैं। आधुनिक परिभाषा में इन तत्वो का स्पष्ट उल्लेख नही है, इसीलिए यह प्राचीन परिभाषा की तुलना में अवास्तविक मालूम होती है। प्राचीन परिभाषा अधिक वास्तविक और अत्यंत व्यावहारिक है। प्राचीन परिभाषा मे जानी-मानी बात को गूढ़ मुहावरों में, जो असली अर्थ को प्रायः दुर्बोध बना देते हैं, रखने का प्रयास नहीं किया गया।

जहां तक राज्य के व्यावहारिक और वास्तविक स्वरूप का प्रश्न है, इसकी प्राचीन भारतीय परिभाषा अनेक दृष्टियो से एंगेल्स की परिभाषा से, जिसमे राज्य के वर्गमूलक स्वरूप पर जोर दिया गया है, मेल खाती है। एंगेल्स की राय में राज्य का एक अंग सरकारी अधिकारी हैं, जिनका समाज से कोई संबंध नहीं होता और जो असाधारण कानूनों के जोर पर जनता से आज्ञा का पालन कराते हैं।[55] इन अधिकारियों को समाज का ऐसा अंग माना गया है जो उस पर ऊपर से थोप दिया गया है।[56] इनकी तुलना अमात्यों से की जा सकती है, जो ऐसे कुलीन लोगों के

सवर्ग के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं जिसमें से सरकारी अधिकारियों की नियुक्ति का विधान है। जैसा कि अन्यत्र दिखाया जा चुका है, ब्राह्मण विधिग्रंथों मे ऊंचे-ऊंचे सरकारी पदो पर सर्वसाधारण की नियुक्त की गुंजाइश शायद ही छोडी गई है।[57]

एगेल्स के अनुसार, राज्य का दूसरा अग सरकारी शक्ति (पब्लिक पावर) है, जो जनसाधारण की शक्ति से भिन्न है।[58] इस शक्ति का आधार केवल हथियारबद लोग ही नही होते, बल्कि इससे सगठन में भौतिक उपादान भी—जैसे सरकारी जेले और बलप्रयोग की अन्य सभी संस्थाएं—जिनका साधारण समाज को कोई बोध नही रहता—सहायक होते हैं।[59] प्राचीन भारतीय परिभाषा में इस शक्ति का प्रतिरूप दड है, जिसका प्रयोग, जैसा कि पहले कहा गया है, सामान्यतया क्षत्रिय और असाधारण परिस्थितियों मे, अन्य वर्णों के लोग कर सकते थे। कौटिल्य के इस दृष्टिकोण से, कि जिस क्षेत्र में हथियारबद लोग बसे हुए हों, उसे सदोष माना जाए, स्पष्टत: यही व्यंजित होता है कि लोगों को नि:शस्त्र रखा जाए। मेगास्थनीज से हमे मालूम होता है कि किसानों को, जो कि आबादी के प्रमुख अंग थे, हथियारों से कोई वास्ता नही था। इन्हे क्षत्रिय वर्ग ही धारण करता था।[60]

फिर, एगेल्स के अनुसार, इस शक्ति को कायम रखने के लिए नागरिकों से अशदान लेना आवश्यक है। इससे कराधान का जन्म हुआ।[61] इसकी तुलना कोष से की जा सकती है, जिसके बिना, कौटिल्य के मतानुसार, सेना का रखना संभव नही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कम-से-कम इन तीन बातो मे राज्यविषयक कौटिल्य और मार्क्सवादी अवधारणाओ के बीच उल्लेखनीय साम्य है। इसका कारण यह है कि दोनो विचारपद्धतियों मे इस बात पर जोर दिया गया है कि सिद्धात में व्यवहार को प्रतिबिंबित होना चाहिए। ये राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं को पकडकर चले हैं और खोखले सिद्धातो के जाल में भटक गए हैं।

कौटिल्य वास्तविकता से केवल इतना भर हटे प्रतीत होते हैं कि उन्होंने राज्य के अगो में पुरोहित को नही रखा है। पुरोहित को, जिसे हम उत्तर वैदिक राज्यव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते देखते हैं तथा अर्थशास्त्र और कौटिल्य के ग्रथो मे भी जिसका प्रभावशाली स्थान है, राज्य के अगों मे शामिल नही किया गया है। इसे राजनीतिक सिद्धात मे कौटिल्य का विशिष्ट योगदान माना गया है।[62] किंतु राज्य के सप्तागों के विवरणवाले अध्याय मे कामदक मंत्रियो के ठीक बाद ही प्रधान पुरोहित और ज्योतिषी की योग्यता विहित कर देते हैं। इससे प्रकट होता है कि ये मंत्रियो के बीच प्रधान पुरोहित तथा ज्योतिषी का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं और उधर मत्रियो, सचिवों या अमात्यों के बीच वैसा ही स्थान रखते हैं। सप्ताग सूची में पुरोहित का छोड दिया जाना कोई विशेष अर्थ नही रखता, क्योकि जान पडता है 'अमात्य' शब्द मे ब्राह्मण 'दड' मे क्षत्रिय तथा 'पुर' और 'राष्ट्र' शब्दो मे वैश्य तथा शेष सामान्य जन आ जाते हैं।[63] परवर्ती काल मे भी पुरोहितों

का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा, क्योंकि 'शांतिपर्व' में 'ऋत्विक', 'पुरोहित' और 'आचार्य' का उल्लेख राष्ट्र, राज्य, कोप, दंड, दुर्ग और मंत्री के साथ ही हुआ है। इसमें एक प्रश्न है, राजा और राज्य, पुरवासी और भृत्य (सेवक) की उन्नति कैसे हो सकती है तथा राजा को कोष, सेना (दंड), राजधानी (दुर्ग), मत्री, पुरोहित और गुरु के संबंध में कैसा व्यवहार करना चाहिए?[64]

राज्य के सात अगों की चर्चा के सिलसिले में कौटिल्य की एक महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक देन विभिन्न प्रकृतियो (घटकों) को प्रभावित करनेवाली विपत्तियों का विवेचन है। वह किसी अनाम आचार्य का मत उद्धृत करते हैं, जिसके अनुसार स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोप, दंड और मित्र इन सातो को प्रभावित करनेवाली विपत्तियो में से सबसे गभीर स्वामी को प्रभावित करनेवाली विपत्ति है और आगे के अगो को प्रभावित करनेवाली विपत्तियो का महत्त्व क्रमशः कम होता जाता है। वह उन आचार्यों के मत का भी उल्लेख करते हैं जिनके अनुसार स्थिति ठीक इसके विपरीत है। कौटिल्य इन दो आचार्यों मे से प्रथम के मत का समर्थन करते हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि स्वामी की विपत्ति अमात्य की विपत्ति से अमात्य की विपत्ति जनपद की विपत्ति से और इसी प्रकार अन्य अंगों में से प्रत्येक पहले की विपत्ति उससे बादवाले अंग की विपत्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण है।[65] जैसा कि हम अभी आगे देखेगे, इससे हमें कौटिल्य की दृष्टि मे विभिन्न अगों के पारस्परिक महत्व का पता भी लगता है। लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस संबंध में कौटिल्य स्वामी, जनपद दुर्ग, कोप, दंड और मित्र को प्रभावित करनेवाली विपत्तियो के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। राजा की मदिरा, जुआ और स्त्रियो मे आसक्ति हो सकती है, और इस तरह वह चरित्रगत दोषो का शिकार हो जाता है। जनपद की दुर्बलता मुख्यतः हथियारबद लोगों से और दुर्ग की कमजोरी मुख्यतः खेतिहरों से आबाद होने मे समाहित है।[66] कौटिल्य यह भी कहते हैं कि लोग (प्रकृति) आपसी कलह द्वारा कमजोर हो सकते हैं लेकिन नेताओं को बदी बनाकर यह कलह समाप्त किया जा सकता है।[67]

सूखा, बाढ़, अकाल आदि दैवी विपत्तियों से तथा कर उगाहनेवालो द्वारा किए गए उत्पीड़न, नेताओ को दी गई कर संबंधी छूट, गलत हिसाब-किताब आदि मनुष्य द्वारा उत्पन्न विपत्तियो से वित्त (कोष) का ह्रास हो सकता है।[68] सेना निष्ठाहीन और विश्वासघाती तत्वो के समावेश से कमजोर पड़ सकती है, अथवा *ऐसे सैनिकों के कारण तटस्थ हो जा सकती है जिन्हे या तो वेतन नहीं मिलता या जो* अपनी पत्नियों के कहने में हो।[69] मित्र दूसरो द्वारा खरीदे जा सकते हैं या अपने मित्र की नियति के प्रति उदासीन हो सकते हैं।[70] इन विपत्तियों में से कुछ को दूर करने के लिए कौटिल्य ने उपाय भी सुझाए हैं। सामान्य निष्कर्ष से यह प्रतीत होता है कि राजा इन कमजोरियो के प्रति सजग रहे। विपत्ति किसी एक अग को कहा प्रभावित

कर रही है या किन दो अगो को प्रभावित कर रही है, यह बात उसे समझने की कोशिश करनी चाहिए। कौटिल्य के अनुसार, यदि विपत्ति दो अगों को भी प्रभावित कर दे तो भी योजना पूरी की जा सकती है, बशर्ते कि अन्य अंग ठीक काम कर रहे हो। किंतु यदि एक ही अग को प्रभावित करनेवाली विपत्ति ऐसी हो जो शेष अगो को भी अभिभूत कर दे तो इसे बहुत गभीर समझना चाहिए[71] और राजा को इस पर ध्यान देना चाहिए।

कौटिल्य ने विभिन्न अगो को प्रभावित करनेवाली विपत्तियों का जो विवेचन किया है उससे हमे राज्य में अस्थिरता के कारणों की अरस्तू की व्याख्या का स्मरण हो जाता है। अरस्तू राज्य को समग्रतः प्रभावित करनेवाले कुछ सामान्य कारणो का, और विशेष प्रकार के शासन को प्रभावित करनेवाले विशिष्ट कारणो का भी जिक्र करते हैं। उनके अनुसार प्रमुख कारण धनी और गरीब के बीच का झगडा है। इसका कोई भी सकेत कौटिल्य के विवेचन में नही है। जहा तक उपाय का प्रश्न है, कौटिल्य राजा को सतर्क रहने का सुझाव देते हैं। यह उपाय उनकी व्यवस्था मे राजा को प्रदत्त उच्च स्थान के सर्वथा उपयुक्त है। किंतु अरस्तू की सिफारिश है कि प्रजातत्र और अल्पतत्र (ऑलीगार्की) की शक्तियों के बीच सतुलन स्थापित किया जाए।

राज्य के विभिन्न अगो को प्रभावित करनेवाली जिन विपत्तियो का वर्णन 'अर्थशास्त्र' मे किया गया है उन्हे पद्यबद्ध और सक्षिप्त रूप मे काफी हद तक नवी सदी की कृति 'अग्निपुराण' में भी प्रस्तुत किया गया है।[72] यद्यपि इस विषय को जितना स्थान मिला है वह 'अर्थशास्त्र' मे दिए गए स्थान से काफी कम है,[73] फिर भी इसकी विशेषता यह है कि इसमें सचिवो की कमजोरियों का जिक्र है। इस पुराण के अनुसार, सचिव में सुस्ती, अनिर्णय, अक्खडपन, मदोन्मत्तता या पागलपन और दोरगा व्यवहार आदि दुर्गुण हो सकते हैं।[74] हम देख सकते हैं कि कौटिल्य ने अमात्यों की कमजोरियो पर विचार नही किया है और न दुर्ग की कमजोरिया ही विस्तारपूर्वक बताई हैं। 'अग्निपुराण' मे कहा गया है कि दुर्गबद्ध (किलाबद) राजधानी दीवारो और खाइयो के ध्वस्त होने, यांत्रिक युक्तियो के बिगडने, प्रतिरक्षा का अभाव होने और सेना के अपूर्ण रहने के कारण कमजोर पड सकती है।[75] सेना की कमजोरियो के सबध में यह पुराण मात्र कौटिल्य के कथन को श्लोकबद्ध करता है और अधिकाशत उसी के शब्दों का प्रयोग करता है। किंतु[76] विभिन्न अगो के दोषो पर विचार करते हुए यह पुराण सेना की कमजोरियों पर सबसे अधिक विस्तारपूर्वक लिखता है, जिससे ऐसा सकेत मिलता है कि 'अग्निपुराण' जिस देश-काल को प्रतिबिंबित करता है उसमे सबसे अधिक महत्त्व बलप्रयोग के साधन को दिया जाता था।

राज्यागो की कमजोरियो के विषय मे कौटिल्य की व्याख्या से इन अगो के

पारस्परिक संबंध पर भी प्रकाश पड़ता है। यह ऐसा विषय है जिसका किसी भी प्राचीन विचारक ने इतना विस्तृत विवेचन नहीं किया है। भारद्वाज का कहना है कि मंत्रिगण शासन के मुख्य आधार हैं। वे ही सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों को आरंभ करते हैं, अतः उन्हें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए।[77] लेकिन कौटिल्य की राय में राजा सभी अंगों (प्रकृतियों) में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि राजा यथेष्ट गुणों से संपन्न है तो वह अन्य अंगों को भी उन गुणों से संपन्न बना सकता है। लेकिन यदि वह वांछित योग्यताओं से रहित हुआ तो अन्य अगों (प्रकृतियों) के गुणों से किसी भी अर्थ की सिद्धि नहीं होगी[78]; बल्कि वे सब नष्ट हो जाएंगे। राजा मंत्रियों और अधीक्षकों (सुपरिंटेंडेंटों) की नियुक्ति करता है, जो अन्य अगो (प्रकृतियों) पर आनेवाली विपत्तियों के प्रतिकार की व्यवस्था करते हैं।[79] शक्तिरहित होने पर भी राजा राज्य का प्रतीक होता है। वह प्रभुसत्ता का वह ध्वज है जो निष्ठा जगाने और राज्य को एक सूत्र में बांधे रखने का काम करता है।[80] पूरी स्थिति का समाहार कौटिल्य के इस एक सूक्ति-वाक्य में किया जा सकता है कि राजा ही राज्य है।[81] यह हमें चौदहवें लुई की उस प्रसिद्ध उक्ति की याद दिलाता है कि 'मैं ही राज्य हूं और राज्य ही मैं हूं।' राजपद को ऐसा सर्वोपरि महत्त्व दिया जाना प्राचीन भारत की राजतंत्र-प्रधान शासनपद्धति की और विशेषकर कौटिल्य के सर्वथा राजतांत्रिक रुख की अपनी खास विशेषता है। परवर्ती काल में राजशक्ति के कमजोर पड़ते जाने के बावजूद गुप्तकालीन पुराणों में ऐसे कथन बार-बार आए हैं जिनमे राजा की महत्ता दिखाई गई है। इसमें जोर देकर कहा गया है कि राजा सप्तांग राज्य का आधार है और इसलिए सभी अंगों से अधिक उसी की रक्षा की जानी चाहिए, ताकि वह अन्य छहों अंगों की रक्षा कर सके।[82]

जहां तक अन्य अंगों का प्रश्न है, कौटिल्य का कहना है कि हर पूर्ववर्ती अंग परवर्ती अंग से अधिक महत्त्वपूर्ण है। दृष्टांतस्वरूप, अमात्य जनपद से,[83] तथा जनपद दुर्ग, कोष और दंड से अधिक महत्त्वपूर्ण है। लेकिन निस्संदेह कौटिल्य के अनुसार राजा सभी अंगों से अधिक महत्त्वपूर्ण और उनका आधार है।

मौर्योत्तर और गुप्त काल में हम राज्य के सात अगों के पारस्परिक महत्त्व के बारे में राजनीतिक विचारकों के रुख में परिवर्तन देखते हैं। मनु के अनुसार, सातों अंगों में से किसी एक को अन्य अंगों की अपेक्षा स्पष्ट शब्दों में महत्त्वपूर्ण बताना असंभव है। इसके विपरीत, उनका विचार है कि अलग-अलग समय पर अलग-अलग अंग, अन्य अंगों की अपेक्षा, अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, क्योंकि उस परिस्थिति विशेष में वही एक अंग सामने आए प्रयोजन को पूरा करने में समर्थ होता है।[84] मनु के इस कथन में थोड़ा अंतर्विरोध है, क्योंकि इससे पहले वह कह चुके होते हैं कि पूर्ववर्ती अंग परवर्ती अंग से अधिक महत्त्व रखता है।[85] लेकिन यह अंतर्विरोध 'शांतिपर्व' में लक्षित नहीं होता। वह मनु के कथन की पुष्टि करता है।

कामदक का भी यही मत है । वह कहते हैं कि सातों अग एक-दूसरे के पूरक हैं । कौटिल्य के मत से कामदक के विचार का अंतर स्पष्ट देखा जा सकता है, क्योंकि कौटिल्य अग और आगों का महत्त्व कम बताकर, स्वामी को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं । जहा मनु का मत ऐसे सक्रमण काल की स्थिति का द्योतक है जब राजा महत्त्वपूर्ण भी है और महत्त्वहीन भी, वहां 'शांतिपर्व' और कामंदक ऐसी वस्तुस्थिति को प्रतिबिंबित करते हैं जब राजतात्रिक शासनपद्धति के चलन के बावजूद राजशक्ति का महत्त्व बहुत-कुछ तिरोहित हो चुका था । राजा के प्रति दृष्टिकोण में इस परिवर्तन की व्याख्या मौर्योत्तर और गुप्तकाल की नई राजनीतिक और प्रशासनिक परिस्थितियों के आधार पर ही की जा सकती है । इस काल मे छोटे-छोटे अधीनस्थ राजाओं या सामतो का उदय होने लगा था और राज्य के यत्रों का सामतीकरण प्रारभ हो गया था, जिसके फलस्वरूप अंततः राजशक्ति का पतन हुआ ।[86]

सभवत मौर्योत्तर काल में बढ़ते हुए विघटनकारी तत्त्वो को देखकर ही मनु की स्मृति और 'शांतिपर्व' में बलप्रयोग की शक्ति की महत्ता पर जोर दिया गया है । मनु दड को ही वास्तविक राजा, नेता और प्रशासक (शासिता) कहते हैं; दड ही लोगों का शासक, सभी का परित्राता और धर्म का सरक्षक है ।[92] यदि राजा बलप्रयोग नही करे तो मत्स्यन्याय से बलशाली लोग बलहीनो को निगल जाएगे ।[93] 'शांतिपर्व' मे कहा गया है कि दड के बिना क्षत्रिय की शोभा नहीं, क्योंकि इसके बिना न वह और न उसकी प्रजा ही सुख-समृद्धि का उपभोग कर सकती है ।[94] इसमे उदाहरण देते हुए आगे कहा गया है कि दंड से ही जबुद्वीप, क्रौंचद्वीप, शकद्वीप, भद्राश्व और अन्य देश अधीन बनाए गए ।[95] 'शांति पर्व' के पद्रहवे अध्याय मे कम-से-कम अडतालिस श्लोकों में दड का महत्त्व विस्तारपूर्वक बताया गया है, जिनमें से कुछ तो मनु से शब्दशः उद्धृत हैं । इनमें वर्णों, आश्रमों, वैवाहिक पद्धति, सिचाईव्यवस्था, श्रमिकों, प्रजा आदि पर आधारित सपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का हेतु दड के पालन को ही बताया गया है । अनेक श्लोको का आशय यह है कि यदि दड का पालन न हो तो इससे समाज के उपर्युक्त सभी अग अस्तव्यस्त हो जाएगे ।[96] अध्याय 121 में जहां, इस समस्या पर पुन. विचार हुआ है, इस बात पर जोर दिया गया है कि सात प्रकृतियो और आठ अगो के रूप मे अभिव्यक्त राज्य रूपी शरीर का स्रोत और अग दड ही है ।[97] किंतु यहा आठ अगों का अर्थ स्पष्ट नही है । दडनीति अर्थात 'शक्ति अथवा दड के प्रयोग की रीति' शब्द के प्रयोग से दड का महत्त्व और भी स्पष्ट होता है । इस ग्रथ के पूरे 70वें अध्याय में केवल इसी नीति का विवेचन किया गया है ।[98] किंतु मनु और 'शांतिपर्व' दोनो का आदेश है कि बल का प्रयोग नियमानुसार होना चाहिए । मनु के अनुसार राजा को अपनी सत्ता का प्रयोग करने में शास्त्रो के निर्देश और मंत्रियों के परामर्श

पर चलना चाहिए, और 'शांतिपर्व' के अनुसार उसे वेद और धर्म पर आधारित व्यवहार पर ध्यान रखना चाहिए।[99] यद्यपि इन दो ग्रंथों में सात तत्वों की चर्चा के संदर्भ में दंड पर विचार नही किया गया है, फिर भी इसमे संदेह नही कि इनमें इस तत्व (दड) पर बहुत जोर दिया गया है। याज्ञवल्क्य ने भी, जिसकी स्मृति गुप्तकाल के प्रारंभ में सकलित की गई प्रतीत होती है, सात तत्वों के उल्लेख के तुरत बाद दड के महत्त्व पर जोर दिया है। इस ग्रथ मे कहा गया है कि सप्ताग राज्य को प्राप्त कर लेने पर राजा को दुष्टों को दड देने मे अपनी सत्ता (दड) का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि पुराकाल मे ब्रहमा ने दड के रूप में ही धर्म का निर्माण किया था।[100] अगले पांच श्लोको मे दडशक्ति की उपयोगिता का विवेचन किया गया है।[101] इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्योत्तर काल मे, जब कि विदेशी आक्रमणो और आतरिक विद्रोहों के कारण अपकेन्द्री (सेंट्रीफ्युगल) शक्तिया सक्रिय हो उठी थी, दंड का महत्त्व काफी बढ़ गया।[102]

राज्य के शरीर सिद्धांत (ऑरगेनिक थीअरी ऑफ स्टेट), अर्थात राज्य को विभिन्न अगो से युक्त सजीव शरीर के रूप मे प्रस्तुत करनेवाले सिद्धात के विकास के पीछे भी शायद यही चीज काम कर रही थी। कौटिल्य मे यह सिद्धात बहुत दिखाई नहीं देता। विभिन्न अगो के अभिन्न माने जाने का एकमात्र सकेत उनके इस विचार में मिलता है कि एक अंग को प्रभावित करनेवाला कोई गभीर संकट शेष अंगों को भी हानि पहुँचा सकता है। सामान्यत. तो दो अगो के भी सकटग्रस्त होने पर, संभवतः स्वामी की दक्षता के कारण, राज्य ठीक से चलता रह सकता है। किंतु मनु विभिन्न अगो के घनिष्ठ पारस्परिक सबध को स्पष्ट शब्दों मे व्यक्त करते हैं। पहली बात तो यह है कि अग शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उनके ग्रथ और 'शांतिपर्व' मे ही हुआ है।[103] इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य के अगो की तुलना शरीर के अगो से की जा सकती है। दूसरी बात यह कि वह राज्य के अगो की तुलना सन्यासी के तीन दडो से करते हैं जो साथ मिलकर एक त्रिदड का रूप लेते हैं।[104] इस विषय पर अपेक्षाकृत अधिक सुस्पष्ट विचार कामदक का है, जिनके अनुसार यदि एक भी अग मे दोष आया तो पूरे राज्य का सामान्य कार्य-व्यापार खतरे मे पड जाएगा, और इसलिए क्षतिग्रस्त अंग को सुधार देना चाहिए।[105] राज्य के शरीर-सिद्धात का सबसे स्पष्ट प्रतिपादन शुक्र मे पाया जाता है, जो राज्य के विभिन्न अगो की तुलना मानव शरीर के अगो से करता है।[106] किंतु यह रचना बहुत परवर्ती काल की है, इसलिए प्राचीन काल के सदर्भ मे इसका उपयोग नहीं किया जा सकता।

प्राचीन भारतीय परिकल्पना और समाजशास्त्री हर्बर्ट स्पेंसर द्वारा उन्नीसवी सदी मे प्रतिपादित राज्य के आधुनिक शरीर सिद्धात के बीच एक मूलभूत अतर प्रतीत होता है। स्पेंसर का उद्देश्य औद्योगिक राज्य की एकता पर जोर देना प्रतीत

होता है; क्योकि वह औद्योगिक सगठन की तुलना मानवशरीर के मूलभूत अगों से, वाणिज्यिक (वितरण सबधी) सगठन की तुलना परिसंचारक (सरकुलेटरी) अंग से, राजनीतिक सगठन की प्रेरक तंत्रिका (नर्वोमोटर) से और विधानमडल की मस्तिष्क (सेरेब्रम) से करते हैं। दूसरी ओर, प्राचीन भारत में शरीर के रूप मे राज्य की परिकल्पना करने का उद्देश्य राज्याध्यक्ष के सदर्भ में विभिन्न अगों के महत्त्व पर जोर देना था। ऐसा प्रतीत होता है कि वशानुगत अमात्यो और दंडनायको की बढ़ती हुई स्वतत्रता के कारण ही अन्य अगो के महत्त्व पर जोर दिया गया। चूँकि यह प्रवृत्ति मौर्यकाल में प्रबल नही थी, इसलिए कौटिल्य राज्य के शरीर सिद्धांत का प्रतिपादन स्पष्टरूप से नही करता। यह सिद्धात कौटिल्य के प्राय. समकालीन यूनानी विचारक प्लेटो और अरस्तू द्वारा अधिक स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादित किया गया है। प्लेटो राज्य की तुलना मानवशरीर से करते हैं। वह कहते हैं कि जिस प्रकार एक उगली में चोट पहुँचने पर समस्त शरीर उसकी पीडा का अनुभव करने लगता है उसी प्रकार राज्य के एक अग को चोट पहुचने पर सभी अगो को उसका कष्ट सहना पडता है। उनकी राय मे वही राज्य सर्वोत्तम है जिसमें मानव अगो जैसी एकता है। अरस्तू राज्य के किसी एक अग की कल्पना राज्य रूपी उस सपूर्ण शरीर की कल्पना के बगैर नही कर सकते जिसकी वह एक ईकाई है। जिस प्रकार हाथ शरीर मे जुड़ा न रहने पर हाथ नही रह जाता, उसी प्रकार कोई व्यक्ति राज्य का सदस्य न रहने पर व्यक्ति नही रह जाता। शरीर के साथ राज्य की तुलना करते हुए वह आगे कहते हैं कि राज्य के किसी एक अग को अत्यधिक महत्त्व देना या उसका अतिविस्तार करना वैसा ही है जैसा कि शरीर के किसी एक अग को अत्यधिक महत्त्व और विस्तार देना होगा। इस तरह यूनानी सिद्धात यह है कि राज्य के किसी एक अग को अनुपात से अधिक नही बढने देना चाहिए और राज्य के अदर एक और राज्य के रूप मे काम नही करने देना चाहिए। दरअसल इस सिद्धात का उद्देश्य यूनानी नगर राज्यो के जनतांत्रिक और अल्पतांत्रिक, इन दोनो तत्त्वो के सतत पारम्परिक सघर्ष के फलस्वरूप खतरे मे पड गए राज्य के एकत्व पर जोर देना है। दूसरी ओर यद्यपि कौटिल्य की व्यावहारिक योजना मे काफी केंद्रीकृत और सुबद्ध राजव्यवस्था है, किंतु उसके सैद्धांतिक विवेचन मे यह चीज उतनी स्पष्ट नही झलकती है।

राज्य के सप्तांग सिद्धात के इस सिंहावलोकन से प्रकट होता है कि यह राज्य की आधुनिक परिभाषा से थोडा-बहुत साम्य रखता है। साथ ही इसमे कुछ ऐसे आधारभूत तत्त्व हैं जो एगेल्स द्वारा प्रतिपादित राज्यविषयक सिद्धात की विशेषताओ की याद दिलाते हैं। राज्य के आधुनिक शरीर सिद्धात से इसके साम्य का कारण शायद यह है कि सभी युगो मे शासक वर्ग की हितरक्षा के लिए राज्य के एकत्व पर जोर डालने के प्रयास किए गए हैं। किंतु सप्तांग सिद्धात से युक्त राज्य

आधुनिक अवधारणा से कुछ भिन्न भी है। आधुनिक अवधारणा का निरूपण पाश्चात्य जनतंत्रों में पाए गए राज्य के स्वरूप के आधार पर हुआ है जबकि सप्तांग राज्य की परिकल्पना प्राचीन भारत मे पाए गए राज्य के आधार पर की गई है। अतएव जो सूक्ष्मता और गूढ़ता आधुनिक परिभाषा मे विद्यमान है, उसका प्राचीन परिकल्पना मे अभाव है। अत राज्यविषयक प्राचीन भारतीय परिकल्पना को 'आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक'[107] कहना अत्युक्ति है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्राज, I, 413
2 वही, III, पा टि 20
3 शूद्राज, पृ 83-84
4 अ शा VI 1.
5. मनु IX, 294, शा प, 69 62-63, सघटित पाठ में 'सप्तात्मकराज्यम्' शब्दपद का प्रयोग हुआ है विष्णु III-33, याज्ञ 1-353, शु नी सा I-61, जगदीश लाल शास्त्री की पुस्तक पॉलिटिकल थॉट इन दि पुराणाज, पृ 48 मे अग्निपुराण का उद्धरण, पूर्वोद्धृत पुस्तक पृ 115 पर का पु उद्धरण, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृष्ठ 23 का मार्कण्डेय पु का उद्धरण
6. आर सी हजरा, स्टडीज इन दि उपपुराणाज, I, 111 212
7. ज ला शास्त्री की पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 163 पर उद्धृत अंश
8 वही, पृष्ठ 153.
9 122-81
10 अ शा प VI-1 मनु, IX-294, विष्णु III-33, शा प, 69-62, 63, याज्ञ 1-353
11 अ शा प, VIII 2
12 किंतु शा पृ 69-62 में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका मतलब 'राजा' है
13 'अभिगामिकागुणा, प्रज्ञा-गुणा उत्साहगुणा — और आत्मसपत्' अ शा. प .VI-1
14 जिस उद्धरण म 36 अमात्यों की व्यवस्था है वह कलकत्ता सस्करण (शा प 85-7 11) म है समीक्षित सस्करण में आठ मंत्रियो का ही उल्लेख है (शा प, 85-7-10)
15 I, 9-10, 16
16 वही
17 अ शा I 8
18. कौणपदत और बाहुदंतिपुत्र, वही
19 फिक, सोशल ऑरगेनाइजेशन ऑफ नार्थईस्टर्न इंडिया, पृ 144-149.
20 जातक, II, 2,181, III, 105, V 228
21 *आर एन मेहता, प्रि-बुद्धिष्ट इंडिया, पृ 136*

22 जनपदस्य कर्मसिद्धय स्वत परतश्च योगक्षेमसाधनम् व्यसनप्रतीकार शून्यनिवेशोपचयौ दडकरानुग्रहश्चेति अ शा , VIII I
23 का नी सा VI, 25-27, 34
24 वही, 30-31
25 वही VIII-1
26 से इ II म 67, पंक्ति 17
27 मनु IX 294 विष्णु III 33 शा प , 69, 62-63 में, जहा सप्ताग राज्य की परिभाषा दी गई है जनपद शब्द का प्रयोग हुआ है लेकिन दूसरे सदर्भ में, जहा अन्य छहों अगों का उल्लेख है (शा प 60 3 4) राष्ट्र शब्द का प्रयोग हुआ है कामदक ने भी कहीं-कहीं राष्ट्र शब्द का प्रयाग किया है (IV-50)
28 याज्ञ , I-353
29 दडकरसह कर्मशील कर्षको वणिगभ्वाभ्यवरवणप्राया भक्तिशुचिमनुष्य इति जनपदसम्पत् अ शा VI I
30 शूद्रकारुवणिक्प्रायो महारभकृषीवल IV-54 ये शब्द हूबहू इसी रूप में अग्निपुराण, 239-26 में उद्धृत हैं
31 वैश्यशूद्रजनप्रायमनाहार्य तथा परै , किंचिद्ब्राह्मणसयुक्त बहुकर्मकर तथा ज एल. शास्त्री की पूर्वोद्धृत पुस्तक के पृष्ठ 11 पर उद्धृत मत्स्यपु और पृ 139 पर उद्धृत विष्णुधर्मोत्तर पु यह उद्धरण अग्नि पु 222-1-2 में हूबहू इसी रूप में आया है तुलनीय मार्क पु 49-47
32 अ शा , II I
33 IX 294/शा प , 69-63 में इसे धुर भी कहा गया है
34 अल्तेकर स्टेट ऐंड गवर्नमेंट इन एंशिएंट इंडिया पृ 44
35 अ शा II 3
36 वही, II 4
37 शा प 69, 63
38 अ शा VI 1
39 वही, II 4
40 वही
41 वही, VI, 1
42 वही
43 वही VIII 1
44 वही
45 का नी सा VIII 1
46 शा प 121 43
47 अ शा VI 1
48 VIII 348
49 अ शा IX 2
50 वही, V, I, I
51 वही
52 वही

53. "यो हि कोचि मनस्सेसु गामम् रट्ठण च भुजति एव वामेट्ठ जानाहि, राजा एसो, न ब्राह्मणो"
 सुत्त निपात, स 619
54 हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर, आमुख, पृ xviii.
55 अलतेकर, स्टेट ऐड गवर्नमेंट इन एंशिएट इंडिया, पृ 45
56 याज , 1,353
57 ऑरिजन ऑफ फैमिली प्रोपर्टी ऐड स्टेट, पृ 244
58 वही
59 निम्नोद्धृत पुस्तक, अध्याय XII
60 ऑरिजिन ऑफ फैमिली, प्रोपर्टी ऐड स्टेट, पृ 244
61 वही, पृ 242-43
62 मेगास्थनीज, XXIII मैक्क्रिडल, मेगास्थनीज ऐड एरियन पृ 83-85
63 एजेल्स, पूर्वोद्धृत पृ 243
64 घोषाल, हिंदू पॉलिटिकल थीअरीज, पृ 88
65 IV 31-34
66 हॉपकिस, म्युचुअल रिलेशन ऑफ दि फोर कास्ट्स इन मनु, पृ 11-12
67 केन स्विद् वर्द्धते राष्ट्रम, राजा केन विवर्द्धते ।
 केन पौरश्च भृत्यश्च वर्द्धते भरतर्षभ ।।
 कोष दड च दुर्ग च सहायान्मंत्रिणस्तथा ।
 ऋत्विक्पुरहिताचार्यान् कीदृशान् वर्जयेन्नृप ।। शा प 60 3-4
68 अ शा VIII, 1
69 कर्षकप्राये तु दुर्गव्यसनम् आयुधप्राये तु जनपदे जनपदव्यसनमिति ।
 अ शा VIII 1 इस अवतरण के प्रथम अश का अर्थ थोडा अस्पष्ट है
70 अ शा , VIII, 4
71 वही
72 वही, VIII, 5
73 वही
74 वही, VIII, 1
75 आर सी हाजरा, स्टडीज इन दि उपपुराणाज 1, 209 मिलाइए बी वी मिश्र, पॉलिटी इन दि अग्निपुराण, पृ 24
76 अ पु (आनन्दाश्रम सस्कृत सिरीज), 241, 26-34
77 वही, 241, 26-27
78 वही, 241 28
79 वही, 241, 30-33.
80 अ शा , VIII, 1.
81. अ शा , VI, 1
82 अ शा , VIII,1 ,
83 अ शा , V, 6
84 'राजा राज्यमिति प्रकृतिसक्षेप ।' अ शा , VIII 2 इस उद्धरण पर अपनी टिप्पणी देते हुए गणपति शास्त्री का कहना है कि इसका सबध दो अगो से है—'राजा' और 'राज्य' (टी ग शा , III) । इस मान्यता को घोषाल भी स्वीकार करते हैं (ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज, पृ

137, पाद टिप्पणी 7) किंतु जिस प्रकरण में यह अवतरण आया है उसकी विषयवस्तु से इस अर्थ की पुष्टि होती दिखाई नहीं देती.

85 'सप्तांगस्यापि राज्यस्य मूल स्वामी प्रकीर्तित ।
तन्मूलत्वात्तथागाना स तु रक्ष्य प्रयत्नत ।। जे एल शास्त्री की पूर्वोद्धृत कृति के पृ 23 पर उद्धृत मा पु आर पृ 153 पर उद्धृत वि ध पु

86 अमात्यमूला सर्वारंभा । अ शा VIII, 1

87 मनु IX 297

88 वही IX 295

89 यह अवतरण काणे, हि ध शा, III, 18, टिप्पणी 21 में उद्धृत किया गया है

90 परस्परोपकारिद सप्तांग राज्यमुच्यते IV यह अवतरण अग्नि पु, अध्याय 239 में तथा काणे, हि ध शा, II, 18, पा टि 21 में उद्धृत मत्स्य पु में शब्दश दिया गया है

91 आगे अध्याय XVI

92 मनु VII, 17-18, शा प की पाडुलिपि डी 7 एस, पुलिंदा 19, पृ 620 में भी ऐसा ही है

93 वही, VII, 20 शा प की पाडुलिपि डी 7 एस, पुलिंदा 10, पृ 620 में भी ऐसा ही है.

94 नादड क्षत्रियो भान्ति नादडो भूतिमश्नुते ।
नादड्यस्य प्रजा राज सुखमेधन्ति भारत ।। शा प, 14 14

95 आ प, 14, 21-25

96 वही, 15, 37-45

97 सप्त प्रकृति चाष्टागम् शरीरमिह यद्विदु ।
राज्यस्य दड एवागम् दड प्रभव एव च ।। शा प, 121, 46

98 पाडुलिपि डी 7 एस मे शा प, 14-14 (पुलिंदा 19, पृ 619-20 के बाद सन्निविष्ट करीब 40 श्लोको मे और शा प 14-14 (पुलिंदा 19, पृ 629-30) के बाद सन्निविष्ट 24 श्लोकों में दड के महत्त्व पर फिर जोर दिया गया है

99 मनु, VII 31, शा प 121, 50 54

100 तदवाप्य नृपोदडम् दुर्वृत्तेषु निपातयेत् ।
धर्मो हि दडरूपेण ब्रह्मणा निर्मित पुरा ।। 1-353-54

101 1 355 59

102 चाडालम्लेच्छ जातीना दडेन च निवारणम् । शा प पाडुलिपि डी 7 एस, पुलिंदा 19, पृ 630

103 मनु, IX-294 शा प, पाडुलिपि डी एस

104 IX, 296

105 IV, 2

106 दुर्गमात्य सुहृच्छ्रोत्रम् मुख श्रेशो बल मन ।
हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्यागानि स्मृतानि हि ।। शुक्र, 1-62

107 हि क इ पी II, 307

4. राज्य की उत्पत्ति के संपत्ति, परिवार और वर्ण संबंधी सिद्धांत

राज्य की उत्पत्ति के अध्ययन मे विद्वानो ने बौद्ध स्रोतों मे वर्णित प्राकृतिक अवस्था का तो जिक्र किया है,[1] किंतु अभी तक पुराणो, महाभारत, जैन अनुश्रुतियो आदि सभी स्रोतों के आधार पर[2] उसका पूरा चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं हुआ है। सारे स्रोतों की तुलनात्मक पड़ताल से न केवल राज्यपूर्व प्रारंभिक अवस्था की जानकारी मिलती है बल्कि इससे उन परिस्थितियो पर भी नया प्रकाश पडता है जिनके कारण राज्य की उत्पत्ति हुई।

यद्यपि राज्यपूर्व प्राकृतिक अवस्था की तस्वीरे ब्यौरो मे एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी इस अवस्था की चार मूलभूत विशेषताए स्पष्ट रूप से सामने आती हैं। एक तो यह कि सबसे प्रारंभिक काल मे जीवननिर्वाह का साधन वृक्षो से प्राप्त फल-मूल थे। ब्राह्मण और जैन अनुश्रुतियों मे जीवन यापन के मुख्य स्रोत के रूप में कल्पवृक्ष का वर्णन अनेक प्रसंगों मे देखने को मिलता है।[3] बौद्ध अनुश्रुतियो मे जीवननिर्वाह के आदिकालीन स्रोतों में वनलता और भूमिपर्पटक के नाम आए हैं।[4] स्वाभाविक ही है कि मानव जीवन की आदिम अवस्था मे, जो पुराणो और महाकाव्यो मे वर्णित कृतयुग के साथ सामान्यतः मेल खाती है, मनुष्य खाद्य-उत्पादक के रूप मे नहीं, बल्कि खाद्य-संग्राहक के रूप मे जीवन यापन करता होगा। इस बात का समर्थन मानवविज्ञान से होता है, और यही बात पुरापाषाण (पैलियोलिथिक) कालीन मानव के साथ भी लागू होती है।[5] मारगन के शब्दो मे, 'सीमित क्षेत्र मे पैदा होनेवाले फल-मूलो के प्राकृतिक आहार पर निर्वाह करना', यही मनुष्य के जीविका का प्रथम साधन था।[6] उस समय कोई भी ऐसा नहीं सोच सकता था कि फल और वृक्ष एकमात्र उसी के हैं। यह प्रकृतावस्था थी, जब 'इसे (संपत्ति को) कब्जे में रखने का लोभ उन (मनुष्यो) मे शायद ही पैदा हुआ था, क्योंकि तब यह चीज (संपत्ति) प्रायः थी ही नहीं। परिग्रह की जो प्रवृत्ति आज मानवमन में सर्वोपरि शक्ति के रूप मे छाई हुई है उसे पूरे ओज के साथ विकसित करने का काम तब सभ्यता के सुदूर अनागत चरण के लिए छोड दिया गया था।'[7]

दूसरी बात यह कि संभवतः तब स्त्री पर पुरुष के आधिपत्य पर आधारित

परिवार जैसी कोई संस्था नहीं थी। प्राकृतिक अवस्था के बारे में जितनी भी अनुश्रुतियां है उनमें महाभारत को छोड़कर और किसी में उस एकविवाही परिवार (मोनोगेमस फैमिली) की उत्पत्ति का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता जिसमें पिता का स्थान सर्वोपरि हो और सारे घरेलू कार्यकलाप का केंद्र पत्नी हो। शांतिपर्व में कहा गया है कि 'पुत्र-पौत्रों, पुत्रवधुओं और सेवकों से भरापूरा गृहस्थ का परिवार गृहिणी के अभाव में शून्य है। घर तब तक घर नहीं होता है जब तक उसमें पत्नी नहीं आती है।'[8] लेकिन इस प्रकार का परिवार कैसे उद्भूत हुआ? महाकाव्यों और पुराणों की अनुश्रुतियों में कहा गया है कि पहले स्वच्छंद यौनाचार की स्थिति विद्यमान थी और बच्चे संकल्प यानी संभोगेच्छा मात्र से उत्पन्न किए जा सकते थे। कृतयुग में न तो मैथुन था और न स्वीकृत एक विवाही प्रथा (द्वंद्व) थी।[9] शांतिपर्व में उल्लेख है कि उत्तरकुरुओं के देश में विवाह जैसी कोई संस्था नहीं थी। कुरु देश के बारे में दीघ निकाय के 'अटानटिय-सुत्त' में कहा गया है: 'यहाँ ऐसे लोग रहते हैं जो न तो किसी भी वस्तु को अपना कहते हैं और न किसी स्त्री को अपनी संपत्ति।[10]

तीसरी बात यह है कि पुराणों में स्पष्ट कहा गया है कि कृतयुग में कोई वर्ण नहीं था। मानव जाति की सबसे प्रारंभिक जीवनावस्था का वर्णन करते हुए बौद्ध स्रोतों में भी ऐसा उल्लेख कहीं नहीं किया गया है कि लोग सामाजिक श्रेणियों में विभक्त थे।[11]

चौथी बात यह है कि 'शांतिपर्व' के कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृतिक अवस्था के प्रारंभिक चरण में राज्य नामक संस्था नहीं थी।[12] कौटिल्य के अनुसार वैराज्य कहे जानेवाले कुछ देशों में राजपद नहीं था और इसके लोग *अपना-पराया नहीं जानते थे।*[13] इससे यह अर्थ निकलता है कि जब निजी संपत्ति नहीं थी तब राजा भी नहीं था।

हाल तक मौजूद आदिम समाजों को देखने से पता चलता है कि मानव जीवन की सबसे पुराकालीन अवस्था में संपत्ति, परिवार और वर्ग (या वर्ण) जैसी संस्थाओं का अस्तित्व शायद ही मिले। यह कोई संयोग की बात नहीं थी कि प्राचीन ग्रंथों के अनुसार, उपर्युक्त संस्थाओं का अभाव था। जैसा कि आगे दिखाया जाएगा, इन संस्थाओं के अस्तित्व और राज्य के जन्म के बीच गहरा संबंध है। यद्यपि इन संस्थाओं के बिना रहनेवाले लोगों को सभ्य नहीं कहा जाएगा, फिर भी ये चिंता और लोभ से मुक्त रहकर एक प्रकार का सहज-सुंदर जीवन व्यतीत करते थे।[14] जिस प्राकृतिक अवस्था का वर्णन प्रायः सभी प्राचीन स्रोतों में हुआ है और जिसका समर्थन मानव-वैज्ञानिक साक्ष्यों से भी होता है उसकी[15] मुख्य विशेषताओं का कुछ न कुछ संबंध वास्तविक स्थिति में अवश्य रहा होगा। अतः प्राकृतिक अवस्था को जिसमें जीवन बहुत सुखद बताया गया है—मनगढ़ंत कहकर खारिज कर देना सही

नहीं होगा।[16]

जीवन का यह सहज सुंदर प्रवाह कृषि कौशल के अन्वेषण[17] के साथ भंग हुआ। इस कौशल के सहारे मनुष्य, उसे उपभोग के लिए जितना चाहिए था, उससे अधिक उत्पादन करने में समर्थ हुआ। चावल इकट्ठा करके रखने की प्रवृत्ति बढ़ी[18] और लोग 'नदियों, खेतों, पहाड़ियों, वृक्षों, झाड़ियों और पौधों को शक्ति और हिंसा द्वारा हथियाने लगे।'[19] 'अब पहली बार उन्होंने अपने अलग-अलग घर बसाए, जिसके लिए कानून की अभिस्वीकृति और समर्थन अपेक्षित था। धान के खेत बाट दिए गए और उनके चारों ओर यह कहकर मेंडबंदी कर दी गई—यह मेरा है, यह तेरा है।'[20]

लेकिन जब लोग एक-दूसरे का धान-चावल छीनने लगे तब एक ऐसे पद की जरूरत महसूस हुई जो उनके खेतों की रक्षा कर सके। इससे महाखत्तिय या खेतरक्षक पद का सृजन हुआ।[21]

बौद्ध स्रोतों में राज्य की उत्पत्ति में न केवल निजी संपत्ति के उदय के महत्त्व पर जोर दिया गया है, बल्कि उस संदर्भ में कुछ अस्पष्ट रूप से परिवार की भूमिका का भी उल्लेख है। यह कहा गया है कि जब परनारी का यौन संबंध प्रारंभ हुआ तब अपने अपराध कर्म को छिपाने के लिए उन्होंने अपना घर (या झोंपडी) बनाया।[22] सभवतः एक जोडे के लिए एक घर बनाने का चलन आरंभ हुआ। तिब्बती दुल्वों के अनुसार, संसार में घरों (या परिवारों ?) के आधार पर यह प्रथम विभाजन था। विभाजन को कानूनी या गैरकानूनी करार देना राजा पर निर्भर था।[23] 'शांतिपर्व' में एक स्थान पर कलियुग में द्वंद्व या एकविवाही परिवार के उदय का उल्लेख है, लेकिन राज्य के उदय से इसका संबंध नहीं दिखाया गया है।[24]

राज्य के उदय में वर्णों (सामाजिक वर्ग) की भूमिका का महत्त्व मुख्यतया पुराणों में वर्णित है। इनके अनुसार, जीवननिर्वाह के साधन जुट जाने पर लोगों को चार वर्णों में विभाजित किया गया। ब्राह्मणों का कर्म पूजा-प्रार्थना, क्षत्रियों का युद्ध, वैश्यों का उत्पादन तथा शूद्रों का शारीरिक श्रम निश्चित हुआ। जाहिर है कि यह विभाजन पूजा-प्रार्थना और युद्ध करनेवालों के पक्ष में था और उत्पादकों के सजग वर्गों के विरोध की आशका बराबर बनी रहती थी। इसलिए 'वायु पुराण' में यह कहा गया है कि वर्णों के कर्तव्य तो नियत कर दिए गए, लेकिन इन्होंने इन्हें पूरा नहीं किया और ये एक-दूसरे का विरोध करने लगे।[25] इस बात की ओर ध्यान जाने पर ब्रह्मा ने क्षत्रियों के लिए दंड और युद्ध का कर्म नियत किया।[27] उसी ग्रंथ में एक दूसरी जगह राज्य की उत्पत्ति का ऐसा ही विवरण देते हुए कहा गया है कि ब्रह्मा ने वर्णाश्रम स्थापित किया, लेकिन लोगों ने स्वधर्म का पालन नहीं किया और वे एक-दूसरे से झगड़ने लगे। अतः वे मनु के पास गए, जिसने प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक प्रथम दो राजाओं को उत्पन्न किया। तब से राजा दंडधारी होने

लगे।[27] इस तरह पौराणिक दृष्टि के अनुसार विभिन्न वर्णों के आपसी संघर्ष को रोकने के लिए राज्य का उदय हुआ। स्पष्टतया, इसमें आधुनिक विचारधारा के इस सिद्धात का पूर्वाभास मिलता है कि 'वर्ग संघर्षों को रोकने की आवश्यकता के फलस्वरूप राज्य का अस्तित्व कायम हुआ।'[28]

शांतिपर्व में इन चितनों का समन्वय है। इसमें राज्य की उत्पत्ति में संपत्ति, परिवार और वर्ण इन तीनों सस्थाओं की भूमिका एक ही स्थल पर देखी जा सकती है। जिन परिस्थितियों में राज्य का सृजन हुआ, वे इसमें स्पष्ट रूप में वर्णित हैं: 'एक व्यक्ति का धन दो व्यक्ति छीनते हैं, उन दोनों का धन अनेक व्यक्ति मिलकर छीन लेते हैं। जो दास नहीं है वह दास बनाया जाता है। स्त्रियां बलात अपहृत की जाती हैं। इन कारणों से देवताओं ने लोगों के सरक्षणार्थ राजाओं का सृजन किया।[29] और, जब लोगों ने ऐसी स्थिति को समाप्त करने के लिए आपस में समझौता और अनुबध किया तब उसकी दो मुख्य शर्तें ये तय हुई कि उन लोगों को समाज से निकाल बाहर करें जिन्होंने दूसरों की स्त्रियों का अपहरण किया हो या दूसरों की सपत्ति लूटी हो।[30] इनके अलावा सभी वर्णों के बीच विश्वास उत्पन्न करने के उद्देश्य से भी यह अनुबंध किया गया।[31] इस अनुबध को स्थायित्व प्रदान करने के लिए वे लोग राजा की खोज में निकले। वे उसे अपनी संपत्ति का कुछ हिस्सा और विवाह में सुदर कुमारियां देने को तैयार हुए।[32] ऐसी व्यवस्था का परिणाम स्वभावतः यह होगा कि राजा को न केवल अपनी संपत्ति और परिवार की वरन अपनी प्रजा की संपत्ति और परिवार की भी रक्षा में प्रबल और स्थायी रुचि होगी। इन्हीं शर्तों पर मनु ने अंततः राजपद स्वीकार किया। पौराणिक अनुश्रुति में प्रथम आनुश्रुतिक राजा मनु स्वायंभुव को ही वर्ण और सदाचार के नियमों की स्थापना का भी श्रेय दिया गया है।[33]

मनु के अलावा पृथु को भी महाकाव्यों और पुराणों की अनुश्रुतियों में प्रथम आनुश्रुतिक राजा के रूप में दिखलाया गया।[34] इन अनुश्रुतियों से हमें ज्ञात होता है कि लोगों की मुख्य शिकायत यह थी कि बेईमान लोग पड़ोसियों की संपत्ति छीन लेते हैं। पृथु का अभिषेक होने पर उसने लोगों की शिकायत दूर की।[35] अपने राज्याभिषेक के समय प्रथम राजा पृथु ने निम्नलिखित शब्दों में लोगों को आश्वस्त किया: 'मैं स्वधर्म, वर्णधर्म और आश्रमधर्म की स्थापना करूँगा और राजदंड से उन्हें कार्यान्वित करूँगा।'[36] आगे कहा गया है कि चारों वर्ण समान रूप से प्रथम राजा का आदर करते थे।[37]

इस सबध में धर्मशास्त्रों में पाए गए दो छिटपुट उल्लेख इस समस्या के अध्ययन की दृष्टि से प्रासंगिक हो सकते हैं। नारद और बृहस्पति यद्यपि गुप्त काल के स्मृतिकार थे, किंतु पुरातन स्वर्णयुग, उसके विनाश और फलतः राजसत्ता के प्रमुख साधन 'व्यवहार' (न्याय या दड) के उदय की स्मृतियां उनके मन में कायम

रहीं। नारद ने निम्नलिखित शब्दो मे व्यवहार की उत्पत्ति के संबंध में अपना विचार व्यक्त किया है : 'जब मर्त्यजन केवल अपने कर्तव्य के पालन मे प्रवृत्त थे और स्वभावतः सत्यवादी थे तब न तो व्यवहार था, न घृणा, न स्वार्थ। कर्तव्य का चलन लुप्त हो जाने पर व्यवहार (न्यायव्यवस्था) का चलन हुआ और मुकदमों का निर्णय करने के लिए राजा नियुक्त किया गया, क्योंकि उसे ही दंड देने की सत्ता है।' बृहस्पति के विचार भी ऐसे ही हैं। उसके अनुसार, पूर्व काल में लोग नितांत सदाचारी थे और अनिष्टकारी प्रवृत्ति नही रखते थे। जब से वे लोभ और द्वेष के शिकार हुए तभी से व्यवहार स्थापित हुआ।[38] हमारे विचार मे नारद और बृहस्पति द्वारा वर्णित पुरातन स्वर्णयुग, जब सबकुछ आदर्श स्थिति में था, कृतयुग या बौद्ध तथा जैन स्रोतो में चित्रित प्राकृतिक अवस्था से मेल खाता है। यह तथ्य कि स्वार्थ, 'धनलोलुपता', 'घृणा' और 'द्वेष' के आगमन से स्वर्णयुग तिरोहित हो गया, संभवतः निजी सपत्ति, परिवार और जाति के उदय का सकेत देता है, जो स्वभावतः लोभ और पारस्परिक घृणा की भावना जगाते हैं। यदि इन उल्लेखो का यही अर्थ हो तो इसके आधार पर यह सिद्धांत निरूपित किया जा सकता है कि संपत्ति नामक सस्था की रक्षा करने तथा पारस्परिक घृणा और स्वार्थ की भावना पर अकुश रखने के लिए राज्यशक्ति के प्रधान साधन, व्यवहार का उदय हुआ।

राज्य की उत्पत्ति के सबंध में ऊपर जिन प्रत्यक्ष प्रसंगो पर विचार किया गया है वे इस दृष्टि से सपत्ति, परिवार और जाति की भूमिका पर काफी प्रकाश डालते हैं, लेकिन इस संबंध में कुछ अप्रत्यक्ष साक्ष्यो की भी जांच की जा सकती है। हम पूछ सकते हैं कि यदि राजसत्ता नही होती तो क्या होता ? अराजक राज्यो के विस्तृत वर्णन से भरे 'शांतिपर्व', 'अयोध्याकांड' और 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में बार-बार कहा गया है कि अराजक अवस्था मे परिवार और संपत्ति की सुरक्षा नहीं होती है।[39] इनमें कहा गया है कि यदि राजा रक्षक के रूप मे अपना कर्तव्य छोड दे तो 'कोई भी व्यक्ति अपने कब्जे की किसी वस्तु के बारे में यह नही कह सकता कि यह मेरी है। तब पत्नी, पुत्र, खाद्य पदार्थ और अन्य प्रकार की सपत्ति का अस्तित्व नहीं रह जाएगा।'[40] एक बार जब ठोस आधार पर राज्य स्थापित हो गया तब यह (राज्य) लोगों की पत्नी और संपत्ति का सबसे बडा रक्षक समझा जाने लगा। अतः समझदारी के साथ यह निर्धारित किया गया कि पहले लोग ऐसे राजा का चुनाव कर लें जिसकी छत्रछाया मे वे रहना चाहते हो और इसके बाद वे पत्नी का चुनाव तथा धनार्जन करे। यदि राजा नहीं हुआ तो पत्नी और संपत्ति का क्या होगा ?[41] यह स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में बलशाली बलहीनो की सपत्ति को जबरदस्ती हथिया लेगे।[42] भंडारकर ने पांच उद्धरण दिए हैं, जिनसे यह पता चलता है कि राजपद का सृजन बलशाली से बलहीनों की रक्षा के लिए हुआ।[48] बलहीन का अर्थ 'गरीब' और बलशाली का अर्थ 'धनी' लगाना शायद सही न हो। लेकिन

कही-कही ऐसी बातें कही गई हैं जिनसे यह धारणा बनती है कि राजपद निर्धनों के सयुक्त आक्रमण के विरुद्ध धनिकों की हिमायत करने के लिए रचा गया। ऐसी *आशका व्यक्त की गई है कि राजा के संरक्षण के बिना दुष्ट लोग अन्य लोगों के* वाहन, वस्त्राभूषण, रत्न और अन्य प्रकार की संपत्ति लूट लेंगे।[44] यह स्पष्ट है कि केवल धनिकों के पास ही ये वस्तुएं हो सकती थी। यह स्पष्ट है कि यदि राजा सरक्षण नही दे तो धनिकों को मृत्यु, परिरोध और अत्याचार का सामना करना पडेगा।[45] ऐसी परिस्थिति में दो व्यक्ति मिलकर एक का, और अनेक व्यक्ति मिलकर दो का धन छीन लेंगे।[46] 'अयोध्याकांड' से जानकारी मिलती है कि राजाविहीन राज्य में धनी लोगों में असुरक्षा का भाव रहता है, वे अपना दरवाजा खोलकर नही सो सकते।[47] इस सदर्भ में 'विष्णुपुराण' से वेन और पृथु की कथा के कुछ अश का उल्लेख करना रुचिकर होगा। जब क्रुद्ध ऋषियों ने वेन को मार डाला तब समस्त वायुमंडल की सभी दिशाएं धूल से आवृत्त हो गई। जब ऋषियों ने इसका कारण जानना चाहा तब लोगों ने कहा: 'चूंकि राज्य राजाविहीन हो गया है इसलिए गरीब लोग चोर बन गए हैं और अन्य लोगों की सपत्ति लूटने लगे हैं। हे ऋषियो! अन्य लोगों का धन तेजी से अपहृत करनेवाले इन चोरों की लूटमार के कारण ही यह प्रचड धूल भरी आंधी चलने लगी है।'[48]

इसके अलावा यह भी कहा गया है कि अराजक स्थिति में विवाह और यौनाचार संबंधी सारे प्रतिबध समाप्त हो जाते हैं और विवाह नामक संस्था का अस्तित्व नहीं रह जाता,[49] राजाविहीन राज्य में विवाह में कन्यादान करना सामान्य रीति से संभव नही होता।[50] फिर, राजा के अभाव में वर्णव्यवस्था नष्ट हो जाती है और वर्णसंकरता आरंभ हो जाती है।[51] ठीक यही परिणाम अर्थात राज्य की दंड देने की सत्ता के लोप होने पर होते हैं। यह बताया गया है कि दंड ही वह माध्यम था जिसके द्वारा दूसरे की संपत्ति के अपहरण को रोका जा सका। इसी कारण इसे व्यवहार कहा गया। लेकिन जब एक बार यह लुप्त हो गया तब अनर्थकारी परिणाम हुए। यौनाचार के विषय में कोई प्रतिबंध नही रहा। संपत्ति की सारी कल्पना समाप्त हो गई। सभी प्राणी लूटमार करने लगे।[52] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि चूंकि प्राचीन परपराओं में शासक या दंड के अभाव को संपत्ति, परिवार और वर्णव्यवस्था के लिए बहुत बडा खतरा समझा गया है, इसलिए राज्य इनकी रक्षा के निमित्त ही उदित हुआ।

राजा के मुख्य कर्तव्यों को देखने से भी, जिस प्रयोजन से उसका पद सृजित हुआ उस पर प्रकाश पडता है। राजा के मुख्य कर्तव्यों में से एक था चोरों को दंडित कर निजी सपत्ति की और परस्त्रीगामियों को दंडित कर परिवार की रक्षा करना। सपत्ति की रक्षा का उत्तरदायित्व इतना महत्त्वपूर्ण था कि प्रजा की चुराई गई संपत्ति, चाहे जैसे हो, उसे वापस दिलाना राजा के लिए आवश्यक था।[53] धन की

रक्षा और संभवतः इसके वितरण से भी राजा का गहरा संबंध था, ऐसा अनुमान 'पंचतंत्र' के एक श्लोक से लगाया जा सकता है। इसमें कहा गया है कि धन की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को राजा के पास जाना चाहिए।[54] तमिल रचना 'तिरुक्कुरल' में भी राजा उसे बताया गया है जो धन के अर्जन, रक्षण और वितरण की सामर्थ्य रखता है।[55] पुराने धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि केवल राज्य की सत्ता ही ऐसी स्थिति कायम कर सकती है जिसमें सपत्ति अर्जित करने के 'सात उपाय' और सपत्ति पर 'तीन प्रकार के अधिकार' सुरक्षित रह सकें।[56] अशिथिल शासनवाला राजा उसे कहा गया है जिसके हृदय में गरीबों के लिए विशेष स्थान है।[57] लेकिन इसका उल्टा साक्ष्य भी मौजूद है, जिसमें विधान है कि राजा को सदा अपनी धनी प्रजा का आदर करना चाहिए, क्योंकि हर राज्य में धन ही संपदा है। यह भी कहा गया है कि निस्संदेह धनी व्यक्ति सभी लोगों में अग्रणी हैं।[58]

परिवार की रक्षा और जारकर्म रोकना राजा का दूसरा दायित्व था। मनु ऐसे अठारह अपराध गिनाता है, जिनकी ओर राजा को ध्यान देना चाहिए। इनमें से दस का सपत्ति से और दो का परिवार से संबध है।[59] इसी प्रकार कात्यायन दस असत कार्य बतलाता है, जिनकी ओर राजा का ध्यान जाना चाहिए। इनमें पाँच का सपत्ति से और एक का परिवार से संबंध है।[60] यह स्वाभाविक ही है कि राज्यविरोधी अधिकांश अपराध संपत्ति विषयक प्रश्नों से संबद्ध हों, क्योंकि यह समझा जाता था कि गरीबी ही सभी पापों की जड है और गरीब सदा पापी होते हैं।[61] ऐसा माना जाता था कि निर्धन हर प्रकार का अपराध कर सकता है।[62] कात्यायन को खासतौर पर इस बात की चिंता है कि दरिद्रों के पास कहीं एकाएक धन न आ जाए।[63] बुद्ध ने वज्जिराज्य की सफलता के लिए जो सात शर्तें रखी थीं, उनमें से दो का संबंध संपत्ति और परिवार से माना जा सकता है। एक शर्त यह थी कि वज्जि लोग प्राचीन वज्जिधर्म का पालन करें। यदि वज्जिधर्म की व्याख्या 'दीघनिकाय' मे उद्धृत 'अट्टकथा' से लिए गए अंश के आलोक में की जाए तो इसका यह अर्थ होगा कि चोरों को कानून के अनुसार दंडित किया जाए।[64] दूसरी शर्त में यह स्पष्ट आदेश है कि वे अपनी स्त्रियों या लडकियों को बलपूर्वक या अपहरण करके अपने बीच नही रखे।[65] खासतौर से बौद्ध स्रोतों के अनुसार, चोरों को दंडित करना राजा के प्राथमिक कर्तव्यों में से था। चोरों को राजा की आज्ञा से फांसी पर लटकाकर या उसकी चमडी, मांस, हड्डी आदि उधेड़ काट कर तुरंत मार डाला जा सकता था।[66]

बौद्ध स्रोतों में वर्णव्यवस्था के अनुरक्षण का उल्लेख नहीं है, यद्यपि ब्राह्मण स्रोतों के अनुसार यह राजा के उल्लेखनीय कर्तव्यों में से था। करीब-करीब सभी महत्त्वपूर्ण स्रोतो में यह कहा गया है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह चतुर्वर्ण द्वारा स्वधर्म का पालन कराए।[67] 'रामायण' के अनुसार, दशरथ के आदर्श शासन में

विभिन्न जातियों के लोग अपना-अपना कर्म करते थे।[68] जैसा कि आगे दिखलाया जाएगा,[69] अभिलेखों में इस बात के ठोस प्रमाण मिलते हैं कि वर्णव्यवस्था बनाए रखना राजा का दायित्व था।

प्राचीन स्मृतिकारों में मनु ने राजा द्वारा वर्णव्यवस्था बनाए रखने पर विशेष जोर दिया है। उनके मतानुसार, राज्य तभी तक उन्नति कर सकता है जब तक वर्णों की शुद्धता बनी रहती है, अन्यथा यह समस्त निवासियों के साथ विनष्ट हो जाता है।[70] लगभग यही विचार प्लेटो के 'रिपब्लिक' में भी व्यक्त हुए हैं, जो इस प्रकार हैं 'तीनों वर्गों द्वारा एक-दूसरे के मामले में किसी भी प्रकार का अनधिकृत हस्तक्षेप राज्य के लिए नितांत अनिष्टकर होगा, और इसे बुराई की पराकाष्ठा कहना उचित होगा।'[71] एक स्थल पर मनु की घोषणा है कि केवल वे ही राजा द्वारा रक्षित होने के पात्र हैं जो आर्यों की तरह रहते हैं।[72] इस मान्यता का समर्थन लगभग 9वीं सदी की रचना 'बृहन्नारदीय पुराण' में भी किया गया है।[73] इसमें प्रथम तीन वर्णों की रक्षा पर विशेष जोर दिया गया है।[74] सामान्यतः वर्णव्यवस्था का अनुरक्षण धर्म का अनिवार्य तत्व माना जाता था, क्योंकि कामंदक के अनुसार, यदि राज्य के लोग धर्म का उल्लंघन करने लगें तो संपूर्ण समाजव्यवस्था का 'प्रलय' होना अवश्यभावी है।[75]

संपत्ति, परिवार और वर्णव्यवस्था के अनुरक्षण का वही महत्त्व था जो राज्य या शासक के अस्तित्व का था। 'शांतिपर्व' में गृहदाह, चोरी या वर्णसंकरता फैलाने वाले के लिए उसी दंड की व्यवस्था है जो राजा को मारने का षड्यंत्र करनेवाले के लिए निहित है।[76] राजधर्म संबंधी यह धारणा मध्यकाल तक कायम रही। सोमेश्वरदेव (ईस्वी सन की 12वीं शताब्दी का प्रारंभ)-रचित 'अभिलषितार्थ-चिंतामणि' में भी राजा के इसी प्रकार के कर्तव्यों पर—'जैसे कि चोरी और व्यभिचार रोकने[77] तथा वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने पर' जोर दिया गया है।[78]

राज्य के मूलभूत कृत्यों के संबंध में व्यक्त किए गए विचारों को देखते हुए यह स्वाभाविक था कि हिंदू राजनीतिक चिंतक संपत्ति और परिवार संबंधी नियमों के उल्लंघन की प्रवृत्ति को, जो मानव स्वभाव में सहज समाहित है, पाप घोषित करें। कामंदक के अनुसार मनुष्य स्वभावतः वासनाग्रस्त तथा दूसरे के धन और स्त्री का लोभी है।[79] मनु का कहना है कि शुद्ध और पापरहित व्यक्ति विरल ही हैं। उनकी राय में लोगों की प्रवृत्ति ही दूसरों के अधिकार में हस्तक्षेप करने तथा आचार और रीति का उल्लंघन करने की होती है।[80] अतः प्राचीन चिंतकों की दृष्टि में संपत्ति और परिवार संबंधी नियमों का उल्लंघन मनुष्य की सहज प्रवृत्ति थी जिसे रोकने के लिए राज्य का सृजन किया गया।

प्राचीन भारत में राजा का वर्णन सामान्यतया धर्मरक्षक के रूप में किया गया

है। बौद्ध स्रोत भी उसके समक्ष धर्मध्वज, धर्मकेतु और धर्माधिपति के आदर्श रखते हैं।[81] वज्जियों के संदर्भ में धर्म का क्या अर्थ था, यह ऊपर बताया जा चुका है।[82] लेकिन ब्राह्मण धर्म की वे कौन-सी ठोस और स्पष्ट मान्यताएं थीं जिनकी रक्षा की अपेक्षा राजा से की जाती थी। इसकी जानकारी हमें धर्मशास्त्रों से मिल सकती है। इनमें संपत्ति, वैवाहिक संबंध और वर्णप्रथा संबंधी कानूनों पर विस्तृत अध्याय हैं। 'शांतिपर्व' में धर्म को राजा पर आश्रित माना गया है[83] और इसके तिरोहित होने के परिणामों का वर्णन इन शब्दों में किया गया है : 'जब अधर्म को नहीं रोका जाता है तब कोई भी व्यक्ति, शास्त्रोक्त संपत्ति-अधिकार के अनुसार, यह नहीं कह सकता कि अमुक चीज मेरी है, अमुक चीज मेरी नहीं है। संसार में अधर्म के फैल जाने पर आदमी अपनी पत्नी, पशु, खेत खलिहान और घर का मालिक और उपभोक्ता नहीं रह सकता।'[84] इसमें आगे यह भी कहा गया है कि धर्म से धन अर्जन और रक्षण होता है। अधर्म की वृद्धि से वर्णों में अस्तव्यस्तता आती है।[85] अत्याचारी राजा वेन को संबोधित करते हुए ऋषियों ने भी धर्म की व्याख्या इसी रूप में की है। वे उसे चेतावनी देते हैं कि धर्म सभी वर्णों का सबसे बड़ा मित्र है। यदि राजा धर्मत्याग कर दे तो किसी की भी पत्नी, धन या घर उसका अपना नहीं रह जाएगा। कौटिल्य के अनुसार जब सभी धर्म नष्ट हो जाते हैं तब राजा चतुर्वर्ण की स्थापना और सदाचार की रक्षा करने के लिए धर्मप्रवर्तक बनता है।[86] अतः यथार्थतः धर्मशास्त्र साहित्य में राजा द्वारा धर्म के अनुरक्षण का अभिप्राय परिवार, संपत्ति और वर्णों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की रक्षा है। राजोचित आदर्श से भी राजपद के प्रयोजन का आभास मिलता है। राजा का सबसे प्रमुख आदर्श धर्म, अर्थ और काम को सिद्ध करना था। यदि अर्थ का आशय विधिसम्मत व्यवस्था का अनुरक्षक माना जाए तो स्पष्ट है कि त्रिवर्ग में भी संपत्ति, परिवार और वर्ण की प्रमुखता थी। ध्यातव्य है कि कुछेक प्राचीन भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार अर्थ (संपत्ति) त्रिवर्ग आदर्श का आधार था और इसके बिना शेष दो उद्देश्यों की पूर्ति संभव नहीं थी।[87]

गरज यह है कि राज्य की उत्पत्ति पर हम चाहे प्राकृतिक अवस्था में व्याप्त परिस्थितियों की दृष्टि से विचार करें या अराजक समाज की परिस्थितियों की दृष्टि से, राजा के मुख्य कर्तव्यों को ध्यान में रखकर सोचें अथवा राजा द्वारा धर्म की रक्षा के विधान के मर्म को ध्यान में रखकर या राजा द्वारा अनुसरणीय आदर्श को दृष्टिगत करके, हमारा निष्कर्ष यही होगा कि प्रारंभिक चिंतकों और स्मृतिकारों की राय में संपत्ति, परिवार और वर्ण की भूमिका राज्य की उत्पत्ति में बुनियादी और महत्त्वपूर्ण थी।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 घोषाल, हि पॉ थी पृ 118-20, भंडारकर, कारमाइकेल लेक्चर्स, 1918, पृ 115-22, बंद्योपाध्याय, डेवलपमेंट ऑफ हिंदू पॉलिटी ऐंड पॉलिटिकल थीअरीज, पृ 275-77, बनर्जी, पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन एंशंट इंडिया, पृ 34 एवं आगे, बेनीप्रसाद, थियरी ऑफ गवर्नमेंट इन एंशंट इंडिया पृ 235-36, दीक्षितार, हिंदू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टिट्यूशंस, पृ 17-18, अल्तेकर, स्टेट ऐंड गवर्नमेंट इन एंशंट इंडिया, पृ 12-14

2 मा पु, अध्याय 49, वा पु I, अध्याय 8, कू पु, अध्याय 29, ब्र पु, अध्याय 5, वि पु, I, अध्याय 6, ब्रह्म पु, अध्याय 19-31, पद्म चरित्र अध्याय 3, रॉकहिल द्वारा उद्धृत टिबेटन दुल्वा, दि लाइफ ऑफ दि बुद्ध, पृ 2-9, महावस्तु I, 340-48, दीघ निकाय, अग्गसुत्त, शा प, अध्याय 59,67,69 और 206

3 वा पु I VIII, 84, पद्म चरित्र, III, 55

4 महावस्तु, I, 340-41

5 चाइल्ड, मैन मेक्स हिमसेल्फ, अध्याय IV

6 मारगन, एंशंट सोसाइटी, पृ 20

7 वही, पृ 27

8 शा प, 144 5-6, महाभारत, I 4 9 12

9 न चैषाम् मैथुनो धर्मो, बभूव भरतर्षभ । सङ्कल्पादेव चैतेषाम् अपत्यं उपपद्यते ।।
द्वापरे मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप । तथा कलियुगे राजन् द्वन्द्वमापेदिरे जनः ।।
शा प 207 38-41, तस्मा विशुद्धान् सकल्पाज्जायन्ते मिथुना प्रजा । वा पु I VIII-57
'शांतिपर्व' के इस अंश का अर्थ लगाने में डांगे (इंडिया फ्राम प्रीमिटिव कम्युनिज्म टु स्लेवरी, पृ 67) का अनुसरण किया गया है
ऐतिहासिक और धार्मिक अनुश्रुतियों में स्वच्छंद मैथुन के उल्लेखों पर प्रकाश डालनेवाला प्रथम आधुनिक विद्वान वेशोफेन था.

10 शा प (बंबई संस्करण), 102 26, मै बु बु, IV, 192.

11 वा पु I, VIII, 60, महावस्तु, I, 340-46, मै. बु बु, IV, 62-67, रॉकहिल दि लाइफ ऑफ दि बुद्ध, पृ 2-6

12 न वैराज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः । शा प, 59 14.

13 वैराज्यं तु ईश्वर परस्परस्पर्द्धा नैनमभिषेक्तुमिच्छन्ति नेनम इति मन्यमानः । अ शा, VII, 1-2 इस अवतरण का उपर्युक्त अनुवाद जायसवाल, हिंदू पॉलिटी, पृ 83 के आधार पर दिया गया है

14 वा पु, I, VIII, 48-49, 52,62,65, विशीर्णास्तलवत्बहुला एकान्त बहुलास्तथा । ना वै नित्यमधर्मार्थियों नित्य मुदितमानसा ।। कू पु, अध्याय 19

15 चाइल्ड, मैन मेक्स हिमसेल्फ, अध्याय VI

16 बनर्जी, पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन एंशंट इंडिया, पृ 33-34

17 वा पु, I, VIII, 128, 142-45, 154, मा पु, अध्याय 49,51,60 और 74, 'तस्मिन् वनन्ते शालिर्नि तम् वर्णिनम् अकणम् अतुषम् सुरभितण्डुलफलम् आहारमाहरन्तो चिरम् दीर्घमध्वानम् तिष्ठन्तु । महावस्तु, I, 342.

18 रॉकहिल, दि लाइफ ऑफ दि बुद्ध, पृ 5, मै बु बु, IV, 86, महावस्तु, I, 343

19 तस्मात् पश्यगृहाणन्त नदीक्षेत्राणि पर्वतान् । वा पु, I, VIII, 31, मा पु, 49 62, कू पु, अध्याय 29

20. दि लाइफ ऑफ दि बुद्ध, पृ., 5-6, सै बु मु , IV-87.
21. दि लाइफ ऑफ दि बुद्ध, पृ 6-7; सै बु बु , IV-88; महावस्तु, I, 347-48
22 महावस्तु, I, 343, सै बु बु , IV, 85, दि लाइफ ऑफ दि बुद्ध, पृ 4
23. दि लाइफ ऑफ दि बुद्ध, पृ 5.
24. 207-40
25. वर्णधर्मैर्जीव्यतो व्यरुध्यत परस्परम्   वा पु , I, VIII. 155-60, पद्म चरित, III. 240
26. ब्रह्मा तमर्थम् बुध्वा याथातथ्येन वै प्रभु ।
    क्षत्रियाणाम्बलम् दण्ड युद्धमाजीवमादिशत् ।। वा पु , I, VIII, 161.
27 वर्णाश्रम व्यवस्थान तेषा ब्रह्मा तथाकरोत् ।
    पुन प्रजास्तु ता मोहात्तान् धर्मान् हयपालयन् ।।
    परस्पर विरोधेन मनुन्ता पुनरन्वयु –
    प्रियव्रतोत्तानपादौ प्रथमन्तौ महीपती ।
    तत. प्रभृति राजान्न उत्पन्ना दण्डधारिण ।। वा पु , I, 57,55-58
28 एफ एंजेल्स, दि ऑरिजिन ऑफ फैमिली, प्राइवेट प्रोपर्टी एंड दि स्टेट, पृ 244
29 शा प , 67, 14-15
30 वही, 67, 17-18
31 वही, 67,19
32. वही, 67,23-24
33 परम्परागत धर्म स्मार्तंचाचारलक्षणम् । वर्णाश्रमाचारयन्त मनु स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।।
    वा. पु , I, 457, 41
34. शा प , 59 125.
35. वि पु , स्कध I, अध्याय XIII.
36 समरागण सूत्रधार, VIII.
37. ब पु , V. 116-21.
38. धर्मैकतानाः पुरुषास्तदासन् सत्यवादिनः तदा न व्यवहारोऽभुन्न, द्वेषो नापिमत्सरः नष्टे धर्मे मनुष्येषु व्यवहारः प्रवर्तते ।–नारद
    धर्मप्रधाना पुरुषाः पूर्वमासन्न हिंसकाः । लोभद्वेषाभिभूताना व्यवहारः प्रवर्तते ।। बृहस्पति वीरमित्रोदय, पृ 4 में उद्धृत.
39. शा. प , अध्याय 68;'अयोध्याकांड', अध्याय 67, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, स्कन्ध II, अध्याय 11, जिसे जगदीशलाल शास्त्री ने पॉलिटिकल थोट इन दि पुराणाज, पृ 120-21 पर उद्धृत किया है.
40. शा. प., 68. 15, 33, मिलाए 'अयोध्याकांड', 67 10-11, 31, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, स्कंध II, अध्याय 11, 14, जो पॉलिटिकल थॉट इन दि पुराणाज, पृ 121 पर उद्धृत है
41. राजान प्रथम विंदेत ततो भार्यां ततो धनम् । राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ।। शा प ,57, 46.
42. शा. प., 68, 14
43 भंडारकर, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ 115-18
44 शा प , 68, 16
45 शा. प , 68, 19.
46 शा प , 90, 39-40.

46 67, 18
48 ततश्च मुनयो रेणुं ददृशु सर्वतो द्विज।
किमेतदिति चासन्नानपाप्रच्छुस्ते जनांस्तदा।।
आख्यात च जनैस्तेषा चौरभूतैरराजके।
राष्ट्रे तु लोकैरारब्धम् परस्वादानमातुरै।।
तैषामुदीर्णवेगानां चौराणाम् मुनिसत्तम।
सुमहान् दृश्यते रेणु परवित्तापहारिणाम्।। वि. पु स्कध 9, अध्याय 13, 30 32
49 शा प, 68, 21-22
50 अराजकेषु राष्ट्रेषु नैव कन्या प्रदीयते। पॉलिटिकल थॉट इन दि पुराणाज, पृ. 120 पर विष्णुधर्मोत्तर पुराण का उद्धरण
51 शा प, 68, 29
52 शा प, 121, 13, मिलाए मनु, VII 20 34
53 शा प, 75-10, आपस्तब धर्मसूत्र, II 10, 27. 4, पॉलिटिकल थॉट इन दि पुराणाज के पृ 43 और 67 पर अ पु का, और पृ 147-48 पर विष्णुधर्मोत्तर पुराण का उद्धरण.
54 पचतत्र, पृ 104
55 दीघनिकाय का अनुवाद, पृ 81
56 वसिष्ठ, XVI, 10, मनु X, 115
57 शा प, 139, 97
58 धनिन पूजयेन्नित्यम् मानाच्छादनभोजनै अगमेतन्महद्राज धनिनोनाम भारत, ककुदम सर्वभूताना धनस्थो नात्र सशय।
शा प, 88, 26-30 मिलाएं परिशोधित संस्करण 89, 25-26, जिसका यहा अनुसरण किया गया है
59 मनु, VIII 4-7
60 श्लोक 947-48
61 मृच्छकटिक, I, 8-15, 36, 53, III, 24, 27, V, 8-9, IV. 5, X 16 आदि
62 किम् चित्र यदि निर्धनोऽपि पुरुष पापं न कुर्यात् क्वचित्। ग पु, पॉलिटिकल थॉट इन दि पुराणाज, पृ 101 पर उद्धृत
63 श्लोक 849-50
64 दीघ निकाय (हिंदी), पृ 118-19
65 वही, पृ 118
66 वही, पृ 201, 204 मिलाइए पृ 236
67 अ शा, III 1, का नी, XIII, 41, 58, बृ अ शा, III, 18, मनु VII, 17, 35, कात्यायन, श्लोक 949-50, शा प 57. 15, 53 27, 56. 12, 77-11-17 व पृ-222-103, वि पु स्कध III अध्याय 8, पॉलिटिकल थॉट इन दि पुराणाज, पृ 5 पर उद्धृत म. पु, पृ 49 पर उद्धृत अ पु, पृ 81 पर उद्धृत मा पु, और 153 पर उद्धृत वा पु
68 'बालकाड', VI, 17, 19.
69. निम्नवत्, अध्याय XII.
70 मनु, X-61, मिलाइए शुक्रनीतिसार, IV, 1, 215, 16
71 रिपब्लिक, III 434
72 IX-253

73. आर. सी. हजरा, स्टडीज इन दि उपपुराणाज, 1, 344.
74. बृहन्नारदीय पुराण, 104-62.
75 ,1 34
76 85 22
77 चौरेभ्यो मान्यकेभ्यश्च तथैवार्थाधिकारित । चोरैस्साहसिकैश्चाध्यै. दुराचारैस्तथा परै ।। श्लोक 157
78 पूजनम् सुरविप्राणाम् वर्णाश्रमनिरीक्षणम् । मारणम् तस्करादीनामात्मरक्षाविधिक्रमम् ।। श्लोक 710 ।।
79. II.42
80 VII 21-22, 24
81. दीघ निकाय (हिंदी), पृ 234
82 उपरिवत्, पृ 59.
83. 90-5.
84. शा प , 90, 9-10.
85. वही, 90, 17, 35.
86 अ शा. III, 1
87. धनवान् धर्ममाप्नोति धनवान् याममश्नुते । पॉलिटिकल थॉट इन दि पुराणाज के पृ 42 पर अ. पु और पृ 145 पर वि ध. पु के उद्धरण-त्यजन्ति मित्राणि धनैर्विहीनम्, पुत्राश्च दाराश्च सुहृज्जनाश्च । पॉलिटिकल थॉट इन दि पुराणाज, पृ 92 पर ग पु का उद्धरण ।

5. राज्य की उत्पत्ति का अनुबंध सिद्धांत

ऐतिहासिक सर्वेक्षण

प्राचीन ग्रंथों में राज्य की उत्पत्ति विषयक पाश्चात्य सिद्धातो के प्रतिरूप खोजने के प्रयास तो हुए हैं; लेकिन इसमे इन ग्रथो के काल और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ध्यान नही रखा गया है। ऐसे भी न केवल बहुत से प्राचीन ग्रंथों का काल अनिश्चित है, बल्कि उनकी वर्ण्य वस्तु के विषय मे भी निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। अनुबंध का प्रतिपादन जिन स्रोतो में किया गया है वे तिथिक्रम से इस प्रकार हैं. 'ब्राह्मण', 'दीघ निकाय', कौटिल्य विरचित 'अर्थशास्त्र', 'महावस्तु' और 'शांतिपर्व' का राजधर्म प्रकरण। कुछ विद्वान इस अनुक्रम का अनुसरण नही करते। वे पहले 'शांतिपर्व' का साक्ष्य ग्रहण करते हैं और फिर 'दीघ निकाय' और 'अर्थशास्त्र' की सामग्री की विवेचना करते हैं।[1] किंतु 'शांतिपर्व' का 'राजधर्म' प्रकरण ईसा की पहली शताब्दी से पहले नही रखा जा सकता। ध्यातव्य है कि इसके अध्याय 67 मे राज्योत्पत्ति के अनुबंध सिद्धात का विवेचन है और अध्याय 65 (श्लोक 13) मे पहलवो (पार्थियनों) का उल्लेख हुआ है।

राज्य की उत्पत्ति के अनुबध सिद्धात का धुंधला-सा आभास सबसे पहले दो ब्राह्मणों में मिलता है। इनमे असुरों पर विजय प्राप्त करने के लिए देवताओं के बीच राजा के चुनाव का जिक्र है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण मे इद्र के राज्याभिषेक के सदर्भ मे इस विचार को पल्लवित किया गया है। इसके अनुसार प्रजापति के नेतृत्व में देवताओ ने आपस में कहा कि हमारे बीच इद्र 'कार्य सपादन के लिए सर्वाधिक स्वस्थ, शक्तिशाली, सर्वरूपेण, पूर्ण और सर्वोत्तम है।' इसलिए उन्होने उसे राजपद पर प्रतिष्ठित करने और तदनुसार उसका महाभिषेक करने का निश्चय किया। इस अभिषेक मे उसके विभिन्न प्रकार के राजसस्कार किए गए।[3] जाहिर है कि निर्वाचन में निर्वाचक और निर्वाचित के बीच एक प्रकार की सहमति होती है। लेकिन इस ग्रथ मे निर्वाचको और निर्वाचित के पारस्परिक दायित्वो का उल्लेख नही है। फिर भी चूंकि युद्ध की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर यह निर्वाचन हुआ था, जिसमे सबसे अधिक जोर राजा के शारीरिक गुणों पर था,[4]

इसलिए ऐसा माना जा सकता है कि इस अनुबंध में प्रजा का आज्ञापालन का दायित्व और राजा का प्रजा को आदेश देने और उसकी रक्षा करने का दायित्व सहज समाहित है। हमारा यह अनुमान उत्तर वैदिक कालीन राजत्व के स्वरूप को कहा तक प्रतिबिंबित करता है, यह कहना कठिन है। देवसमाज का निर्वाचन पूर्व वैदिक काल के जनजातीय समाज में व्याप्त ऐसी ही प्रथा का द्योतक माना जा सकता है, क्योंकि राज्याभिषेक समारोहों से प्रकट होता है कि वैदिक काल के अंत तक राजा का पद आनुवंशिकता के आधार पर सुस्थापित हो गया था। कहा गया है कि ब्राह्मणों में, कुछ हद तक, परवर्ती काल के बहुश्रुत सामाजिक अनुबंध सिद्धांत का पूर्वाभास मिलता है।[5] लेकिन सामाजिक अनुबंध के अनुसार लोग एक-दूसरे के परिवार और संपत्ति की मर्यादा पालन करने का करार करते हैं तथा, इस तरह, वे संगठित समाज की नींव डालते हैं। ब्राह्मणों में ऐसा कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया गया है; बल्कि इनमें एक प्रकार के राजनीतिक अनुबंध की झलक मिलती है।

राज्य की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धांत का प्रारंभिक ब्राह्मण साहित्य में आभास-मात्र मिलता है; इसका प्रथम स्पष्ट और विस्तृत प्रतिपादन बौद्ध-धार्मिक ग्रंथ 'दीघ निकाय' में प्राप्त होता है। इसकी सृष्टिकथा हमें रूसो की राज्यपूर्व आदर्श अवस्था की याद दिलाती है। इसके उपरांत जिस अवस्था का प्रादुर्भाव होता है, वह बहुत कुछ हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था से मेल खाती है। ब्राह्मणों के श्रेष्ठता के दावे का खंडन करने के लिए स्वयं बुद्ध ने इस कथा का सहारा लिया है। इस कथा के अनुसार, एक समय ऐसा था जब लोग सर्वथा दोषरहित और सर्वांगपूर्ण थे तथा सुख-शांति से रहते थे। यह सभी दृष्टियों से पूर्ण और निर्दोष अवस्था युगों तक चली। लेकिन अंततोगत्वा पुरातन पवित्रता अधोमुखी होने लगी और इसका क्षय प्रारंभ हुआ। स्त्री-पुरुष और वर्ण का भेद स्पष्ट होने लगा। संक्षेप में, स्वर्गिक जीवन पार्थिव जीवन में परिवर्तित हो गया। अब रहने की जगह, भोजन और पानी की जरूरत होने लगी। लोगों ने आपस में क्रमशः अनेक अनुबंध किए तथा परिवार और संपत्ति जैसी संस्थाएँ कायम की। लेकिन इससे नई-नई समस्याएँ पैदा हुईं, क्योंकि चोरी और अन्य प्रकार के असामाजिक आचरण सामने आने लगे। अतः लोग इकट्ठे हुए, और तय पाया कि एक ऐसे व्यक्ति को प्रधान के रूप में चुना जाए जो 'सर्वाधिक समर्थित, सर्वाधिक आकर्षक और सर्वाधिक योग्य हो।' उन लोगों के आग्रह पर उस व्यक्ति ने करार किया कि वह 'वहीं पर क्रोध करेगा जहां उसे क्रोध करना चाहिए, उसी की भर्त्सना करेगा जिसकी भर्त्सना होनी चाहिए, उसी को देशनिकाला देगा जिसे देश निकाला मिलना चाहिए।'[6] बदले में लोगों ने उसे अपनी संपत्ति का एक अंश देना स्वीकार किया। इस प्रकार जो व्यक्ति निर्वाचित हुआ उसने क्रमशः तीन उपाधियाँ धारण कीं (1) महासम्मत, (2) खत्तिय और (3) राजा। 'दीघ निकाय' के अनुसार पहले

का अर्थ सभी लोगों द्वारा चुना गया व्यक्ति, दूसरे का खेतों का मालिक, और तीसरे का वह व्यक्ति है जो धर्म द्वारा लोगों को मोहित करे।[7]

'दीघ निकाय' में वर्णित सृष्टिकथा में जो चिंतन मिलता है, वह सामाजिक विकास की काफी निखरी हुई अवस्था की देन है। इससे पता चलता है कि अब तक जनजातीय समाज टूट चुका था, और स्त्री-पुरुष के बीच, विभिन्न जातियों और वर्णों के बीच तथा असमान संपत्ति वाले लोगों के बीच संघर्ष होने लगा था। इन परिवर्तनों का संबंध पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की बदलती हुई भौतिक संस्कृति से है। ईसापूर्व चौथी सदी के आसपास खेती में लोहे के औजारों के उपयोग के कारण अनाज की पैदावार बढ़ी और कृषक समुदायों की संख्या बढ़ी। पूर्वी भारत में धान अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार बना। यद्यपि सोनपुर (गया) के उत्खननों से ईसापूर्व करीब आठवीं शताब्दी में पूर्वोत्तर भारत में धान की खेती का पता चलता है, फिर भी व्यापक रूप से इसकी खेती बुद्ध के काल में ही शुरू हुई। महत्वपूर्ण बात यह है कि 'दीघ निकाय' में धान के सिवा किसी दूसरे अन्न का जिक्र नहीं है। स्पष्ट है कि धान पूर्वी अंचल की मुख्य फसल थी। इस सृष्टिकथा से ऐसी धारणा बंधती है कि झगड़े का एक मुख्य कारण यह था कि कुछ लोग अपने खाने से अधिक धान जमा कर लेते थे और इससे भी बुरी बात यह थी कि धनखेतों की छीनाझपटी होती थी।[8] इस प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति को राजा के चुनाव का प्रमुख कारण बताया गया है। साथ ही 'दीघ निकाय' की विचारधारा की विशेषता यह है कि इसके अनुसार राजनीतिक अनुबंध के पहले सामाजिक अनुबंध की स्थापना हुई, यह बात ब्राह्मणों में प्रतिबंधित अनुबंध सिद्धांत पर लागू नहीं है। सामाजिक अनुबंध का विकास 'दीघ निकाय' में कई चरणों में दिखाया गया है। पहले इसमें परिवार की रचना का संकेत है, फिर निजी संपत्ति के उदय का। दूसरों के परिवार और निजी धनखेतों पर हाथ न डालने का दायित्व केवल ध्वनित है, व्यक्त नहीं।[9] लेकिन निस्संदेह इस ग्रंथ में राजनीतिक अनुबंध की अपेक्षा सामाजिक अनुबंध की परिकल्पना का अधिक विस्तृत वर्णन है।[10]

'दीघ निकाय' में पल्लवित राजनीतिक अनुबंध में राजा के रूप में निर्धारित होने के लिए न केवल अलग ढंग की योग्यताओं पर जोर दिया गया है, बल्कि इसमें उभय पक्षों के उत्तरदायित्व भी स्पष्ट रूप से बता दिए गए हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में जहां ओज और बल जैसे गुणों पर जोर है, वहां 'दीघ निकाय' में सौंदर्य, जनप्रियता, आकर्षण और योग्यता पर बल दिया गया है। सौंदर्यबोधक शारीरिक गुणों के साथ हृदय और मस्तिष्क के गुण जोड़ दिए गए हैं। इसका स्पष्ट कारण बौद्धों की बलप्रयोग तथा हिंसाविरोधी प्रवृत्ति है। दुष्कृत्यों पर रोष प्रकट करके और उनकी भर्त्सना करके राजा अपनी नाराजगी व्यक्त करता है, लेकिन इस रोष और भर्त्सना के भाव को कार्यरूप में कैसे परिणत किया जाता है, यह नहीं बताया गया है।

अपराधियों को देशनिकाला देना एकमात्र ऐसा दंड है जिसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इस तरह, कुल मिलाकर, राज्य के प्रधान का दायित्व अपराधों को रोकना है। वह तभी हस्तक्षेप करता है जब लोग प्रतिष्ठित कानूनों का उल्लंघन करते हैं। राजा की उपाधियों की जो व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या की गई है, उससे भी पता चलता है कि राजा से किन उत्तरदायित्वों के निर्वाह की अपेक्षा की जाती थी। खत्तिय उपाधि का अर्थ खेतों का मालिक बतलाया गया है, जिससे पता चलता है कि राजा का प्रथम कर्तव्य लोगों के खेतों की एक दूसरे से रक्षा करना है। फिर, इस उपाधि से यह भी भासित होता है कि भूमि पर राजा को जो अधिकार प्राप्त है वह इस कारण कि वह समुदाय का, जो वैदिक काल में भूमि का स्वामी माना जाता था,[11] प्रतिनिधि है। भूमि पर प्रभावकारी राजकीय स्वामित्व का प्रथम संकेत प्राक् मौर्य काल में प्राप्त होता है। इस काल के प्रारंभिक पालि ग्रंथों में पूर्वोत्तर भारत में राजा द्वारा ब्राह्मणों को भूमिदान देने के दृष्टांत मिले हैं। इन अनुदानों को ध्यान में रखकर विचार करें तो कह सकते हैं कि राजा और जनसामान्य का पारस्परिक अनुबंधात्मक संबंध भूमि पर मुट्ठीभर उच्चकुलोत्पन्न शासक वर्ग के स्वत्वाधिकार को प्रतिबंधित करना है। 'राजा' उपाधि की व्याख्या से प्रकट होता है कि प्रजा को आकृष्ट और प्रसन्न करना उसका निश्चित दायित्व था। लेकिन प्रजा को आकृष्ट और प्रसन्न करने के लिए वह क्या करे, इसका कोई संकेत नहीं दिया गया है।[12] जहां राजा और प्रजा के पारस्परिक कर्तव्यों का निदेश किया गया है, वहां भी इसका कोई उल्लेख नहीं है।

जहा राजा के अनेक दायित्वों का उल्लेख है, वहीं प्रजा का केवल एक दायित्व बताया गया है—यह कि वह अपने धान का एक अंश राजा को दे। कर की दर तो निहित नहीं है, लेकिन समकालीन बौधायन धर्मसूत्र में बताया गया है कि राजा लोगों से उपज का छठा भाग लेकर बदले में लोगों की रक्षा करे।[13] इस प्रकार मौर्य पूर्व काल के ब्राह्मण परंपरा के चिंतकों के बीच भी यह मान्यता प्रचलित थी कि राजा प्रजा से कर प्राप्त करके बदले में उसकी रक्षा करे। लेकिन कहना कठिन है कि यह बात बौद्धों से ब्राह्मणों में आई या ब्राह्मणों से बौद्धों में। अनुबंधात्मक विचारधारा की संभावित उत्पत्ति उस समय के राजनीतिक संगठन में खोजी जानी चाहिए। बिना अनिवार्य कर प्रणाली के मगध तथा कोसल जैसे बड़े राज्य कायम नहीं हो सकते थे। इसके अतिरिक्त गौतम बुद्ध के समय पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तर बिहार में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जिनमें क्षत्रिय शासक थे।

हम देखते हैं कि आरंभ में एक ओर केवल एक क्षत्रिय और दूसरी ओर सामान्य जनों के बीच करार होता है, लेकिन आगे चलकर प्रथम पक्ष में समस्त क्षत्रिय समुदाय को शामिल कर लिया जाता है। 'दीघ निकाय' की सृष्टिकथा के अंत में कहा गया है कि इस प्रकार खत्तिय मंडल, अर्थात क्षत्रियों के सामाजिक वर्ग का

उदय हुआ।[14] इस प्रकार यहां जिस चीज का वर्णन है वह केवल आदिम क्षत्रिय शासक और जनसामान्य के बीच का ही करार नहीं है, बल्कि यह एक ओर क्षत्रिय कुलतंत्र में समाविष्ट शासक वर्ग और दूसरी ओर गैर क्षत्रिय जन सामान्य के बीच का करार है। इसका स्पष्ट उद्देश्य बुद्ध के काल में पूर्वोत्तर भारत में प्रचलित अल्पतंत्रों (ऑलिगार्कीज) के शासन को जनसमर्थन का जामा पहनाकर और इस प्रकार लोगों द्वारा नियमित रूप से करों की अदायगी के कर्तव्य का विधान करके उनका औचित्य ठहराना और उनकी जड़ें मजबूत करना था। बौद्ध अनुबंध सिद्धांत की विशेषता है कि ब्राह्मणीय 'शांतिपर्व' में या रूसो की कृति में प्रतिपादित सिद्धांत के विपरीत, यह किसी एक व्यक्ति को राज्य का प्रधान नहीं बनाता है, बल्कि यह उन सभी व्यक्तियों को जो शासक श्रेणी में आते हैं, राजा मानता है।

'दीघ निकाय' में शासक पर डाले गए दायित्वों को देखकर हम सोच सकते हैं कि ये उस काल के गणतंत्रात्मक आदर्शों के तथा सामाजिक और धार्मिक विषयों में बौद्धों के सुधारवादी दृष्टि के अनुरूप हैं। लेकिन घोषाल का यह कहना ठीक ही है कि ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि इस सिद्धांत के सहारे राजकीय शक्ति पर किसी प्रकार का लोकनियंत्रण होता था।[15] इसके विपरीत, जनसामान्य के अशांत और दयनीय जीवन के लंबे वृत्तांत का प्रयोजन बुद्धकालीन क्षत्रिय शासन का—चाहे वह राजतंत्रात्मक रहा हो या कुलतंत्रात्मक—औचित्य ठहराना था।[16] बाकी पुस्तकों में कहा गया है कि राजा धर्म के अनुसार कार्य करे, लेकिन राजशक्ति पर नियंत्रण अनुबंध सिद्धांत का प्रत्यक्ष अंग नहीं है। एक स्थल पर कहा गया है कि राजा धर्म के अनुसार लोगों को प्रसन्न रखता है। 'दीघ निकाय' के वृत्तांत के अंत में बताया गया है कि खत्तिय मंडल अर्थात शासक कुलतंत्र का उद्‌भव धर्म, न्याय या सदाचार के अनुसार हुआ।[17] इस प्रकार प्लेटो के 'रिपब्लिक' की तरह राज्य की अवधारणा धर्म या न्याय की भावना के प्रतिफल के रूप में की गई है।

जहां तक ब्राह्मण चिंतनधारा का संबंध है, राज्य की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धांत का स्पष्ट प्रतिपादन सर्वप्रथम कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में मिलता है। जिस प्रकार 'दीघ निकाय' में यह सिद्धांत ब्राह्मणों की सामाजिक प्रभुता का खंडन करने के सिलसिले में प्रसंगवश प्रतिपादित किया गया है, उसी प्रकार 'अर्थशास्त्र' में यह राजशक्ति के स्वरूप के बारे में गुप्तचरों के बीच हो रही चर्चा के दौरान आनुषंगिक रूप से निरूपित किया गया है।[18] राज्य के सप्तांगों के सैद्धांतिक विवेचन की तरह इसे सुविचारित और पूर्वचिंतित सिद्धांत निरूपण की कोटि में नहीं रखा जा सकता। फिर भी इसमें अनुबंध की शर्तों में कुछ ऐसे नए तत्वों का समावेश कराया गया है जो 'दीघ निकाय' में नहीं हैं। इसमें कहा गया है कि अराजक परिस्थिति में पड़कर लोगों ने मनु वैवस्वत को अपना राजा निर्वाचित किया और वचन दिया कि वे अपने

सोने का एक अंश देने के अलावा अनाज का छठा अश और बिकाऊ वस्तुओं का दसवां अंश चुकाएंगे। इन करों के बदले उसने लोगों को वचन दिया कि वह अनिष्टकारी कार्यों का निरोध करेगा, तथा अपराधियों को करों और दंड से प्रताड़ित करेगा और इस प्रकार समाज का कल्याण साधेगा। वनवासियों के लिए भी वन के उत्पादनों का छठा भाग देना आवश्यक बनाया गया। राज्योत्पत्ति विषयक यह वृत्तांत इस नीति वचन के साथ समाप्त होता है कि राजा की उपेक्षा नही की जानी चाहिए।

कौटिल्य की सिद्धांत-परिकल्पना विकसित अर्थव्यवस्था के अनुरूप है, जिसमें विभिन्न प्रकार के अनाज पैदा किए जाते थे और राजा न केवल धान के एक अनिश्चित अंश का, बल्कि सभी प्रकार के अन्न के नियत अंश का दावेदार था। इसी प्रकार, व्यापार राज्य की आय का नियमित साधन बन चुका था, क्योंकि मैगास्थनीज और कौटिल्य दोनो इस काल मे व्यापार और विनियमन करनेवाले अधिकारियों का उल्लेख करते हैं। इनके अलावा, मौर्य काल में खान उत्पादन उन्नतिशील उद्योग था। संभवतः इसी कारण से हिरण्य का एक अंश चुकाने की व्यवस्था है। हिरण्य में केवल सोना ही नहीं, बल्कि सोना तथा अन्य ऐसी ही कीमती धातुएँ भी आती हैं। और अंत में, यह बात कि वनवासियो को भी कर अदायगी से छूट नही मिली है, मौर्य राज्य के सर्वव्यापी स्वरूप का भान कराती है। अतः समग्र रूप में देखें तो प्रथम तीन कर, अर्थात अनाजो, सामग्री और धातुओं पर लगने वाले कर, मौर्य काल की विकसित अर्थव्यवस्था के द्योतक हैं। और मिथक चरित्र मनु और जनसामान्य के बीच हुए अनुबंध की शर्तों में जिन चार करो का उल्लेख है उनसे, एक हद तक, मौर्य राज्य की कराधान पद्धति और अपनी अधिकतर परिधि को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाने वाले स्वरूप का परिचय मिलता है।

'अर्थशास्त्र' मे राजत्व की जो अनुबंधात्मक उत्पत्ति बताई गई है, उसका प्रयोजन राजशक्ति पर अंकुश लगाना नहीं है। इसके विपरीत, लोगों पर जो दायित्व डाले गए हैं, वे भारी हैं और उनका उद्देश्य राजा की सत्ता को सबल बनाने का है। यह बात राजत्व की उत्पत्ति विषयक अनुबंध सिद्धांत का निरूपण करने वाले अवतरण के अंत मे स्पष्ट रूप में रखी गई है। इसमें कहा गया है कि राजा, जो बल प्रयोग और करो द्वारा अनिष्टकारी कार्मों का निरोध करके अपनी प्रजा को सुरक्षा और कल्याण की स्थिति प्रदान करता है, कभी भी उपेक्षणीय नहीं है। अतः हॉब्स की तरह कौटिल्य के भी अनुबंध सिद्धांत का प्रयोजन राजशक्ति का संवर्धन है। इसमें उनका सिद्धात लॉक के सिद्धांत से, जिसका प्रयोजन राजशक्ति को सीमित करना है, भिन्न है।

राज्य की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धात के इतिहास का अगला चरण 'महावस्तु' मे वर्णित है। ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग (इसकी भाषा का वर्णन कुछ

विद्वानों ने जिन शब्दों में किया है उसका प्रयोग करें तो कहेगे) बौद्धों की सधुक्कड़ी सस्कृत (पाणिनीतर सस्कृत) में लिखा गया यह बुद्ध का जीवन-चरित है। प्राचीन भारत मे सप्रदायवादी परपरा का ऐसा जोर था कि यद्यपि यह ग्रंथ 'दीघ निकाय' के करीब तीन सौ वर्ष बाद लिखा गया प्रतीत होता है, फिर भी राजत्व की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धात का विवेचन करते हुए इसमें पूर्ववर्ती ग्रंथ की सृष्टिकथा का अधिकांश भाग पुनः उद्धृत कर दिया गया है। पूर्ववर्ती ग्रंथ की ही तरह पहले इसमें मानव जीवन की आदर्श अवस्था का जिक्र है। फिर, उसी तरह पतनावस्था का वर्णन है, जिसके परिणामस्वरूप अनेक करार करके परिवार और संपत्ति की स्थापना की गई। अंततः उसी प्रकार सर्वाधिक सुशोभन और शक्तिशाली व्यक्ति को हम राजा निर्वाचित होते देखते हैं, जिसे महासम्मत कहा गया है। राजा के चुनाव के फलस्वरूप राज्य की स्थापना होती है और इस तरह व्यवस्था ठोस बन जाती है[19] लेकिन 'महावस्तु' में निर्धारित अनुबंध की शर्तों में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से कुछ परिवर्तन किए गए हैं। लोगों के आग्रह पर राजा न केवल दंडनीय को दंड देने का वचन देता है, वरन एक नए दायित्व के रूप में, उन लोगों का सम्मान करने का वादा करता है जो सम्मान योग्य हैं। सुपात्रों को पुरस्कृत करने की बात पहले की सिद्धात परिकल्पनाओं मे नहीं पाई जाती, हालांकि अशोक ने अपने अधिकारियों को स्पष्ट रूप से इस प्रकार का निर्देश दिया। संभवत: यह विचार बौद्ध शासकों से प्रारंभ हुआ, और इस विचार को व्यवहार में उतारने का अर्थ यह था कि विभिन्न धार्मिक सप्रदायों और पुरोहित, पुजारियों को अनुदान दिए जाएं। जो भी हो, सुपात्रों को पुरस्कृत करने का राजा का दायित्व 'महावस्तु' मे स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। फिर, इसमें राजा के साथ लगाई जाने वाली दो नई उपाधियों से उसके दूसरे दायित्वों का भी बोध होता है। राजा को 'मूर्धाभिषिक्त' नाम दिया गया है, और इसका अर्थ बतलाया गया है कि वह अपने लोगों की सम्यक रीति से रक्षा और परिपालन करता है।[20] उसे 'जनपदस्थामवीर्यप्राप्त' भी कहा गया है, जिसकी व्याख्या की गई है कि वह नगरीय और ग्रामीण लोगों के बीच उनके माता-पिता के रूप में स्थापित है।[21] इस ग्रंथ में 'राजा' की व्याख्या यह कह कर की गई है कि इस उपाधि को धारण करनेवाले व्यक्ति को धान की उपज में हिस्सा पाने का हक है।[22] अत: यह उपाधि जनता के प्रति राजा के दायित्वों की बनिस्बत उसके अधिकारो की द्योतक है। राजा के प्रति जनता के दायित्व पहले ही काफी स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट कर दिए गए हैं। राजा द्वारा वचनरक्षा आदि का वचन दिए जाने पर जनता उसे अपने धान की उपज का छठा भाग देने की प्रतिज्ञा करती है। यह दर 'दीघ निकाय' में बताई गई दर और कौटिल्य द्वारा निर्दिष्ट दर के भी अनुरूप है। यद्यपि ईसा की प्रथम दो शताब्दियो में व्यापार उन्नत अवस्था में था और राजा को नगरीय और ग्रामीण, दोनों क्षेत्रों मे रहने वालों की हितरक्षा में सन्नद्ध दिखलाया

गया है, फिर भी व्यापार की वस्तुओ पर कर लगाने का कोई उल्लेख नहीं है। संभवत: इस दृष्टि से बुद्ध के जीवनचरित के लेखक ने उस महान धर्मगुरु के काल का यथासंभव यथार्थ वर्णन करने का प्रयास किया है। लेकिन 'महावस्तु' में भी इसके सकलन काल की राजनीतिक प्रथाएं अनजाने ही प्रतिबिंबित हो गई हैं। इसमें प्रथम निर्वाचित राजा सम्मत के उत्तराधिकारी की वंशावली अनेक पीढ़ियों तक दी गई है,[23] जिससे प्रकट होता है कि राजा का पद साधारणतया आनुवंशिक माना जाता था। बुद्धकालीन स्थिति के यथार्थ वर्णन के प्रयास में ही ग्रंथ में निर्वाचन का तत्व भी कायम रखा गया है, क्योंकि ब्राह्मण चिंतनधारा के ग्रंथ 'मनुस्मृति' और शांतिपर्व' के राज्यव्यवस्था विषयक अध्यायों मे, जो उस समय सकलित हुए जब आनुवंशिक राजतंत्र सुप्रतिष्ठित हो चुका था, राजा के निर्वाचन का उल्लेख नही मिलता।

राजपद की उत्पत्ति के बारे मे 'शांतिपर्व' मे दो सिद्धात परिकल्पनाएं हैं। इन दोनों मे राज्य की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धांत के तत्व समाविष्ट हैं, ऐसा दिखाया जा सकता है। यह कहना कठिन है कि इन दोनों को 'राजधर्म' प्रकरण में एक ही समय सम्मिलित किया गया या नहीं, क्योंकि जैसा कि आगे दिखलाया जाएगा, उनके उद्देश्य एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। पहली परिकल्पना 59वें अध्याय में प्रस्तुत की गई है, जो दंड और दडनीति के महत्त्व के दीर्घ विवेचन से शुरू होती है। वहां बताया गया है कि प्रशासन का उत्तरदायित्व संभालने के लिए विष्णु ने एक मानस पुत्र पैदा किया। लेकिन उसने तथा उसके अनेक वंशजों ने संन्यास ले लिया जिसके फलस्वरूप अंततः वेन का अत्याचारी शासन प्रारंभ हुआ।[24] ऋषियों ने उसे मारकर उसकी दाईं जांघ से पृथु को उत्पन्न किया, जो विष्णु की आठवीं पीढ़ी में पड़ता था। एक अनुबंध करके ऋषियों ने स्पष्ट शब्दों में वे शर्तें निर्धारित कर दीं जिनका पालन करके ही पृथु वैन्य सिंहासनासीन रह सकता था। ऋषियों ने उससे प्रतिज्ञा कराई कि वह दंडनीति के अनुसार शासन करेगा, ब्राह्मणो को दंड से परे मानेगा, और संसार को वर्णसंकरता से बचाएगा।[25] इस पर पृथु ने ऋषियों के नेतृत्व मे देवताओं को वचन दिया कि वह सदा नरों में वृषभ रूप महाभाग्य ब्राह्मणो की पूजा करेगा।[26] इसके पूर्व उसने आश्वासन दिया कि वह वही करेगा जो उचित और राज्यशास्त्र से सम्मत है।[27]

यद्यपि यह अनुबंध मूल शासक के साथ नही हुआ, फिर भी लेखक का आशय यह प्रतीत होता है कि वास्तविक राजपद पृथु से प्रारंभ हुआ, जिसके नाम पर इस जग का नाम पृथ्वी पडा। ध्यान देने की बात यह है कि अनुबंध जनसामान्य के साथ नहीं, बल्कि ब्राह्मणों के साथ हुआ, जो राजा से विशेषाधिकार और विशेष सुरक्षा पाने का दावा करते हैं। जायसवाल की इस मान्यता को सिद्ध करने वाला कोई साक्ष्य सामने नही आया है कि राजा की प्रतिज्ञा पर लोगों ने 'एवमस्तु' उच्चारित

किया ।[28] प्रतिज्ञा स्पष्टतः देवताओं और परमर्षियों[29] ने दिलाई, और राजा द्वारा प्रतिज्ञा लिए जाने पर वही एवमस्तु कहते हैं ।[30] किसी भी प्रकार से यह नही माना जा सकता कि वे समस्त जनों के प्रतिनिधि थे । राजा पृथु पूरी प्रतिज्ञा नही दुहराता, बल्कि स्पष्ट शब्दो में कहता है कि वह सदा ब्राह्मणों का आदर करेगा । अनुबंध में ब्राह्मणों की विशेष स्थिति की यह सैद्धांतिक मान्यता मौर्योत्तर काल और गुप्त काल में उनके बढ़ते महत्त्व की परिचायक है । यह वह काल था जब शुग, कण्व, सातवाहन, आदि अनेक ब्राह्मण वश देश में शासन कर रहे थे और ब्राह्मणवाद ने अपना वर्चस्व पुन: प्राप्त कर लिया था, जिसकी चरम परिणति हमें गुप्त शासन के अधीन देखने को मिलती है । इसी सदर्भ में हमें क्षत्रिय शब्द का एक विलक्षण व्युत्पत्यर्थ देखने को मिलता है, जिसमें इस शब्द का अर्थ क्षत (घाव) से ब्राह्मणों की रक्षा करना बताया गया है ।[31] उस पर वैश्यों और शूद्रों की रक्षा की जिम्मेदारी नही दी गई है । जनसामान्य के प्रति राजा के एकमात्र दायित्व का आभास 'राजा' शब्द की इस व्याख्या से मिलता है कि राजा वह है जो जनसामान्य को रंजित (आनंदित) करे ।[32]

'शांतिपर्व' के 67वें अध्याय में राज्योत्पत्ति की जो दूसरी कल्पना है, उसे स्पष्टत: राज्य की उत्पत्ति का अनुबध-सिद्धात माना जा सकता है । इसमें सामाजिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के अनुबंध सिद्धात वर्णित हैं । कहा गया है कि प्राचीन काल मे जब अराजकता व्याप्त थी तब लोगों ने आपस में करार किया । इसके अनुसार उन्होने उन लोगो का बहिष्कार करने का निर्णय किया जो वाचाल थे, क्रूर थे, परधनहर्ता थे, और परस्त्रीगामी थे । साफ है कि यह परिवार और सम्पत्ति जैसी सस्थाओ के अनुरक्षण के लिए एक सामाजिक करार था, जो बौद्ध ग्रथों मे इतने प्राजल शब्दो में लिपिबद्ध नही किया गया है ।

राज्योदय की अगली अवस्था का सकेत राजनीतिक अनुबंध की स्थापना से मिलता है । कहा गया है कि लोगों ने अनुबध (समय) का पालन नहीं किया, जिससे उनके दुर्दिन आए । अत: उन्होने ब्रह्मा से जाकर एक ऐसा अधिपति (ईश्वर) मागा जिसकी पूजा वे साथ मिलकर करेगे और जो उनकी रक्षा करेगा । ब्रहमा ने मनु से इनका शासन सभालने को कहा, लेकिन उन्होंने इनकार कर दिया, क्योंकि दुष्ट और झूठे लोगों पर शासन करना दुष्कर कार्य था । परतु लोगों ने मनु को यह प्रतिज्ञा करके तैयार किया कि वे उसके कोष की वृद्धि (कोषवर्धन) के लिए अपना 1/50 पशु, 1/50 सोना और 1/10 अन्न देंगे ।[33] उन्होने यह भी प्रतिज्ञा की कि जो लोग शस्त्रास्त्र प्रयोग में सबसे आगे होंगे, वे उसी तरह मनु का अनुसरण करेंगे जिस तरह देवगण इद्र का करते हैं ।[34] इसके बदले उन लोगों ने राजा से अपनी रक्षा की माग की, और यह वचन भी दिया कि राजरक्षित प्रजा जो पुण्य अर्जित करेगी, उसका चौथा भाग राजा को मिलेगा । मनु ने सहमत होकर एक बडी सेना के साथ

दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया।

'शांतिपर्व' के दोनो सिद्धातो मे महत्त्व की बात यह है कि बौद्ध सिद्धांत की तरह इनमे राजा के निर्वाचन का जिक्र नही है। इसके विपरीत, इनमें राजपद की उत्पत्ति का श्रेय विष्णु और ब्रह्मा जैसे देवताओ को दिया गया है। ब्राह्मणो, कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और बौद्ध ग्रंथो मे जो निर्वाचन तत्व देखने को मिलता है, वह 'शांतिपर्व' मे नही रह गया है। इस अर्थ में शांतिपर्व मे प्रतिपादित राजा की उत्पत्ति का सिद्धात लोकविरोधी समझा जा सकता है।[35] साथ ही यह ध्यान देने का विषय है कि शांतिपर्व के दोनो सिद्धातो के अलग-अलग उद्देश्य हैं। जहा पहले सिद्धात का प्रयोजन पुरोहित (ब्राह्मण) वर्ग के हित मे राजशक्ति पर अकुश लगाना है, दूसरे का उद्देश्य राजाओ के हित मे राजशक्ति की महत्ता पर जोर देना है। दूसरा सिद्धात जिस प्रसग मे प्रस्तुत किया गया है, उससे राजशक्ति की महत्ता का पता चलता है। राजा के अभाव से उत्पन्न बुराइयों के विशद वर्णन से राजशक्ति की आवश्यकता पर जोर पडता है। इसके अलावा, प्रजा पर जो दायित्व डाले गए हैं, वे राजा पर डाले गए दायित्वो की तुलना मे कतई अधिक हैं। जिन करो का उल्लेख है, उनमे से दो सोने और अन्न के रूप में लिए जाने वाले कर हैं जो कौटिल्य मे भी हैं। किंतु कौटिल्य के वस्तु कर के स्थान पर इसमें पशु धन पर लगाया जाने वाला कर है।[36] साथ ही इसमे राजा को कर का भागी बनाया गया है; अर्थात प्रजा द्वारा अर्जित पुण्य मे राजा को अंशदान देने की प्रतिज्ञा है। सभवतः इसका सबध विशेष रूप से ब्राह्मणो द्वारा अर्जित पुण्य से है क्योकि साधारणत ब्राह्मण करमुक्त थे। अतएव दूसरी कल्पना मे राजशक्ति का औचित्य सिद्ध किया गया प्रतीत होता है, जिससे पता चलता है कि यह क्षत्रिय विचारधारा की उपज है। पहली कल्पना मे ब्राह्मणो की शक्ति पर जोर दिया गया है, जो बतलाता है कि यह ब्राह्मण विचारधारा की देन है।

'शांतिपर्व' मे वर्णित दूसरे अनुबंध की विशिष्टता यह है कि करों के अतिरिक्त प्रजा पर यह जिम्मेदारी लादी गई है कि वह राजा को सर्वोत्तम योद्धा सैनिक सेवा के लिए दे। इस स्रोत के प्रासंगिक श्लोको के कुछ अन्य पाठो मे लोगो द्वारा राजा को सुदर कन्या अर्पित किए जाने का उल्लेख है, हालांकि यह बात 'महाभारत' के समीक्षित संस्करण में नही है। ये श्लोक हमे समुद्रगुप्त के अधीनस्थ शासको के दायित्वो की याद दिलाते हैं। जो भी हो, यह साफ है कि सैनिक सेवा की व्यवस्था मे गुप्त काल की अर्द्ध सामती प्रथा की झलक दिखाई देती है। राज्य विषयक प्राचीन भारतीय परिभाषा की दृष्टि से, दूसरा अनुबंध सिद्धात राज्य की उत्पत्ति के संबध मे सर्वाधिक पूर्ण सिद्धात माना जाना चाहिए। इसमे राजा और प्रजा दोनो शामिल हैं, जो क्रमशः स्वामी और जनपद से साम्य रखते हैं। लोगो के राजा को कर चुकाने और सैनिक सेवा देने के दायित्वों से प्रकट होता है कि कोष और दंड के तत्व

विद्यमान थे। इस प्रकार, 'शांतिपर्व' के 67वे अध्याय मे राज्य की उत्पत्ति का जो अनुबंध सिद्धात प्रस्तुत किया गया है, उसमे राज्य के सात अंगों में से चार महत्त्वपूर्ण अग स्पष्टत. देखे जा सकते हैं।

यद्यपि गुप्तकाल विविध प्रकार के साहित्य का सृजनकाल था किंतु राज्य की उत्पत्ति के अनुबध सिद्धात मे, सभवतः इसी काल में अंतिम रूप से संकलित 'शांतिपर्व' के तद्विषयक अध्यायों को छोडकर, उसका कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नही है। नारद और बृहस्पति ये दो स्मृतिकार प्रारंभिक आदर्शावस्था की बात कहते हैं, जिसके बाद सामाजिक अशांति फैली और अततः शासन की स्थापना हुई।[37] लेकिन ये स्मृतिकार राज्योत्पत्ति के अनुबध सिद्धात पर कोई प्रकाश नही डालते।

हमारे इस सर्वेक्षण से दीख पडेगा कि बौद्ध ग्रथों में राज्योत्पत्ति के अनुबंध सिद्धात के प्रतिपादन पर अधिक ध्यान दिया गया है और उनमे इस विषय पर अधिक क्रमबद्ध रूप से विचार किया गया है। किंतु घोषाल का यह कथन समीचीन प्रतीत नही होता है कि 'अनुबध सबंधी बौद्ध सिद्धात राजनीतिक चिंतन के इतिहास में एक ऐसे अलग-थलग तथ्य के रूप मे विद्यमान है जिसका किसी भी चिंतन-परपरा से प्रायः कोई संबध नही है।'[38] हम देख चुके हैं कि किसी प्रकार इस सिद्धात का बीज रूप ब्राह्मणों में और विकसित रूप 'शांतिपर्व' में उपलब्ध है। घोषाल ने स्वयं स्वीकार किया है कि सुरक्षा के बदले कर चुकाने का सिद्धांत हिंदू राजनीति दर्शन की मूल अवधारणाओं मे से है।[39] उनका कहना है कि कौटिल्य सिद्धात, बौद्ध अनुबध सिद्धांत का ब्राह्मणीकृत रूपातर है।[40] इस सभावना को पूरी तरह अनदेखा तो नही किया जा सकता, किंतु दोनो चिंतनधाराओ के बीच विचारो के आदान-प्रदान का या कौटिल्य द्वारा 'दीघ निकाय' से कुछ विचार उधार लिए जाने का कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। हमे यह भी मालूम नही कि 'शांतिपर्व' (अध्याय 67) मे विवेचित सिद्धांत पर कोई बौद्ध प्रभाव है या नही, हालांकि 'शातिपर्व' नाम से ही अहिंसा का भाव झलकता है। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि इसमे अनुबध सिद्धात 'दीघ निकाय' की बनिस्बत अधिक क्रमबद्ध और विस्तारपूर्ण है, जिसके फलस्वरूप सामाजिक और राजनीतिक अनुबध की दो अवस्थाए इसमे स्पष्टत· परिभाषित हुई हैं। परतु 'शांतिपर्व' मे प्रतिपादित एक अनुबध सिद्धात से ऐसे राज्य की झलक मिलती है जिसका उदय अर्द्ध सामती अवस्था मे हुआ।

राज्योत्पत्ति का अनुबध सिद्धात राजनीतिक विचारधारा मे प्राचीन भारतीय विचारको का मौलिक योगदान माना जाना चाहिए। यद्यपि यूनानी विचारक प्लेटो और अरस्तू ने राजनीतिविज्ञान को प्राय. स्वतंत्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया, पर उन्होने राजा और जनसामान्य के पारस्परिक अनुबध की संभावना पर ध्यान

रखकर कभी विचार नहीं किया। प्लेटो अपनी 'रिपब्लिक' में बताते हैं कि यदि तीन-चार व्यक्ति भी अपनी आपसी जरूरतों की पूर्ति के लिए एक साथ आते हैं तो इससे राज्य का उदय होता है। इसमें सामाजिक अनुबंध की ध्वनि निकलती है। लेकिन अपनी दूसरी कृति 'लॉज' में अपनी इतिहास विषयक दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए प्लेटो बतलाता है कि प्रारंभ के प्राकृतिक युग में लोग शांतिपूर्वक रहते थे। पुन: वह उस पतन की बात कहते हैं जिसके फलस्वरूप राज्य का उदय हुआ। लेकिन कानूनों के प्रतिष्ठित और राज्य के स्थापित हो जाने के बाद, प्रत्येक डोरियन राज्य में लोगों ने उन सामान्य कानूनों के अनुसार शपथ ली जो शासक और शासित दोनों के लिए समान रूप से बंधनकारी थे।[41] इस तरह यह शपथ राज्य के उदय की कोई पूर्व शर्त नहीं थी, वरन् यह राज्य के उदय के बाद ली गई। अत: इससे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि इसमें राज्योत्पत्ति का अनुबंध सिद्धात अंतर्निहित है। भारत में अनुबंध सिद्धांत की उत्पत्ति का श्रेय कदाचित बुद्ध काल में प्रचलित कुलतंत्र (ओलिगार्की), -शासन को दिया जा सकता है। गुप्तकाल की अर्द्धसामंती व्यवस्था में राज्य का स्वरूप बदलने के कारण इसका विकास हुआ। हॉब्स, लॉक और रूसो के अनुबंध सिद्धात से प्राचीन् भारतीय अनुबंध सिद्धांत की तुलना की गई है, पर जिन अवस्थाओ में और जिन उद्देश्यों से इन तीन विचारकों ने अनुबंध सिद्धांत का प्रतिपादन किया वे बिलकुल भिन्न थे। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से जिसमें आर्थिक और सामाजिक तत्वों का प्रमुख स्थान है, अलग करके किसी सिद्धांत के उदय अथवा विकास का विवेचन नहीं किया जा सकता है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. अल्तेकर, स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एंशट इंडिया, पृ 27 एव आगे बैनीप्रसाद, कृत थीअरी ऑफ गवर्नमेंट इन एंशट इंडिया में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का नितात अभाव है, क्योंकि इसमें पहले महाकाव्य की उपदेशात्मक सामग्री का विवेचन किया गया है और तब मनुस्मृति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्रों, बौद्ध और जैन स्रोतों आदि का
2. ऐ. ब्रा , 1.14. 23; तै. ब्रा., 1.5-9
3. ऐ. ब्रा., VIII. 12-17.
4. मिलाइए, हि. पा. थी, पृ. 43
5. वही.
6. दी. नि. iii 93; अनु , सै. बु बु., iv, 88 और आगे
7. वही.
8. दी. नि., iii, 89-92.
9. वही.
10 वही.

11 ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भी भूमि विश (समुदाय) की सम्मति के बिना किसी को नहीं दी जा सकती थी के हि इ, 1, 118
12 बौद्ध राजा अशोक अपने राजुकों को आदेश देता है कि वे प्रजा को न केवल दड, बल्कि पुरस्कार भी दे
13 I 10 18-19
14 दी नि iii 93, अनु सै बु बु, iii, 88
15 हि पा थी, पृ 121
16 दी नि, iii, 93
17 वही
18 अ शा I, 13
19 महावस्तु I 343 और आगे
20 सम्यक् रक्षति परिपालेति मूर्धाभिषिक्त सज्ञा उदपासि। वही, 1, 348
21 मातापितृसमो नैगमजानपदेषु इति जानपदस्थामवीर्य प्राप्तो ति सज्ञा उदपासि। वही
22 वही
23 वही
24 शा प 59, 94 99
25 वही, 59, 100-14
26 वही, 59, 115
27 वही, 59, 108
28 हिंदू पॉलिटी, पृ 225
29 शा प, 59, 109
30 वही, 59, 128
31 वही
32 वही, 59, 127
33 शा प, 67, 19-23
34 वही, 67, 24
35 हि पा थी, पृ 173
36 सोना और पशु के बारे में दर वही है जो मनु में है, लेकिन दशाश अन्न की दर अर्थशास्त्र और महावस्तु से काफी कम है इसलिए हो सकता है, यह दर पहले की स्थिति को प्रतिबिंबित करती हो
37 नारद (सै बु इ), 1, 1-2, बृहस्पति (सै बु ई) 1 1
38 हि पा थी, पृ 121
39 वही, पृ 120-21
40 वही, पृ 135
41 लॉज (दि लोएब क्लासिकल लाइब्रेरी), 1, 191

6. विदथ : भारतीय आर्यों की सबसे पुरानी जनसभा

यद्यपि 'सभा' और 'समिति' नाम की वैदिक संस्थाओं के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए काफी लिखा गया है, फिर भी एक महत्त्वपूर्ण वैदिक संस्था विदथ के अध्ययन की ओर बहुत कम ध्यान गया है।[1] विदथ का महत्त्व इसी से आंका जा सकता है कि जहां 'ऋग्वेद' में सभा शब्द का उल्लेख आठ बार और 'समिति' का नौ बार हुआ है, वहीं विदथ का एक सौ बाईस बार हुआ है। इसी प्रकार 'अथर्ववेद' में 'सभा' शब्द सत्रह बार और 'समिति' शब्द तेरह बार आया है, जबकि विदथ बाईस बार।

'वाजसनेयि संहिता' में विदथ शब्द का उल्लेख दस स्थानों पर, ब्राह्मण ग्रंथों में इक्कीस स्थानों पर और 'तैत्तिरीय आरणयक' में एक स्थान पर आया है। वैदिक साहित्य जहां विदथ के उल्लेखों से भरा पड़ा है, 'सभा' और 'समिति' का जिक्र कहीं-कहीं ही हुआ है। फिर, जिस तरह 'ऋग्वेद' में सभा और समिति का उल्लेख कम और 'अथर्ववेद' में अपेक्षाकृत अधिक है, उसी तरह विदथ शब्द का जिक्र 'ऋग्वेद' में अधिक और 'अथर्ववेद' में उसकी तुलना में कम है। इससे प्रकट होता है कि संस्था के रूप में विदथ ऋग्वैदिक काल में अधिक महत्त्वपूर्ण था, तथा 'सभा' और 'समिति' को उत्तर संहिता काल में प्रमुखता प्राप्त हुई। प्राचीनतम साहित्य में विदथ के उल्लेखों की यह बहुलता इस शब्द को सहज ही ऐसा महत्त्व प्रदान करती है जिस पर सावधानी से विचार करने की जरूरत है।

विदथ शब्द के तात्पर्य और व्याख्या पर लगभग आधे दर्जन मत हैं।[2] चूंकि यह शब्द मूलधातु 'विद्' से निकला माना जा सकता है और विद का अर्थ क्रमशः जानना, धारण करना, विचार करना और होना है,[3] इसलिए विदथ को ज्ञान, स्वत्व (या ब्लूमफील्ड के अनुसार गृह) और सभा ये तीन अर्थ देना संभव हो सका है। ओल्डेनबर्ग ने 'विदथ' शब्द का मूलधातु विधा माना है और इसका मूल अर्थ 'वितरण, निबटाना और अध्यादेश (धर्मविधि)' लगाया है तथा व्युत्पत्त्यर्थ 'यज्ञ' बताया है।

वैदिक साहित्य के विद्वान विदथ का कोई एक अर्थ मानकर जहां भी यह शब्द

आया है, सर्वत्र उसी अर्थ को लागू करना चाहते हैं। किंतु आदिम सभाओं के कार्यों के संश्लिष्ट स्वरूप को देखते हुए उचित यही होगा कि हम रॉथ का अनुसरण करें, जिसके अनुसार विदथ धर्मेतर, धार्मिक तथा सैनिक, ये तीनों तरह के प्रयोजन सिद्ध करनेवाली सभा थी। उसका अनुसरण करते हुए जायसवाल ने यह विचार रखा है कि विदथ शायद वह 'मूल' जनसस्था थी जिससे 'सभा', 'समिति' और 'सेना' का अलग-अलग सस्थाओ के रूप मे विकास हुआ। यद्यपि ऐसा कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य नही है जिससे विदथ के साथ 'सभा' और 'समिति' का संस्थात्मक सबंध सिद्ध किया जा सके, फिर भी विभिन्न सदर्भों में इस शब्द के जो प्रचुर उल्लेख हुए हैं, उनकी छानबीन करें तो पाएगे कि विदथ में प्राचीनतम जनसभा के प्रमुख चिह्न विद्यमान थे। यदि हम यह मानकर चलें कि मानवविज्ञान (ऐंथ्रपोलॉजी) के सहारे आद्य मानव के जीवन का जो चित्र उभरता है उसका, इतिहास के सहारे गढ़ी जानेवाली, प्राचीन मानव के जीवन की तस्वीर से साम्य हो सकता है तो वैदिक साहित्य मे विदथ के अस्पष्ट उल्लेखो को किसी हद तक स्पष्ट किया जा सकता है और इस सस्था के गठन और कार्य का लगभग सही चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है।

जहा तक इसके गठन का प्रश्न है, इसकी अपनी अलग विशिष्टता यह है कि इसमें स्त्रियां भी बैठती थी। इस दृष्टि से यह 'सभा' और 'समिति' से भिन्न है। 'ऋग्वेद' में केवल एक प्रसंग में सभा के साथ स्त्री का संबंध दिखलाया गया है। उस प्रसग में उसे 'सभा' मे शामिल होने की योग्यता से सपन्न बताया गया है। लेकिन वह 'समिति' में भी बैठती थी, ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता। 'सभा' के सबध में भी 'मैत्रायणी संहिता' में दिखलाया गया है कि परवर्ती काल में स्त्रियों का 'सभा' में जाना बद हो गया। लेकिन 'ऋक्' और 'अथर्व' संहिताओ को मिलाकर ऐसे कम से कम सात उल्लेख मिलते हैं जिनसे न केवल विदथ में स्त्रियों की उपस्थिति, बल्कि वाद-विवाद मे उनके भाग लेने की चर्चा है; हालांकि ब्राह्मणों में ऐसा कोई उल्लेख नही है। 'ऋग्वेद' से जानकारी मिलती है कि योषा विदथ में शरीक हुई थी।[7] एक प्रसग में युवा लोगों द्वारा विदथ के कल्याणार्थ शक्तिशालिनी और सामाजिक कन्याओ के उस सस्था में स्थापित किए जाने का वर्णन हुआ है।[8] ऐसा प्रतीत होता है कि इस सस्था में सदस्यो की हैसियत से शामिल होनेवाली स्त्रियां चुपचाप बैठी नही रहती थी। सूर्या से विदथ मे आगत लोगो के समक्ष बोलने को कहा गया है।[9] हमें आगे यह भी ज्ञात होता है कि स्त्रिया विदथ के विचारविमर्श में भाग लेती थी। विवाह समारोह में ऐसी कामना की गई है कि वधू केवल गृहिणी बनकर ही नहीं रहे, बल्कि, नियंत्रण रखकर, वह विदथ के समक्ष बोले भी।[10] फिर यह भी कहा गया है कि वह बुढापा आने पर विदथ में बोले।[11]

इसका अर्थ यह नही लगाना चाहिए कि स्त्रियों को कोई अनुचित प्राथमिकता

दी जाती थी। पुरुष के बारे में भी यह कामना की गई है कि बुढ़ापा आने पर वह विदथ में बोले।[12] इसलिए, जहां तक विदथ के विचारविमर्श से संबंधित कार्यों का प्रश्न है, जितना महत्त्व पुरुषों के स्वर का था, उतना ही स्त्रियों की आवाज का भी था। इसलिए इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस संस्था की बैठक में स्त्री भी भाग लेती थीं, और यह एक प्रकार की सभा थी। इन प्रसंगों में कभी-कभी विदथ शब्द का अर्थ घर भी माना गया है, लेकिन इसमें अधिक तुक नहीं दीखता है कि घर में स्त्रियों के बोलने की कामना की जाए। पुरुषों के लिए घर में बोलने की कामना करने में तो और भी कोई तुक नहीं दीखता। एक स्थान पर वधू से घर (गृह) में आने को, और विदथ में बोलने को कहा जाता है।[13] जिससे दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। अतः, संभवतः, इन सभी प्रसंगों में विदथ का अर्थ पारिवारिक सभा है। बड़ा परिवार होने के कारण सभी वयस्क स्त्री-पुरुष एक जगह इकट्ठे होकर जब तब अपनी समस्याओं पर विचार करते थे। इसकी तुलना आइरोक्वोइ[14] की सभा से की जा सकती है, जो सामान्यतः गोत्र (जेन) के सभी बालिग पुरुष और महिला सदस्यों की ऐसी जनतांत्रिक सभा का काम करती थी, जिसमें सभी का महत्त्व बराबर था।[15] इस दृष्टि से विदथ उन प्राचीनतम यूनानी, रोमन और जर्मन जनसभाओं से बिल्कुल भिन्न था, जिनकी जानकारी हमें प्राप्त है, क्योंकि इनमें से किसी में स्त्रियों को कोई स्थान नहीं दिया गया था। किंतु पुराने वेल्स कानूनों से, जो ग्यारहवीं ईस्वी से बाद के नहीं माने जा सकते, प्रकट होता है कि जनसभाओं में स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त था।[16] जहां तक भारतीय आर्यों का प्रश्न है, यदि हम मान लें कि पितृतंत्र (पैट्रियार्की) से पहले समाज मातृतंत्र (मैट्रियार्की) के आधार पर खड़ा था तो यह स्वीकार करना होगा कि विदथ अत्यंत पुरानी संस्था है।

'मैत्रायणी संहिता' (IV. 7.4 : 97.15) और 'ऐतरेय ब्राह्मण' (iii, 24-7- 'गोपथ ब्राह्मण', ii, 3.22) से कुछेक उद्धरण देकर ब्लूमफील्ड ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन काल में भी स्त्रियों को जनसभाओं या जन-जीवन से कोई वास्ता नहीं था और वे सभा में सम्मिलित नहीं होती थी।[17] लेकिन ब्लूमफील्ड ने प्रमाणस्वरूप जो अंश उद्धृत किए हैं, वे परवर्ती काल के हैं, जब पितृमूलक समाज सुदृढ़ आधार ग्रहण कर चुका था और स्त्रियों का पुराना महत्त्व तीव्रता से नष्ट होने लगा था। अतः ये ऋचाएं उस काल की स्थिति की परिचायक नहीं मानी जा सकतीं जो ऋक् और अथर्व वैदिक संहिताओं में प्रतिबिंबित हुई है। आगे चलकर सार्वजनिक कार्यकलाप के संचालन में स्त्रियों का वर्चस्व समाप्त कर दिया गया। फिर भी, रत्निन सूची में स्त्रियों को जो स्थान दिया गया है, उससे पता चलता है कि सार्वजनिक मामलों में महिलाओं के शरीक होने की विदथ परंपरा उत्तर वैदिक काल के अंत तक भी लुप्त नहीं हुई थी। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (I.

7-3) मे उल्लिखित सूची में बारह रत्निन हैं, जिनमे से तीन अर्थात महिषी, वावाता और परिवृक्ति महिलाए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के अभिषेक में जिन लोगों के मत और समर्थन को महत्त्व दिया जाता था, उनमे एक-चौथाई महिलाए थी।

सामान्यतया यह स्वीकार किया जाता है कि सामाजिक विकास की आरंभिक अवस्था मे अधिकाश सस्थाओ का स्वरूप जनजातीय था। 'सभा' और 'समिति' में भी जनजातीय तत्व देखे जा सकते हैं। यो तो अनेक भारोपीय भाषाओं में 'सभा' के मेल के जिन शब्दो का प्रयोग हुआ है उनका अर्थ कुलसभा है;[18] लेकिन एक स्थल पर 'समिति' मे विश के बैठने का स्पष्ट उल्लेख है।[19] विदथ के विषय में ऐसा कोई प्रत्यक्ष सबूत नही है जिससे इसका जनजातीय रूप सिद्ध हो सके। लेकिन एक स्थल पर विदथ मे एकत्र लोग गणों मे विद्यमान अग्नि की आभा और मरुतों के ओज की प्रशस्ति गाते हैं।[20] इससे ऐसी ध्वनि निकलती है कि वहा लोग जनजातीय समूहों के रूप मे एकत्र हुए थे। गण के जनजातीय रूप के विषय मे सदेह नही है। मरुतों को रुद्र का पुत्र कहा गया है और ये मरुत 'ऋग्वेद' और 'अथर्ववेद' में बारबार गण के रूप मे उल्लिखित हुए हैं और एक परवर्ती स्रोत के अनुसार उनकी सख्या तिरसठ है।[21] विदथ से गणो का सयोग अप्रत्यक्ष रूप में यह दिखलाता है कि विदथ का स्वरूप जनजातीय था, और यह ऐसी बात है जो इतिहास की पूर्वतम अवस्था मे असभव नही प्रतीत होती।

सभा होने के कारण विदथ मे विचारविमर्श किए जाने के उल्लेख भी उपलब्ध हैं। लोग उसमे ऊची-ऊची बातें करने की लालसा रखते थे।[22] गृहस्वामी मृत्यु से निवारण के लिए प्रार्थना करता था, ताकि जीवित रहकर वह विदथ मे बोल सके।[23] ऐसा मालूम होता है कि विदथ के विचारविमर्श में बडे-बूढ़ो को महत्त्व दिया जाता था। यह एक ऐसी विशेषता है जो आदिम सभाओ मे आमतौर पर पाई जाती है। ध्यान देने की बात यह है कि विदथ, 'सभा और समिति' जैसी वैदिक सस्थाओ में तो लोग वादविवाद किया करते थे, लेकिन अन्य आदिम भारोपीय जनसभाओ मे ऐसा होता था, इसका कोई प्रमाण नही मिलता।

विचारविमर्श का विषय क्या होता था, इसकी धुंधली-सी तस्वीर ही मिलती है। ओल्डेनबर्ग के अनुसार विदथ शब्द का एक अर्थ 'कामकाज को निबटाना' या ऐसा ही कुछ होता है। इस अर्थ का औचित्य उन सुपरिचित अवतरणो मे देखा जा सकता है जिनमे कहा गया है 'हम (विधि का) निश्चय करने में शूरो के माध्यम से अपना मत सशक्त रूप से व्यक्त करे।'[24] इसमे थोडा तर्क दीख पडता है, क्योकि मित्र-वरुण के बारे मे कहा गया है कि वे आकाश, वायु और पृथ्वी पर होनेवाली तीन सभाओ के विचारनिर्देशक हैं, वे विधि को सबल बनाते हैं।[25] एक अन्य स्थल पर विदथ में आगत अग्नि को विधिकर्ता कहा गया है।[26] इससे पता चलता है कि सभा के रूप मे यह सस्था सभवत जनजातीय मामलो के विनियमन के लिए विधि

और नियम बनाती थी। अतः इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि विदथ में जनजातीय कार्यों का संपादन होता था, जो आदिम सभाओं की अपनी खास विशेषता है।

फिर, ओल्डेनबर्ग के मतानुसार विदथ का एक दूसरा अर्थ वितरण होता है। वैदिक साहित्य में इस अर्थ की भी सार्थकता दिखलाने वाली कुछ बातें उपलब्ध हैं।[27] 'ऋग्वेद' के सार भाग के एक अवतरण में विदथ मे बुलाए गए लोगों को उस अवसर पर उपस्थित रहने को कहा गया है जब प्रतिदिन जो कुछ भी उत्पादित किया जाता है, उसका सवितर द्वारा वितरण किया जा रहा हो।[28] एक अन्य स्थल पर अग्नि का वर्णन विदथ मे उत्पादनो के उदार वितरक के रूप मे किया गया है।[29] द्रष्टव्य है कि उपज का वितरण आदिम सभाओ का एक प्रमुख कार्य था। हाल तक जनजातियो में यह प्रथा विद्यमान थी कि एक व्यक्ति द्वारा किया गया सारा आखेट केवल उसी का नही होता था; बल्कि उसके पडोसी भी उसमें हिस्सा बंटाते थे।[30] अतः हम निस्संकोच ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि विदथ मे इकट्ठे लोग खाद्यपदार्थ के रूप मे प्राप्त सारी सामग्री बाटकर खाते थे। इस समय तक राज्यशक्ति की ऐसी स्थापना नहीं हुई थी जिससे लोग कर के रूप मे अपनी उपज का कुछ हिस्सा राज्य को दे। राज्य और बडे जनजातीय परिवार में कोई अतर नही था। ऐसा लगता है कि खेती, आखेट, लडाई की लूट और पशुपालन से लोग जो कुछ प्राप्त करते थे, उसे वे विदथ को सौंप देते थे, और फिर वहां उसका सब सदस्यों के बीच वितरण होता था। नृतत्ववेत्ता इस प्रकार की अर्थव्यवस्था को पुनर्वितरण पद्धति की संज्ञा देते हैं। लगता है कि यही पद्धति विदथ मे प्रचलित थी। साथ ही विदथ के कुछ सदस्यो के असमान भाग पाने और संग्रह करने का भी संकेत मिलता है। एक याज्ञिक के बारे में कहा गया है कि वह रथ पर चलता है, वह प्रथम कोटि का है, धनवान और वदान्य तथा विदथों में प्रशंसित है।[31]

असमान वितरण कहां तक होता था, इसे जानने का हमारे पास कोई साधन नही है। पर इसमे सदेह नही कि विदथ मे बांटने का काम होता था। इस दृष्टि से विदथ 'सभा' और 'समिति' से नितांत भिन्न था, क्योंकि इन दो सस्थाओं के वितरणात्मक कार्यों का हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। परतु वैदिक गण सबंधी उल्लेख से संकेत मिलता है कि युद्ध में जीती हुई संपत्ति को पूरा समुदाय अधिकृत करता था।[32] विदथ मे वितरण कैसे होता था, यह स्पष्ट नहीं है। एक उल्लेख मे कहा गया है कि सभाओं मे धीर लोग शक्तिशाली अग्नि को देय अश मे कमी नही करते।[33] इससे दो तरह के अनुमान लगाए जा सकते हैं। या तो वितरण के लिए उपलब्ध अंश पहले देवताओ को भेट चढ़ाकर बाद मे सदस्यों के बीच बांटे जाते थे, या फिर वे वहां उपस्थित देवताओ मे वितरित कर दिए जाते थे। वितरण की चाहे जो भी रीति रही हो, ऐसा लगता है कि जो विदथ मे शक्तिशाली था, वह अधिक

अंश प्राप्त करता था।

'ऋग्वेद' में विदथ के जितने भी उल्लेख हैं, उनमें संभवतः सबसे बड़ी संख्या अर्थात लगभग दो दर्जन—ऐसे उल्लेखो की है जिनसे इस सस्था के सामरिक स्वरूप का सकेत मिलता है। कुछेक से यह प्रकट होता है कि सभा में वीर्यवानो के पराक्रम की चर्चा जोर से होती थी। विदथ में अग्नि की विजयिनी शक्ति का बखान होता था।[34] और विभिन्न देवताओ के नाम किए गए आह्वानों में विदथ को वीरों से भरा हुआ बतलाया गया है। ऐसी कम से कम इक्कीस ऋचाएं 'ऋग्वेद' में आई हैं जिनका अत निम्नलिखित से होता है—'वीर पुत्रों (या वीरों) से सपन्न होकर हम विदथ में जोर से बोलें।'[35] इनमें पुत्र के लिए सुवीर शब्द के प्रयोग से वैदिक जनजातियो के सैनिक स्वरूप का संकेत मिलता है। इन जनजातियों में पुत्रों का महत्त्व इसलिए था कि वे युद्ध मे उपयोगी थे। विदथ का प्रमुख सामरिक कार्य शत्रु जनजातियों के विरुद्ध कबायली युद्धों का संचालन रहा होगा, जो भारतीय आर्यों के इतिहास की प्रारंभिक अवस्था में स्वाभाविक ही मालूम पड़ता है। यह सुविदित है कि आदिम जनजातिया उन जनजातियो के साथ अपने को सतत युद्ध की स्थिति मे मानती हैं जिनके साथ उनकी शांतिसंधि नहीं हुई हो। यही कारण है कि आइरोक्वोइ गोत्रों (जेन) के लोग बाहरी लोगों द्वारा पहुंचाई गई किसी भी प्रकार की हानि का प्रतिकार करने के लिए एक-दूसरे को सहायता, संरक्षण और, खासतौर से, समर्थन देने को बंधे हुए थे।[36]

विदथ के सदस्य किसी के अधीन युद्ध मे भाग लेते थे, ऐसा अनुमान अनेक अवतरणों से लगाया जा सकता है। इद्र को विदथ की शक्ति कहा गया है, और लोगो को विदथ मे ले जानेवाला सुवीरो का स्वामी।[37] पूषन को विदथ का वीर कहा गया है और अग्नि की इच्छा का वर्णन विदथ में उपस्थित अधिराट की इच्छा के रूप मे किया गया है।[38] स्पष्टत: ये दैवी नेता मानवीय नेताओ के प्रतिबिंब थे। नेता की नियुक्ति कैसे होती थी, यह निश्चित करना कठिन है। फिर भी, दो उल्लेखो से प्रकट होता है कि अग्नि, जिसे अक्सर पुरोहित कहा गया है, विदथ में निर्वाचित हुआ था। एक अवतरण के अनुसार अग्नि, जो सभापूरक होतृपुरोहित है, यज्ञस्थल पर छोटे-बडे सभी के द्वारा समान रूप से निर्वाचित होता है।[39] एक अन्य अवतरण मे कहा गया है कि व्यवस्थापक लोग यज्ञसभाओ मे अग्नि का वरण (निर्वाचन) पुरोहित के रूप मे करते हैं।[40] एक दूसरे अवतरण से ध्वनि निकलती है कि लोगों की सहमति से अग्नि पुरोहित चुना जाता था। इसमें यह घोषणा है कि देवों और मनुष्यो ने अग्नि को अपना प्रधान समर्थक बनाया है।[41]

अतः लगता है कि अग्नि, जो प्रधान पुरोहित है, विदथ में वरण (निर्वाचित) किया जाता था। इस बात का कोई सकेत नही मिलता है कि इद्र किस प्रकार विदथ का नायक या युद्ध नेता बनाया गया। लेकिन आदिम समाज मे सामान्यतया

युद्धनेता और पुरोहित के बीच कोई भेद नहीं किया जा सकता। बहुधा एक ही व्यक्ति दोनों पदों पर आसीन रहता है। प्राचीन भारत से इसके पक्ष में ठोस साक्ष्य तो उपलब्ध नहीं होते, लेकिन ऐसा भी नहीं है कि ऐसे साक्ष्यों का नितांत अभाव हो। भरत और कौशिक वंशों के राजन्य विश्वामित्र[42] ने ही राजा सुदास[43] का पौरोहित्य किया और हरिश्चंद्र के यज्ञ में होतृपुरोहित का कार्य किया।[44] इसी प्रकार राजा शांतनु के पुरोहित देवापि[45] को यास्क[46] शांतनु का बड़ा भाई बताता है। इन सबसे ऐसा सोचना शायद गलत न होगा कि वैदिक भारत में भी किसी समय जनप्रधान और पुरोहित के कार्य एक ही व्यक्ति द्वारा संपादित किए जाते होंगे। अतः यह मानना भी अनुचित नहीं होगा कि युद्धनेता भी विदथ में एकत्र लोगों द्वारा निर्वाचित किया जाता था। इस बात की पुष्टि मानववैज्ञानिक साक्ष्यों से भी होती है। कारण, आइरोक्वोइ गोत्रों (जेंस) की परिषद जो इस जाति के सभी पुरुष और स्त्री सदस्यों की 'जनतांत्रिक सभा' थी, मुखियों (सेचेम) और प्रधानों को निर्वाचित और अपदस्थ करती थी, और धर्मपालकों (कीपर ऑफ फेथ) का भी निर्वाचन करती थी, जो धार्मिक कार्य संपादित करते थे।[47] यदि प्रारंभिक काल में विदथ मे युद्धनेता का वस्तुतः निर्वाचन नहीं होता रहा होता तो यह प्रथा समितिकाल' तक नहीं चली आती और ब्राह्मणों में वर्णित राज्याभिषेक समारोहों मे बरती जानेवाली विभिन्न औपचारिकताओं के रूप मे कायम नहीं रहती।[48]

विदथ के सैनिक स्वरूप का निर्देशन करनेवाले उल्लेखों के बाद सबसे बड़ी संख्या इस शब्द के ऐसे उल्लेखों की है जिनसे इसका धार्मिक स्वरूप उजागर होता है। इसका धार्मिक पक्ष सायण को इतना प्रबल और व्यापक प्रतीत हुआ कि उसने विदथ शब्द का अर्थ यज्ञ मान लिया। लेकिन सायण के आधार पर वैदिक अवतरणों में विदथ के सभी उल्लेखों को यज्ञ का पर्याय मानना उतना ही अनुचित होगा[49] जितना कि यास्क के आधार पर 'समिति' को युद्ध या यज्ञ का समानार्थी मानना।[50] विदथ का अर्थ यज्ञ लगाना कुछेक ऋचाओं के संदर्भ में भले ही ठीक हो किंतु ऐसी ऋचाओं मे जिनमे विदथ और यज्ञ शब्दों का प्रयोग दो अलग-अलग अर्थों में और स्वतंत्र रूप में हुआ है वह सटीक नहीं बैठता।[51] दृष्टांतस्वरूप एक ऋचा में द्यावा (स्वर्ग) और पृथ्वी की प्रशंसा विदथों में यज्ञ करके की गई है।[52] एक दूसरी ऋचा में 'विदथों में हमारा यज्ञ सुंदर बनाने' के लिए इंद्र और वरुण का आवाहन किया गया है।[53] विदथ और यज्ञ का अंतर स्पष्ट करनेवाली इसी तरह की कुछ और भी ऋचाएं मिलती हैं।[54] इस संबंध में हम उन तर्कों को भी ध्यान में रख सकते हैं जिनके द्वारा ब्लूमफील्ड ने इस स्थापना का खंडन किया है कि विदथ का अर्थ यज्ञ है।[55] किंतु जैसा कि आगे दिखलाया जाएगा, उसका यह दावा कि विदथ पितृतंत्रात्मक गृह था, सही नहीं प्रतीत होता। फिलहाल इतना कह देना उचित होगा कि सभी प्रसंगों में विदथ शब्द का अर्थ यज्ञ मानना सही नहीं होगा।

इस सबका मतलब विदथ के धार्मिक स्वरूप के विरुद्ध कोई तर्क देना नहीं है। दरअसल इसका धार्मिक पक्ष इसके भौतिक पहलू के साथ इस तरह घुला मिला है कि हम दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकते। इसमें संदेह नहीं कि यह संस्था समस्त जनसमुदाय के लिए सामूहिक देवोपासनास्थल का काम करती थी। स्वर्ग और पृथ्वी दोनों के विदथों के बीच विचरण करता दिखाया गया अग्निदेव इस उपासना का केंद्र जान पड़ते हैं।[56] विदथ स्थल पर उपस्थित लोग इंद्र, मित्रवरुण, विश्वेदेवों और अन्य देवों की भी उपासना करते थे।[57] ध्यान देने की बात है कि विदथ में उपासना सामूहिक रूप से की जाती थी और आशीर्वाद सभी लोगों के लिए मांगा जाता था। जान पड़ता है, लोग अपने यज्ञ में आने के लिए देवताओं का आवाहन सामूहिक रूप से करते थे। दृष्टांतस्वरूप मरुतों को 'हमारे' विदथ में आकर खाने-पीने के लिए निमंत्रित किया गया है।[58] कोई मनुष्य व्यक्तिगत रूप से अपने धन या अपनी संतान की वृद्धि की कामना नहीं करता है। उल्लेखों में एकवचन नहीं बल्कि बहुवचन पर जोर है। उदाहरणार्थ, सवितर को 'हमारी ऋचाओं' द्वारा 'हमारे सभी जनों' को खुश करने के लिए 'हमारी सभा' में आने के लिए आमंत्रित किया गया है।[59] इसी प्रकार जब विदथ में अग्नि की प्रशंसा की जाती है तो उससे कहा जाता है कि हमें सुवीरों से आपूरित भंडार के साथ धन दो तथा खाद्य और उत्कृष्ट संतानों के रूप में प्रचंड शक्ति दो।[60] एक दूसरी ऋचा में इंद्र का आह्वान विदथ में इकट्ठे लोगों को धन का वरदान देने के लिए किया गया है।[61]

'अथर्ववेद' में विदथ के अधिकांश उल्लेखों से प्रतीत होता है कि यह संस्था परवर्ती काल में मुख्यतया धार्मिक निकाय के रूप में कार्य करती रही। इस ग्रंथ में देवता इसके अनुरक्षक[62] माने गए हैं और इसकी सभाओं में उनका आह्वान किया गया है।[63] एक ऋचा में विदथ को स्वर्गप्राप्ति का साधन[64] माना गया है और अग्नि को इसके होतृपुरोहित का काम करता दिखाया गया है।[65]

देवताओं की उपासना के दो तरीके थे। एक तो यह सामान्य तरीका था कि देवताओं को पवित्र तृणासन पर बैठने के लिए आमंत्रित किया जाता था और तब उनसे सभा द्वारा प्रस्तुत भोजन और प्रीतिभोज में सम्मिलित होने का आग्रह किया जाता था। अग्नि से विदथ में पुरोडाश[66] और मरुतों से वहां अर्पित बलि[67] ग्रहण करने को कहा गया है। सामान्यतः यह देवताओं को अर्पित सामूहिक चढ़ावा होता था, और इस अर्थ में विदथ यज्ञशाला का काम करता था। देवताओं की आराधना का दूसरा तरीका विदथ में उनका गुणगान करना था। कुछेक प्रसंगों में देवताओं को हविष्य उनके गुणगान के रूप में ही अर्पित किया गया है।[68] उल्लेखों से पता चलता है कि विदथ गायनस्थल भी होता था: उद्गाता वहां जमा होकर देवताओं के सम्मान में स्तुति गाते थे। इंद्र का, जो विदथ का बल था, बहुत अधिक गुणगान

होता था।[69] अग्नि, जो विदथकक्ष को आपूरित करता था, उद्गाताओ के सत्कार्यों को सरक्षण प्रदान करता था।[70] विदथ मे देवताओ का गुणगान इसलिए किया जाता था कि वे भक्तो पर कृपा रखे।[71] गान के इस महत्त्व के कारण विदथ मे लोगो को उत्प्रेरित करने के लिए पुरोहितो को उद्गाता की भूमिका निभाने के लिए आहूत किया जाता था।[72]

विदथ केवल गायनस्थल ही नही, सभवत: सोम पान और क्रीडा का स्थल भी था। सोम का वर्णन 'हमारे विदथों मे बूंदो के रूप मे' किया गया है, जिससे मालूम होता है कि लोग विदथ में सोमपान का आनद लेते थे।[73] कहा गया है कि मरुद्गण अपने विदथों में क्रीडा करते हैं।[74] इसकी कल्पना स्पष्टत: मानवीय विदथों के आधार पर की गई है। इससे सकेत मिलता है कि विदथ वहा एकत्र लोगो का क्रीडास्थल भी था। इसके अलावा, यह एक ऐसा मिलनस्थल था जहा सीधे-सादे लोग उसी प्रकार घोड़ों के गुणो की चर्चा करते थे[75] जिस प्रकार सभा मे गायो के गुणो की करते थे। वे विभवन द्वारा निर्मित रथ का भी गुणगान करते थे।[76] इस सबसे प्रकट होता है कि विदथ की बैठक घरेलू वातावरण मे हुआ करती थी, और यह सस्था आदिम जनजातीय सभाओं के ढग की ही थी, जिनकी मुख्य विशेषता यह है कि उनमे गायन और क्रीडा होती है तथा त्यौहार और धार्मिक समारोह मनाए जाते हैं।

विदथ के धार्मिक स्वरूप को समझने के लिए हम, खासकर, भारोपीय जनो की आरभिक सभाओ के धार्मिक कार्यकलापो का कुछ जायजा ले सकते हैं। जिन तीस क्यूरियो को मिलाकर रोम की प्रभुसत्तासंपन्न सभा बनती थी, उनमे से प्रत्येक की अपनी निजी पूजापद्धति और अलग पूजाघर था।[77] किंतु कालातर मे इनमें से कुछ जनजातीय सभाओं के भौतिक कार्य अन्य सस्थाओ के जिम्मे चले गए और केवल इनका धार्मिक स्वरूप ही शेष रह गया। स्वीडन की जनजातीय सभाओ के बारे मे लिखते हुए चैडविक कहते हैं : 'जान पडता है, ये मुख्यत: धार्मिक सभाएं थी, जो प्रधान राष्ट्रीय पूजनशाला मे होने वाले विशाल वार्षिक यज्ञ के निमित्त एकत्र होती थी। पूरी सभावना है कि प्राचीन जर्मनो की सभाओ के साथ भी यही बात थी।[78]

ब्लूमफील्ड विदथ से जुडे यज्ञ के सामूहिक स्वरूप को स्वीकार नही करते और यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि ऐसे प्रसंगो मे विदथ का अर्थ कुलपिता का घर है, जो वैदिक यज्ञशाला का काम करता था।[79] बार्थ[80] और कीथ[81] के निष्कर्षों को स्वीकार करते हुए वह यह मानते हैं कि वैदिक काल मे यज्ञ नितात निजी मामला था। अलग-अलग यजमान अपने-अपने घरो मे यज्ञाग्नि प्रज्वलित कर यज्ञ किया करते थे। अत: उनका निष्कर्ष है कि विदथ के यज्ञ का सार्वजनिक स्वरूप वैयक्तिक यज्ञ के प्रचलन के तथ्य से संगत नही लगता। किंतु ब्लूमफील्ड की आधारभूत मान्यता केवल अंशतः ही सही है। प्रमाणपूर्वक ऐसा कहा जा सकता है

कि वैदिक काल मे वैयक्तिक यज्ञ के साथ-साथ सार्वजनिक यज्ञ भी होते थे और सार्वजनिक यज्ञ वैयक्तिक यज्ञ से पुराना था। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, अन्य भारोपीय जनों के बीच भी (जनजातीय अर्थ मे) सार्वजनिक यज्ञ का प्रचलन था। इसलिए वैदिक साहित्य में खासकर 'ऋग्वेद' मे, जो कि भारोपीय साहित्य का प्राचीनतम उदाहरण है, ऐसे यज्ञ की अपेक्षा करना स्वाभाविक ही होगा। ऐसे यज्ञों के चलन की सभावना की पुष्टि उन मानव वैज्ञानिक साक्ष्यों से भी होती है जो सामाजिक विकास की पूर्वतम अवस्था मे सामुदायिक (जनजातीय) यज्ञ का प्रचलन सिद्ध करते हैं।

जहा तक वैदिक साहित्य से प्राप्त आतरिक साक्ष्यों का संबंध है, ऐसी अनेक ऋचाए उद्धृत की जा सकती हैं जिनसे यह पता चलेगा कि लोग केवल भौतिक जीवन में ही नही,[82] धार्मिक जीवन में भी जनजातीय रूप से काम करते थे। 'ऋग्वेद' के सार भाग (मडल 2 से मडल 9 तक) में ऐसी अनेक ऋचाए हैं, जिनमे उपासक सामूहिक रूप से देवताओ की स्तुति करते हैं। चूंकि वैदिक काल में यज्ञ के साथ तो स्तुति की ही जाती थी[83], इसलिए कोई कारण नही कि इसका स्वरूप सामूहिक नही होता होगा। आम यज्ञ के सबध में हम 'ऋग्वेद' की ऐसी दो ऋचाओं का हवाला दे सकते हैं जिनसे इस बात का सकेत मिलता है कि यज्ञ का स्वरूप जनजातीय होता था। एक ऋचा के अनुसार लोग यज्ञ के सूचक (अग्नि) को प्रदीप्त करते हैं और मानवजाति (मानुषो जनः) पवित्र अनुष्ठान मे अग्नि को आमंत्रित करती है।[84] इसी तरह, एक अन्य ऋचा मे यह वर्णन है कि इद्र के प्रिय जन उन्हें बलि अर्पित करते हैं और उसके मित्र हैं।[85] इन ऋचाओ मे कही भी एक व्यक्ति द्वारा यज्ञ करने का उल्लेख नही है, और यह स्पष्ट है कि इनमे प्रयुक्त 'जन' शब्द का अर्थ जनजाति या प्रजाति है। 'ऋग्वेद' मे अनेक स्थलों पर यजमान का प्रयोग बहुवचन मे हुआ है, जिससे यह सकेत मिलता है कि एक से अधिक व्यक्ति धार्मिक अनुष्ठानो में सम्मिलित होते थे। एक ऋचा में सरस्वती से अनुरोध किया जाता है कि वह 'इन यज्ञकर्ताओ' को भोजन और धन दे।[86]

विशिष्ट वैदिक यज्ञों के सबध में यह कहा जा सकता है कि गृह्य धर्मानुष्ठानो का स्वरूप नितात वैयक्तिक था। लेकिन ऋचाओ के प्राचीनतम संग्रह में इसका कोई चिह्न शायद ही मिले। अधिकाश परवर्ती वैदिक यज्ञो में एक ही यजमान की व्यवस्था है, यद्यपि कुछेक के लिए पुरोहित एकाधिक रखे गए हैं। फिर भी सत्रयज्ञ के बारे में यह माना जा सकता है कि यह वैदिककालीन सामूहिक (जनजातीय) यज्ञ के प्रचलन का स्पष्ट और विशिष्ट रूप है। इसका सचालन एक नही, बल्कि अनेक यजमान करते थे और इसको करने से प्राप्त होने वाले पुण्य के भागी सभी यज्ञकर्ता सामूहिक रूप से होते थे।[87] तिलक के मतानुसार सत्रयज्ञ 'वैदिक यज्ञों में सबसे पुराना है।'[88]

यद्यपि प्रारंभिक वैदिक साहित्य में सत्र का कोई वर्णन नहीं है, फिर भी जो कुछ इसके बारे में परवर्ती स्रोतों से ज्ञात होता है, उससे तिलक के विचार की पुष्टि होती जान पड़ती है। पहली बात तो यह है कि इसमें अलग से पुरोहित नहीं होते थे, बल्कि यजमान स्वयं पुरोहित का कार्य करते थे।[89] यह सामाजिक विकास की उस प्रारंभिक अवस्था का द्योतक है जब श्रमविभाजन के अभाव मे पुरोहितों का कोई पृथक वर्ग नहीं बना था। दूसरे, यज्ञकर्ताओं (याज्ञिको) के बारे में सामान्यतः प्रचलित मत यह था कि एक ही गोत्र के सदस्य सत्रयज्ञ संपन्न कर सकते हैं।[90] यह आदिम जातियो के बीच प्रचलित गोत्रीय यज्ञों का स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। तीसरे, सत्र शब्द अनेक रूपों में 'ऋग्वेद' मे पचास से अधिक बार प्रयुक्त हुआ है और तिलक के अनुसार इसका अर्थ यज्ञ है। सत्र के आदिम रूप को देखकर इसकी प्राचीनता के बारे मे कोई संदेह नही रह जाता। यदि यह यज्ञ परवर्ती काल में पुरोहितो द्वारा आविष्कृत किया गया होता तो या तो इसमें कोई ऐसी युक्ति होती जिससे यज्ञकर्ताओं के धन से पुरोहित अपनी थैली भरते या अपना सामाजिक महत्त्व बढ़ाते। लेकिन इस यज्ञ में ऐसी किसी चीज का कोई संकेत नहीं मिलता।[91]

विचित्र बात है कि सत्रयज्ञ, जो अपने सामुदायिक स्वरूप और प्राचीनता के लिए विशेष उल्लेखनीय है, ब्लूमफील्ड की दृष्टि मे नहीं आया। फिर भी उन्होने ऐसा संदेह अवश्य व्यक्त किया है कि अश्वमेध की तहो में शायद किसी न किसी प्रकार की सामुदायिक या राष्ट्रीय पूजा-उपासना छिपी हुई हो।[92] हम अपनी ओर से यह कह सकते हैं कि वाजपेय और राजसूय यज्ञों के कुछेक समारोहों की छानबीन की जाए तो निश्चय ही उनके संदेह की किसी हद तक पुष्टि होगी। वाजपेय यज्ञ की रथप्रतियोगिता तथा राजसूय के गोहरण और द्यूतक्रीड़ा समारोहों में राजा भी अनेक प्रतियोगियों में एक प्रतियोगी के रूप मे शामिल होता है और एक प्रसंग में तो प्रतियोगियों को स्पष्ट रूप से सजात अथवा स्वगोत्री कहा गया है।[93] इन समारोहो से साफ जाहिर होता है कि इन यज्ञों में सामुदायिक कार्यकलाप के तत्व विद्यमान थे। सामुदायिक यज्ञ के जो इस तरह के आभास यत्र-तत्र मिलते हैं, उनको ध्यान में रखकर विचार करे तो हिलब्रांट द्वारा वैदिक काल में गोत्रीय यज्ञो के पक्ष में प्रस्तुत किए गए प्रमाणों को यह कहकर खारिज करना अनुचित होगा कि ये 'साक्ष्य सर्वथा अपर्याप्त हैं और इस विषय में इनसे कही अधिक स्पष्ट साक्ष्य सामने आने चाहिए।'[94] इस दिशा मे अधुनातन कार्य बी. एन. दत्त ने किया है। इसमें विभिन्न गोत्रों के ऋषियों द्वारा रचित ऋग्वैदिक ऋचाओं का विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला गया है कि जनजाति विशेष या गोत्र विशेष का देवता विशेष उपासक था।[95] यह अति प्रारंभिक काल में जनजातीय या सामुदायिक यज्ञ के चलन का बहुत प्रबल साक्ष्य है। इसलिए ब्लूमफील्ड की यह मान्यता, कि वैदिक काल में सामूहिक यज्ञ नहीं होता था, निस्संदेह विवादास्पद है।

सबसे महत्व की बात तो—जैसा कि पहले दर्शाया जा चुका है— यह है कि विदथ शब्द के जितने भी उल्लेख हुए हैं उनमे बहुत बडी संख्या ऐसे उल्लेखो की है जिनमे वीरपुत्रो और धन की आकाक्षा किसी एक व्यक्ति द्वारा नही, बल्कि विदथ मे उपस्थित सभी लोगों द्वारा सामूहिक रूप से की गई है। और अत मे, यह भी ध्यातव्य है कि इस शब्द का ब्लूमफील्ड द्वारा लगाया गया अर्थ—अर्थात कुलपिता का घर—शब्दकोशो में दिए गए इसके अर्थ से मेल नही खाता। 'निघंटु' मे इसकी व्याख्या यज्ञ के रूप मे, तथा 'निरुक्त' मे यज्ञ और सभा दोनों रूपो मे की गई है,[96] पर कही भी इसका अर्थ घर नही किया गया है।

उपसहारस्वरूप यह कहा जा सकता है कि पूर्व वैदिक काल मे सामुदायिक और जनजातीय, धार्मिक और भौतिक दोनो ही प्रकार के जीवन का और, साथ ही, पितृसत्तात्मक पारिवारिक जीवन का भी साक्ष्य मौजूद है। किंतु, विदथ नाम की इस सस्था की सगति सामुदायिक ढग के जीवन से ही बैठती है। 'ऋग्वेद' मे प्रयुक्त शब्दो से नितात एकविवाही पितृसत्तात्मक पारिवारिक जीवन का प्रत्यक्ष प्रमाण नही मिलता है। 'कुल' शब्द, जिससे एकविवाही पितृसत्तात्मक पारिवारिक जीवन का सकेत मिलता है, 'ऋग्वेद' मे कही भी प्रयुक्त नही हुआ है। परिवारप्रधान के अर्थ मे 'कुलपा' शब्द का प्रयोग सिर्फ एक स्थल पर हुआ है। दूसरी ओर, जनजाति के पर्याय, अर्थात जन और विश का प्रयोग उसमे क्रमशः करीब 275 और 271 बार हुआ है। इसे इस बात का पर्याप्त प्रमाण मानना चाहिए कि पूर्व वैदिककाल मे जनजातीय और सामुदायिक जीवन का काफी महत्त्व था। और, सभवत , जीवन का यही पहलू विदथ मे अपने विविध रूपों मे अभिव्यक्त हुआ है।

इस तरह, इस तथ्य पर जोर देना शायद ठीक नही होगा कि विदथ बुद्धिमान या आध्यात्मिक प्राधिकारियो की सभा थी। हा, इसके स्वरूप के इस पहलू का सकेत देने वाले कुछ उल्लेख अवश्य मिलते हैं। एक स्थल पर स्वर्ग में बुद्धिमानो के विदथो का उल्लेख देखने को मिलता है।[97] हमें यह मालूम नही है कि सभेय की तरह विदथ्य शब्द भी विशिष्टतासूचक उपाधि के रूप मे प्रयुक्त हुआ है या नही।[98] किंतु एक दो छिटपुट उल्लेखो के आधार पर ही यह सिद्ध नही किया जा सकता है कि विदथ सामान्यत बुद्धिमानो का परिषद हुआ करता था। अधिक सभावना इस बात की है कि शुरू मे यह जनसभा था, किंतु कालातर मे यह कुछ ही लोगो तक सीमित रह गया और एग्लोसैक्सन राष्ट्रीय सभा की तरह, इसकी सदस्यता भी विशिष्टतासूचक हो गई।

यह विचारणीय है कि राजन्य और ब्राह्मण, जिन्होंने उत्तर संहिताओं और ब्राह्मणो के काल मे अपने को व्यवहारत. शासक वर्ग के रूप मे प्रतिष्ठित कर लिया था, विदथ मे सम्मिलित होते थे या नही। ऐसे उल्लेख तो अवश्य मिलते हैं

जिनसे प्रकट होता है कि सामान्यतया होतृ कहे जाने वाले पुरोहित इसमे उपस्थित रहते थे, किंतु वर्ग के रूप मे पुरोहित या ब्राह्मण इस संस्था से संबद्ध नही दिखाई देते। यद्यपि विदथ में उपस्थित लोग इंद्र और वरुण को राजन के रूप में संबोधित करते पाए जाते हैं, लेकिन ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता कि राजन भी इस सभा मे उपस्थित होते थे। एक ऋचा मे सम्राट के साथ विदथ शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे पता चलता है कि राजा भी विदथ मे सम्मिलित होता था।[99] एक अन्य ऋचा मे हम 'विदथ मे सम्राट (विदथेषु सम्राट्),' इन शब्दो का प्रयोग देखते हैं।[100] विदथ में उपस्थित अग्नि के लिए अधिराट् शब्द भी आया है। किंतु राजन्य या ब्राह्मण विदथ के सदस्यो के रूप मे शायद ही देखने को मिले। लुडविग ने 'सभा' के सदस्यो की उच्च सामाजिक हैसियत सिद्ध करने के लिए अनेक उद्धरण दिए हैं। 'ऋग्वेद' (X—97.6) के आधार पर घोपाल का कहना है कि राजा लोग समिति के सबसे विशिष्ट सदस्य थे, जिसमें स्पष्टत: लोकतत्व का भी समावेश था।[101] लेकिन इस मत को स्वीकार करना कठिन है कि विदथ का अर्थ मुख्यतया सभा है, खासतौर से 'मघवनो' (धनी लोगो) और ब्राहमणो की सभा।[102] 'ऋग्वेद', II.27-12 की व्याख्या करते हुए त्सिमर विदथ को 'समिति' से छोटी सभा मानते हैं, जिससे यह धारणा बन सकती है कि इसका स्वरूप अभिजातीय था। यह ठीक है कि उक्त ऋचा में रथारूढ़ होकर विदथ मे आने वाले कुछ धनी और वदान्य लोगो का जिक्र है। लेकिन जब तक हमें कुछ और ऐसे उल्लेख नही मिल जाते तब तक इस संस्था के स्वरूप को अभिजातीय बताना संभव नहीं है। इसके अलावा न तो ऊपर उद्धृत ऋचा से 'समिति' और विदथ के सदस्यों की सापेक्ष संख्या पर कोई प्रकाश पडता है और न वैदिक साहित्य में अन्यत्र कहीं इसकी चर्चा है। सच तो यह है कि विदथ के मुकाबले 'सभा' और 'समिति' में, खासकर 'सभा' में, अभिजातीय तत्व के अधिक सबूत मिलते हैं। इसलिए यदि नकारात्मक साक्ष्य के आधार पर कोई अनुमान लगाया जा सकता हो तो यह कहा जा सकता है कि आरंभिक विदथ के समय संभवतः जनजाति टूटकर ब्राह्मण और क्षत्रिय जैसे वर्णों मे विभाजित नही हुई थी, और इसलिए उसमे ऐसी विशिष्टताएं थी जो वर्गहीन जनजातीय समाज मे पाई जाती हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसके आलोक मे, दोनो अन्य वैदिक संस्थाओ, 'सभा' और 'समिति' के मुकाबले विदथ की प्राचीनता पर विचार करना दिलचस्प होगा। विदथ का आदिम स्वरूप इसके कार्यों के अपृथक्कृत रूप से जाहिर होता है। इस दृष्टि से विदथ तथा अन्य दोनो वैदिक संस्थाओं के बीच कोई मौलिक अंतर नही है। जिस तथ्य के कारण विदथ अधिक पुरातन प्रतीत होता है वह है इसका वितरणात्मक कार्य या उपज का सामूहिक उपभोग। जब उपभोग सामूहिक रूप से होता था तो उत्पादन भी सामूहिक तौर पर ही किया जाता होगा।

मानववैज्ञानिक साक्ष्यों के अनुसार यह स्थिति केवल अत्यत पुरातन जनजातीय सगठनों मे ही पाई जा सकती है। सभवतः विदथ का प्रचलन तब था जब आर्य अधिकाशत पशुपालन, आखेट और युद्ध में पाए लूट के माल के द्वारा अपना जीवन यापन करते थे। दूसरे, विदथ के विचारविमर्श मे स्त्रियों का सम्मिलित होना भी अन्य वैदिक सस्थाओ की बनिस्बत इसे अधिक प्राचीन सिद्ध करता है। ऐसा माना जाता है कि आर्यों का समाज प्रारभ से पितृसत्तात्मक था, पर विदथ मे मातृसत्ता के कुछ तत्त्व दिखाई पडते हैं। तीसरे, विदथ मे वर्गभेद के अस्तित्व क किसी स्पष्ट और निश्चित साक्ष्य का अभाव इसकी प्राचीनता का एक और आधार हो सकता है। और, अत मे हम इस समस्या पर तुलनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं। जिस प्रकार कुछेक भारोपीय भाषाओं में 'सभा' शब्द के समातर रूप मिलते हैं, उसी प्रकार विदथ शब्द का भी समातर रूप गोथिक भाषा में मिल जाता है, जो भारोपीय भाषा परिवार की एक महत्त्वपूर्ण भाषा है। यद्यपि भाषावैज्ञानिक नियमो के अनुसार किसी भी शब्दकोश मे इसके समांतर रूप को स्थान नही दिया गया है, फिर भी विदथ शब्द को गोथिक शब्द 'विटोथ' का समरूप माना जा सकता है, जिसका अर्थ है विधि (कानून)।[103] ध्यातव्य है कि ये दोनों ही शब्द 'विद्' धातु से निकल सकते हैं।[104] और हम देख ही चुके हैं कि ओल्डेनबर्ग के मतानुसार विदथ शब्द का अर्थ धर्मविधि है। रॉथ ने इसका अर्थ आदेश लगाया है।[105] कोई आश्चर्य नही कि विदथ के विचारविमर्शात्मक कार्यों के कारण इसका अर्थ विधि लगाया जाए।

इस प्रकार, विदथ के गठन और कार्यों के स्वरूप पर विचार करने और इस बात की ओर ध्यान देने पर कि गोथिक भाषा मे इसका समरूप शब्द उपलब्ध है, इस अनुमान की पुष्टि होती है कि विदथ भारतीय आर्यों की प्राचीनतम सामुदायिक सस्था है। चूंकि इसके कुछेक पहलू, जैसे कि स्त्रियों का इसमें भाग लेना और इसके वितरणात्मक कार्य, भारोपीय जनो की आरंभिक सभाओं मे नही मिलते, इसलिए सभव है, इन लोगो के विभिन्न शाखाओ मे बंटने के पूर्व विदथ इन सबके बीच विद्यमान सामुदायिक सगठन रहा हो।

उपलब्ध सदर्भों का अध्ययन करने से प्रकट होता है कि विदथ भारतीय आर्यों की प्राचीनतम जनसभा था, जिसमें पुरुष और स्त्रिया दोनो सम्मिलित होकर आर्थिक, सामरिक, धार्मिक और सामाजिक सभी प्रकार के कार्यों का सपादन करते थे। यह आदिम समाज की जरूरतें पूरी करता था। इस समाज मे श्रम विभाजन का, या महिलाओ पर पुरुषो के आधिपत्य का चलन नही था, और यह सभवतः मिल-बाटकर उपज का उपभोग करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि विदथ प्रणाली की आधारशिला सहकारिता की भावना थी। पुरुष-स्त्री का भेद बरते बिना इसमें सम्मिलित लोग साथ-साथ लडते, साथ-साथ गाते, साथ-साथ प्रार्थना करते,

साथ-साथ खेलते और साथ-साथ विचारविमर्श किया करते थे। विदथ किस हद तक शासनयंत्र का काम करता था, यह कहना कठिन है। आंतरिक साक्ष्य अपने आप मे तो इतने छिटपुट हैं कि इनके सहारे इस समस्या का समाधान असभव लगता है। लेकिन मानवविज्ञान द्वारा ज्ञात आदिम संस्थाओ के स्वरूप से इस प्रश्न पर थोडा प्रकाश पड सकता है। मॉरगन के अनुसार गात्र (जेन) सभा 'एशिया, यूरोप और अमरीका, इन सबके प्राचीन समाज के गोत्रसस्था की असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त करने तक के दौर की एक प्रमुख विशेषता थी। यह शासनयंत्र भी थी तथा गोत्र, जनजाति और गोत्रसघ पर अंकुश रखने वाली सर्वोच्च सत्ता भी।'[106] यही बात विदथ के सबध मे भी कही जा सकती है या नही, इसके लिए और अधिक अन्वेषण की आवश्यकता है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 हि क इ पी की जिल्द 1, अर्थात दि वैदिक एज में, यह वैदिक काल पर लिखी गई नवीनतम पुस्तक है, विदथ शब्द का उल्लेख भी नही किया गया है
2 इनका सार 'वैदिक इडेक्स', ii, 296 और यू एन घोषाल की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ हिंदू पब्लिक लाइफ', भाग I, पृ 28 मे दिया गया है
3 विद् ज्ञाने, विद् चारणे, विद्लृ लाभे, विद् सत्तायाम्, शब्दकल्पद्रुम, iv, 286
4. जायसवाल, हिंदू पॉलिटी, पृ 21
5. ऋग्वेद, I 167 3
6. मै. स VI, 741
7. गुहा चरन्ती मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव सवाक्। ऋग्वेद, 1,167 3
8. आस्थापयत युवतीं युवान शुभे निमिश्ला विदथेषु पज्राम। ऋग्वेद, 1 167 6
9 गृहान् गच्छ गृहपत्नीयथासो वशिनी त्व विदथमा वदासि। ऋग्वेद, X 85 26
10 अथर्ववेद, XIV, 1.20 में हू-ब-हू वही ऋचा आई है जो ऋग्वेद, X 85 26 में है
11. एना पत्यातन्व स सृजस्वाधा जिव्रि विदथमा वदाथ ऋग्वेद, X 85 27, अथर्व XIV 1 21 अथर्व की ऋचा में थोडा अतर है
12. अथर्व VIII, 1 6
13. ऋग्वेद, X, 85 26
14. न्यूयार्क राज्य मे रहनेवाली पाच (बाद में छ) आदिम जातियों का सघ
15 एफ एजेल्स, 'दि ऑरिजिन ऑफ दि फैमली, प्राइवेट प्रोपर्टी एड दि स्टेट' पृ 126 अडमन द्वीपवासियों में '*समुदाय का कार्यकलाप पूर्णत बूढ़े पुरुष और महिलाओं द्वारा विनियमित होता है* ' लैंडमैन, 'ऑरिजिन ऑफ दि इनइक्वलिटी ऑफ सोशल क्लासेज,' पृ 312 में उद्धृत रैडक्लीफ ब्राउन की पुस्तक अडमन आइलैंडर्स, पृ 44
16 एजेल्स, पूर्वोद्धृत रचना, पृ. 188
17. ज. अ ओ. सो , XIX, 14

18 ब्रुगमैन कंपेरेटिव ग्रामर ऑफ दि इंडो-जर्मनिक लैंग्वेजेज, I, 395
19 ऋग्वेद, X 173 I
20 व्रातंव्रातं गणंगणं सुशस्तिभिरग्नेर्भामं मरुतामोज ईमहे । पृषदश्वासो अनवभ्रराधसो गन्तारो यज्ञं विदथेषु धीरा । ऋग्वेद III, 26 6
21 श ब्रा II, 5 I 12
22 अथर्व XIII 3 24
23 अथर्व XII 2 30, VII I 6
24 सै बु ई, XVII 26
25 निघटु, II 17
26 III 14 I
27 सै बु ई XVII, 26
28 *यदद्य देव सविता सुवाति स्यामास्य रत्निनो विभागे । ऋग्वेद, VII, 40 I*
29 त्वं अग्ने राजा वरुणो त्वं अर्यमा सत्पतिर्यस्य सभुज त्वं अशो विदथे देव भाजयु । ऋग्वेद, II I 4
30 विल ड्यूरान्ट, दि स्टोरी ऑफ सिविलिजेशन, I, 17
31 स रेवान्याति प्रथमो रथेन वसुदावा विदथेषु प्रशस्त । ऋग्वेद, II, 27 12
32 *निम्नवत्, मडल VIII*
33 अग्ने हर्षं वस्य तव भागधेयं न प्रमिनन्ति विदथेषु धीरा । ऋग्वेद, III, 28 4
34 ऋग्वेद, VI 8 I
35 बृहद् वदेम विदथे सुवीरा, ऋग्वेद II, I 16, 2 13, 11 21, 13 13, 14 12, 15 10 16 9, 17 9, 18 9, 20 9, 23 19, 24 16, 27 17, 28 11, 29 7, 35 15, 33 15, I, 117 25, II 22-15, VIII, 48 14
36 एक एजैल्स, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 124
37 पति दक्षस्य विदथस्य, ऋग्वेद, I-56 2, 130 I
38 ऋग्वेद VII, 36 8, IV, 21-2
39 मेधाकारं विदथस्य प्रसादनमग्निं होतारं परिभूतमं मतिम् । तमिदर्भे हविष्या-समानमित्तमिन्महे वृणते नान्य त्वत् ।। ऋग्वेद, X, 91 8
40 त्वामिदत्र वृणते त्वायवो होतारमग्ने विदथेषु वेधस । ऋग्वेद, X, 91 9
41 ऋग्वेद, X, 92 2
42 ऋग्वेद, III 53 9-12
43 ऋग्वेद, III, 53 11
44 ऐ ब्रा, VII 16
45 ऋग्वेद, X, 98 7
46 निरुक्त, II, 10
47 लेविस एच मॉर्गन, एंशिएंट सोसाइटी, पृ 85
48 निम्नवत् अध्याय XI
49 निघटु, II, 17
50 बंद्योपाध्याय, डेवलपमेंट ऑफ हिंदू पॉलिटी एंड पॉलिटिकल थीअरीज, पृ 118-19 पर उद्धृत
51 ग्रिफिथ ने, जिसका अनुवाद इस अध्याय में सामान्यत स्वीकार किया गया है, विदथ का अनुवाद अनेक प्रकार से किया है—जैसे कि धर्मसभा (साइनॉड), सभा, जनसमूह और यज्ञ

ह्विटनी ने इसका अनुवाद परिषद किया है
52 प्रद्यावा यज्ञै पृथिवी ऋतावृधा महि स्तुषे विदथेषु प्रचेतसा। ऋग्वेद, I 159 I
53 कृत नो यज्ञ विदथेषु ऋग्वेद, VII 84 3
54 ऋग्वेद, III, 4 5, 26 6
55 ज अ ओ सो, XI1, 204 6
56 ऋग्वेद, VIII 39 1
57 ऋग्वेद III 1 18 14 1 1 130 1 153 3
58 अस्माक अद्य विदथेषु बर्हि आ वीतये सदत पिप्रियाणा ऋग्वेद, VII 57-2
59 आ न इलाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानर सविता देव एतु। अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्व जगदभिपित्वे मनीषा। ऋग्वेद I 186 I
60 विदथे मन्म शसि अस्मे अग्ने सयद्वीरम् बृहत क्षुमत वाज स्वपत्य रयि दा। ऋग्वेद, II 4 8
61 अस्मभ्य तद्वसो दानाय राध समर्थयस्व बहु ते वसव्य। इन्द्र यच्चित्रश्रवस्था अनुद्युन्बृहद्वदेम विदथे सुवीरा ।। ऋग्वेद II-13 13
62 अथर्व VII 73 (77) 4
63 अथर्व VIII 3 19
64 अथर्व, XVII, I 15
65 अथर्व, XVIII 1 20
66 ऋग्वेद, III 28 4
67 ऋग्वेद, III, 26 4, I, 166 2
68 ऋग्वेद, I, 186 I
69 स्थूरस्य रायो बृहतो य ईशे तमुष्टवाम विदथेष्विद्रम्। ऋग्वेद, IV, 21-4
70 ऋग्वेद, X, 122 8, II, 4 8
71 अथर्व, I, 13 4, V, 12 7
72 ऋग्वेद, X, 110 7
73 ऋग्वेद, IX, 97 56
74 क्रीडन्ति क्रीडा विदथेषु धृष्वय, नक्षन्ति रुद्रा अवसा नमस्विनम् ऋग्वेद, I 166 2
75 ऋग्वेद, I 162 I
76 विभवतष्टो विदथेषु प्रवाच्यो य देवासोऽवथा स विचर्षणि। ऋग्वेद, IV 36 5
77 विलियम स्मिथ, ए स्मॉलर हिस्ट्री आफ रोम फ्राम दि अर्लिएस्ट टाइम्स टु दि डेथ ऑफ ट्राजन, पृ 18
78 एच मनरो चैडविक, दि हिरोइक एज, पृ 169
79 ज अ ओ सो, XIX 14 और आगे
80 बार्थ, रिलीजस आफ इंडिया, पृ 50
81 कीथ, रिलीजन एड फिलॉसफी ऑफ दि वेदाज, पृ 290
82 प्राचीन भारत के सामुदायिक जीवन पर लिखे गए अपने ग्रथो मे के पी जायसवाल, आर सी मजुमदार, एन सी बद्योपाध्याय और यू एन घोषाल जैसे अनेक विद्वानो ने इस बात का प्रतिपादन किया है
83. पी एस देशमुख, रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर, पृ 144
84 सजोषास्त्वा दिवो नरो यज्ञस्य केतुमिन्धते। योडस्य मानुषो जन सुम्नायुर्जुहवे अध्वरे। ऋग्वेद, VI 2 3

85 ऋग्वेद VII 20 8
86 ऋग्वेद X 17 9
87 कीथ की पूर्वोद्धृत पुस्तक पृ 290, 149 एस ए डागे की पुस्तक इंडिया फ्राम प्रीमीटिव कम्युनिज्म टु स्लेवरी, पृ 41-43 पर सत्र के सामुदायिक स्वरूप का विश्लेषण नए ढंग से किया गया है
88 बा ग तिलक दि आर्कटिक होम इन दि वेदाज, पृ 193
89 जैमिनी पूर्वमीमांसा सूत्र, X, 6 45 60
90 काणे ने हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, II, पृ 1241 में गार्गादि, आश्वलायन और जैमिनी जैसे प्राचीन कर्मकांडियों के मत का उल्लेख किया है
91 घोषाल की पूर्वोद्धृत पुस्तक पृ 3
92 ज अ आ सो XI viii, 200
93 निम्नवत्, अध्याय XI
94 कीथ, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 290
95 बी एन दत्त, डाइलेक्टिक्स ऑफ हिंदू रिचुअलिज्म, पृ 110-14
96 निरुक्त, IX, 3, निघंटु III 17
97 ऋग्वेद, III 1 2
98 सादन्य विदथ्य सभेय पितृश्रवण यो ददाशदस्मै । ऋग्वेद, I. 91 20
99 ऋग्वेद, IV 21 2
100 ऋग्वेद, III 55 7
101 घोषाल की पूर्वोद्धृत कृति, पृ 17
102 VI ii 296 में लुडविग का उद्धरण
103 आगस्ट फिक, इंडोजर्मनीश्खेन वोर्टरबुक, पृ 189 मैंने डॉ सु कु चटर्जी और डॉ तारापद चौधरी से इस विषय पर बात की है
104 वही
105 VI ii 296 पर उद्धृत
106 लेविस एच मॉरगन की पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 84-85 विभिन्न दृष्टियों के लिए इस विषय पर निम्नलिखित कृतियाँ देखें, अलतेकर, स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एंशिएंट इंडिया (1958), पृ 141, पाद टिप्पणी 1, जे पी शर्मा 'दि क्वेश्चन ऑफ दि विदथ इन वैदिक इंडिया', ज रा ए सो 1965, भाग 1 और 2, और स्पेलमैन, पॉलिटिकल थीअरी ऑफ एंशिएंट इंडिया, पृ 96

7. सभा और समिति

सभा

'ऋग्वेद' में सभा शब्द का उल्लेख आठ बार हुआ है। यह सभा मे इकट्ठे लोगों और सभाभवन, यानी सभास्थल, दोनो का द्योतक है। सभाभवन के अर्थ में यह परवर्ती ग्रंथों में भी प्रयुक्त मिलता है। यजु: संहिता में ग्राम, वन या सभा[1] में किए गए पापों का वर्णन है। स्पष्ट है कि इन प्रसंगों में यह शब्द स्थानवाचक है। एक स्थल पर[2] सभापाल का उल्लेख भी मिलता है जिससे सभाभवन के संरक्षक का बोध होता है।

'सभा' मे कौन लोग थे? विप्र के साथ 'सभेय'[3] विशेषण के प्रयोग से यह संकेत मिलता है कि जब 'सभा' प्रशासनिक प्रयोजनों से बुलाई जाती थी तब यह गिने-चुने लोगों, अर्थात ब्राह्मणो और गुरुजनों की बैठक होती थी। एक परवर्ती ऋग्वैदिक उल्लेख[4] में स्त्री को 'सभावती' अर्थात सभा में जाने योग्य, कहा गया है, जिससे पता चलता है कि स्त्री सदस्य भी इस संस्था मे भाग लेते थे।

चूंकि अत्यंत आदिम सभाओ मे ही स्त्रियों के सभागमन की प्रथा थी, इसलिए 'समिति' की तुलना में 'सभा' की पुरातनता सिद्ध होती है। इसकी पुरातनता का संकेत इस तथ्य से भी मिलता है कि 'समिति' शब्द के विपरीत 'सभा' शब्द के अनेक समरूप भारोपीय भाषाओं में उपलब्ध हैं। शायद सबसे पहले हॉपकिंस ने 'सभा' की प्राचीनता की ओर संकेत किया और इसकी तुलना जर्मन शब्द सिप्पे[5] से की। अब यह सिद्ध हो गया है कि सभा [तुलनीय भारतीय स (उ) एभौ] शब्द एक ऐसी मूल धातु से निकला है जिसका पुरानी यूरोपीय भाषा के 'सुब् (ब)', पुरानी जर्मन (हाई जर्मन) भाषा के 'सिप्प् (ए) अ', गोथिक 'सिब्ज'; और मध्य जर्मन 'सिप्पे' से निकट का संबंध है। इन सभी का अर्थ सगेसंबंधियों, जनजाति, परिवार या गोत्र का संघ है। बंद्योपाध्याय ने ठीक ही कहा है कि भारत की प्रारंभिक 'सभाएं' भी कुछ इसी प्रकार की रही होंगी।[6] दूसरे शब्दो मे ये जनजातीय सभाएं थी। 'सभा' का लोकप्रिय और आदिम स्वरूप इसमें निबटाए जाने वाले सीधे सरल कार्यों से भी भासित होता है। कार्यविभाजन की प्रणाली से अपरिचित किसी भी आदिम सभा की तरह इसके सदस्य भी एकत्र होकर पासा खेलते थे, प्रार्थना तथा यज्ञ करते

थे, और पशुओं को पालतू बनाने के बारे मे विचारविमर्श करते थे।

किंतु आगे चलकर 'सभा' का स्वरूप मुख्यत पितृतत्रात्मक और अभिजातीय हो गया। प्रारभ मे स्त्रिया इसमे सम्मिलित हुआ करती थी, उत्तर वैदिककाल मे यह चलन समाप्त हो गया।[7] द्रौपदीकाड के सदर्भ मे कहा गया है कि अनादिकाल से स्त्रिया सभा मे नही जाती थी। कालातर मे सभा शब्द का अर्थ एक साथ चमकने वाले पुरुषों का निकाय हो गया। इससे यह सकेत मिलता है कि जो लोग इसमे बैठते थे वे विशिष्ट पुरुष माने जाते थे। 'सभा' के सदस्यों का सामाजिक दर्जा बहुत ऊचा था, यह सिद्ध करने के लिए लुडविग ने अनेक ऋचाए उद्धृत की हैं। 'ऋग्वेद' की एक ऋचा में घोडो, रथो और गौओ से सपन्न तथा धन प्राप्त करने वाले एव सभा मे जाने वाले इद्रउपासको का[8] उल्लेख है। एक दूसरी ऋचा में यशस् द्वारा सभासद को प्रदत्त प्रमुखता का जिक्र है;[9] और एक तीसरी ऋचा मे अग्नि के चारों ओर उच्च कुलोत्पन्न लोगों (सुजातो) के ('सभा' से भिन्न संदर्भ मे) जमावो[10] का वर्णन है। सायण के अनुसार इन सुजातो में पुरोहित और उनके यजमान सम्मिलित हैं, लेकिन पाठ से ज्ञात होता है कि ये सुवीर थे। बंद्योपाध्याय ने कुछ अन्य उल्लेख उद्धृत किए हैं। दृष्टातस्वरूप, 'अथर्ववेद' मे कहा गया है कि 'राजा लोग एकत्र होते हैं',[11] और हमारा अनुमान है कि वे शायद सभापूर्ति के लिए एकत्र होते थे। 'ऋग्वेद' की एक ऋचा[12] मे उपासक लोग गृहकार्यकुशल तथा 'सभा' और यज्ञ मे प्रमुखता रखने वाले पुत्रो की याचना करते हैं। यहा 'सभेय' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ सभा मे बैठने का पात्र होता है। 'ऋग्वेद' की एक अन्य ऋचा मे 'सभेय विप्रो' का उल्लेख है, जिससे प्रकट होता है कि सभा मे पुरोहित भी सम्मिलित होते थे। अत पूर्व वैदिक ग्रथो मे भी 'सभा' के जनजातीय स्वरूप को सिद्ध करने वाले अधिक साक्ष्य उपलब्ध नही हैं। इसके विपरीत, उनसे 'सभा' मे उच्च सामाजिक दर्जे वाले लोगों की उपस्थिति का आभास मिलता है। विद्वान, प्रभावशाली और चरित्रवान लोग इसमे अपना प्रभाव रखते थे और इसलिए उन्हे सभेय या सभासद कहा जाता था। 'ऋग्वेद' की अनेक ऋचाओ मे इस निकाय की गरिमा के अनुरूप भाषणो का उल्लेख है।[13] 'शतपथ ब्राह्मण' में सोम का वर्णन ऐसे राजाधिराज के रूप मे किया गया है जिसके राजदरबार मे अधीनस्थ राजाओ का समूह एकत्र होता था। इससे प्रकट होता है कि उत्तर वैदिककाल में सरदार लोग राजदरबार मे उपस्थित होते थे। एक अनुमान यह है कि 'गुरुजन या पिता राजदरबार में उपस्थित होते थे,'[14] हालाकि वैदिक साहित्य से इस बात की पुष्टि नही होती।

'सभा' का मूल जनजातीय स्वरूप ऋग्वैदिक काल मे ही क्षीण पडने लगा। जब सामाजिक वर्ग विकसित अवस्था मे नही थे, अमीर-गरीब का अधिक भेद नही था और राजपद मे स्थायित्व नही आया था, तब शायद यह जनजातीय सभा रही

होगी। लेकिन ज्यो-ज्यो आर्थिक असमानता बढ़ती गई और सामाजिक वर्ग विकसित होते गए और ज्यों-ज्यों राजा की प्रधानता उभरती गई, त्यों-त्यो वह उन हैसियतदार धनी लोगों और गुरुजनो से संपृक्त होता चला गया जिनकी बात समाज में मानी जाती थी।[15] जिनके पास गायें, घोडे और रथ थे वे शासक वर्ग मे आते थे, तथा वे अपने उन निःस्वत्व और गरीब गौत्रबधुओं के ऊपर थे जो 'सभा' मे नही बैठ सकते थे। स्पष्टतः सत्ता घोडों और रथ रखने वाले अभिजात वर्ग के पास थी, जिसके सदस्यो से 'सभा' गठित होती थी। 'यही लोग राजा के परामर्श-मंडल के सदस्य थे तथा राजा उनकी राय और परामर्श पर निर्भर हो गया। इस निकाय (सभा) का विकास उसी ढग पर हुआ जिस ढग पर ट्यूटनो की सरदार परिषद, रोमनों की सिनेट या एंग्लोसैक्सनों का विटनाजेमूट विकसित हुआ।'[16]

सबसे आरंभिक उल्लेखों से 'सभा' के राजनीतिक स्वरूप की प्रमुखता का आभास नही मिलता। इसके विपरीत 'ऋग्वेद' की एक ऋचा में 'सभा' को अक्ष (पासा) और जुआ खेलने का जमाव कहा गया है।[17] यदि परवर्ती परंपरा के आधार पर देखा जाए तो कहना होगा कि 'सभा' का उपयोग सामूहिक नृत्य, संगीत आदि क्रीडाओ के स्थल के रूप में भी किया जाता था। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि आदिम जन खेलकूद, राजनीति और धर्म के बीच कोई भेद नही बरतते हैं। सभा का संबंध जादूटोने आदि लोकप्रथाओ से भी था। दृष्टातस्वरूप 'अथर्ववेद' की एक ऋचा[18] मे कहा गया है कि 'इन लोगो ने 'सभा' मे उसके लिए जो भी जादूटोने किए हैं, मैं उन्हे वापस लेता हूं।'

'सभा' मे चारागाहो से सबधित मामलो पर भी विचारविमर्श होता था। चूकि पशु, लोगो के जीवनयापन का एक प्रमुख साधन थे, इसलिए 'सभा' को गायो की श्रेष्ठता पर विस्तारपूर्वक विचार करने मे आनद आता था।[19] लोग दुबली-पतली गायो को मोटी बनाने की चिंता व्यक्त करते थे। वे 'सभा' मे गायो की प्रशसा करते नही अघाते थे और बडे ओज के साथ उनकी शक्ति का स्मरण करते थे।[20]

'सभा' धर्मसंबधी कार्यकलाप से भी रहित नही थी। इसके सदस्य इद्र से सभा और सभासदों की रक्षा की याचना करते थे। जब इसकी बैठक आरभ होती थी, इसमे यज्ञ किया जाता था और इस यज्ञाग्नि को सभ्य कहा जाता था।

'सभा' में राजनीतिक और प्रशासनिक कार्यों का भी सपादन होता था। अनेक उल्लेखो से प्रकट होता है कि सभा न्यायकार्य भी करती थी। इस तथ्य पर अनेक लेखकों ने जोर दिया है। 'ऋग्वेद' की एक परवर्ती ऋचा के आधार पर सभा को ऐसी संस्था के रूप मे दिखलाने की कोशिश की गई है जो अभियोग लगाकर लोगो का कलंक मिटाती थी।[21] पुरुषमेध में सभाचर के धर्मबलि के रूप मे अर्पित किए जाने का उल्लेख है। धर्म का अर्थ है न्याय। अत मैकडोनेल के अनुसार सभाचर

को न्यायालय का सदस्य या शायद उन लोगों में से एक मानना कठिन नही होना चाहिए जो मुकदमो मे निर्णय देने के लिए बैठते थे ।[22] मैकडोनेल सभासद का भी सबध उन परामर्शदाताओ से जोडते हैं जो सभा मे कानूनी मामले निबटाते थे । वह आगे कहते हैं : 'यह भी सभव है कि सभासदों से, जो सभवतः परिवारो के प्रधान हुआ करते थे । यह आशा की जाती थी कि वे सर्वसामान्य लोगो से अधिक नियमितता से सभा मे उपस्थित रहे । सामान्य विचार-विमर्श और निर्णय करने के उद्देश्य से होने वाली बैठकों की अपेक्षा न्याय करने के लिए सभा की अधिक बैठकें होती होंगी ।' मैकडोनेल का यह भी कहना है कि न्यायिक कार्य पूरी सभा नही, बल्कि उसकी स्थायी समिति सपन्न करती थी ।[23] सभा न्यायिक निकाय के रूप मे कार्य करती थी, इसके सबध मे जायसवाल ने भी साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं । 'सभा' को 'कष्ट' और 'प्रचड'[24] कहा गया है, जिससे यह ध्वनित होता है कि जो विधि का उल्लघन करता था, उसके लिए 'सभा' कष्टदायक थी । ऐसा उल्लेख मिलता है कि चोरों और अपराधियो को घसीटकर 'सभा' मे लाए जाने पर कभी-कभी सभासद वक्रोक्तियों से भरे आक्रामक भाषण सुना देते थे; और जान पडता है, धनी से धनी और प्रभावशाली से प्रभावशाली लोगो को भी 'सभा' मे एकत्र अपने समकक्ष जनो के निर्णय को स्वीकार करना पडता था ।[25] तमाम उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभा में न्यायिक कार्य होते थे ।

'मैत्रयाणी संहिता' मे सभा का उल्लेख ग्राम्यवादिन् (गाव के न्यायाधीश) के न्यायालय के अर्थ मे हुआ है । ग्राम्यवादिन् का उल्लेख सभी यजुःसंहिताओं में आया है । इसके अतिरिक्त प्राचीन मिथको मे यम के बारे मे, जो मृतकों का राजा और न्यायकर्ता है, कहा गया है कि उसकी 'सभा' और अनेक सभासद हैं । अथर्ववेद की ऋचा मे पृथ्वी पर पूरी की गई आशाओ या सपन्न किए गए सकर्मों[26] का सोलहवा भाग यम के सभासदो द्वारा आपस में बांटे जाने का जिक्र है । अत. इसमें सदेह नही कि 'सभा' में न्यायिक कार्य होते थे, यद्यपि इस पहलू पर प्रकाश डालनेवाले अधिकाश उल्लेख उत्तर वैदिककाल के हैं । जो भी हो, जायसवाल का यह कथन कि 'सभा' *राष्ट्रीय न्यायालय*[27] *थी, सही निष्कर्ष नही जान पडता ।*

'सभा' का न्यायिक स्वरूप परवर्ती काल मे भी कायम रहा । जातकों में एक पुरानी गाथा मिलती है, जिसमे कहा गया है कि वह 'सभा' नही जिसमे संत नहीं हों, जो लोग धर्म (न्याय) नही बोलते वे सत नही हैं और संत वही है जो वैयक्तिक राग-द्वेष छोडकर धर्म बोले ।[28] इसके अतिरिक्त परामर्शदाता के अर्थ मे सभासद शब्द का प्रयोग सूत्रों और स्मृतियो के काल तक होता रहा है । इन दोनों कोटियो के ग्रथो मे सभासदों के लिए अपेक्षित योग्यताए नियत की गई हैं । 'विधिसाहित्य में सभा न्यायालय या न्यायिक सभा है, जिसकी *अध्यक्षता, मुख्य न्यायाधीश* के रूप मे, राजा करता है, और जिसमें साक्षियो तथा अभियुक्तों पर सत्ता रखने वाले

अधिकारियों के रूप में केवल पार्षद, न्यायाधीश और पुलिस अधिकारी भाग लेते हैं।'[29]

पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों ही स्रोतों में प्रमाण मिलता है कि राजा 'सभा' में उपस्थित रहता था। यद्यपि कुछेक स्थलों पर समिति द्वारा राजा के निर्वाचन का संकेत मिलता है, लेकिन सभा द्वारा ऐसे निर्वाचन का हमें कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। किंतु वैदिककाल में राजा सभा में निश्चय ही उपस्थित होता था। पूर्ववर्ती काल में संभवतः वह नियमित रूप से सभा की अध्यक्षता नहीं करता था, क्योंकि यजु संहिताओं में सभापति का पृथक उल्लेख है। पर परवर्ती काल में सभा की कार्यवाही उसकी अध्यक्षता मे होती थी। 'छांदोग्य उपनिषद'[30] में ऐसे दो उल्लेख मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि राजा की अपनी सभा होती थी। 'शतपथ ब्राह्मण'[31] में सोम का वर्णन ऐसे राजाधिराज के रूप मे किया गया है जो अपनी सभा लगाता है और जिस सभा मे अधीनस्थ राजाओं की एक साथ उपस्थिति होती है। यह हमें लिच्छवियों की सभा में बैठने वाले अनेक राजाओं की याद दिलाता है, जिनमें सभी बराबरी के ओहदा और हैसियत के दावेदार थे।

राजा 'सभा' के परामर्श को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझता था और इसके सदस्यों के समर्थन के बिना शायद काम नहीं चला सकता था। ये सदस्य प्रस्तावों पर बोलते और तीव्र विवाद करते थे। 'अथर्ववेद' की एक ऋचा[32] के स्वर और भावना से यह बात स्पष्ट हो जाती है। बंद्योपाध्याय के अनुसार यह ऋचा शायद राजा बोलता है।

> 'प्रजापति की दो पुत्रियां, 'सभा' और 'समिति', एक होकर मुझे संरक्षण प्रदान करें। जिस किसी से भी मैं मिलता हूं वह मेरा आदर करे और मुझे सहायता दे। हे पितरो, 'सभा' में मेरे शब्द न्याययुक्त हों।
>
> हे 'सभा', हम तेरा नाम जानते हैं, तेरा नाम परिसंवाद है। यहां 'सभा' में उपस्थित सभी लोग मुझसे सहमत हों।
>
> यहां बैठे लोगों की श्री और विद्या मेरी हो। इंद्र यहां एकत्र सभी लोगों में मुझे प्रमुखता प्रदान करें।'

यदि राजा ऐसी प्रार्थना करता था तो स्पष्ट है कि वह 'सभा' के समर्थन की उपेक्षा नहीं कर सकता था। 'सभा' में प्रार्थना इसलिए की जाती थी कि सहयोग बना रहे और कलह नहीं हो। ऐसा मालूम होता है कि 'सभा' द्वारा पारित संकल्प सभी के लिए बंधनकारी था। 'अथर्ववेद' इसे नरिष्टा[33] कहता है। सायण ने इस शब्द की व्याख्या अनेक लोगों के ऐसे संकल्प के रूप में की है जो तोड़ा नहीं जा सके या जिसका उल्लंघन नहीं हो सके। इससे जायसवाल ने यह अनुमान लगाया है कि 'सभा' का संकल्प सभी के लिए बंधनकारी और अनुल्लंघनीय था।[34] किंतु ग्रिफिथ ने 'नरिष्टा' का अर्थ परिसंवाद और ह्विटनी ने खेलकूद किया है।[35]

लेकिन होमरयुगीन सभाओं का जो स्वरूप था उसे देखते हुए सायण की व्याख्या अधिक समीचीन प्रतीत होती है। वीर युगीन (हिरोइक) यूनान मे भी सभा का निर्णय सर्वोच्च और अतिम होता था। शोमन अपनी पुस्तक 'एटीक्विटीज आफ ग्रीस' मे कहते हैं 'जितने भी स्थलों पर हमें सभा मे किसी ऐसे विषय की चर्चा का वर्णन देखने को मिलता है जिसके कार्यान्वियन के लिए जनता का सहयोग अपेक्षित था, उनमे से किसी भी स्थल पर होमर ने किसी भी ऐसे उपाय का सकेत नही किया है जिसके सहारे जनता को अपनी इच्छा के विरुद्ध उस विषय के कार्यान्वियन पर सहमत होने को विवश किया जा सकता हो।'[36]

भारतीय महाकाव्यगत अनुश्रुतियों में 'सभा' के स्वरूप पर विचार करते हुए हॉपकिस बताते हैं : 'महाकाव्य' में हम 'सभा' को अनेक रूपों मे पाते हैं। कहीं वह न्यायसभा, यानी न्यायालय है तो कही राजकीय सभा यानी राजदरबार है, कही आमोद-प्रमोद के लिए एकत्र सामाजिक सभा है तो कही, पुराने अर्थ मे, राजनीतिक सभा[37] यद्यपि यह कहना कठिन है कि उपर्युक्त कथन मे सभा के जिस स्वरूप का वर्णन हुआ है उसका सबध किस कालविशेष से है, किंतु इससे इस बात का सकेत मिलता है कि उत्तर वैदिक परंपराए आगे भी कायम रही।

समिति

ध्यातव्य है कि 'समिति' का उल्लेख 'ऋग्वेद' के उन्ही भागो मे हुआ है जो सबसे बाद के माने गए हैं। हमे इसके जो छह उल्लेख मिलते हैं, वे सबके सब मडल 1 और 10 के हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि समिति का महत्त्व ऋग्वैदिक काल के अत मे या उसके भी बाद हुआ। लेकिन 'सभा' के साथ बात दूसरी है। इसके चार उल्लेख 'ऋग्वेद' के प्रारंभिक अशो में और चार बाद वाले अंशों मे हैं। इसलिए 'समिति' 'सभा' से पुरानी नही दीखती। 'अथर्ववेद' मे इन दोनो निकायों का साथ-साथ उल्लेख चार बार हुआ है और हर बार 'सभा' पहले और 'समिति' बाद में है। इससे भी सकेत मिलता है कि 'सभा' 'समिति' से पुरानी है। यह सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि प्रारंभिक 'समिति' ऐसी जनसभा थी जिसमे जनजाति के लोग जमा होकर अपना कामकाज करते थे। लुडविग के अनुसार 'समिति' अधिक व्यापक सभा थी, जिसमे न केवल सभी जनसामान्य (विशः) वरन ब्राह्मण और मघवन् के रूप में ज्ञात धनीमानी लोग भी शामिल होते थे। सभवतः यह होमरकालीन अगोरा जैसी कोई सामान्य जनजातीय संस्था थी। 'अथर्ववेद' के सदर्भ मे पता चलता है कि महिलाएं भी इसमें शामिल होती थीं।[38] लेकिन महिलाओं का 'सभा' में जाना जितना स्पष्ट है, उतना इस (समिति) मे जाना नहीं।

परवर्ती काल मे राजन या राजकुल के लोग भी 'समिति' मे जाते थे। वे इस निकाय के अति विशिष्ट सदस्य थे, और सामान्य लोग तो इसमे शामिल होते ही थे।[39] जायसवाल का विचार है कि 'समिति' का गठन किसी न किसी प्रकार के प्रतिनिधित्व के सिद्धात पर होता था और नगर तथा ग्राम का प्रतिनिधित्व संभवतः उसका ग्रामणी करता था।[40] लेकिन उपलब्ध साक्ष्य से इस अनुमान की पुष्टि नही होती।

'समिति' की कार्यवाही राजनीतिक विषयों तक ही सीमित नही थी। उत्तर वैदिककाल मे इसमे दार्शनिक प्रश्नो की भी चर्चा होती थी। जब श्वेतकेतु ने विद्यार्जन के बाद पूरे दार्शनिक साहित्य का ज्ञाता होने का दावा किया तब वह पंचालो की 'समिति' के समक्ष प्रस्तुत हुआ। पंचालो की जनसभा के अध्यक्ष राजन्य प्रवाहण जैवलि ने उससे पाच दार्शनिक प्रश्न किए जिनमें से किसी का भी उत्तर वह धृष्ट युवक न दे सका। इस पर जैवलि ने कहा : 'इन बातों का ज्ञान न रखने वाला कोई भी व्यक्ति कैसे कह सकता है कि उसकी शिक्षा हुई है?'[41] यहा 'समिति' ऐसी विद्वद्सभा के रूप मे आती है जिसमे शिक्षितो की ज्ञानपरीक्षा की जाती थी।

'समिति' का सबध धार्मिक अनुष्ठानो और प्रार्थनाओ से भी था। समिति में सब एकमत होकर निर्णय पर पहुचे, इसके लिए भी प्रार्थनाएं की जाती थी। देवताओ को अर्पित बलि से भी समिति का सबंध था। एक ऋचा में समिति में अग्नि का आवाहन किया गया है, ताकि वह बलि का अपना अंश ग्रहण करे। इसमें यह कामना व्यक्त की गई है कि देवताओ के बीच भी देवसमिति हो।[42]

बंद्योपाध्याय[43] का कहना है कि 'समिति' के कुछ सैनिक कार्य भी होते थे, क्योंकि टीकाकारो ने इस शब्द (समिति) का अर्थ युद्ध या व्यूह लगाया है। यास्क ने इसका अर्थ युद्ध बतलाया है।[44] क्लैसिकी साहित्य[45] में भी इस शब्द का ऐसा अर्थ बताया गया है। फिर, सायण ने समिति का अनुवाद युद्ध या संग्राम किया है।[46] और यहां हम अपनी ओर से इतना और कह सकते हैं कि 'अथर्ववेद' के एक उल्लेख से ऐसा संकेत मिलता है कि समिति और जनजातीय सैनिक इकाई ग्राम—जिनके समूह को संग्राम कहा जाता था—इन दोनों के बीच कोई अंतर नही था।[47] प्रारंभिक भारोपीय संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन से भी समिति के सामरिक स्वरूप का समर्थन होता है। प्रारंभिक यूनानी, रोमन और जर्मन सभाओं मे लड़ाई और मतदान साथ-साथ चलते थे। होमरकालीन स्वतत्र जन सैन्यव्यूह में एकत्र होकर महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का निर्णय करते थे।[48] टैसिटस का कहना है कि जर्मन जनजाति के सशस्त्र स्वतंत्र जन अपने प्रधान के अधीन इकट्ठे होकर युद्ध और शांति संबंधी निर्णय लिया करते थे। 'यदि वे प्रधान के विचारों से अप्रसन्न होते हैं तो बुदबुदाकर उन पर अस्वीकृति व्यक्त करते हैं; यदि प्रसन्न होते तो अपने

भाले भाज देते हैं। सहमति प्रकट करने का सर्वाधिक सम्मानजनक रूप अपने शस्त्रों से अपना अनुमोदन सूचित करना है।[49] प्राचीन रोम की जनसभा (कमिशिया सैंचुरियाटा) निश्चित रूप से सैनिक सस्था के रूप में काम करती थी। इन सबसे ध्वनित होता है कि सैनिक प्रयोजनो के लिए 'समिति' का उपयोग होता है।

'समिति' के राजनीतिक कार्य काफी स्पष्ट हैं। संदर्भों से संकेत मिलता है कि राजा 'समिति' द्वारा निर्वाचित और पुनर्निर्वाचित होता था। त्सिमर ने बहुत पहले ही कहा था कि जहा निर्वाची राजतत्र था वहां समिति मे इकट्ठे विश द्वारा ही राजा का निर्वाचन होता था। 'ऋग्वेद' के एक अवतरण (X.166.4) के संबंध मे उनका ख्याल है कि उससे कुछ ऐसा संकेत मिलता है कि राजपद का कोई प्रभावशाली प्रत्याशी 'समिति' के विरोध के बावजूद अपनी इच्छा की पूर्ति की कामना कर रहा है। त्सिमर 'अथर्ववेद' की एक ऋचा[50] से समिति के निर्वाचनविषयक कार्यों का अनुमान लगाते हैं, जिसका समर्थन जायसवाल ने भी किया है। लेकिन उस ऋचा में दरअसल जनजाति के सदस्यों (विशः) द्वारा राजा के चुनाव का उल्लेख है। फिर भी, जैसा कि घोषाल का मत है, विशेष प्रसंगों में 'समिति' राजा का निर्वाचन करती रही हो, इसमें असभव जैसा कुछ नही है।

'समिति' में जाना राजा का कर्तव्य था, यह बात इस उपमा के प्रयोग से स्पष्ट की जाती है—'समिति में जाते हुए किसी सच्चे राजा की भांति।' ऐसी अनेक ऋचाएं हैं जिनमें राजा को समिति मे उपस्थित होते और उसकी कार्यवाहियो का मार्गदर्शन करते दिखलाया गया है।[51] पंचालों और विदेहो के राजा इसके प्रमुख दृष्टांत हैं। 'समिति' को राजा का बहुत बडा सहारा माना जाता था। एक राजा अपने विपक्षियों के विनाश के लिए प्रार्थना करता है और दावा करता है कि उसने उनके चित्त, उनकी जीवन पद्धति (व्रत) और उनकी 'समिति' पर आधिपत्य कायम कर लिया है।[52] 'समिति' पूर्व वैदिककाल की राज्यव्यवस्था का ऐसा अभिन्न अग थी कि इसके बिना राजा की कल्पना भी नही की जा सकती थी। भैंस के लिए जिस तरह वन था, सोमरस के लिए जिस तरह घडा था, पुरोहितो के लिए जिस तरह याजक था, उसी तरह राजा के लिए 'समिति' थी।[53] इस मुख्य अवलब के बिना राजशक्ति के अस्तित्व की कल्पना भी नही की जा सकती थी। राज्याभिषेक के बाद पुरोहित मंत्रोच्चार करता है कि राजा सिंहासन पर स्थापित हो और समिति उसके प्रति निष्ठावान रहे।[54] एक सूक्त मे ब्राह्मण पुरोहित उन क्षत्रिय शासकों को शाप देता है जो ब्राह्मणों के पशुओ को नष्ट करते हैं। उस सदर्भ में वह अत्याचारी क्षत्रिय शासको के राष्ट्र पर आई विपत्ति का उल्लेख करता है। कहा गया है कि मित्रवरुण पुरोहित का अहित करनेवालो पर वर्षा नही करता। 'समिति' (यानी जनसभा और इसलिए निष्ठा) उसकी वशवर्ती नही रहती. और

यह ऐसे मित्र प्राप्त नही करता जो उसकी इच्छानुसार काम करें।[55]

सार्वजनिक भूमि पर शायद जनजाति के सदस्यो (विश) का नियंत्रण होता था, जो 'समिति' जैसी सभाओं में एकत्र होते थे। 'शतपथ ब्राह्मण'[56] के एक उल्लेख में इस पर जनसभा के नियंत्रणाधिकार का स्पष्ट संकेत है। उसमें कहा गया है, 'यदि विश के अनुमोदन से क्षत्रिय किसी को कोई बस्ती प्रदान करता है, तो वह बस्ती उचित रूप से प्रदत्त है।' घोषाल के अनुसार, इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि लोगों की सहमति से जनभूमि या सार्वजनिक भूमि का राजा द्वारा अनुदान किया जाना जनजातीय या प्रथागत विधि के अनुरूप माना जाता था। यद्यपि इस उद्धरण से 'समिति' का उल्लेख कहीं नही हुआ है, लेकिन संभव है, जनजातीय लोग इस निकाय में एकत्र होने पर भूमि के वितरण पर विचारविमर्श करते रहे हों। 'होमरकालीन साक्ष्य से स्पष्ट दीख पडता है कि जहां शक्ति या विशेषाधिकार के अनुदान की सत्ता राजा को थी, वहीं भूमि के अनुदान का हक सामान्यजनों को था, जो अपने नेताओ को सैनिक सेवा के पुरस्कारस्वरूप भूसपदाएं (इस्टेट) प्रदान करते थे। ये भूसपदाएं अन्य भूसपदाओ से इस मानी में भिन्न थीं किंतु ये भाग्यदा (लाटरी) की विधि से जनजाति या कुल को नहीं, बल्कि विशेष दान के रूप में व्यक्तिविशेष को दी जाती थीं।[57]

'ऋग्वेद' और 'अथर्ववेद' दोनों में समिति मे विचारो की एकता पर बहुत जोर दिया गया है। सभा मे सहमति के लिए प्रार्थना करते हुए कवि कहता है, हमारा मंत्र एक हो, 'समिति' एक हो, मन एक हो और हमारे विचार (चित्त) एक हों। लोग 'समिति' मे सहमति पर पहुंचने का प्रयत्न करते थे।[58] एक स्थल पर समान मंत्रों, समान 'समिति' और समान व्रत की प्राप्ति की कामना की गई है।[59] मतैक्य पर जोर दिया जाना आदिम समुदायों में प्रचलित प्रथा के अनुरूप ही है। उदाहरणार्थ, 'आइरोक्वोइ लोगों के बीच अंतिम निर्णय सर्वसम्मत होना आवश्यक था और यही बात जर्मन समुदायों के अधिकतर निश्चयों के साथ लागू थी।'[60] लेकिन 'समिति' में ऐसा मतैक्य काफी वादविवाद के उपरांत ही प्राप्त होता था। सभी प्रार्थनाओं और विधिविधानों, सभी तंत्रमंत्रों और उनकी काटों का केवल एक ही उद्देश्य था—वादविवाद में अपने प्रतिपक्षी को निरुत्तर करना, उपस्थित सदस्यों से विचाराधीन प्रश्न पर अपने मत को स्वीकृत करवाना, अपने वचनों को सदस्यो के लिए प्रीतिकर बनवाना, और प्रतिकूल विचार रखनेवालो की बुद्धि को अपने अनुकूल बनाना।[61]

'समिति' विचारविमर्श करने की बहुत महत्त्वपूर्ण सस्था थी। मतैक्य पर पहुंचने के लिए इसमें जोरदार वादविवाद होता था। एक प्रार्थना में कहा गया है, 'हमारे विचारविमर्श हमे एक ही बिंदु की ओर ले जाएं, हमारे वादविवाद का उद्देश्य एक हो, हमारे संकल्पों का परिणाम एक हो। हे राजा सोम, उनमे सहमति

के बीज बोओ।[62] वक्ता अपने को समिति में प्रतिभावान, जिसका कोई खडन न करे, ऐसा सिद्ध करना चाहता था। *स्पष्ट ही अध्यक्ष के रूप में राजा से आशा की* जाती थी कि वह कार्यवाही का सचालन इस प्रकार से करे जिससे प्रत्येक प्रश्न पर आम राय बन सके। मतैक्य और मेलजोल करने के लिए जादूटोने और वशीकरण का भी सहारा लिया जाता था।[63]

अनेक उल्लेखों से प्रकट होता है कि 'समिति' अत्यधिक अधिकारों से सपन्न थी। लेकिन जायसवाल की तरह यह कहना कि सवैधानिक दृष्टि से 'समिति' एक प्रभुसत्तासपन्न सस्था थी, साक्ष्यों की खींचतान माना जाएगा।[64] हो सकता है कि प्रारभिक अवस्था में यह सर्वोच्च सत्तासपन्न रही हो, लेकिन वैदिककाल के अत तक इसकी वह सत्ता कायम नहीं रही। 'समिति' को प्राचीन जर्मन सविधान की उस प्रभुसत्तासपन्न जनसभा का प्रतिरूप नहीं माना जा सकता जिसका वर्णन टैसिटस ने किया है।

सभा और समिति का पारस्परिक संबध

सभा और समिति का भेद ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता। शुरू में, सभवत, दोनों के गठन और कार्यों में कोई भेद नहीं था। यह बात होमरकालीन सभा और परिषद के आपसी सबध पर भी लागू होती है। वैदिक लोगों की राय में दोनों का उद्गम एक ही है, क्योंकि दोनों ही प्रजापति की पुत्रियां हैं। 'अथर्ववेद' की एक ऋचा से ज्ञात होता है कि इन दोनों सस्थाओं की बैठक का कोई निश्चित स्थान नहीं था, बल्कि अपने दल-बल के साथ आवश्यकतानुसार इधर-उधर घूमते रहनेवाले अपने-अपने सरदारों के साथ-साथ इनकी बैठक के स्थान भी बदलते रहते थे।[65] चैडविक का कहना है कि ऐसे कुछ साक्ष्य मौजूद हैं जिनसे 'पता चलता है कि 'सभा' और 'समिति' में कोई स्पष्ट अतर नहीं था।'[66] सभवत एकमात्र अतर यही था कि 'सभा' न्यायिक कार्य करती थी, जो 'समिति' नहीं करती थी। बाद में 'सभा' का रूप अभिजातीय होता चला गया और अत में वह राजदरबार बन गई और 'समिति' का लोप हो गया। जायसवाल का विचार है कि परवर्ती काल में 'समिति' के स्थान पर परिषद आ गई। लेकिन यह बात तो 'सभा' पर भी लागू होती है। फिर, 'सभा' के विपरीत, 'समिति' लडाई में भाग लेती थी। दोनों सस्थाओं में कुछ धार्मिक कृत्य अवश्य होते थे, यद्यपि ये प्रमुख नहीं थे। चैडविक के अनुसार, स्वीडन की जनजातीय सभाए मुख्यत धार्मिक सभाए प्रतीत होती हैं, जो प्रमुख राष्ट्रीय यज्ञमडप (सैंक्चुअरी) पर महान वार्षिक बलि चढ़ाने के लिए एकत्र होती थीं। इसकी काफी सभावना है कि प्राचीन जर्मनों की सभाओं के साथ भी यही बात लागू होती हो।[67] एक हद तक यही बात सभा और समिति के बारे में भी कही जा सकती है।

'सभा' और 'समिति' के स्वरूप के संबंध मे विद्वानों के बीच मतैक्य नही है। हिलब्रांट के अनुसार 'सभा' और 'समिति' में कोई भेद नहीं हो सकता; दोनों से एक ही चीज का संकेत मिलता है। लेकिन 'अथर्ववेद' मे कम से कम चार बार 'सभा' और 'समिति' का प्रजापति की दो पुत्रियों के रूप में उल्लेख हुआ है। ब्लूमफील्ड[68] के अनुसार, 'सभा' एक सम्मिलन स्थल थी, जो सामाजिक समारोहो के केंद्र का भी काम करती थी। उसका यह भी विचार है कि 'सभा' का अर्थ आमतौर पर सार्वजनिक रूप से लोगो का कही एकत्र होना होता है। किंतु 'सभा' केवल एक स्थान विशेष रही हो, यह सभव नही लगता क्योंकि इसे न्यायिक कार्य भी सपन्न करने पड़ते थे। त्सिमर 'सभा' को ग्रामसभा मानते हैं। इसी आधार पर मजूमदार इसे स्थानीय सस्था मानते हैं, जबकि 'समिति' को केंद्रीय सगठन मानते हैं। लेकिन 'सभा' मे तो राजा भी जाता था, और उससे हरेक ग्रामसभा मे जाने की अपेक्षा करना बहुत अधिक होगा? इसके अतिरिक्त अनेक यजुर्वेदीय संहिताओं मे 'सभा' का उल्लेख ग्राम और अरण्य के साथ हुआ है।[69] यदि इसे गाव के साथ जोडा जा सकता है तब तो वनो के साथ भी जोडने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए, और उस हालत में उसे वनसभा भी कहा जा सकता है।

इन दोनो वैदिक संस्थाओ के पारस्परिक संबध के बारे में सामान्यत. लुडविग के विचार को स्वीकार्य माना गया है। उसके अनुसार 'समिति' समस्त जनसमुदाय की संस्था थी और 'सभा' होमरकालीन गुरुजनसभा जैसी सस्था थी। यह गिनेचुने लोगों की निकाय थी, जिसमे जनजाति के केवल श्रेष्ठ जन (मघवन्) ही राजा के साथ परामर्श करने के लिए जा सकते थे। जायसवाल इससे प्राय: सहमत हैं। उनका कहना है कि 'सभा' भी जननिकाय थी, लेकिन यह 'समिति' की सत्ता के अधीन कार्य करने वाले गिनेचुने लोगो की स्थायी और अचल निकाय थी।' नारायणचद्र वंद्योपाध्याय का विचार भी करीब-करीब ऐसा ही है, लेकिन घोषाल का मत है कि 'समिति' की तरह 'सभा' भी जनसस्था ही थी। इन दोनों निकायों के जनप्रिय रूप को स्वीकार करने मे एक बडी कठिनाई है कि ऐसा मानना उचित नही जान पड़ता कि संपूर्ण वैदिककाल के दौरान—और वह बहुत लंबा काल है—इनका यही रूप कायम रहा। स्पष्टतया, 'सभा' शुरू में जनजातीय और सार्वजनिक संस्था थी और बाद मे अभिजातीय बन गई, जब कि समिति ने उत्तर वैदिककाल का अपना जनरूप कायम रखा।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 वा स, III 45 XX 17
2 III, 7 4 5
3 ऋग्वेद, II 24 13
4 I 167 3
5 'पोजीशन ऑफ दि रूलिंग कास्ट्स एटसेटरा,' ज अ ओ सो, xiii. 148.
6 डेवलपमेंट ऑफ हिंदू पॉलिटी एंड पॉलिटिकल थीअरीज, पृ 110.
7 VI, ii, 427
8 VIII, 4 9
9 X, 71 10
10 VII, 1 4
11 XIX, 57.2
12 I, 91 20
13 II, 24 13
14 जायसवाल, हिंदू पॉलिटी (1924), पृ 18
15. बंद्योपाध्याय की पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 113
16 वही
17 X, 34 6
18 V 31.6
19 ऋग्वेद, VI, 28 6
20 अथर्व IV 21 6
21 ऋग्वेद, X 71 10
22 VI ii 427-28
23 VI ii 428.
24 पारस्कर गृह्यसूत्र, अनु एच. ओल्डनबर्ग, सै बु ई, xxix 362
25 अथर्व, VII 12 3
26 III, 29 1
27 जायसवाल, हिंदू पॉलिटी, पृ 18
28 जातक, श्लोक 509, जिसे जायसवाल ने हिंदू पॉलिटी, पृ 19, पादटिप्पणी 8 में उद्धृत और स्पष्ट किया है
29 हॉपकिंस, ज अ ओ सो, xiii, 148
30 V, 3 6, VIII. 14.1
31 तस्य राजान सभापा III, 3, 3 14.
32 VII, 12 1-3 (ग्रिफिथ के अनुवाद के अनुसार)
33 अथर्व VII, 12 2.
34 हिंदू पॉलिटी, पृ 19
35. हारवर्ड ओरिएंटल सिरीज, VII, 397
36. एंजेल्स द्वारा ओरिजिन ऑफ फैमिली, प्रोपर्टी एंड स्टेट (मास्को संस्करण) के पृ 150 पर उद्धृत.

37. ज. अ ओ सो , xiii. 148.
38. अथर्व., VIII, 10.5.
39. घोषाल, हिस्ट्री ऑफ पब्लिक लाइफ, i, 17.
40. उपरिवत, पृ 15.
41. बृहदारण्यक उपनिषद, VI. 2, छादोग्य उपनिषद, V, 3.
42 अथर्व XVIII 1.26
43. पृ 119.
44. निरुक्त, II, 107
45 अमरकोश, II, 8.107
46. ऋग्वेद, X, 97 6. का भाष्य (औषधियों के बीच जो स्थान वैद्य का है, वही 'समिति' का है)
47. ''ये सग्रामा समितय (अथर्व XII, 1.56) का अर्थ जायसवाल ने समिति में एकत्र होनेवाले गाव से लगाया है (हिंदू पॉलिटी पृ 15), लेकिन उनके दिए इस दृष्टात (वही) से कि शर्याति मानव अपने ग्राम के साथ भटक रहा था (श ब्रा, IV, 1 5 2 7), साफ जाहिर है कि आरभ में ग्राम कोई एक स्थान पर बसी इकाई नहीं, बल्कि अपने सरदार के नेतृत्व में चलने वाली जनजातीय टोली था.
48. बद्योपाध्याय, पूर्वोद्धृत कृति, पृ 119 पर सिजविक का उद्धरण
49. दि कंप्लीट वर्क्स ऑफ टैसिटस, अनु ए जे चर्च तथा डब्ल्यू जे ब्रोडरिब, 'जर्मनी एंड इट्स ट्राइब्स,' फ्रैगमेंट II पृ 714
50. III, 4.2.
51. ऋग्वेद, IX, 92 6, छादोग्य उपनिषद् V, 3.
52. ऋग्वेद, X, 196.4
53. ऋग्वेद, IX, 92.6. इससे प्रसगवश यह भी प्रकट होता है कि ऋग्वैदिक काल में भैंस नवागतुकों द्वारा पालतू नहीं बनाई गई थी.
54. अथर्व., VI, 88.3.
55. वही, V, 19 15.
56 VII, 1 1 4
57. टॉमसन, एस्काइलेज एड एथेंस, पृ 40, पर उद्धृत
58. ऋग्वेद, X. 191.3.
59. अथर्व VI, 64.2 (ह्विटनी का अनुवाद), पृ 329
60. एजेल्स, ओरिजिन ऑफ फैमिली, प्रापर्टी एड स्टेट, पृ 132
61. आर सी मजुमदार, कॉर्पोरेट लाइफ इन एशट इंडिया, पृ 125-26
62. अथव VI, 88.3.
63. वही, III, 30
64. हिंदू पॉलिटी, पृ. 12-13.
65. *अथर्व, XV, 9.*
66 दि हिरोइक एज, पृ 384
67. वही, पृ. 369.
68 ज अ. ओ. सो , xix, 13.18
69. *VI. II. 426,* पा टि. 4.

8. मौर्यपूर्व उत्तर भारत में करारोपण तथा राज्य संरचना

राज्य का प्रतीक राजा के रूप मे एक व्यक्ति हो अथवा कुलीनतत्र के रूप मे अनेक व्यक्ति, प्रशासन तथा अधिक महत्व के मामलो में इसकी निर्णायक भूमिका होती है। इसमे लोगो से बलपूर्वक अपने निर्णय मनवाने की क्षमता होती है, इसलिए इसके फैसले कारगर होते हैं। फैसले को लागू करने की जिम्मेवारी राज्याधिकारियो की होती है जो अपनी योग्यता के कारण अथवा राजसत्ता के निकट होने के कारण नियुक्त होते हैं। कुल, कबीले, अथवा परिवार के प्रति आज्ञाकारिता की दीर्घ, सुस्थापित परपरा के रहते हुए भी, अततः राज्य को अपने निर्णय लागू करने के लिए सेना अथवा पुलिस जैसी बाध्यकारी शक्तियो का सहारा लेना पडता है। और जब तक कर की सुचारु रूप से व्यवस्था नही हो तब तक सेना और पुलिस को वेतनभोगी बनाकर नियमित रूप से नही रखा जा सकता है। जनजातीय अवस्था में वेतन देकर लोगो को युद्ध मे नही लगाया जाता है। कबीलाई समाजो में पशु-आखेट के लिए सभी सक्षम व्यक्तियों को बुलाया जाता है। युद्ध के लिए, जो एक प्रकार का मानव-आखेट है, ऐसा ही किया जाता है। चूंकि प्राचीन एव आदिम समाजो मे युद्ध जीविका का वैध एव महत्त्वपूर्ण साधन था, अतः कुछ नृतत्त्वशास्त्री इसे लूट के द्वारा माल पैदा करने का स्रोत मानते हैं। जनजातीय अवस्था में सरदार तथा बुजुर्गों को न्यायिक अधिकार होता है किंतु अपने आदेश को लागू करने के लिए उन्हे किसी व्यापक तत्र की आवश्यकता नही होती। कबीले के सदस्य स्वय अपनी इच्छा से सरदार या वडे-बूढ़ो के फैसले को मानते हैं।

राज्य की परिभाषा करनेवाले प्राचीन भारतीय चितक क्षेत्र को इसका प्रमुख अग मानते हैं। वे राष्ट्र अथवा जनपद तथा दुर्ग अर्थात् किलेबंदी की हुई राजधानी को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।[1] इस प्रकार राज्य के क्षेत्रीय पक्ष पर वे उसी प्रकार का बल देते हैं जैसा इसकी आधुनिक परिभाषा में दिया जाता है। पर जनजातीय अवस्था में क्षेत्रीय पक्ष का स्थान नही के बराबर है। कुछ नृतत्त्ववेत्ता शिकारियो तथा अधिकाशत पशु-पालकों के समूहों में अस्थायी भूभागीय सीमाकन देखते हैं। किंतु जीविका की ऐसी पद्धतियो में वस्तुतः समूह अथवा जनजातीय एकता के प्रति

ही निष्ठा होती है, क्षेत्र के प्रति निष्ठा बहुत कम होती है। क्षेत्र का वास्तविक महत्त्व तब उमड़कर आता है जब लोगों को इसमें नियमित रूप से भोजन-उत्पादन की संभावनाओं की पहचान होती है और जब वे इसमें स्थायी रूप से बस्तिया बसाते हैं। ऐसी अवस्था में, विभिन्न कबीलाई इकाइयो के प्रति निष्ठा के बावजूद भी एक जगह टिक जाने के कारण लोगों मे अपनी भूमि के प्रति गहरा लगाव विकसित होने लगता है।

वास्तव में, राज्य के विभिन्न तत्वो मे राजस्व व्यवस्था सबसे महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न प्रकार के ससाधनो के जुटाए बिना केंद्रीय व्यवस्था, जिसमें राजा अथवा शासन करनेवाला कुलीन वर्ग, नियमित सेना, तथा कार्यकारी एवं न्यायिक अधिकारी होते हैं, का रख-रखाव करना सभव नहीं है। अतः हमारे मत में कर-व्यवस्था का उद्भव तथा विकास राज्य के उदय एवं विकास को निर्धारित करता है। यह बात कौटिल्य भली-भांति जानता था। उसके अनुसार, वार्त्ता, जिसमे कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य सम्मिलित हैं, कल्याणकारी है क्योंकि यह अन्न, पशुधन, द्रव्य तथा श्रमशक्ति प्रदान करता है। इन संसाधनों की सहायता से कोष तथा सेना द्वारा राजा अपनी ही प्रजा को नही बल्कि अन्यो की प्रजा को भी वश मे करता है।[2] कौटिल्य का स्पष्ट कथन है कि कोष सेना का स्रोत है। उसके अनुसार इन दोनो का महत्त्व देश एव काल के अनुसार बदलता रहता है। उसका मत है कि सेना के द्वारा कोष की प्राप्ति और रक्षा हो सकती है पर कोष भी स्वयं अपनी अभिवृद्धि एव सरक्षण कर सकता है, तथा इसके द्वारा सेना एकत्रित की जा सकती है और कायम रखी जा सकती है।[3] कौटिल्य अपनी मूल स्थापना पर यह कहकर पुनः बल देता है कि सेना का अस्तित्व कोष के कारण है, तथा जनपद, जिसका कोष आभूषण है, कोष तथा सेना के द्वारा जीता जाता है।

कुछ लोगो का तर्क है कि सहमति राज्य-निर्माण मे निर्णायक होती है।[4] राज्य के इकरार वाले सिद्धात बतलाते हैं कि राज्य संरक्षण देने के बदले कर वसूल करने का भागी होता है। किंतु राज्य सबधी विचारको ने भारत तथा अन्य देशों मे ऐसे सिद्धातो को इसलिए प्रस्तुत किया ताकि राज्य के कार्यों को उचित ठहराया जा सके और उसके कर वसूलने के अधिकार को मान्य और वैध घोषित किया जा सके। पालि एवं संस्कृत ग्रथो मे प्रतिपादित इकरार वाले सिद्धांतो मे संकेत मिलता है कि संपत्ति की संस्थाओ तथा पितृ-सत्तात्मक कुटुबो, जिनका महत्त्व उच्च वर्णों के लिए अधिक था, की सुरक्षा आवश्यक समझी गई। जो भी हो, इसमें संदेह नही कि प्राचीन भारत में विचारको का ऐसा वर्ग था जो विभिन्न प्रकार से राज्याधिकार का औचित्य सिद्ध करते थे। 'लौकिक' औचित्य प्रस्तुत करने के साथ ही वे मिथक-निर्माण तथा धार्मिक प्रामाणिकता का सहारा भी लेते थे। उन्होने राजा की शक्ति, मान-सम्मान तथा अत्यता से लोगो को आक्रात करने के लिए राज्याभिषेक

के खर्चीले सस्कार आविष्कृत किए, तथा जन-सामान्य के मन में राजा के दैवी गुणों, यहा तक कि उसके अवतार होने की, बात बिठा दी। अतः कबीलाई उत्तराधिकार के रूप में सहमति की कुछ परंपरा भले ही मिली हो, सहमति तथा मान्यता प्राप्त करने के लिए जानबूझकर प्रयत्न किए जाते थे। प्रतीत होता है कि संपूर्ण पुरोहित वर्ग निरंतर इसी कार्य में लगा रहता था, जिसके फलस्वरूप उसे निरतर लाभ की प्राप्ति होती थी। राजकोष को भरने के लिए पुरोहितों ने अंधविश्वासपूर्ण तरीकों को भी ढूंढ़ निकाला। वैचारिक स्तर पर राजा और वर्णविभाजित समाज के पक्षधर के रूप में प्रचार करने के बदले ब्राह्मणो को राजा उदार होकर दान-दक्षिणा देता था। स्पष्ट है कि जनजातीय अवस्था में ससाधन-हीन सरदार ब्राह्मणों अथवा जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं जैसे लोगों का भरण-पोषण नही कर सकता था। वैदिकोत्तर काल में जब अन्न किसानों की जरूरत से अधिक पैदा होने लगा तो बड़े पैमाने पर विभिन्न प्रकार के धर्म प्रचारकों को खिलाना संभव हो गया। अब वे अपने प्रवचन के द्वारा 'सहमति' बढ़ाते थे और फलस्वरूप राज्य एव समाज को मजबूत करते थे। अतः संसाधन जुटाना न केवल पेशेवर सेना तथा कार्यकारी एव न्यायिक अधिकारियो के रख-रखाव के लिए अनिवार्य था अपितु उन लोगों के लिए भी जो 'सहमति' का सवर्धन करते थे। कम-से-कम, प्राचीन भारतीय राज्य का अनुभव तो यही दिखलाई पडता है।

चूंकि राज्य ने अपना वास्तविक स्वरूप बुद्ध के युग में, विशेषतः मध्य गंगा के मैदानों में, प्राप्त किया, अत- सर्वप्रथम हम कौटिल्य की वार्त्ता के परिवेश में उन भौतिक परिस्थितियों का परीक्षण करेगे जिनसे अतिरिक्त उत्पादन की भूमिका तैयार हुई, तथा उन पद्धतियो को दर्शाएगे जिनके द्वारा इस अतिरिक्त उत्पादन को विशेष करों के रूप में वसूल किया जाने लगा। फिर हम देखेगे कि कर-व्यवस्था तथा राज्य के अन्य अवयवो जैसे सैन्य, क्षेत्र अफसरशाही इत्यादि के निर्माण के बीच किस प्रकार का संबंध है।

जिस युग की हम बात कर रहे हैं, वह युग अनेक जनपदीय राज्यो के उदय के लिए प्रसिद्ध है। उनमें से अधिकाश उत्तर भारत में स्थित थे तथा उनकी संख्या पचास से अधिक थी।[5] क्षेत्रीय लगाव की कुछ चेतना शिकारी और पशुचारी समाज में भी पाई जाती है। कबीलाई लोग विशिष्ट भूभागों को अपने प्रभाव एवं कार्य-कलापो का क्षेत्र समझते हैं। ऋग्वेद में पस्त्य[6] तथा वृजन[7] शब्दो का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है, तथा उनका तात्पर्य बाडो अथवा चरान क्षेत्रों से है। ऋग्वेद में 'राष्ट्र'[8] शब्द का भी प्रयोग हुआ है, तथा बाद के ग्रंथो में राज्य[9] शब्द आता है। *उत्तर वैदिक ग्रंथों में भूभाग अथवा राष्ट्र [10] की बारंबार अभिव्यक्ति की* गई है। किंतु वैदिक काल के बडे भाग में लोग अपने चरागाहो अथवा खेतों की तुलना में अपने वश अथवा जनजातीय सबंधो से अधिक जुडे हुए प्रतीत होते हैं।

वैदिक काल की समाप्ति के साथ, तथा विशेष रूप से जब वैदिकोत्तर काल में लोह-फाल वाले हलों के द्वारा खेती होने लगी तो लोग एक स्थान पर खेत और घर बनाकर बस गए जिससे धरती के साथ उनका दृढ़ संबंध स्थापित हुआ।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में (II, I) जनपदनिवेश नामक शीर्षक में ग्रामीण बस्तियों अथवा विशाल भूभागीय इकाइयों की स्थापना का विवेचन है। यह प्रवास तथा उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को दर्शाता है तथा कृषि एवं भूमि वितरण के निर्णायक महत्व पर बल देता है। बस्तियां स्थापित करने का परम उद्देश्य कर वसूल करना था जो भूमि तथा कृषकों की उत्पादन क्षमता के अनुसार लगाया जाता था। महाभारत में यह बात अत्यंत स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त की गई है जहाँ कहा गया है कि राज्य का आधार कोष है और कोष बस्तियों से आता है।[11] कौटिल्य के अनुसार जनपद में 3,200 गांव होते थे।[12] स्पष्ट है कि महाजनपद में अनेक जनपद होते थे और उसमें कई हजार गांव शामिल थे। बिंबिसार ने 80,000 ग्रामिकों[13] की सभा बुलाई थी, जो रूढ़ संख्या हो सकती है। ऐसी स्थिति में उसके राज्य को 250 जनपदों का राज्य माना जा सकता है। जो भी हो, महाजनपद एक विशाल क्षेत्रीय इकाई थी जो विभिन्न करों का भार वहन करती थी।

कुछ भौतिक परिस्थितियों ने महाजनपदों के उदय के लिए रास्ता तैयार किया। पंजाब तथा ऊपरी गंगा के मैदानों में वृहत स्तर पर बस्तियों की स्थापना का कार्य बहुत पहले आरंभ हो चुका था, किंतु मध्य गंगा के क्षेत्रों में बड़े राज्य उस भौतिक संस्कृति के कारण कायम हुए जिसका संबंध नार्थ ब्लैक पालिश्ड वेयर (उत्तरी काला पालिशदार बरतन) वाले चरण से था। अब तक उत्तर भारत, मध्य भारत तथा दक्कन मे लगभग 570 स्थलों पर इस प्रकार के बरतन मिले हैं, किंतु उनमें से अधिकांश पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार मे स्थित हैं। ये इंगित करते हैं कि ईसा पूर्व छठी शती के लगभग बृहत स्तर पर दुर्मट मिट्टीवाली भूमि में बस्तियों का आरंभ हो चुका था। कृषि और कारीगरी के कामों में लोहे का प्रयोग खासे तौर पर चालू हो गया था। दो कारणों से लोहे का उपयोग बढ़ा। बड़ी मात्रा में लोहा मिलने लगा और उससे औजार बनाने में लुहारों ने तकनीकी कुशलता प्राप्त की। इन दोनों बातों के प्रमाण मिलते हैं। राजघाट (वाराणसी) की खुदाई में उपलब्ध लोहे के कुछ औजारों मे पाई जानेवाली कच्चे लोहे की अशुद्धियां सिंहभूम तथा मयूरभंज में प्राप्त कच्ची धातु की अशुद्धियों से मिलती हैं।[14] इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि मध्य गंगा के मैदानों में लोहे का प्रयोग करनेवाले अत्यंत समृद्ध लोहे की खान वाले क्षेत्रों से परिचित थे। साथ ही लगभग 600 ईसा पूर्व से 200 ई.पू. तक के लौह वस्तुओं का परीक्षण दर्शाता है कि लुहार लोहे में अधिक कार्बन मिलाने की तकनीक जानते थे जिससे औजार अधिक टिकाऊ एवं उपयोगी हो सके।[15] यह भी महत्व का विषय है कि लगभग 500 ई. पू. धान की रोपाई का

आरंभ हुआ ।[15क] मध्य गगा के क्षेत्रों की अत्यत उपजाऊ भूमि को वडे स्तर पर कृषि योग्य बनाने तथा कृषि के नए तरीको के प्रयोग ने प्रति हेक्टेयर उत्पाद दुगना कर दिया होगा । अत कृषक अपने परिवार तथा आश्रितों का भरण पोषण करने के बाद कर चुका सकता था । पर करारोपण नियमित ढग से कैसे होने लगा, इसे पता लगाना कठिन है ।

पुरातत्व की दृष्टि से मध्य गगा के क्षेत्र मे महाजनपदो एवं अन्य राज्यों के अस्तित्व की पुष्टि एन बी पी की खोजों से होती है, आहत सिक्के तथा मानव निवास एव कला-कौशल की गतिविधियों के अन्य चिह्न भी इस बात के प्रमाण हैं । लगभग आठ महाजनपदो के इलाकों में उत्तरी काले पालिशदार बरतन मिलते हैं जिनसे पालि ग्रथो में उल्लिखित राज्यों के होने की पुष्टि होती है । इससे यह भी सकेत मिलता है कि मध्य गंगा के मैदानों मे लगभग प्रत्येक राज्य में एक उच्च सामाजिक स्तर था जो मिट्टी के सुदर पालिशदार बरतनो का इस्तेमाल करता था । इस स्तर में पुरोहितों, योद्धाओ तथा प्रमुख गृहपतियों को रखा जा सकता है; पालि तथा सस्कृत ग्रथों में इनका ऊचा स्थान है । प्राचीन भारतीय समाज की विशेषता है कि यहा एक ऐसी शासन-व्यवस्था की सरचना हुई जिसमें युद्ध, प्रशासन इत्यादि प्रकार्यों को धर्मसूत्रों ने वैधिक रूप से वशानुगत बनाया । बाद वाले वैदिक ग्रंथों के अनुसार राजन्य, जो राजा के कुल का सदस्य था, छोटे राजा या सरदार के जैसा काम करता था । वह अपने कबीले के सदस्यो से कर वसूलता था । इसमे उसे ब्राह्मणो से सहायता मिलती थी जो संभवतः कबीले के बाहर थे पर पुरोहिती करते थे, और राज्याभिषेक अनुष्ठान के द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा करते थे कि एक कुल के होने पर राजन्य का स्थान विश् से ऊंचा है और उसे विश् अथवा कबीलाई किसानों की कमाई खाने का अधिकार है । उत्तर वैदिक काल के धर्मसूत्रों से पता चलता है कि राजन्य का स्थान क्षत्रिय ने ले लिया; पालि ग्रथो में क्षत्रिय को खत्तिय कहा जाता था । उत्तर वैदिक मे कबीलाई कृषको (अर्थात् विश्) से कर एकत्रित करने के लिए राजन्यों का जो उनसे लबा संघर्ष आरभ हुआ, वह विचारधारात्मक रूप से बुद्ध के समय तक क्षत्रियो के पक्ष मे तय हुआ । क्षत्रियो के शासन-सबधी प्रकार्य धर्मसूत्रो मे स्पष्ट रूप से परिभाषित किए गए । निसदेह, इसमें उन्हें पुरोहितों एवं ब्राह्मणो का समर्थन प्राप्त हुआ । जैन तथा बौद्ध भिक्षुओ ने, जिनके लिए ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था मे कोई स्थान नही था, उमडते हुए राज्य व्यवस्था को अधिक समर्थन दिया क्योंकि वे खत्तियों को सामाजिक व्यवस्था मे प्रथम स्थान देते थे । क्षत्रिय वर्ण की संरचना का विस्तृत वर्णन किए बिना कहा जा सकता है कि क्षत्रियो मे मुख्यतः शासन करनेवाले सरदार तथा उन्हीं के वंश के मुखिया सम्मिलित थे । संभव है कि उनके कई दरिद्र भाई-बधुओं को भी इस श्रेणी में सम्मिलित किया गया हो । किंतु क्षत्रिय वर्ण जैसे भी बना हो, धर्मशास्त्रों ने

उनके शासन करने का अधिकार घोषित किया; पालि ग्रंथों से खत्तियों के विषय में यही संकेत मिलता है । प्रशासन करने का मुख्य तात्पर्य करो को एकत्र करना तथा पितृसत्तात्मक परिवार एवं संपत्ति संबंधी विवादो में निर्णयों को लागू करना था । आंतरिक रूप से वर्णविभाजित समाज की रक्षा और बाह्य रूप से राज्य की सुरक्षा आवश्यक कर्तव्यो में आती थी । कालक्रम मे क्षत्रियों के शासन करने के कार्य की वैधता इतनी सुस्थापित हो गई कि ब्राह्मण शासकों को क्षत्रिय उपाधियां एवं वेश-भूषा अपनानी पडी ।

कब और कैसे जनजातीय समाज के थोडे लोग कर वसूल करने लगे इस पर पालि ग्रंथों में सैद्धांतिक रूप से चिंतन किया गया है । उनमे राज्य के उदय के पूर्व एक ऐसे समष्टिवादी समाज का चित्र मिलता है जिसमें निजी भूमि और पितृसत्तात्मक परिवार नही रहने से लोग सुख और शांति का जीवन बिताते थे । जब खेतों को लोग अपनी अपनी सपत्ति समझने लगे और पितृसत्तात्मक परिवार मे बंट गए तो पुरानी व्यवस्था विकृत हो गई और समाज में अशांति पैदा हुई । इस अशांति को दूर करने के लिए लोगो ने मिलकर राजा के पद का सृजन किया । सभव है कि यह चित्र कुछ सीमा तक वास्तविकता को प्रतिबिंबित करता हो । किंतु जनजातीय सदस्यों द्वारा सरदार को स्वैच्छिक भेंट-उपहार कब और कैसे दिए जानेवाले अनिवार्य शुल्क मे बदल गए, इसका राज्य के उदय सबधी इस चिंतन मे कोई संकेत नही मिलता । इस प्रक्रिया पर आधुनिक विद्वानो, जिनमे उपेंद्रनाथ घोषाल भी सम्मिलित हैं, ने भी कोई प्रकाश नहीं डाला है । तथापि, रिचर्ड फ़िक तथा श्री एवं श्रीमती रिज डेविड्स ने इस दिशा में अग्रगामी किंतु श्रेष्ठ कार्य किया है, और उसमे विनयचंद्र सेन, अतींद्रनाथ बोस तथा रतिलाल मेहता की खोजो ने अभिवृद्धि की है । इन शोधो के फलस्वरूप मौर्य साम्राज्य की स्थापना से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व प्रचलित भू-राजस्व की प्रणाली के संबंध मे महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है । फिर भी, कृषको से एकत्रित किया जानेवाला राज्यांश, तथा राज्य द्वारा दिए जानेवाले भूमि अनुदान का वास्तविक स्वरूप क्या था इस पर उनके मतों पर विचार करना आवश्यक है । फ़िक तथा डेविड्स दपति की मान्यता है कि राज्यांश वार्षिक आय पर लगाया जानेवाला जिन्सी शुल्क था । किंतु ब्यूलर का विचार है कि यह जमीन का लगान (ग्राउंड रेंट)[16] था जिसे कृषक परिवार के जोत की भूमि की नाप-जोख, तथा कुछ वर्षों की उपज के आधार पर निश्चित किया जाता था; शायद भूमि के उपजाऊ होने का भी ध्यान रखा जाता था । अतः प्रतीत होता है कि जमीन का लगान एक प्रकार का निश्चित शुल्क था जो कृषि योग्य भूमि के क्षेत्र पर आधारित होता था । आधुनिक अर्थ मे जमीन का लगान उस शुल्क को कहते हैं जो जमीदार बाजार भाव के आधार पर निर्धारित करते हैं न कि फसल मे उपज के आधार पर । किंतु 'जमीन के लगान (ग्राउंड रेंट)' से ब्यूलर का तात्पर्य

कदाचित् उस भूमि कर से है जो उपज के आधार पर निर्धारित किया जाता था तथा राज्य को चुकाया जाता था।

स्पष्टतः आरंभिक भारतवेत्ता राजस्व (टैक्स) तथा जमीन के लगान (रेंट) के बीच कोई अतर नहीं मानते थे। यह सर्वविदित है कि आरियंटल डस्पाटिज़्म में मार्क्स राजस्व तथा जमीन के लगान को एक ही समझता है। उसका आधार बर्नियर की धारणा है कि सत्रहवी सदी के भारत में राज्य का प्रतीक राजा ही समस्त भूमि का स्वामी होता था। किंतु मौर्य-पूर्व युग की परंपरा राजा को भूस्वामी के रूप में प्रस्तुत नही करती। अपितु आरंभिक धर्मशास्त्रों में उपज के अश पर राजा के अधिकार को इसलिए उचित ठहराया गया है कि वह प्रजा का सरक्षण करता है। *कृषकों से राज्य की माग को राजस्व या राज्याश के स्थान पर जमीन का लगान भी* कहा जाए तो इसमें कोई संदेह नही कि बुद्ध के युग में वह नियमित एवं अनिवार्य बन गया था।

वैदिक काल में राजा या सरदार को मिलनेवाले स्वैच्छिक भेंट-उपहार बुद्ध का युग आते आते अनिवार्य कर में बदल गए, इसका पता पालि और संस्कृत में कर संबंधी शब्दों के परीक्षण से लगता है। ऐसा लगता है कि बुद्ध युग के आरंभ मे राजा को उपज का एक भाग मिलता था जो उपज के अनुसार बदलता रहता था। इसे हम शुल्क कह सकते हैं। बाद में खेतीवाली जमीन की नाप के आधार पर वह किसानो से मालगुजारी वसूल करने लगा।

उपज का एक हिस्सा राजा को मिलता था, यह निष्कर्ष एक जातक कथा से निकाला जा सकता है जिसमे एक सेट्ठि (सेठ) ऐसे खेत से घास उखाडते हुए अपराध भाव का अनुभव करता है जिसकी उपज का भाग राजा के लिए नही निश्चित किया गया था।[17] दूसरी ओर मालगुजारी लगाने के लिए राज्याधिकारी भूमि नापते थे।[18]

ब्यूलर जातकों मे उल्लिखित रज्जुगाहक अमच्च की तुलना ब्रिटिश भारत के भू-राजस्व निर्धारण अधिकारी से करता है तथा इस बात का सकेत करता है कि जमीन का लगान (ग्राउड रेंट)[19] तय करने के लिए माप की जाती थी। फिक का अनुमान है कि भूमि की माप इसलिए की जाती थी कि जिससे प्रजा द्वारा राजा को दी जानेवाली मालगुजारी का ठीक अनुमान हो सके या राजा के भडार-घर में लाई जानेवाली औसत उपज को निर्धारित किया जा सके।[20] पर नापी के समय रज्जुगाहक अमच्च सतर्क रहता था कि ऐसा कोई काम न हो जिससे राज्य अथवा कृषक (खेत्तसामिक या कुटुंब)[21] को कोई हानि न हो। इससे पता चलता है कि *जमाबदी या लगान लगाने के उद्देश्य से जमीन नापी जाती थी। किंतु यह कहना* सभव नही है कि गगा के सपूर्ण ऊपरी एवं मध्य क्षेत्रों मे यह प्रणाली प्रचलित थी या नही। उत्तरी पूर्वी भारत में रहनेवाला पाणिनि क्षेत्रकर नामक अधिकारी की चर्चा

करता है, जो सर्वेक्षण एवं माप द्वारा कृषि-योग्य भूमि को भू-खंडों में विभाजित करता था तथा उनका क्षेत्र निर्धारित करता था।[22] ऐसा लगता है कि इन भूखंडों का सीमांकन कर-निर्धारण के लिए होता था, यद्यपि इसका उद्देश्य नए बसाए गए इलाकों में भूमि आबटन भी हो सकता है। पाणिनि के एक अन्य संदर्भ (VI. 3.10) का अर्थ यह लगाया जाता है कि पूर्वी भारत में एक हल-जोत की भूमि पर तीन पद सिक्कों का कर लगाया जाता था।[23] करनाम्नि च प्राचाम् हलादौ की काशिका टीका की यह व्याख्या मौर्य युग के मध्य गांगेय क्षेत्रों पर लागू हो सकती है। किंतु इस संदर्भ में काशिका ने तीन अन्य करों की चर्चा की है जो घरों, व्यक्तियों तथा हाथ से चलाए जानेवाले चक्कों[24] पर क्रमशः लगाए जाते थे। हो सकता है कि इन करों का संबंध सातवीं शताब्दी की परिस्थितियों से थे जब यह टीका लिखी गई थी।

सिद्धांततः विश्, कुल अथवा वंश के प्रतीक के रूप में राजा समस्त जनसमुदाय की भूमि पर दावा कर सकता था। वैदिक काल में विश् की सहमति के बिना किसी भी भूमि का अनुदान नहीं कर सकता था। आरंभिक पालि ग्रंथों और धर्मसूत्रों के नाम से ज्ञात विधि-ग्रंथों में राजा के लिए ऐसे किसी भूमिस्वामित्व के अधिकार का दावा नहीं किया गया है। पर इसमें संदेह नहीं कि बुद्ध के युग में भूमि पर जनसमुदाय का स्वत्व कमजोर होने लगा। परिवारों में खेत बंट जाने के कारण कुल का प्रभाव कमजोर पड़ गया। और फिर राजा ने उपज के हिस्से पर दावा किया उससे भी सामूहिक स्वत्व का क्षय हुआ। क्षेत्रकरों तथा राजकम्मिकों[25] जैसे अधिकारियों के प्रकार्यों से स्पष्ट है कि कई मामलों में राजा अपने जमाबंदी के अधिकार को कारगर ढंग से लागू करता था। पर करों के संबंध में आरंभिक पालि ग्रंथ यह कहीं नहीं कहते हैं कि राजा किसानों पर इसलिए कर लगाता है क्योंकि वह भूमि का स्वामी है। कर लेने का कारण दूसरा बतलाया गया है। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार लोगों की सुरक्षा प्रदान करने के कारण राजा बलि का अधिकारी होता था।[26] जनजातीय अवस्था में अपने जन अथवा कबीले के सदस्यों की रक्षा करना राजा या कबीलाई सरदार का कर्तव्य था। पर इस कर्तव्य के नाम पर वैदिकोत्तर-कालीन राजा ने अपने राज्याधिकार को करों के द्वारा मजबूत और सर्वसम्मत बनाने की चेष्टा की। गौतम की टीका करते हुए मस्करिन् (12वीं शताब्दी) कहता है कि कृषकों को राजा से प्राप्त भूखंडों पर कर देना पड़ता है।[27] स्पष्टतः यह बहुत बाद की बात है क्योंकि आरंभिक मध्य युग के अनेक ग्रंथ राजा को भूस्वामी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। गौतम का यह भी मत है कि बलि का अनुपात 1/6, 1/8, 1/10[28] होता है। बारहवीं सदी के टीकाकार, हरदत्त की व्याख्या में यह अंतर भूमि की उर्वरता पर निर्भर करता था। अतः यह स्पष्ट है कि उपज की प्रकृति को ध्यान में रखे बिना कर की एक सी दर नहीं रखी जाती थी।

किंतु ये विभिन्न दरें कृषकों की क्षमता के विकास की अवस्थाओं की सूचक भी हो सकती हैं। यह क्षमता स्पष्टतः उनके द्वारा प्रयुक्त औजारों की प्रकृति, उत्पन्न की जानेवाली फसलों तथा भूमि की उर्वरता पर निर्भर करती थी। संभवतः आरंभ में किसानों को उपज का दसवां हिस्सा, बाद में आठवां हिस्सा और अंत में छठा हिस्सा देना पड़ा हो। स्वाभाविक है कि जिस भूमि पर संपूर्ण उपज का 1/6 कर लगाया जाता था उसमें लोहे के हल-फलों के प्रयोग तथा धान की रोपाई के कारण पर्याप्त अतिरिक्त उपज होती थी, और उपज का छठा हिस्सा देने पर कृषकों के पास खाने-पीने और अन्य जरूरतों के लिए काफी पैदावार बच जाती थी।

आरंभ में बलि इस प्रकार की भेंट थी जिसे लोग स्वेच्छा से धर्म के कारण या अन्य कारणों से देवता या बड़ों को देते थे। बलि का धार्मिक रूप वैदिकोत्तर काल में भी वही बना रहा। पर पहले जो कुल या कबीले के मुखिया को स्वेच्छा से दिया जाता था अब बुद्ध के काल में राजा को उसका दिया जाना अनिवार्य बन गया। भाग शब्द दर्शाता है कि राजा अपने अंश का अधिकारी था, तथा कर शब्द बतलाता है कि वह लोगों से टैक्स वसूल कर सकता था। भाग की प्रथा कबीलाई अवस्था में प्रचलित थी। सभी सगोत्रियों का अपने-अपने अंश द्वारा एकत्रित अथवा उत्पादित संसाधनों में हिस्सा होता था। किंतु जो सगोत्र लोग रीति के अनुसार पाते थे, उसी पर राजा कबीलाई व्यवस्था न रह जाने पर भी दावा करने लगा। यही प्रक्रिया उन भेंट उपहारों पर भी लागू हुई जो कबीले के सदस्य अपने सरदार को देते थे। उल्लेखनीय है कि प्राचीन असीरिया में 'भेंट' शब्द नियमित करों के लिए प्रयुक्त किया जाता था जबकि जनता इन शुल्कों को चुकाने के लिए बाध्य थी। प्रतीत होता है कि प्रारंभ में सगोत्रियों द्वारा दी जानेवाली भेंटों ने ही आगे चलकर करों का रूप धारण कर लिया। मौर्य-पूर्व युग में यद्यपि कर अनिवार्य थे फिर भी जातकों में बलि शब्द का ही प्रयोग बहुधा हुआ है।[29] किंतु गौतम कर[30] शब्द का तथा पाणिनि अधिक निश्चित शब्द 'कार'[31] का प्रयोग करते हैं। बाद में, भाग एवं कर, दोनों शब्दों का प्रयोग प्रचलित हुआ। कालांतर में भाग को राज्यांश का मुख्य रूप माना जाने लगा तथा राजा को षड्भागिन् कहा जाने लगा। परिणामस्वरूप कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बलि का कर के रूप में वह स्थान नहीं है जो जातकों में मिलता है, अब वह भूमि से संबद्ध अनेक करों में से एक का स्थान लेता है।[32]

इस बात का कोई अनुमान नहीं है कि वैदिक काल से चली आनेवाली बलि की दर परंपरा एवं रीति के अनुसार क्या थी, संभव है यह 1/16 से लेकर 1/10 के बीच रही हो। जैसे-जैसे शासक वर्ग की आवश्यकताएं बढ़ती गईं तथा कृषकों की उत्पादन-क्षमता विकसित हुई वैसे-वैसे कर की दर बढ़ा दी गई। इस सलाह के बावजूद कि राजा को धर्म[33] के अनुरूप कर लगाना चाहिए, जातकों[34] में अनेक

दमनकारी करो के उदाहरण मिलते हैं । इनसे सकेत मिलता है कि राजा अपने कोषागार भरने के लिए या प्रजा को पीडित करने के लिए करो को बढ़ा भी सकता था; वह टैक्सों को माफ भी कर सकता था ।[35] राजा बलि बढा सकता था या माफ कर सकता था, यह दर्शाता है कि बलि अब स्वैच्छिक अथवा पारपरिक भेट नही रह गई थी अपितु राजा द्वारा लोगो पर लगाया जाता था । इस प्रकार बलि का स्वरूप राजनीतिक हो गया ।

आरभ मे बलि नकद पैसे के रूप मे एकत्रित नही की जाती थी, यद्यपि गावो की आय का आकलन सिक्को के हिसाब से किया जाता था, तथा कभी-कभी श्रमिको को भी पारिश्रमिक मे सिक्के दिए जाते थे । किंतु आरंभिक पालि ग्रथो मे नकदी के रूप मे राज्याश चुकाए जाने की बात नही है । तथापि, जैसा कि पहले दर्शाया गया है; पाणिनि से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पूर्वी भारत मे प्रत्येक हल की जोत की भूमि पर नकदी लगान लगाया जाता था । यद्यपि मध्य गागेय क्षेत्र मे अनेक स्थानो पर ईसापूर्व लगभग पाच सौ वर्ष पूर्व के चादी के आहत सिक्के मिलते हैं, मुद्रा व्यवस्था इतनी विकसित नही थी कि जिन्सी टैक्स के स्थान पर नकदी टैक्स लगाया जाए । एक प्रसग मे, बलि तथा कहापण का साथ ही साथ उल्लेख दो विभिन्न करो के रूप मे किया गया है ।[36] कहापण (कार्षापण) का अर्थ चादी या ताबे का सिक्का होता है जिसमे स्पष्ट है कि बलि नकदी रूप मे नहीं वसूल की जाती थी । एक जातक कथा मे आनेवाले शब्द 'निवासवेतन' का तात्पर्य मकान-किराए से लिया जा सकता है, किंतु यहा भी अदायगी पैसे मे नही बल्कि बैलो के रूप मे है ।

किंतु कर अथवा कार शब्दो का प्रयोग तथा पाणिनि का कहना है कि पूर्वी भारत मे प्रत्येक हल-जोत की भूमि पर नकदी कर लगाया जाता था महत्त्वपूर्ण है । यह प्रथा ईसापूर्व लगभग चार सौ वर्ष अथवा उससे पूर्व प्रचलित रही होगी, और स्पष्टतः धातु मुद्रा के आगमन से जुडी हुई है जो प्रायः आहत रजत सिक्को के रूप में आई । मुद्रा प्रचलन के कारण मालो का विनिमय आसान हो गया, दूर-दूर तक व्यापार करने की संभावना बढ़ी । जनजातीय अर्थव्यवस्था मे परस्पर उधार और उपहार देकर लोग काम चलाते थे अथवा अदला-बदली का सहारा लेते थे । अब वह प्रथा कमजोर हो गई । धातु की मुद्रा के आरभ के, विशेषत ताबे की तुलना मे सोने एवं चादी की मुद्रा के, महत्त्व को कार्ल मार्क्स ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है :

> "मूल्यवान धातुएं टिकाऊ होती हैं, वे परिवर्तित नही होती हैं, उन्हे विभाजित करके पुनः जोड़ा जा सकता है, थोडे स्थान मे अधिक विनिमय मूल्य की संहति के कारण वे अपेक्षाकृत अधिक सरलता से ले जाई जा सकती हैं "फिर मूल्यवान धातुओं मे जग नही लगने के कारण वे शेष से पृथक् की जा सकती हैं, मानक गुणवत्तावाली होती हैं, तथा (आर्थिक जीवन की) उच्च अवस्था से उनका मेल इसलिए अधिक बैठता है क्योकि उपभोग तथा

उत्पादन में उनकी सीधी उपयोगिता कम होती है; साथ ही विरल होने के कारण वे शुद्ध विनिमय पर आधारित मूल्य का बेहतर प्रतिनिधित्व करती हैं।"[37]

इस प्रकार एक बार मुद्रा का प्रचलन हो जाने से निजी लाभ एवं सचय के तत्वों का प्रवेश हुआ जिनके कारण जनजातीय अवस्था में जो पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रथा थी वह कमजोर होने लगी। मुद्रा प्रचलन ने केंद्रीकृत राजस्व-सग्रह को संभव बनाया तथा बिखरे हुए सत्ताधिकार को समन्वित सत्ता का रूप देने में सहायक हुआ। अत. केंद्रीय सत्ता के निर्माण को सुगम बनाने में आहत मुद्रा का, जो प्राचीन काल मे कार्षापण अथवा कहापण कहलाती थी, बडा स्थान था। यह तथ्य कि पण को कर्ष (कृषि करने) से सबद्ध किया जाता था, दर्शाता है कि धातु-मुद्रा का उपयोग कृषि-उत्पादों का दाम लगाने के लिए होता था। इस उत्पाद का अंश राजा को जिंसी या नकदी रूप मे देना पडता था।

वैदिक काल मे राजस्व एकत्र करनेवाले किसी सयत्र का हमें पता नही है। उत्तरवैदिक कालीन ग्रथों मे उल्लिखित शब्द भागदुघ को भाग उगाहने वाला अथवा कर-सग्राहक मानना कठिन है।[38] जनजातीय समाजों की वितरणात्मक व्यवस्था को यदि ध्यान में रखा जाए, तो बहुत संभव है कि भागदुघ हिस्सा बांटने का काम करता था। वह राजन् अथवा कबीलाई सरदार द्वारा प्राप्त लूट का माल, पशुधन, अन्न इत्यादि का बटवारा कबीले के सदस्यो के बीच किया करता था। किंतु वैदिकोत्तर कालीन उत्तर भारत मे, विशेषत: मध्य-गागेय मैदानी इलाकों में लगभग आधे दर्जन अधिकारी कर-संग्राहक का कार्य करते थे। ग्रामभोजक (पालि मे गामभोजक) तथा कुछ अन्य कर्मचारी जमाबंदी के काम मे लगे थे, और राजकीय अन्नागार मे भंडारण के लिए अन्न तौलने के काम से सबद्ध होते थे। ग्रामभोजक तथा राज्य के सग्राहको का कार्य ठीक-ठीक क्या था और उनके आपसी सबंध क्या थे, यह स्पष्ट नही है। फिक की धारणा कि ग्रामभोजक राज्य की ओर से नियुक्त अधिकारी था जो गाव से राजस्व एकत्रित करता था, को सदेहास्पद माना गया है,[39] क्योंकि इसका आधार एक जातक कथा की प्रस्तावना की एकाकी घटना है।[40] पर चूंकि गामभोजक छोटे-मोटे झगडो[41] में, तथा पियक्कडों द्वारा किए जानेवाली हत्याओं[42] एव अन्य अपराधों के लिए ग्रामीणों पर दंड लगाकर उन्हें वसूल कर सकता था, अत: संभव है कि उसका मुख्य कार्य कानून और व्यवस्था बनाए रखना था। फिर भी आरंभिक अवस्था में प्रकार्यों में अधिक विभेदीकरण की अपेक्षा नही की जा सकती, और इसलिए कोई आश्चर्य नही जो व्यक्ति दंडाधिकारी और न्यायाधीश का काम करता था, वही कर-संग्रह भी करता था। राजस्व प्रशासन पूर्णरूपेण अधिकारियों के एक समूह को सौंप दिया गया था किंतु

ग्रामभोजक इसमें नहीं आता था। वह राज्य की ओर से वसूली करता था, पर साथ ही स्थानीय विवादों को निपटाता था, कानून और व्यवस्था बनाए रखता था,[43] कभी-कभी गौ-वध की निषेधाज्ञा भी जारी करता था,[44] तथा कठिनाई के समय गांव वालों की सहायता भी करता था।[45] ग्रामभोजक की प्रथा लगभग सर्वत्र व्याप्त थी, पर कर-संग्रह का काम वह कभी-कभी करता था। ग्रामभोजक को गांव का भोग करनेवाला नहीं समझना चाहिए। इस पद के द्वारा राजा अपने कृपा-पात्रों एवं ब्राह्मणों को राजस्व अनुदान नहीं करता था। प्रशासनिक सीढ़ी का सबसे निचला डंडा होने पर भी प्रशासन संयत्र में इसका प्रमुख स्थान होता था।[46] ग्रामणियों का उल्लेख भी ग्राम-प्रधानों के रूप में किया गया है; ऐसा लगता है कि वे राजा के कृपा-पात्र थे,[47] और विलासी जीवन बिताते थे। किंतु इसका कोई प्रमाण नहीं है कि वे नियमित रूप से कर उगाहते थे अथवा गावों से उगाहे जानेवाले राजस्व का उपभोग करते थे।[48] संभवत आरंभ में ग्राम-प्रधान के पद का, चाहे उस पर ग्रामभोजक का हो अथवा ग्रामणी, निर्वाचन होता था, किंतु कालांतर में वह राज्याधिकारी हो गया; इससे वह ग्रामवासियों के हितों का अधिक ख्याल नहीं कर सकता था।

ग्रामभोजक गाव से बाहर रहनेवाला जमींदार नहीं होता था जैसा कि एक लेखक ने इंगित किया है।[49] यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि राजस्व का अनुदान ग्राम-प्रधान को दिया जाता था। ग्रामभोजक का शाब्दिक अर्थ उसके पद की वास्तविक स्थिति का परिचायक नहीं माना जा सकता। ऐत्तरेय ब्राह्मण के कई अंशों में भोज शब्द राजा की पदवी के रूप में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।[50] अतः ग्रामभोजक में भोज शब्द की प्रभुति से यह संकेत मिलता है कि यह अधिकारी गांव के कुछ अनिवार्य प्रशासनिक प्रकार्यों को संपन्न करने के लिए राजा द्वारा नियुक्त होता था। ग्रामभोजक का कृषकों से नियमित रूप से कर एकत्रित करने का प्रमाण ही दृढ़ नहीं है, फिर उसे गांव की भूमि का स्वामी मान लेना तो कल्पना की उड़ान है।

जातकों में उल्लिखित आधे दर्जन से अधिक कर संग्राहकों के विभिन्न पद होते थे किंतु वे अलग-अलग करों से संबंधित नहीं होते थे। इसके विपरीत वे सब बलि एकत्र करने से संबद्ध थे जो कि प्रमुख राज्य-कर होता था। इनमे से युत्त[51] नामक अधिकारी को पाणिनि के आयुक्त के समकक्ष रखा जा सकता है; आयुक्त[52] ऐसे *सरकारी कर्मचारी थे जो प्रशासन के साधारण कामों में लगे रहते थे।* जब उन्हें कोई विशेष कार्य सौंपा जाता था तो वे नियुक्त[53] कहलाते थे जिसका उल्लेख गौतम ने भी किया है।[54] नियुक्त के प्रकार्यों के संबंध में टीकाकारों की दो धारणाएं हैं। हरदत्त दर्शाता है कि उनकी बहाली कृषकों की रक्षा के लिए की जाती थी, किंतु औरों के आधार पर वह यह भी बतलाता है कि नियुक्त बलि तथा अन्य शुल्क एकत्रित करने के लिए नियुक्त होता था।[55] इन दोनों धारणाओं का समन्वय किया

जा सकता है क्योंकि कर तथा सरक्षण साथ-साथ चलते थे। बलिदान[56] शब्द की व्याख्या करते हुए मस्करिन् कहता है कि कृषि पर निर्भर रहनेवाले लोग[57] राजग्रहणम् अथवा बलिग्रहणम् नामक राजकीय देय प्रति वर्ष नियुक्त को चुकाएं। गौतम के नियुक्त तथा नित्युक्त मे अतर नही है। कर-सग्राहको के रूप में नित्युक्त की व्याख्या युक्तिसगत जान पडती है। कर-सग्राहको का एक अन्य दल तुंडियों का था, जो नियमित कर अधिकारी न होकर विशेष रूप से बलि सग्रह के लिए नियुक्त किए जाते थे तथा जो लोगो की मारपीट कर बलि वसूल करते थे।[58] अकासिय भी कृषको को सताकर उनकी कमाई छीन लेते थे।[59] अत: तुंडिय एवं अकासिय राजा की ओर से आपात्‌काल मे अथवा अतिरिक्त कर उगाहने के लिए विशेष अधिकारी के रूप मे नियुक्त किए जाते थे। किंतु बलिसाधको[60] सर्व निग्गाहको[61] की स्थिति भिन्न थी, इन दोनो मे अतर नही था क्योंकि जातक की टीका मे निग्गाहक का अर्थ भी बलिसाधक लगाया गया है।[62] सभवत: ये दोनो कर-सग्राहक थे जो लोगो से सामान्य रूप से बलि एकत्रित करते थे। बलिपटिग्गाहक शब्द की व्याख्या भी कर-सग्राहक के रूप में की गई है।[63] किंतु मूलत. इसका तात्पर्य भेंट और चढ़ौआ स्वीकार करनेवाले पुरुष से रहा होगा।[64] राजकम्मिक नियमित कर-सग्राहक होते थे जिनका कार्य भूमि की माप करना एव कर एकत्रित करना था।[65] पाणिनि कारकर नामक एक ऐसे अधिकारी वर्ग का उल्लेख करता है जिन्हें पूर्वी भारत मे कर उगाहने का कार्य सौंपा गया था,[66] किंतु भूमि की माप का कार्य क्षेत्रकरों द्वारा किया जाता था। भू-राजस्व कार्य से सबधित एक अन्य अधिकारी रज्जुगाहक अमच्च (रज्जुग्राहक अमात्य) होता था जिसके जिम्मे जमाबदी का काम मालूम पडता है, कर-सग्रह का नही। इन अधिकारियों के ठीक-ठीक प्रकार्यों का हमें स्पष्ट ज्ञान नही है, किंतु बुद्ध के युग मे एक पर्याप्त सगठित वित्त-व्यवस्था मिलती है जिसमे राजा के नातेदारो, भाई बधुओं का प्रबल प्रभाव नही दिखाई पडता है। यह व्यवस्था निश्चय ही उत्तर वैदिक काल के तदर्थ, अनियमित तथा रीत्यानुसार कर-सग्रह की तुलना मे महत्त्वपूर्ण प्रगति थी। उत्तर वैदिक काल मे राजा के कुछ सबधी मुख्य कर-सग्राहक तथा कुछ (कदाचित् दूर के सबधी) करदाता होते थे। पर बुद्ध के युग मे कर-सग्राहकों मे राजा के नातेदारो का जोर नही था, और करदाताओ मे उन सभी कबीलों के लोग आते जो महाजनपद मे बस गए थे और किसान बन गए थे।

मौर्य-पूर्व युग के कर-सग्राहकों की विभिन्न श्रेणियो के बीच सबधो का परीक्षण अपेक्षित है। फिक का कहना है कि राजा की ओर से नियुक्त अधिकारी अपने आबटित क्षेत्र में कर-सग्रह करता था।[67] किंतु वह यह स्पष्ट नही करता कि ये अधिकारी कौन थे तथा राज्य के कर-सग्राहको से उनका क्या सबध था। इसी प्रकार उसका कहना है कि गाव का राजस्व ग्रामभोजको[68] को दिया जाता था।

किंतु यदि यही अधिकारी कृषको से सदैव कर एकत्रित करता था तो फिर इसी कार्य के लिए तीन या चार अन्य अधिकारियो को नियुक्त करने की क्या आवश्यकता थी ? इसके अतिरिक्त ग्रामप्रधान से उनका क्या सबंध था ? दुर्भाग्यवश अधिक जानकारी के अभाव मे इन प्रश्नो का सतोषजनक उत्तर देना सभव नही है ।

यह पूछा जा सकता है कि क्या इस युग मे भू-स्वामियो के किसी महत्त्वपूर्ण मध्यस्थ वर्ग का अस्तित्व था । ग्रामभोजको को मध्यस्थों के एक शक्तिशाली वर्ग के रूप मे माना गया है, और उनकी कुछ-कुछ तुलना आधुनिक जमींदारो[69] से की गई है । हमारे मत मे, ग्रामभोजको को भू-स्वामियों की श्रेणी में नही रखा जा सकता है । वे तो स्थानीय लोगो के प्रतिनिधि होते थे या राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी होते थे जिन्हे राजा अवसर पडने पर अपदस्थ कर सकता था । भले ब्राह्मणों को जिन्हे राजस्व अथवा भूमि का अनुदान मिलता था एक सीमा तक भू-स्वामी कहा जा सकता है । लेकिन विचार करने से यह भी संदेहात्मक ही प्रतीत होता है ।

बुद्ध के युग मे किसानो के लगान पर जीनेवाले भू-स्वामी या जमीदार होते थे अथवा नही, इसका निश्चय ब्रह्मदेय्य तथा राज-भोग्गम् जैसे विशिष्ट शब्दो की ठीक-ठीक व्याख्या के द्वारा ही हो सकता है । आरंभिक पालि पुस्तको मे उल्लिखित अनुदानो की व्याख्या करते हुए ईसा की पाचवीं सदी मे रहनेवाला बुद्धघोष बतलाता है कि अनुदानो के साथ प्रशासनिक एवं न्यायिक अधिकार[70] भी दिए जाते थे । यह धारणा पाचवी शताब्दी में विद्यमान परिस्थितियो के संबंध मे ठीक हो सकती है, पर मौर्य-पूर्व युग की परिस्थितियो के अनुकूल नही है । अतः डेविड्स का अनुमान कि स्थानीय सरकार अनुदान के द्वारा स्थान-स्थान के बडे लोगो के हाथ मे बुद्ध के काल[71] मे भी सौंप दी जाती थी प्रमाणित नही किया जा सकता है । चूंकि राज्य क्षेत्र मे अपेक्षाकृत छोटे होते थे, अत स्थानीय मामलों का प्रबध भी राज्याधिकारी के लिए करना सभव था । यद्यपि कोसल एव मगध मे दिए गए अनेक ब्रह्मदेय्य अनुदानो के उल्लेख दीघनिकाय[72] में मिलते हैं, यह बात महत्त्वपूर्ण है कि अनुदान की भूमि के साथ सलग्न शर्तों की सूची में 'अकर' अथवा कोई ऐसा शब्द नही है जिससे उस भूमि के कर-मुक्त होने का सकेत मिलता हो । हो सकता है कि अनुदान भोगियो को कुछ कर भेट[73] देना पड़ता है, यद्यपि सामान्यतः ब्राह्मण और पुरोहित कर मुक्त होते थे । अतः मौर्योत्तर तथा गुप्त-काल की तुलना मे मौर्य-पूर्व काल मे अनुदान पानेवालो को बहुत सीमित लाभ होता था । इस काल के ब्रह्मदेय्य अनुदानो के साथ वे विशेषाधिकार संलग्न नही थे जो ईसा की आरंभिक शतियो मे मिलते हैं ।

दीघनिकाय के अनुदानो मे आनेवाला शब्द 'राजभोग्गम्' की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है । टी. डब्ल्यू रिज डेविड्स के अनुसार राजभोग्ग एक प्रकार की

जमीन पाने की प्रथा थी। राजभोग्ग पानेवाले को यह अधिकार था कि वह अनुदानित भूमि के भीतर जितने राजकीय देय थे, सबकी वसूली करे। वह अपना दरबार लगा सकता था, तथा कई अर्थों में जमींदार की भांति रहता था, यद्यपि उसे जमीदार के जैसा किसानो से उनकी भूमि के लिए[74] लगान लेने का हक नही था। किंतु ऐसे अनुदानो का वर्णन करनेवाले विशेषणों के समूह मे राजभोग्गम् शब्द को 'राजसी' अथवा राजा द्वारा भोग्य के अर्थ मे लिया जाना चाहिए न कि 'ऐसा अनुदान, जिसे पानेवाला उसी प्रकार इसका उपभोग करे जिस प्रकार कि राजा करता है,' के अर्थ मे, जैसा कि रिज़ डेविड्स ने राजभोग्गम् की व्याख्या की है।[75] अतएव दीघनिकाय में उल्लिखित अनुदानों मे प्रयुक्त राजभोग्गम् शब्द के द्वारा किसी प्रकार की भूमि रखने की प्रथा का बोध नही होता है। बल्कि 'ब्रह्मदेय्य' शब्द द्वारा भूमि पाने की प्रथा का अर्थ निकलता है। संस्कृत ग्रंथों तथा उत्तरवर्ती काल के अभिलेखों मे ब्रह्मदेय्य का प्रयोग इसी अर्थ में होता है। फिक यह दर्शाने के लिए अनेक प्रसगो के उदाहरण देता है राजभोग्ग राजा का एक वेतनभोगी वर्ग थे और वे राजन्यों के समान थे।[76] यह बात उन प्रसंगों के संदर्भ मे ठीक लगती है जिनके उदाहरण वह देता है[77] किंतु दीघनिकाय में पाए जानेवाले सभी प्रसगों पर यह लागू नही होती। टीका या अट्ठकथा में राजभोग्गम् की व्याख्या *राज लद्धम् भोग्गम्* के रूप मे की गई है; उसका मतलब राजा द्वारा प्राप्त किया गया भोजन अथवा क्षेत्र[78] है जिससे स्पष्टत- राजसी स्वामित्व का बोध होता है। अपने उपभोग के लिए राजा को क्षेत्र अथवा भूसपत्ति की प्राप्ति कैसे हुई, यह अनुमान का विषय है। प्राचीन यूनानी कबीलाई समाजो के दृष्टात दर्शाते हैं कि कबीले के सरदार को अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए बडा भू-भाग दिया जाता था; अथवा वह अपने निकट संबंधियो की सहायता से वह भूमि हथिया लेता था। जो भी हो, कबीले के सामान्य सदस्यों पर मुखिया का सत्ताधिकार स्थापित करने के लिए ऐसा स्वामित्व महत्त्वपूर्ण था। एक बार भू-भाग का स्वामी हो जाने के पश्चात् वह समर्थन प्राप्त करने के लिए अथवा अपना सत्ताधिकार सुदृढ़ करने के लिए उस भूमि में से अनुदान प्रदान कर सकता था। इस प्रकार ब्रह्मदेय्य राजा की भूमि मे से जानेवाले अनुदान थे न कि कृषक समुदायों की भूमि में से। इन अनुदानों को पानेवाले, स्पष्ट रूप से पुरोहित होते थे, जो राज्यपक्षी सामाजिक एव धार्मिक विचारो को पैदा करने वाले जनसाधारण मे प्रचलित करके राज्यसत्ता को सुदृढ़ बनाते थे। इस बात का कोई प्रमाण नही मिलता कि अनुदान भोगी प्रशासनात्मक प्रकार्य करते थे।

जातकों मे बहुधा आनेवाले 'भोगगाम' का तात्पर्य स्पष्टतः ऐसे गाव से है जो राजा अपने कृपापात्रो को उपभोग के लिए देता था। लोगों को ऐसा अनुदान राज्य के प्रति प्रशासनिक अथवा अन्य सेवाए करने के लिए प्रदान नही किया जाता था।

एक बार तो एक नाई को ऐसा अनुदान मिला था।[79] जातक[80] के एक उद्धरण की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि अमच्च अथवा अमात्य गाँव का भोजक होता था; राजा ने यह गांव उसे पारिश्रमिक के रूप में उपभोग के लिए प्रदान किया था।[81] किंतु इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बात ऐसी नहीं थी। वास्तव में इस अमच्च विशेष को उस गांव से राजस्व (राजबलि) एकत्रित करने को कहा गया था। जब दस्युओं के साथ षड्यंत्र करके उसने राजा के लिए एकत्रित कर को लेकर भाग जाना चाहा, तो उसे कठोर दंड दिया गया। एक अन्य प्रसंग[82] के आधार पर कहा गया है कि नृपति गांवों[83] से मिलनेवाला अंश अपने मंत्री को प्रदान कर सकता था, पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मंत्री को यह अनुदान उसकी प्रशासनिक सेवाओं के बदले प्रदान किया गया था। इस विशिष्ट प्रसंग में एक मंत्री को सोलह श्रेष्ठ गांव देने की बात है। यह अनुदान उस मंत्री को साधु की परिभाषा बतलाने के लिए पुरस्कार के रूप में दिया गया था। इतना ही नहीं, वह मंत्री बोधिसत्व स्वयं थे, और जिस जातक कथा में इसकी चर्चा है वह मौर्योत्तर काल की मालूम पड़ती है। यह धारणा कि मंत्रियों को पारिश्रमिक के रूप में गौओं, रथों एवं हाथियों सहित गांव[84] प्रदान किए जाते थे तथा कि वेतन एवं भोजन इसके अलावा[85] मिलता था, उचित प्रतीत नहीं होती। वास्तव में उन्हें पारिश्रमिक के रूप में भत्तवेतन मिलता था, तथा गांव आदि का अनुदान राजा अपनी प्रसन्नता से विशेष कृपा के फलस्वरूप देता था। जातकों में उल्लिखित अनुदान बोधिसत्व[86] को विवेकपूर्ण अथवा धार्मिक शिक्षा प्रदान करने के लिए पारितोषिक के रूप में दिया गया था, यद्यपि ऐसी शिक्षा का प्रयोग राजनीतिक लक्ष्यों के लिए किया जा सकता है। अधिकांश भोगगामों का उपभोग पुरोहित[87] तथा कुछ का उपभोग सेट्ठि करते थे। जातकों के अनुसार ऐसे गांवों का अनुदान राजा के प्रमुख सलाहकारों तथा धार्मिक शिक्षकों को दिया जाता था, *आमात्यों* को नहीं। यह तथ्य है कि अनुदानभोगी इन गांवों का राजस्व पाते थे, किन्तु भोगगामों को जमींदारी समझना स्पष्टतः भ्रमपूर्ण है; जैसा कि अनेक जातक अनुवादों में समझा गया है क्योंकि अनुदानभोगियों को उन गांवों में किसी भी प्रकार के स्वामित्व के अधिकार प्राप्त नहीं होते थे।

समग्र रूप से विचार करने पर अनुदान कतिपय सामान्य बातों की ओर इंगित करते हैं। एक तो, भूमि अनुदान प्रदान करने की प्रथा बहुत सीमित थी; इसका विस्तार वैसा नहीं था जैसा गुप्तकाल के अभिलेखों से पता चलता है। दूसरे, राजा की भूमि का कोई भाग ही अनुदान में दिया जाता था। तीसरे, अनुदान धार्मिक एवं आध्यात्मिक सेवाओं के लिए प्रदान किए जाते थे। चौथे, ये शायद जीवन भर के लिए दिए जाते थे। हमारा यह अनुमान राउज़ के किए हुए जातक के भ्रामक अनुवाद[88] पर आधारित नहीं है। उसने 'गामवरम्' का अर्थ 'जीवन' भर के लिए लगाया है, पर इसका तात्पर्य समृद्ध गांव से है। इसके अतिरिक्त, अनुदान

आनुवंशिक नही होते थे। इस बात का कोई संकेत नही है कि अनुदान भोक्ताओ के वंशजो को अनुदान उत्तराधिकार के रूप मे मिलता था। साथ ही राजा अपने उत्तराधिकारियो को शाप का भय दिखाकर अनुदानो को बनाए रखने के लिए बाध्य नही करता था। पाचवे, इस बात का कोई प्रभाण नही है कि भोगगाम राज्यकर से मुक्त होते थे। इस काल मे क्षत्रियो के प्रभुत्व से इस बात का संकेत मिल सकता है कि वे कदाचित् अनुदान भोक्ताओ से भी कर वसूल करते थे। अंत मे, जातको में उल्लिखित भूमि अनुदानो को मौर्य-पूर्व मानना बहुत कठिन है। जातको का समय ईसापूर्व दूसरी अथवा तीसरी शती निर्धारित किया जाता है। यह समय मानने पर भी वास्तव में कहां तक भूमि अनुदान की प्रथा प्रचलित थी कहना कठिन है। अशोक की राजाज्ञाए (शासन) 44 अभिलेखो के रूप मे पाई जाती हैं, पर किसी मे भी भूमि अनुदान की चर्चा नही है, हाँ एक अभिलेख मे बुद्ध के जन्मस्थान मे सरकारी लगान घटाया गया है। अत. प्रतीत होता है कि मौर्य-पूर्व काल मे राज्य-संयत्र चलानेवाले अधिकारियो को राजा के लिए एकत्रित करो से ही वेतन दिया जाता था, न कि भूमि अथवा राजस्व के अनुदानो के रूप में।

हमे राजा के अधिकारियो एवं अन्य कर्मचारियो को किए जानेवाले भुगतान के संबंध मे कुछ ज्ञान है। अधिकांश भुगतान राज्याधिकारियो द्वारा एकत्रित करो की राशि से किए जाते थे। पारिश्रमिक के लिए सामान्य रूप से भत्तवेतन शब्द प्रयुक्त होता था। एक स्थान पर इसका अनुवाद भोजन-द्रव्य[89] के रूप मे किया गया है। हार्नर 'रञ्ञो भत्तवेतनहारो' को 'राजा से प्राप्त वेतन एवं भोजन पर जीवन-यापन'[90] के रूप मे प्रस्तुत करता है, जो संभवत. ठीक है। वेतन किस रूप मे दिया जाता था, यह स्पष्ट नही है। यदि राज्याधिकारियो को रसद-पानी दिया जाता था तो फिर जिन्सी रूप मे तनखाह देने की जरूरत नही थी। अतः जहाँ कहीं भी वेतन 'भत्त' शब्द के साथ जोड़ा गया है, वहाँ 'भत्त' या भात को रसद के रूप में और 'वेतन' को नकद भुगतान के रूप मे लिया जा सकता है। इसलिए यह कथन कि गज-सेनाओ, सारथियो, राज रक्षको तथा पदातियो को भत्तवेतन[91] दिया जाता था दर्शाता है कि जीवन-यापन के लिए रसद के अलावा राजा अपनी फौज को नकदी भुगतान करता था। राजा अपने महावत्त, अंगरक्षक, रथ-सैनिको तथा पदाति के वेतन मे वृद्धि की अनुमति देता है, जिससे संकेत मिलता है कि वेतन नकद ही दिए जाते थे। सैनिको को भूमि-अनुदान के माध्यम से भुगतान नही किया जाता था, जैसा कि असीरिया मे होता था। पालि पुस्तको के अनुसार सैनिको को जीविका के लिए भूमि आवंटित नही की जाती थी। कभी-कभी तो मजदूरो को भी नकद भुगतान[92] किया जाता था। इतना ही नही, चाहे गांव की आय की चर्चा हो, अथवा पदचिह्नों को खोजने में प्रवीण युवक को पारिश्रमिक देने का प्रश्न हो,[93] अथवा धनुर्धर को भुगतान करने की बात हो,[94] अथवा बोधिसत्व[95] के प्रति भेंट चढ़ाने का

विषय हो, प्रत्येक स्थिति में सहस्र मुद्राओं के देने की बात कही गई है। हजार की संख्या रूढ़ हो जाती है, जैसा कि लोक-साहित्य में होता है। पर ये सारे संदर्भ निश्चित रूप से राजा के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को नकद भुगतान किए जाने की संभावना की ओर संकेत करते हैं। ईसा से लगभग पांच सौ और तीन सौ वर्ष पूर्व के आहत सिक्कों की खोज से अनुमान होता है कि धातु-मुद्रा के रूप में काफी कर एकत्रित किया जाता था तथा उन्हीं के माध्यम से भुगतान भी किया जाता था। इसने वित्तीय केंद्रीयकरण को सुगम बनाया जिससे विशाल एवं सुदृढ़ राज्यों के निर्माण में सहायता मिली। किंतु आरंभ में राजस्व मुख्यतः जिन्सी रूप में लिया जाता था, अतः अधिकारियों को जिन्स के साथ नकद पैसे भी दिए जाते थे।

यदि हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दी गई कर व्यवस्था, जिसमें कर के स्रोत तथा खर्च की मदें दी हुई हैं, और प्रशासन व्यवस्था की तुलना पालि पोथियों में मिलनेवाले प्रमाणों से करें तो पता चलेगा कि मौर्य काल तक वित्तीय और प्रशासन व्यवस्था दोनों में तीव्र विकास हुआ। आरंभिक पालिग्रंथों, धर्मसूत्रों एवं अन्य स्रोतों से करों के प्रकार तथा उन्हें वसूल करने के मयंत्र के संबंध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। किंतु उनमें उन मदों की चर्चा नहीं है जिन पर कर व्यय किए जाते थे। यह जानकारी हमें कौटिल्य से मिलती है जिसके बजट बनाने के सिद्धांतों का जन्म संभवतः मौर्य-पूर्व युग में हुआ हो। उसके अनुसार देवताओं तथा पितरों को चढ़ाई जानेवाली भेंटों तथा मंगल मंत्रों के गान पर व्यय होता था।[96] अतः राज्य के व्यय का एक बड़ा भाग पुरोहितों के भरण-पोषण पर खर्च होता था। व्यय की दूसरी महत्त्वपूर्ण मद थी राजा का अंतःपुर तथा रसोईशाला।[97] स्पष्ट है कि राज्य के व्यय तथा राजा के निजी व्यय के बीच भेद उस समय नहीं किया जाता था। भंडार, शस्त्रागार, वस्तुशाला, कच्चे माल के गोदाम, कारीगरों की कर्मशालाएं (कर्मान्त) तथा श्रमशक्ति का प्रयोग (विष्टि) खर्च की मदों के रूप में प्रकट होते हैं।[98] इसमें अनुमान होता है कि वित्तीय, सैनिक तथा प्रशासनिक गतिविधियों में नियुक्त कर्मचारियों की बहुत बड़ी संख्या थी, और उनको वेतन राज्य की आय में से ही मिलता था। ग्यारह प्रकार के अध्यक्षों[99] पर इस प्रकार का व्यय होता था। किंतु यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि अनेक प्रकार के अधिकारियों को नकद वेतन देने की व्यवस्था कौटिल्य ने भृत्य-भरणीयम्[99a] के अंतर्गत की है, तो भी जहां व्यय की मदों में उन्हें जगह नहीं है। राजा के अभिकर्ताओं की विभिन्न श्रेणियों के भुगतान के लिए कौटिल्य दूतप्रचर्तिमम्,[100] अथवा दूतों की श्रेणी, शब्द का प्रयोग करता है। दूत न केवल राजा का प्रतिनिधि होता था, बल्कि संदेशवाहक तथा राज्याज्ञा को लागू करनेवाला भी होता था। कदाचित् वह गुप्तचर का कार्य भी करता था। निम्नतम श्रेणी के दूत को केवल दस पण वेतन मिलता था। फिर सबसे अधिक खर्च सेना पर होता था। सैन्य संगठन के चार पक्ष, जिनके लिए अर्थशास्त्र V.3 में

नकद भुगतान की व्यवस्था की गई है ।[101] गोवृद, पशुओं, हरिणों तथा पक्षियों के बाडो, तथा ईंधन एवं चारे के भंडार के लिए भी व्यय की व्यवस्था[102] की गई है । व्यय की मदो का विश्लेषण दर्शाता है कि राज्य के अत्यावश्यक अवयवो का[103] रख-रखाव विभिन्न प्रकार के करों के माध्यम से किया था ।

अत स्पष्ट है कि राज्य-सयत्र का विकास विभिन्न करों के बढ़ते हुए संभरण से जुडा हुआ था । किंतु मौर्य-पूर्व युग में करों की सख्या कम थी जिस कारण राज्य सयत्र इतना विकसित नही था जितना कि मौर्य काल मे । पालि तथा अन्य ग्रंथो मे अनेक राजस्व-अधिकारियों का उल्लेख मिलता है, जैसे अकासिय, बलिपटिग्गाहक, (बलि) निग्गाहक, बलिसाधक, कारकर, क्षेत्रकर, नित्युक्त अथवा निधुक्त, रज्जुगाहक अमच्च, तथा तुडीय । राजकम्मिक इसी प्रकार का एक अन्य अधिकारी था, तथा ग्रामभोजक अथवा ग्रामकूट को भी वित्तीय प्रकार्य सौंपे जाते थे । उत्पादन पर शुल्क लगाने के लिए महापात्रों का एक वर्ग भी नियुक्त किया जाता था । यह स्पष्ट नही है कि बौद्ध काल के प्रत्येक राज्य मे ये सब अधिकारी होते थे अथवा नही । किंतु बलि के आकलन एवं सग्रह से सबंधित अधिकारी प्रत्येक राज्य मे रहे होंगे । इन अधिकारियों का अस्तित्व दर्शाता है कि शासकीय प्रकार्यों के भेदीकरण में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई थी, किंतु सभव है कि ये अधिकारी जज, पुलिस तथा मजिस्ट्रेट का काम भी करते रहे हों ।

राजस्व अधिकारियों की सहायता के लिए अन्य अनेक अधिकारी होते थे जिन्हें राजभट कहा जाता था ।[104] वे कार्मकारी, सैन्य तथा न्यायिक प्रकार्य संपन्न करते थे । इस प्रकार हम 'सब्बथक' अथवा आम मामलों के अधिकारी,[105] सेनानायक महामात्रों,[106] व्यावहारिक महामात्रों[107] (न्यायिक अधिकारियों) की बात सुनते हैं । महामात्रों का एक वर्ग शुल्क सग्रह के कार्य देखता था ।[108] इस प्रकार महामात्र का पद, जिसकी विभिन्न श्रेणियां अशोक ने नियुक्त की थी, *विनयपिटक*[109] (ई.पू. 300 वर्ष) में मिलता है ।

पालि पुस्तकों मे उभरनेवाले अमच्चो अथवा अमात्यो की चर्चा आरंभिक धर्मशास्त्रों एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तो मिलती है, किंतु अशोक के अभिलेखों मे नही । विनयपिटक[110] तथा अशोक के अभिलेखों मे वे परिसा या परिषद् के सदस्यो के रूप में कार्य करते हैं । वे सत्तारूढ राजा को अपदस्थ कर उसके स्थान पर नए राजा को चुन सकते थे ।[111] वे भूमि सर्वेक्षण से संबंधित न्यायिक अधिकारी[112] के रूप में भी कार्य करते थे । इस प्रकार विनयपिटक, जातकों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे अमात्य अधिकारियो का एक संवर्ग है जो विभिन्न प्रकार्यों के लिए अलग अलग पदों पर नियुक्त किए जाते थे । एक जातक में 80,000 अमात्यों का उल्लेख मिलता है ।[113] यह संख्या बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दी हुई मालूम पडती है । पर एक जातक मे कहा गया कि राजा ने सारे नगर मे ढिंढोरा पिटवाकर

अपने अमात्यों को एकत्र किया।[113क] इन संदर्भों से स्पष्ट है कि वेतन देकर हजारों कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी, और सबके सब राजा के दूर के संबंधी भी नहीं हो सकते थे।

परिसा अथवा परिषद् गणतंत्र[114] की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था मानी जाती है। स्पष्ट है कि यह राज्य की वही संस्था है जो उपनिषदों के अनुसार राजा के साथ काम करती थी; और उपनिषद कालीन प्रमुख राज्यों का समय आरंभिक पालि ग्रंथों के समय से दूर नही है। यदि हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित परिषद् (परिसा) को ध्यान में रखें[115] तो प्रतीत होगा कि पालि परिसा में, कम से कम नृपति वाले राज्यों में, पूर्णकालिक वेतनभोगी सदस्य होते थे। किंतु धर्मसूत्रों में वर्णित परिषद् के सदस्य केवल विप्र अथवा ब्राह्मण[116] ही होते थे। एक पालि उद्धरण का तात्पर्य लगाया गया है कि नृपति वाले[117] राज्यों में केवल अमात्य ही परिषद् में कार्य करते थे। जो भी हो, परिषद् जैसी संस्थाओं तथा उपर्युक्त विभिन्न प्रशासनात्मक पदों का रख-रखाव राजा द्वारा लगाए गए करों से ही किया जा सकता था।

परिषद् की संरचना अथवा अमात्यों की नियुक्ति क्या ज्ञातिआधारित थी? धर्मसूत्र के अनुसार परिषद् में ब्राह्मण होते थे। स्पष्ट है कि व राजा के संबंधी नहीं होते थे अपितु धार्मिक एवं वैचारिक नेता होते थे, जिनकी नियुक्ति पुरोहित वर्ग से की जाती थी। हो सकता है कुछ अमात्य (शाब्दिक अर्थ साथी) राजा के संबंधी होते हो। किंतु कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस संवर्ग के अधिकारियों की नियुक्ति के लिए अपेक्षित योग्यताओं में उच्च वंशीय होना भी सम्मिलित था, जिसके अंतर्गत ब्राह्मण आ जाते थे, अतः इन पदों पर नियुक्ति राजा के कुल-गोत्र वालों तक ही सीमित नहीं रहती थी, और फिर मगध अथवा कोसल जैसे महाजनपद में तो कई प्रमुख कुलों और गोत्रों का प्राधान्य था।

मौर्य-पूर्व काल की साहित्यिक रचनाओ से कोसल एव मगध के राजाओं के सलाहकारों के कुल का पता चलता है। सामान्यतः राजा से उनकी नातेदारी नहीं थी। कोसल नरेश प्रसेनजित् के दो प्रमुख अधिकारी बंधुल एवं दीर्घचारायण मल्ल[118] वंश के थे। कोसल के सेनापतियों मे वहां के युवराज एवं कुछ मल्ल वंश के लोग प्रमुख थे।[119] इससे पता चलता है कि विजयी राजा पराभूत राजाओं के साथ सहयोग और ऐक्य स्थापित करता था। यह सर्वविदित है कि मगध का प्रधानमंत्री वस्सकार, जिसने लिच्छिवियों की एकता को भंग किया और वैशाली का पराभव किया, ब्राह्मण[120] था। निसंदेह वैदिक काल में भी पुरोहित राजाओं/सरदारों की सहायता करते थे, किंतु वे विधिवत् मंत्री नहीं होते थे क्योंकि तब ऐसे पदों का अस्तित्व ही नहीं था। बड़े वैदिक राजा (सरदार) अपने ज्ञाति-संबंधियों की सहायता से कार्य करता था जिन्हें राजन्य कहा जाता था। उत्तर वैदिक काल में

राजन्य दण्डाधिकारी एव कर-सग्राहक दोनो का ही कार्य करते थे। मंत्रिगण तथा तरह-तरह के अनेक अधिकारियो का पद निर्माण वैदिकोत्तर काल मे हुआ। वैदिक काल में सभा, समिति, गण, व्रात, विदथ इत्यादि जनसमूहो मे जन, विश्, या कुल के सदस्य भाग लेते थे, अतएव इन आरंभिक संरचनाओ का आधार जनजातीय था। धीरे-धीरे कबीले असमान सामाजिक वर्गों में विघटित हो गए; अधिकांश लोग उत्पादन मे लगाए गए, और थोडे से लोग सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एव धार्मिक मामलों के प्रबध में लगे। ऐसी अवस्था में पुरानी, सरल कबीलाई सस्थाओं से काम नही चल सकता था। बहुसख्यक की कमाई पर जीनेवाले अल्पसख्यक लोगो ने वर्ग विभाजित समाज को कायम रखने के लिए वर्णव्यवस्था का सिद्धात चलाया। साथ ही नौकरशाही, पेशेवर सैन्य संगठन तथा राज्य सयत्र के अन्य अवयवों का विकास किया गया ताकि नई व्यवस्था स्थायी बन सके। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक ऐसी सस्था जो सीधे उत्पादन के द्वारा अपना निर्वाह आप नही कर सकती थी, उसे भेंट-उपहार, दान-दक्षिणा, और कर पर निर्भर करना पड़ता था। मार्क्सवादी धारणा के अनुसार वर्गों के आरंभ के साथ उनके बीच सघर्ष होने के कारण राज्य का जन्म हुआ, और राज्य सपत्तिधारी वर्ग के रक्षक के रूप में कायम किया गया; प्रभुता वाले वर्ग का अधिकार उत्पादन के साधनों पर होता है और सुविधाहीन वर्ग को इससे वंचित कर दिया जाता है। किंतु पूर्व मौर्य युग मे सत्ता सपन्न वर्ग उत्पादन के साधनो के स्वामी नही थे, पर वर्ण के आधार पर समाज का ऐसा गठन हो गया था कि वे टैक्स और दान-दक्षिणा के रूप में बिना स्वय पैदा किए पैदावार का हिस्सा खाते थे। कुछ बडे भू-स्वामियो तथा करोडपतियो के दर्शन भी होते हैं जो अस्सी करोड के स्वामी थे तथा जो दासो एवं श्रमिको की सेवाएं प्राप्त करते थे। सभवत: ये धनी वैश्य गृहपति होते थे। संभव है इनमे कुछ समृद्ध अथवा महाशाल ब्राह्मण भी रहे हों। पर पुरोहितों एवं योद्धाओ के विशेषाधिकारो की बात ही अधिक सुनने मे आती है, उनकी सपत्ति की नही। दोनो उच्च वर्गों के सदस्यों को करों से मुक्त रखा गया था। वैश्यों/गृहपतियों को ही प्रमुखतः टैक्स देना पड़ता था। ये विशेषाधिकार उस सामाजिक व्यवस्था का वरदान था जिसमे उत्पादन मुख्यत: वैश्यो एव शूद्रों के जिम्मे दिया गया। पर वर्णव्यवस्था को स्थायी बनाने के लिए ऐसी सत्ता की आवश्यकता थी जिसका सशक्त वैचारिक समर्थन हो।

चूँकि हमने कर-व्यवस्था एवं राज्य के अन्य अवयवों का स्वरूप जातकों के साक्ष्य पर बतलाया है, मौर्य-पूर्व काल के लिए इसकी प्रामाणिकता पर सदेह किया जा सकता है। जातकों मे कौन स्तर पहले का है और कौन बाद का यह अपने मे विस्तार से विचार योग्य विषय है। प्रत्येक जातक कथा तीन भागों में पाई जाती है: वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) कथा, अतीत कथा तथा गाथा अथवा पद मे दिया गया उपदेश।

सिकंदर के इतिहासकारों द्वारा प्रस्तुत प्रमाणो को अधिक विश्वसनीय माना जा सकता है। दे . . राज्यों के सैन्य संगठन के संबध में आकडे प्रदान करते हैं जिनमें नंदों का मगध राज्य भ शामिल है। कर्टियस का कहना है कि गंगरीडाए (GANGARIDAE) तथा प्रासी (PRASII) के राजा अग्रेमिस के पास, जिसकी राजधानी पालीबोथ्रा (PALIBOTHRA) अथवा पाटलिपुत्र मे थी, अपने देश के प्रवेशद्वारो की सुरक्षा के लिए 2,000 चार घोडोवाले रथ, 3,000 हाथियों की सेना, 20,000 अश्वारोही सेना, तथा 2,00,000 पैदल सेना थी। डाओडोरस तथा प्लूटार्क भी इसी प्रकार का विवरण देते हैं किंतु डाओडोरस, हाथियों की सख्या 4,000 तथा प्लूटार्क 6,000[12] कर देता है। यदि प्रत्येक घोडे के साथ दो व्यक्ति लगाए जाएं, तो अश्वारोही सेना मे 40,000 व्यक्ति होगे। इसी प्रकार 2,000 चतुराश्व रथो के लिए 8,000 लोगो की आवश्यकता होगी, तथा 6,000 हाथियों के लिए कम से कम 12,000 व्यक्ति अपेक्षित होगे। इस प्रकार अपने अमात्यो को एकत्र किया।[11] इन सदर्भों मे स्पष्ट है कि वेतन देकर हजारो पेशेवर सेना मे नियुक्त लोगो की सख्या 2, 60, 000 के लगभग होगी। यदि 10 प्रतिशत लोग भी सेना मे भरती हुए हो तो गगरीडाए अर्थात् मध्य गागेय मैदानो तथा प्रासी अर्थात् प्राच्य प्रदेश की कुल जनसख्या लगभग 26,00,000 होगी। इस गणना की जाँच दूसरे ढग से की जा सकती है। स्पष्ट है कि अतिरिक्त कृषि-उत्पादन का बडा भाग सेना पर खर्च किया जाता था जिसकी (कुल विशेषत: भारतीय संदर्भ में, मौखिक आदान-प्रदान अथवा श्रुति की परपरा बहुत प्राचीन है तथा आज भी देश के अनेक भागो मे प्रचलित है। निसदेह जातकों के वे अंश जो दक्षिण भारत सहित विशाल भौगोलिक क्षितिज का दर्शन कराते हैं, विभिन्न समुद्री बदरगाहो की चर्चा करते हैं तथा दूर-देशीय एवं व्यस्त वाणिज्यिक गतिविधियों की बात करते हैं, उनका समय मौर्य शासन के अंत का अथवा उससे भी बाद का हो सकता है। यही बात उन कथाओं पर भी प्रयुक्त होती है जिनमे मंत्रियो को गांवो के अनुदान दिए जाने की बात है। किंतु अनेक जातको मे प्रतिबिंबित वित्तीय एवं प्रशासनात्मक संरचना कौटिल्य द्वारा दी गई संरचना की तुलना में स्पष्ट रूप से पिछड़ी हुई है। यदि कौटिल्य को मौर्य काल मे होना संदिग्ध भी माना जाए तो भी यूनानी वर्णनो तथा अशोक के अभिलेखों के आधार पर जिस राज्य-संगठन का अनुमान होता है वह जातकों में वर्णित संगठन से कहीं अधिक विकसित है। यद्यपि जातको मे प्रयुक्त वित्तीय, न्यायिक एवं प्रशासनात्मक महत्त्व के कतिपय शब्द अशोक के अभिलेखो मे मिलते हैं, अन्य लुप्त हो गए हैं तथा उनके स्थान पर राज्य के अवयवों एवं उनके प्रकार्यों को दर्शाने के लिए नए शब्दो का प्रादुर्भाव हुआ है। अतः राज्य संगठन संबंधी जातक-सामग्री के बडे अंश को मौर्य-पूर्व युग में स्थित कर सकते हैं।) संख्या 2,60,000 के लगभग थी। किंतु इसके अतिरिक्त 1,30,000 अन्य लोग भी थे जो स्वयं कुछ पैदा नही करते थे। इस

समूह में प्रशासनिक कर्मचारी, राजपरिवार के सदस्य तथा पुरोहित इत्यादि सम्मिलित थे। अतः अनुत्पादक लोगों की सख्या लगभग 4,00,000 मानी जा सकती है। प्राचीन भारत मे पैदावार के छठे हिस्से से सेना, प्रशासन तथा पुरोहित वर्ग के लोगों का पालन होता था। यदि यह मान लिया जाए कि चार लाख ऐसे लोगो का समूह कुल जनसख्या का छठा भाग था तो कुल जनसख्या 24,00,000 के लगभग होगी। यह सख्या सेना की सख्या पर आधारित सूत्र से प्राप्त सख्या से बहुत भिन्न नही है। अकबर के समय कृषियोग्य भूमि के आधार पर की गई गणना के *अनुसार बिहार की जनसख्या तब 1,4/1,500,000*[122] *से अधिक नही रही होगी।* अत समग्र रूप मे मध्य गागेय मैदानों की आबादी के बारे मे हमारा अदाज गलत नही हो सकता। युद्ध के युग मे प्रत्येक नगर की सीमा मे कुछ न कुछ जगल अवश्य होता था, ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य गगा के सारे मैदान आबाद नही थे। इस अवस्था मे मगध राज्य के लिए 25 लाख की जनसंख्या ठीक मालूम पडती है।

स्पष्ट है कि कृषको से उगाहे गए करों के ही कारण नद राजा लंबे समय तक सेना रख सकते थे। नदो का अपने राज्य मे बाटों एव मापो को मानकीकृत करने का कारण कर-सग्रह भी हो सकता है। "नद राजाओ द्वारा प्रभूत मात्रा में धन-संग्रह करने में सभवतः पर्याप्त आर्थिक शोषण निहित है।"[123] करों के निर्धारण एवं सग्रह तथा कर-व्यवस्था का सगठन, जिसका विवेचन हमने पालि ग्रथों के आधार पर किया है, विजेता मगध राज्य के सदर्भ में ठीक मालूम पडता है। किंतु तुंडियों एव अकासियों जैसे अत्याचारी कर-सग्राहकों की नियुक्ति नदों तथा उन्ही जैसे राजाओ ने अतिरिक्त आय प्राप्त करने के लिए की होगी। जो भी हो, बडी पेशेवर फौज सुसंगठित कर-व्यवस्था के कारण ही कायम हुई, ठीक उसी प्रकार जैसे बलप्रयोग करनेवाली सत्ता के कारण करो की वसूली मे सुविधा हुई। कौटिल्य ने भी इस अंतर्संबध पर बल दिया है।

उपमहाद्वीप के उत्तर-पूर्वी भाग में राज्य-व्यवस्था सुस्थापित हो चुकी थी। व्यास तथा झेलम के बीच नौ राष्ट्रों तथा 5,000[124] नगरों की बात हम सुनते हैं। इस क्षेत्र में पांच राज्यों की पेशेवर सेना के आंकडे सिकदर के इतिहासकारों से मिलते हैं। असकेनोस (ASSAKENOS) (स्वात तथा बुनेर का हिस्सा)[125] के राज्य के पास 20,000 घुडसवार, 30,000 से अधिक पैदल सेना तथा 30 हाथी थे।[126] असकेनोस शब्द सभवतः सस्कृत के अश्वक 'अश्वों का देश' के समकक्ष है :[127] विशाल घुडसवार सेना का यही कारण था। यदि हम कुल जनसंख्या की गणना के लिए पहलेवाले सूत्र का प्रयोग करें तो इस राज्य की आबादी 7,00,000 के लगभग होगी।

इसके अतिरिक्त झेलम तथा चेनाब के बीच स्थित बडे पोरस (पुरु) का राज्य एक विस्तृत एवं उर्वर क्षेत्र था जिसमे लगभग 300 नगर थे।[128] डाओडोरस के

अनुसार पुरु के पास 50,000 से अधिक पैदल सेना, लगभग 3,000 घुड़सवार, 1,000 रथ तथा 130 हाथी थे।[129] यहाँ भी उसी सूत्र के अनुसार पुरु के राज्य की कुल जनसंख्या 6,00,000 से अधिक नहीं होनी चाहिए। ध्यान देने योग्य है कि बड़े पुरु के राज्य में नगरीकरण अत्यत महत्त्वपूर्ण तथ्य के रूप में प्रकट होता है। ग्लॉगनिकै (GLAUGANIKAI) नामक लोगों के राज्य में भी, जो चेनाब के पश्चिम और पुरु की सीमा से लगा हुआ था, नगरीकरण का जोर था।[130] इसमें 37 नगर थे जिनमें सबसे छोटे नगर की न्यूनतम जनसख्या 5,000 थी, और अनेक नगरों की आबादी तो 10,000 से अधिक थी।[131] कहने की आवश्यकता नही कि सुदृढ़ कृषि-आधार के कारण ही नगरीकरण होता है जिससे समाज में विभेद तीव्र होता है और फलस्वरूप राज्य-सरचना की आवश्यकता बढ़ती है।

सिबोई (SIBOI), जो झेलम तथा चेनाब के सगम[132] के नीचे रहते थे, के राज्य के पास अगलसोइ[133] (AGALASSOI) स्थित थे। वे 40,000 पैदल और 3,000 घुडसवार जुटा सकते थे। यह स्पष्ट नही है कि यह सेना साल भर रखी जाती थी अथवा केवल युद्ध के समय कबीले के लोगों से जमा की जाती थी। यदि इस सेना को पेशेवर माना जाए तो हमारे सूत्र के अनुसार इसकी कुल आबादी 4,60,000 के लगभग होगी।

उत्तर-पश्चिमी भारत मे मालवों तथा क्षुद्रकों का राज्य सयुक्त रूप मे सबसे बडा था। मालव रावी नदी के दाहिने किनारे बसे हुए थे,[134] तथा क्षुद्रक के कब्जे में झेलम एवं चेनाब के संगम के नीचे की भूमि थी।[135] कर्टियस के अनुसार सुद्रकाय (SUDRACAI) तथा मलोई (MALLOI) की सेना में 90,000 पैदल, 10,000 घुडसवार तथा 900 रथ थे।[136] इसका तात्पर्य है कि दोनों कुलीनतंत्र शासक लगभग दस लाख लोगों से कर वसूल करते थे।

अंत में, हम अबसटनोई (ABASTANOI) अथवा अवष्ठों की सैन्य शक्ति की चर्चा करेंगे जो निचली चेनाब[137] के किनारे बसे हुए थे। ये लोग कृषक[138] थे, और संभवतः उनके शासन का रूप अल्पतंत्रात्मक था। उनकी सेना मे 60,000 पैदल, 6,000 घुडसवार तथा 500 रथ थे।[139] उनकी कुल जनसख्या 8,50,000 के लगभग रही होगी।

इस प्रकार मगध में नदों के अतिरिक्त भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम में कम से कम पांच राज्य ऐसे थे जिनके पास सुसगठित सैन्य व्यवस्था थी। इन सैन्य संगठनों को केवल सुस्थापित कर-व्यवस्थाओं के आधार पर ही रखा और चलाया जा सकता था। पालि ग्रंथों, विशेषतः जातकों, से हमें उत्तर-पूर्वी भारत के कर-संयत्र की पर्याप्त जानकारी मिलती है। किंतु पाणिनि के व्याकरण, जिसकी रचना उत्तर-पश्चिमी भारत में हुई प्रतीत होती है, में न केवल टैक्स के अर्थ में 'कार' की बात कही गई है बल्कि क्षेत्रकरों की चर्चा भी है जो सर्वेक्षण तथा नापी

द्वारा खेती लायक जमीन को प्लाटो मे बाँटते थे तथा उनका रकबा तय करते थे। मध्य गगा के क्षेत्रों मे लोहे के प्रयोग के फलस्वरूप लौकिक जीवन में होनेवाले परिवर्तनों ने उत्तर-पश्चिमी भागों को भी प्रभावित किया, यद्यपि भिन्न जलवायु के कारण वहा फसलों मे फर्क रहा होगा। यद्यपि इस क्षेत्र में कुछ ही स्थानो पर खुदाई हुई है पर यूनानी विवरण मे एक राज्य मे तीन सौ नगरो तथा दूसरे में 37 नगरो का उल्लेख है, स्पष्ट है कि नगरो के पृष्ठप्रदेश मे अच्छी खेती होती थी। अत पूर्ववर्ती समय की तुलना मे उत्पादन जोर से बढ़ा था जिसके परिणामस्वरूप लोगो के पास कर देने के लिए खाने-पीने के बाद भी पैदावार की कमी नही होती थी।

अत मौर्य-पूर्व काल मे करो के आरभ तथा राज्य के उदय के बीच निकट का सबध दिखाई पडता है। निसदेह, कर-पद्धति, नौकरशाही, न्यायिक पद्धति जैसे राज्य के अग जितने कि मौर्य काल मे विकसित थे उतने मौर्य-पूर्व काल मे नही थे। किंतु यह निर्विवाद है कि इस काल मे राज्य-पद्धतियो का निर्माण हुआ। कुल मिलाकर हमे पचास राज्यो के नाम ज्ञात हैं जिनमे से कुछ विजयी अथवा सयुक्त राज्य रहे होंगे। इनमे से अधिकाश राज्यो, अल्पतत्रो, अथवा राजतत्रो, के नाम जनजातीय मालूम पडते हैं जिनका तात्पर्य है कि कबीले, कुल, गोत्र अथवा वश के प्रभुत्वशाली लोगों ने राज्य का प्रमुख पद प्राप्त करने मे सफलता पा ली थी। किंतु एक बार राज्य का निर्माण हो जाने पर, विभिन्न जनजातीय इकाइयां एक ही भूभागीय इकाई का भाग हो गई। शासको ने अपने निकट एव दूर के सबंधियो पर नियत्रण स्थापित कर लिया जो समानता के घेरे से बाहर हो गए थे तथा जिनकी स्थिति हीन एव अधीनस्थ की बन गई थी। इस प्रकार जहा मालव एव क्षुद्रक शब्द से शासक और नागरिक का अर्थ बनता है वही मालव्य एव क्षौद्रक्य शब्द से अनागरिकता[140] का भाव झलकता है। इसी प्रकार का भेद शासनारूढ साक्यो तथा कोलियो एव उनके दासो एव कामगारों के बीच भी वर्तमान[141] था।

इन स्थितियो मे राज्य का निर्माण उन लोगो ने नहीं किया जो उत्पादन के साधनों के स्वामी थे। राज्य निर्माण मे सपत्ति की सुरक्षा का महत्त्व अवश्य था, किंतु इसके अतर्गत कम तथा अधिक दोनों ही प्रकार की सपत्ति के स्वामी आते हैं। उत्पादन के ससाधनों तक पहुच मे निश्चय ही विभेद दिखाई देता है। भूमि का अधिकार असमान था, तथा कुछ गावो का राजस्व तो ब्राह्मणो एव कभी-कभी सेट्ठियों को अनुदान मे दे दिया जाता था। किंतु यह असमान वितरण बडे पैमाने पर नही था। वास्तविक असमानता करो के सग्रह एव वितरण मे पाई जाती है। राज्य का निर्माण करो के सग्रह एव वितरण के कारण हो रहा था। राज्य की सरचना एव सचालन वे लोग करते थे जो कर के रूप मे कृषको से अतिरिक्त उत्पादन एकत्रित करते थे तथा उसका मुख्य अश सिपाहियों, वित्तीय एव प्रशासनिक अधिकारियों,

सन्यासियो तथा विचारको के रख-रखाव पर व्यय करते थे। कर-वसूली मे पक्षपात किया जाता था, ब्राह्मण एव क्षत्रिय करो से मुक्त थे, किंतु बाकी करदाताओ की विभिन्न श्रेणियो के बीच विशेष अंतर नही किया जाता था। हा शिल्पियों, व्यापारियो तथा कृषको के करो मे भेद अवश्य था। इस सदर्भ मे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सरक्षण प्रदान करने के नाम पर लोगो से जो कर वसूला जाता था उसका अधिकाश भाग राज्य के उपभोग मे जाता था तथा अत्यल्प अश करदाताओ के बीच प्रतिपुष्टि के रूप मे लौटकर जाता था।

राज्य की आय का अच्छा-खासा हिस्सा भिक्षुओ (जैन एव बौद्ध) तथा ब्राह्मणों पर खर्च होता था जो पुरोहितो, सन्यासियो एवं विचारको का रोल अदा करते थे। इनमे से कुछ जैन अथवा बौद्ध भिक्षु, या ब्राह्मण भी, समाज सुधार के लिए कभी-कभी राजा का विरोध करते थे, और कुछ ऐसे लोग तो राज्य सस्था के प्रबल समर्थक थे। पर सामान्यत सारे प्रकार के धर्मप्रचारक और विचारक राजनीतिक व्यवस्था के हिमायती होते थे। धार्मिक लोगो को न केवल राज्याश्रय प्राप्त होता था, बल्कि शिल्पी, कृषक, व्यापारी तथा समाज के गण्यमान्य लोग भी इनका पोषण करते थे। वस्तुत किसान दोहरा कर देते थे—एक तो राज्य को दूसरा राज्य के समर्थक धार्मिक लोगो को। विभिन्न अवसरो पर गृहस्थो द्वारा भिक्षुओ एव पुरोहितो को दिए जानेवाली दान-दक्षिणा को कानूनन कर की श्रेणी मे भले ही न रखा जा सके किंतु इस प्रथा को ऐसा सामाजिक समर्थन तथा धर्मसूत्र की मान्यता प्राप्त थी कि कोई गृहस्थ इसकी अवहेलना नही कर सकता था। द्विज के लिए धर्मसूत्रों का स्पष्ट निर्देश है कि वह यज्ञ करे तथा दान दे। निश्चय ही यह नियम ब्राह्मणो पर प्रयुक्त होता है, किंतु हमारे स्रोतो मे वे दाता के रूप मे शायद ही दिखाई देते हो; वे तो मुख्यत. दान ग्रहण करनेवालो के रूप मे प्रकट होते हैं। कबीलाई समाज मे लेन-देन की कैसी पद्धति होती है इसे ध्यान मे रखते हुए हम वैदिक समाज का विवेचन कर सकते हैं। ऐसा लगता है कि सामाजिक विकास की आरंभिक अवस्था में ज्ञाति-आधारित सबध तथा कर्तव्य सार्वजनिक रूप मे आवश्यक थे; अतः ऐसी अवस्था मे भेट-उपहार द्विपक्षीय एव बहुपक्षीय होते थे तथा समाज मे पारस्परिक आदान-प्रदान का कार्य करते थे। किंतु अतत भेट-उपहार पाने का अधिकाश अधिकार सरदार या राजा के हाथ मे चला गया, और दान-दक्षिणा पाने का अधिकार ब्राह्मणो और भिक्षुओं के हाथ। कैसे भिक्षुओं, ब्राह्मणों तथा उन्ही जैसे लोगो का दान लेने का एकपक्षीय एकाधिकार हो गया, इसकी संतोषजनक व्याख्या अभी तक नहीं की जा सकी है। निसदेह दान के बदले मे ब्राह्मण आशीर्वाद देते एवं मगलकामना तथा प्रार्थना करते थे। मगलकामनाओ का मनोवैज्ञानिक मूल्य जो भी हो, उनसे गृहस्थों के हाथ में कुछ प्राप्ति नही होती थी। दूसरी ओर गृहस्थो को सामाजिक व्यवस्था तथा क्षत्रियों के

शासनाधिकार को स्वीकार करने के लिए कहा जाता था।

करों के उद्भव को समझने के लिए कई प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। बलि कहे जानेवाले स्वैच्छिक उपहार कब और कैसे अनिवार्य हो गए? किसी खास सरदार के परिवार अथवा परिवार-समूह ने कब और कैसे विभिन्न उपहारों को हथिया लिया और बाद में करों के संग्राहक बन गए? उनके भाई-बंधुओं से उन्हें कर-संग्राहक की मान्यता कैसे मिली? भेंट-उपहारों का भोजों और यज्ञों के द्वारा भाई-बंधुओं के बीच पुनर्वितरण कब और कैसे घटने लगा, तथा अधिकारियों एवं सैनिकों जैसे थोड़े से व्यक्तियों ने अपने उपभोग के लिए भेंटों को कैसे संचय करना शुरू किया?

वैदिक काल के काफी बड़े भाग में सगे-संबंधी तथा हारे हुए कबीले बलि समर्पित किया करते थे। इस प्रथा को धार्मिक संस्कारों जैसे राज्याभिषेक संबंधी राजसूय यज्ञ से संबद्ध करके मान्य एवं औपचारिक बनाया गया। पुरोहितों ने इस धारणा का प्रचार किया कि कबीले के लोग (विट् अथवा विश्) राजा के लिए भोजन के समान हैं। इसका अर्थ था कि अपने साधारण सगे-संबंधियों की कमाई पर राजा और उसके निकट के संबंधी राजन्य तथा दूसरे समर्थक अपना जीवनयापन करें। धार्मिक प्रचार के साथ चतुराईपूर्वक बल प्रयोग को भी जोड़ा गया। शतपथ ब्राह्मण के अनुष्ठान में इस बात पर जोर है कि विश् क्षत्रिय को बलि दे।[142] किंतु ईसा पूर्व लगभग 600 वर्षों तक, जो शतपथ ब्राह्मण का समय माना जा सकता है, बलि का भुगतान निश्चित अथवा नियमित रूप से नहीं होता था। ग्रंथ में कहा गया है कि वैश्य (विश् शब्द से व्युत्पन्न) गुप्त रूप से संपत्ति का संचय (निहित) करते हैं, तथा क्षत्रिय (सरदार अथवा शासक) जब चाहे वैश्य से संपत्ति ले सकता है।

गौतम बुद्ध के युग में लोहे के हल-फाल तथा कृषि के अन्य लौह-उपकरणों के प्रयोग तथा धान की रोपाई के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि हुई, इससे पर्याप्त अतिरिक्त उत्पादन होने लगा; अब बलि का नियमित रूप से वसूल करना आसान हो गया। मध्य गांगेय क्षेत्रों में कृषि में हुई महान् क्रांति के कारण अतिरिक्त उत्पादन का स्थायी रूप से उपलब्ध होना निश्चित हो गया। करव्यवस्था तब तक नियमित नहीं हो सकती थी जब तक किसानों के पास खाने-पीने के अलावा पैदावार का काफी हिस्सा नहीं बचता हो, पर कर प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त उत्पादन का उलपब्ध होना ही काफी नहीं था। अतिरिक्त उत्पादन को प्राप्त करने के लिए बल प्रयोग करना आवश्यक था। शतपथ ब्राह्मण में अनिच्छुक कबीलाई कृषकों (विश्) तथा सामान्य लोगों (प्रजा) से निबटने के लिए बल प्रयोग तथा बाध्यताकारी तत्व दिखाई देते हैं। इस ग्रंथ में कहा गया है कि जब क्षत्रिय अथवा शासक प्रजा अथवा विश् से किसी यज्ञ में नीचे आने को कहता है तो इसका अर्थ होता है वे उसकी अधीनता स्वीकार करते हैं।[143] स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल में

संग्राहकों की नियुक्ति जबरदस्ती की गई, इसके पीछे कुछ पेशेवर योद्धाओं का जोर और पुरोहितों के प्रचार का बल था। शतपथ ब्राह्मण के सोमयाग अंश में अनिच्छुक विश् को नियंत्रण में करने के लिए अनेक अनुष्ठानों का उल्लेख है।

मौर्य-पूर्व युग में कर संग्रह करनेवाले क्षत्रिय होते थे। क्षत्रियों को टैक्स नहीं देना पड़ता था, पर सभी क्षत्रिय परिवारों को कर लगाने और संग्रह करने का अधिकार नहीं था। कुछ वंशों और परिवारों को जैसे कोसल में महाकोसल तथा मगध में बिंबिसार के वंश को यह अधिकार था। अनेक सपिंड अथवा सगोत्र परिवारों में से किसी परिवार-विशेष ने दूसरों के ऊपर कैसे मान्यता प्राप्त कर ली और अतिरिक्त उत्पादन के बड़े भाग का अधिकारी बन गया? कर संग्रह पर उसका एकाधिकार कैसे स्थापित हुआ? ऐसी धारणा है कि किसी बड़े वंश की सदस्यता के कारण व्यक्ति का सामाजिक पद ऊंचा हुआ और आर्थिक ससाधनों पर उसका नियंत्रण हुआ।[144] यह एक अंश तक ठीक मालूम पड़ता है। पर प्राचीन काल में बड़े वंश की परंपरा कैसे कायम हुई? ऐसा लगता है कि जब राज्य का उदय ठीक से नहीं हुआ था तब कुछ कुलपतियों ने अपनी उम्र, वरीयता, शारीरिक गुण तथा उत्पादन में अनुभवी होने के आधार पर समाज में उच्च पद प्राप्त किया और लूट के माल तथा किसानों की उपज में अपना अधिकांश हिस्सा हथिया लिया। बाद में ऐसे ही लोग या उनके वंशज बुद्ध के युग में कर लगाने और संग्रह करने का दावा करने लगे।

नृपति के कर लेने का अधिकार उसी प्रथा का अनुगमन था जिसके अनुसार सरदार अपने सगे-संबंधियों के स्वैच्छिक भेट-उपहारों को ग्रहण करता था। किंतु सरदार के पद का आरंभ कैसे हुआ? इंद्र को देवताओं का प्रमुख अथवा राजा इसलिए चुना गया क्योंकि वह सर्वाधिक ओजस्वी, सर्वाधिक बलवान तथा कार्य संपन्न करने में सर्वोत्तम था।[145] स्पष्ट है कि शारीरिक एवं अन्य गुणों के कारण ही कबीले का कोई सदस्य सरदार चुना जाता था। प्रतीत होता है कि एक सफल मुखिया अपने मन एवं बुद्धि के गुणों के कारण, युद्ध में प्रभावशाली नेतृत्व के कारण, और गौओं तथा चरागाहों की सफल सुरक्षा के कारण लूट या पैदावार के बड़े अंश का अधिकारी हो सकता था। उत्पादन में वंशानुगत कुशलता एवं अनुभव प्राप्त करने तथा कबीले के मामलों को ठीक से संभालने के कारण मुखिया का बेटा भी बड़ा अंश माग सकता था। अनेक पुत्र होने की स्थिति में ज्येष्ठ को वरीयता इसलिए मिलती थी क्योंकि बड़ा होने के कारण उसे अधिक बातों का ज्ञान तथा अनुभव होता था। फिर विशेष सुविधा मिलने के कारण सरदार के पद को हमेशा के लिए अपने परिवार में कायम रखने की प्रवृत्ति प्रबल होती गई। ऐसा लगता है कि परिवार के सदस्यों में सरदारी के गुण नहीं रहने पर भी परिस्थितियों को ऐसा ढाला जाता था जिससे इसके लोग सरदार के पद पर बने रहे। शतपथ

ब्राह्मण में दस पीढ़ीवाले दशपुरुष के शासन का उल्लेख मिलता है।[146] किंतु इस ग्रंथ मे भी ज्येष्ठाधिकार का नियम स्थापित नही किया गया है।[147] अपने अनेक पुत्रों में से राजा ज्येष्ठ पुत्र को ही चुनता था इस आशा से कि वह अपने पिता के ओज को अमर करेगा।[148] शतपथ ब्राह्मण मे किसी ऐसी नियमित व्यवस्था का उल्लेख नही है जिसके अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को ही स्वाभाविक रूप से 'राज्य' मिलता हो।

प्राचीन समाजो मे निहित स्वार्थों को स्थायी बनाने के लिए पदो, विशेषाधिकारो तथा सपत्ति को जन्म के आधार पर निर्धारित किया जाता था। प्राचीन भारत मे वर्ण-व्यवस्था के द्वारा वशानुगत अधिकार को और समाजो की अपेक्षा अधिक सुदृढ किया गया। पद के वशानुगत हो जाने पर ज्येष्ठाधिकार का नियम चल पडा जैसा कि महाभारत के आदिपर्व के अनेक दृष्टातो मे लक्षित होता है। ज्येष्ठ भाई का पुत्र, भले ही वह छोटे भाई के पुत्र से कितना ही बडा क्यों न हो, मुखिया या सरदार का पद पाता था। परपरा के बल एव शोषण की सुविधा के कारण वशानुगत उत्तराधिकार मजबूत हुआ। कर वसूल करने और राज्य चलाने मे स्थायित्व हो इस कारण ज्येष्ठाधिकार की प्रथा का जन्म हुआ। ज्येष्ठाधिकार पहले विशाल परिवार के एक सदस्य तक सीमित था। जैसे-जैसे वह परिवार छोटे-छोटे परिवारो मे बट गया, प्रत्येक ऐसे परिवार मे भी ज्येष्ठाधिकार की प्रथा चल पडी। यहा जो कहा गया है उसे परिकल्पना ही कहा जा सकता है जब तक कि इस प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओ का परीक्षण अधिक लिखित प्रमाणों के प्रकाश मे न कर लिया जाए।

थोडे मे मुखिया परिवारो के प्रभुत्व के स्थायी होने के कारण जो भी रहे हो, स्वैच्छिक उपहारो या करो मे परिवर्तित होना तथा उन परिवारो द्वारा उन्हे हडप लेना तभी आरभ हुआ जब वैदिकोत्तर काल मे गगा के मैदानों मे अधिक उत्पादन की क्षमता बढी। ऐसा लगता है कि वैदिक युग मे मुखिया को यज्ञ के अवसर पर स्वैच्छिक भेट-उपहार मिलते थे जो उन्हे भोज और बिदाई के द्वारा पुनः वितरित कर देना था, महान् भोजो का आयोजन होता था जिसमे सभी आमंत्रित होते थे।[149]

अनेक हिंदू सस्कारो मे अभी भी पुनर्वितरण प्रथा के अवशेष पाए जाते हैं। उत्तर वैदिक काल मे अन्न उत्पादन के कारण यज्ञो की सख्या जोर से बढ़ी। शतपथ ब्राह्मण मे यज्ञ को अनाज से भरी गाडी समझा गया है। विविध यज्ञो मे बडे पैमाने पर पशुहत्या होती थी, विशेषकर गौओं की। पर इन मौको पर जो दान दिए जाते थे और भोज होते थे, उनमे सरदार और उसके साधारण सगे-सबधियो के बीच की असमानता घटती थी। किंतु वैदिक काल के अत होते होते कुछ क्षत्रिय राजे यज्ञो की उपयोगिता की आलोचना सभवत. इसलिए करने लगे क्योंकि इसमे ब्राह्मणों को लाभ होता था। बौद्धों ने डटकर पशुहत्या का, विशेषत. गोहत्या का

विरोध किया। इन कारणों से यज्ञो की सख्या घट गई और साथ ही लोगों को खिलाने पिलाने के अवसर भी कम हो गए। जब तक सरदारो या राजाओं का चुनाव होता रहा तब तक यज्ञ बारबार होते रहे और उनके साथ पुनर्वितरण की प्रथा खूब चलती रही। अपने सगे-सबधियो को खिला-पिलाकर और उत्सव मे उनका मन बहलाकर सरदार अपने लिए उनका समर्थन बारबार प्राप्त करता था जिससे उसकी सत्ता बनी रहती थी। किंतु वैदिक काल के अत तक सरदार का पद इस हद तक पुश्तैनी बन गया कि शतपथ ब्राह्मण में दश पीढ़ीवाले राजा की चर्चा है। बडे सरदारतत्रो मे स्थायित्व का तत्व प्रमुख बन गया। अपने पद को कायम रखने और मजबूत करने के लिए उन्हे अनेक यज्ञों की जरूरत नही रही। अब सरदार या राजा के हाथ में जो भी आता था उसका उपभोग उसके ड्योढ़ीवाले अथवा उसके अधिकारी और सिपाही करते थे। ये सारे लोग उसके नातेदार नही होते थे, पर पाले-पोसे जाने के कारण राजा के हिमायती होते थे। राजा और उसके अधिकारियो तथा कर्मचारियो के बीच जो नए सबध कायम हुए उनमे निजीपन का भाव बहुत घट गया। जब राजा ने लोगो को खिलाना-पिलाना घटा दिया तो जो कुछ भी उसके हाथ मे कर के रूप मे आता था उसका अधिकाश भाग शासन चलाने पर ही खर्च होता था। इस प्रकार राजा के संसाधन बहुत बढ़ने लगे, और राज्य सरचना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

संदर्भ तथा टिप्पणिया

1 देखिए, इस पुस्तक का अध्याय 3
2 अर्थशास्त्र, I 4
3 वही, VIII 1
4 दि अर्ली स्टेट, हेनरी, जे एम क्लेजन एड पीटर स्कालनिक, मान्टन द्वारा सपादित 1978, पृ 612-13
5 सोलह महाजनपदो, जिनमे गणतत्र भी सम्मिलित है, का उल्लेख अगुत्तर निकाय मे मिलता है। पालि ग्रथों की छ गणतात्रिक राज्यो का उल्लेख है तथा सिकदर के इतिहासकारो ने अट्ठाइस राज्यो का उल्लेख किया है। एच सी रायचौधरी, पालिटिकल हिस्ट्री आफ एंशिएण्ट इडिया, युनीवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, 1972, पृ 85, 169-74, 216-29
6 VI, i, 512-13.
7. VI, ii, 320
8 VI, ii, 223
9 VI, ii, 220-21.
10 VI, ii, 223
11 राष्ट्र च कोषभूतम् स्यात् कोषो वेश्मगतस्तथा

12. अर्थशास्त्र, II 1 और II 35
13 एच सी रायचौधरी आप शीट, पृ 155
14 इन वस्तुओं के परीक्षण के परिणाम एच सी भारद्वाज के आस्पेक्ट्स ऑफ एंशिएंट इंडियन टेक्नोलाजी, दिल्ली, 1983, में उपलब्ध हैं।
15 वही
15क आर एस शर्मा मेटेरियल कल्चर एं सोशल फारमेशंस इन एंशिएंट इंडिया, नई दिल्ली, 1983, पृ 96-99
16 रिचर्ड फिक, सोशल आरगनाइजेशन ऑफ नार्थ ईस्ट (एन ई) इंडिया आदि, कलकत्ता, 1920, पृ 118-19
17. जातक, ii, 378
18 वही, ii, 376, iv, 169
19 वही, ii, 378, जेड डी एम सी, xlvii, 468-70
20 रिचर्ड फिक, सोशल आरगनाइजेशन ऑफ नार्थ ईस्ट इंडिया आदि, पृ 149.
21 जातक, ii, 376
22 वी एस अग्रवाल, इंडियन एज नोन टू पाणिनि, लखनऊ, 1953, पृ 142, 197,
23 वही पृ 414-15
24 वही
25 जातक, iv, 169
26 X 28 विद दि कामम ऑफ हरदत्त (ए एस एस संस्करण)
27 कामम टू गौतम, X 21
28 X 24
29 जातक, ii, 378
30 X 11
31 अग्रवाल, आप शीट, पृ 414
32. II 15
33 जातक, iv, 399, 400
34 वही, ii, 240; iv, 224, v, 98
35 वही, iv, 169.
36 वही, ii, 378
37 कार्ल मार्क्स, ग्रेन्ड्रीस, अनुवाद, विद ए फोरवर्ड बाई मार्टिन निकोलस, पेलीकन बुक्स, 1973, पृ 166
38. वैदिक इंडेक्स, ii, 100
39 बी सी सेन, जे डी एल, xx, 165
40 जातक, i, 354
41 वही, i, 483.
42. वही, i, 199
43 वही, i, 199, 483
44 वही, iv, 115
45. वही, ii, 135.
46 वही, i, 484

47. वही, iv, 310.
48. सी एफ, जे डी एल, xxiv, 16
49. ए. एन. बोस, सोशल एड रूरल इकॉनामी ऑफ नार्दर्न इंडिया, दो खड, कलकत्ता, 1945, i, 39.
50 VIII, 12, 14, 17, VI ii, 112
51 जातक, v, 117
52 अग्रवाल, आप शीट, पृ 198
53. वही.
54. x 29
55 फामम टू गौतम, X 29
56 वही, X 23 बलिदान शब्द का प्रयोग आज भी धार्मिक कार्यों मे पशुबाल के लिए प्रयुक्त होता है।
57 धर्मकोश, स. एल एस जोशी, i, भाग 3, 1661
58. जातक, v,102-3, गाथा विद वामम
59. वही, vi, 212. गाथा
60 वही, v 106
61. वही, iv, 362
62 वही
63. फिक, आप शीट, पृ 120
64. पी टी एस पालि-इगलिश डिक्शनरी, एस.वी बालिपतिग्राका
65. जातक, vi, 169
66. अग्रवाल, आप शीट, पृ. 415
67. आप शीट, पृ 120
68. वही.
69. बोस, आप शीट, i,38
70. सुमगल विलासिनी, i, 246
71. सी एच आई, i, 159.
72. i. 87, 111, 114, 131, 224
73. सी. एफ. सेन, जे डी एल, XX, 106
74. सी एच आई, i, 159
75. एस बी बी, ii, 108
76. आप शीट, पृ 158
77. वही, पृ. 152.
78. सुमगल विलासिनी, i, 245
79. जातक, i, 138.
80. वही, i, 354.
81. बोस, आप शीट.
82. जातक, vi, 261.
83. सी एच आई, i, 177.
84 डे,जे डी एल, xxiv, 10, जातक, vi, 363.

85 वही
86 जातक 365, ii, 229 vi, 344
87 वही ii 428-9 गाथा 117 iii, 105, iv, 473
88 वही ii, 428-9, गाथा 117
89 वही, iv, 132, अनु जातक iv 84
90 दि बुक ऑफ डिसिप्लीन, ii, 67
91 जातक iv, 134, गाथा 100
92 जातक, iii, 26
93 वही i, 138
94 वही, iii 505
95 वही v 128
96 यहाँ आर पी कागले द्वारा बनाया गया टेक्स्ट (अर्थशास्त्र, II 6) को रखा गया है।
97 वही
98 वही
99 ये है अन्नाध्यक्ष कोष्ठाध्यक्ष पन्याध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, आयुधागाराध्यक्ष, गोध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, रथाध्यक्ष पत्ताध्यक्ष, विविताध्यक्ष, वही II J
99क अर्थशास्त्र V, 3
100 आर पी कागले (स) अर्थशास्त्र II, 6 II
101 वही
102 वही, शामशास्त्री ने पशुमृगपक्षीव्याल का अर्थ इन जन्तुओं का सग्रहालय माना है परन्तु इसे कुप्याध्यक्ष क कर्तव्य के रूप म लेना चाहिए
103 वही
104 वही
105 एच आल्डनबर्ग (स), विनय पत्रिका, 5 भाग, लदन, 1879-93, 207
106 वही, पृ 74
107 वही
108 एच सी रायचौधरी, आप शीट, पृ 184
109 एच ओल्डनबर्ग (स), आप शीट, पृ 74
110 वही, पृ 348
111 एच सी रायचौधरी, आप शीट, पृ 155
112 वही, पृ 184, फुट नोट[1]
113 जातक, V,178
113क वही iii 11
114 एच सी रायचौधरी, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट इंडिया 1972, पृ 173
115 आर एस शर्मा, आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल आईडियाज एड इस्टीट्यूशस इन एंशिएट इंडिया, दिल्ली, 1968, अध्याय IX
116 वही
117 वही
118 एच सी रायचौधरी, आप शीट, पृ 176
119 वही, पृ 178
120 वही पृ 186-189

121 एच सी रायचौधरी, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट इंडिया, युनीवर्सिटी ऑफ कलकत्ता 1972, पृ 208-9
122 मैंने इस गणना को चद्र प्रकाश नारायण सिंह द्वारा प्राप्त किया है।
123 एच सी रायचौधरी, आप शीट, पृ 209
124 जान डब्ल्यू मैकक्रिडल, एंशिएंट इंडिया एज डेस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, रिप्रिंट, नई दिल्ली, 1979, पृ 39-40
125 एच सी रायचौधरी आप शीट पृ 217
126 वही
127 एच सी रायचौधरी, आप शीट, पृ 217
128 मैकक्रिडल, एंशिएट इडिया आदि, पृ 25
129 एच सी रायचौधरी, आप शीट, पृ 220
130 वही, पृ 221
131 वही
132 वही, पृ 223
133 वही, पृ 224
134 वही, पृ 225
135 वही, पृ 224
136 जे डब्ल्यू मैकक्रिडल, इनवेजन ऑफ एलेक्जेंडर, पृ 234, उद्धृत एच सी रायचौधरी, आप शीट, पृ 225
137 एच सी रायचौधरी, आप शीट, पृ 225
138 जातक, iv, 363, उद्धृत, वही, पृ 226
139 इनवेजन ऑफ अलेक्जेंडर, पृ 252, एच सी रायचौधरी की ऊपर उल्लिखित पुस्तक, पृ 226 मे उद्धृत।
140 आर एस शर्मा, आप शीट, पृ 109
141 वही, पृ 110
142 शतपथ ब्राह्मण, I, 3 I 15
143 वही
144 रोमिला थापर, अध्यक्षीय भाषण, 44, भारतीय इतिहास काग्रेस, बर्दवान, 1983, पृ 3
145 ऐतरेय ब्राह्मण, VIII, 12-17
146 शतपथ ब्राह्मण, xii 9 3 1, और 3
7. दशपुराण के उदाहरण मे यह प्राप्त होता है कि एक परिवार के दशवशजो के शासन के बाद भी उनकी शक्ति का ह्रास हुआ। वही
148 वही, V.4 2 8.
149 ये दृष्टात रामायण एव महाभारत मे मिलते हैं

9. वैदिक गण और वैदिकोत्तर गणराज्यों की उत्पत्ति

भारतीय इतिहास-लेखन के ढाचे में प्राचीन भारताय गणराज्यों को महत्त्व का स्थान दिलाने का श्रेय काशीप्रसाद जायसवाल को है। इनकी उत्पत्ति के संबध में उनके निम्न विचार हैं : 'ऋग्वेद' और 'अथर्ववेद' की ऋचाओं, 'महाभारत' में व्यक्त विचार, और ईसापूर्व चौथी शताब्दी में मेगास्थनीज द्वारा सुनी गई भारत सबंधी अनुश्रुतियों, इन सबसे इस बात का संकेत मिलता है कि भारत में गणतंत्रात्मक शासन का उदय 'राजतंत्र के काफी बाद' और 'पूर्व वैदिककाल के पश्चात' हुआ।[1] यह मत वर्गविभाजित वैदिकोत्तर गणराज्यों के बाद में भले सही हो, लेकिन जहा तक वैदिककाल के जनजातीय गणराज्यो का प्रश्न है, यह सामान्यीकरण न तो पूर्व वैदिकसाहित्य में और न उत्तर वैदिकसाहित्य में ही उपलब्ध साक्ष्य से मेल खाता है।

गण का उल्लेख 'ऋग्वेद' में छियालीस बार, 'अथर्ववेद' में नौ बार और ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक बार हुआ है। अधिकांशतः इनका निर्वचन 'सभा' या 'सेना' के अर्थ में किया गया है। सन 1910 के बाद, कुछ वर्षों तक, इस शब्द के अर्थ को लेकर काफी विवाद चला। फ्लीट ने मालवगण की व्याख्या करते समय गण का अनुवाद जनजाति किया। जायसवाल ने इसका अनुवाद सभा या 'सभा द्वारा शासन' किया। जायसवाल का समर्थन एफ. डब्ल्यू टामस ने किया। वैसे, कालानुक्रम से विचार किया जाए तो दोनों निर्वचन सही हो सकते हैं। दृष्टव्य है कि वैदिक ग्रंथों में मरुतों का उल्लेख बार-बार गण के रूप में हुआ है।[2] चूंकि सभी मरुत रुद्र के पुत्र थे, इसलिए यहां गण शब्द को एक जनजातीय इकाई के अर्थ में प्रयुक्त हुआ माना जाएगा। आगे चलकर यह अर्थ उत्तरोत्तर अप्रचलित होता चला गया। 'मालवगण' में मालव शब्द से मालव राज्य के सभी जनों का बोध नही होता, और यही बात क्षुद्रकों के साथ भी लागू होती है।[3] पतंजलि का कथन है कि मालवों और क्षुद्रकों के दासों और कम्मियों (कर्मकर) को मालव्य और क्षौद्रक्य नही कहना चाहिए, बल्कि केवल मालव और क्षुद्रक जनजातियों (जिन्हें सभवत. सारे राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे) की संतान के लिए इनका प्रयोग करना चाहिए।[4]

इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि मालव और क्षुद्रक गणराज्य दासता और कम्मीप्रथा पर आधारित थे। कुल मिलाकर इन दो उल्लेखों से यह ध्वनित होता है कि इन गणराज्यों के दास और कम्मी शूद्रों और वैश्यों के समरूप थे। हमें यह भी ज्ञात है कि मल्लों और कोलियों के गणराज्यों में दास और भाड़े के खेतिहर मजदूर (कृषिदास) राजनीतिक अधिकारों के उपभोग से वंचित थे। ये अधिकार सिर्फ़ अभिजात लोगों को प्राप्त थे। एक ही जनजाति के लोगों के बीच इतना तीव्र वर्गभेद वैदिकयुग के जनजातीय गणों मे नहीं मिलता।

पूर्व तथा उत्तर वैदिक साहित्य में गण के उल्लेखों के अध्ययन से प्रकट होता है कि यह मुख्य रूप से भारतीय आर्यों का एक प्रकार का जातीय (जेंटाइल) संगठन था। यह सोचना गलत है कि किसी समान पूर्वज के पुरुषवंशक्रम से निकले परिवारों के समूह का सूचक लैटिन शब्द 'जेंस' और ग्रीक शब्द 'जनोस' संस्कृत के गण शब्द के भारोपीय पर्याय हैं।[5] गण शब्द 'जन' धातु से, जिसका अर्थ 'प्रजनन' होता है, व्युत्पन्न नही माना जा सकता, इसकी उत्पत्ति 'गण' धातु से हुई है, जिसका अर्थ गिनना होता है। शाब्दिक रूप से यद्यपि 'गण' का अर्थ जनजाति नही, बल्कि ऐसे लोगो का कृत्रिम समूह है और इन लोगों का एक ही जनजाति का होना कोई जरूरी नही है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य में अधिकांश स्थलों पर यह जनजातीय संगठन के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

मरुतो के बारे में हमे जो कुछ मालूम है, उससे वैदिक गणों का जनजातीय स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। उनका वर्णन रुद्र के उनचास पुत्रों[6] या नौ-नौ के समूहों मे विभक्त तिरसठ पुत्रों[7] के रूप मे हुआ है। वैदिक साहित्य मे देवताओं के गणों के अनेक उल्लेख हैं।[8] पौराणिक और महाकाव्य साहित्य में, जिसमें हमारा प्राचीनतम आनुश्रुतिक इतिहास वर्णित है, देवों और असुरों के गणों के प्रचुर संकेत मिलते हैं। कहना नहीं होगा कि ये और कुछ नहीं, बल्कि मानवसमाज में विद्यमान गण संगठन के प्रतिबिंब हैं। हर प्रसंग मे गणविशेष के सदस्य किसी एक पूर्वज के वंशज दिखाए गए हैं। ध्यातव्य है कि इन अनुश्रुतियों में वर्णित अनेक गण मातृनाम (मेट्रोनिमिक्स) धारण करनेवाले हैं। दृष्टांतस्वरूप, आदित्यों का गण अदिति से निकला था।[9] फिर 'महाभारत' में स्कंद या कार्तिकेय के वर्णन में बताया गया है कि वह सात मातृगणों के साथ दैत्यों के विरुद्ध लड़ने गया।[10] एक दूसरे स्थान पर, जहां उसकी माताओं की प्रशस्ति की गई है, हमें कई गणों मे विभक्त एक सौ से अधिक माताओं के नाम मिलते हैं।[11] शत्रुगणों का नाश करने मे उनकी भूमिका के जो मिथकी (मिथिकल) उल्लेख मिलते हैं उनसे उनका योद्धारूप उजागर होता है।[12] यहां माताओं का शाब्दिक अर्थ लेना ठीक नहीं होगा। स्पष्ट ही यहां उनका मतलब ऐसी वयस्क स्त्रियो से है जो लड़ाई में भाग ले सकती थी। यह धारणा कि केवल पुरुष ही लड़ सकते हैं, हमारे मन में इतनी गहरी बैठी हुई है

कि बहुत प्रयत्नपूर्वक ही हम यह सोच सकते हैं कि महिलाओं के भी ऐसे सैन्यसमूह हो सकते थे जो दैत्यो के विरुद्ध स्कद के अभियान मे उसके साथ गए थे। प्रागैतिहासिक काल मे प्रचलित प्राचीनतम श्रमविभाजन स्त्री-पुरुष के आधार पर था, जिसमे पशुपालन, शिकार और युद्ध पुरुषो के मत्थे तथा पाकक्रिया और कृषि स्त्रियों के जिम्मे थी। लेकिन इस मिथक में संभवतः और अधिक आदिम समाज का रूप प्रतिबिंबित हुआ है, जब स्त्रियो के गण पुरुषों के गण के साथ मिलकर युद्ध करते थे। यद्यपि यह किसी ऐतिहासिक तथ्य का वर्णन नही है, फिर भी, ऐसे मिथक की कल्पना उस हालत मे शायद सभव नही होती यदि पूर्ववर्तीकाल के जीवन मे उसका थोडा आधार नही रहा होता। संभव है कि स्कंद, जिसके साथ स्त्री गणो का सबध है, कोई परवर्ती देवता हो, लेकिन देवो और असुरो के युद्ध की कहानी उतनी ही पुरानी है जितना वैदिककाल। इसके अतिरिक्त, यद्यपि योद्धा के रूप मे स्त्रियो के गणो का उल्लेख मुख्य आख्यान मे नही पाया जाता है, तथापि गौण आख्यानो मे भी पुरानी अनुश्रुतियों का प्रतिबिंब मिलता है। ये सारे तथ्य इस बात की ओर सकेत करते हैं कि वैदिक गण मे स्त्री तत्व भी सम्मिलित था, यद्यपि वैदिक साहित्य मे इसका कोई प्रत्यक्ष सबूत नही है। पूर्व वैदिकसाहित्य मे विदथ के साथ स्त्रियों के सबध होने का सकेत देनेवाले सात उल्लेख हैं,[13] लेकिन गण से उनका सबध दिखलाने वाला एक भी नही है।

इसमे भी कोई संदेह नही कि जनजातीय गण सभा के रूप मे भी कार्य करता था। ग्रिफिथ ने 'ऋग्वेद' के अनुवाद मे अनेक स्थलो पर इसे देवताओ या मनुष्यो की सभा कहा है। वैदिक उल्लेखो से इस बात का शायद ही कोई सकेत मिलता हो कि गण मे विचारविमर्श भी होता था। इसका अनुमान पौराणिक उल्लेखो से ही लगाया जा सकता है। एक बार मेरु पर्वत पर इकट्ठे ऋषियो ने एक सकल्प (समय) लिया, जिसके फलस्वरूप अपने गण के साथ सभी ऋषि किसी कार्य के सपादनार्थ एक स्थल पर जमा हुए।[14] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उक्त सकल्प पहले ऋषियो के गण द्वारा पारित किया गया होगा, यद्यपि उस सबध मे गण शब्द का प्रयोग नही हुआ है।

रोमन सभाओ में लडाई और मतदानकार्य साथ-साथ चलते थे। यह बात शायद गण के साथ भी रही हो, क्योंकि उसके सैनिक स्वरूप के अनेक उल्लेख मिलते हैं। ऋग और अथर्ववैदिक संहिताओ मे मरुतों के बलशाली और ओजस्वी गणों की चर्चा बार-बार सेना के अर्थ में हुई है।[15] इस सेना का नेतृत्व करते हुए कभी-कभी सूर्य या इन्द्र को भी दिखलाया गया है।[16] गणो के रूप में प्रयाण करते वीरो का भी वर्णन हुआ है।[17] यह भी देखने को मिलता है कि मरुतों के गण मनुष्यो की सहायता के लिए बुलाए जाते हैं।[18] गण द्रुतगामी अश्वो और अस्त्र-शस्त्र से सज्जित प्रतीत होते हैं।[19] लगता है, उनकी शस्त्रसज्जा में तीर-धनुष और तरकस

शामिल थे।[20] आदिम जनजातियों के आपसी सबधों के बारे में जो कुछ ज्ञात है, उसके आलोक मे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये जनजातीय गण एक-दूसरे के शत्रु थे और बराबर आपस मे लडते थे। दृष्टांतस्वरूप, एक स्थल पर ऐसा बतलाया गया है कि बृहस्पति ने विघ्नकारी बल को गर्जनकारी गण की सहायता से नष्ट कर पशुओ को भगा दिया। एक दूसरे स्थल पर युद्ध में लूट की संपत्ति के रूप मे गोधन की प्राप्ति की इच्छा रखने वाले मनुष्यो के गण का नेतृत्व करने के लिए पूषन को आहूत किया जाता है।[21] आदिम और प्रारंभिक काल के लोगो के जातीय सगठन के सादृश्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गण अपनी इच्छानुसार काम करने वाला सशस्त्र संगठन था, जिसका हर सदस्य शस्त्र धारण करता था। 'ऋग्वेद' और 'अथर्ववेद' से कोई ऐसा सकेत नही मिलता है कि युद्धकर्म केवल अभिजातवर्ग या उसके अनुचरो तक सीमित हो।[22] इसलिए यह मानना स्वाभाविक ही है कि 'सभा', 'समिति', विदथ और गण जैसी जनसभाओं का हरेक सदस्य शस्त्र ग्रहण करता था। आगे चलकर हमे ऐसे सगठनो के अवशेष पाणिनि के दस 'आयुधजीवी सघो' और कौटिल्य के चार 'वार्ताशस्त्रोपजीवी संघो' मे प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दसमुच्चय से सभवतः इस बात का संकेत मिलता है कि इन गणराज्यों मे वैसा स्थायी वर्गविभाजन नही हुआ था जिसमे नि.शस्त्र शासित लोगों के मुकाबले केवल शासक वर्ग को ही शस्त्र धारण करने का अधिकार था। इससे जान पड़ता है कि वैदिक गण समस्त जन समुदाय का सशस्त्र संगठन था।

गण का नेता, जिसे एक स्थान पर गण का राजा कहा गया है, सामान्यतया गणपति कहलाता था। इंद्र,[23] मरुत,[24] बृहस्पति[25] और ब्रह्मणस्पति[26] को, खासकर अंतिम तीन को, बार-बार गणपति कहा गया है। 'ऋग्वेद' में कम से कम एक जगह गणनेता को राजन की उपाधि दी गई है। सो यज्ञ के सिलसिले मे राजा को गणानापति के रूप मे आहूत किया गया है।[27] ब्रह्मणस्पति को, जिसे अनेक स्थानों पर गणपति कहा गया है, प्रार्थनाओं का सर्वोच्च राजा भी कहा गया है।[28] गणपति के साथ जुडी राजन की उपाधि से यह सकेत मिलता है कि कालांतर से गणपति ने अपने को राजा के रूप मे परिवर्तित कर लिया। उल्लेखों से यह विदित नही होता कि गणपति का चुनाव गण द्वारा होता था या नहीं। विदथ अपना पुरोहित निर्वाचित करता था, लेकिन गण के सबध मे ऐसी कोई चर्चा नहीं है।[29] किंतु, गणो मे जनजातीय व्यवहारो के जो सादृश्य देखने को मिलते हैं, उनसे और यूनानी जनजातियो के बीच प्रचलित प्रथाओ से इस अनुमान की पुष्टि होती है कि गणपति का निर्वाचन होता था। कम से कम गणपति के पद के वंशानुगत स्वरूप का आभास देने वाला तो कोई उल्लेख नहीं मिलता। साफ है कि उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य गौओं का हरण करने के लिए अपनी टोली का नेतृत्व करना था। कहने की जरूरत नहीं कि उस काल मे युद्ध में प्राप्त होनेवाला लूट का सबसे प्रमुख

धन गोधन ही था। एक स्थल पर ऐसा उल्लेख है कि गण अपने लिए धन जीतने को सदा उत्सुक रहते थे।[30]

सैनिक लड़ाई में जीते लूट के माल को वैयक्तिक हैसियत से लोग अपने पास नहीं रखते थे। गण के सदस्यों का यह कर्तव्य होता था कि वे ऐसी सभी संपत्ति जमा कर दें। एक व्यक्ति बलशाली सेना के महान सेनापति से, जो गण का राजनेता था, कहता है: 'उसे मैं अपनी दसो अंगुलिया फैलाकर दिखला देता हूं। मैं सत्य हूं। मैंने कोई धन छिपाकर अपने पास नहीं रखा है।'[31] ऐसा मालूम होता है कि गणपति उनके बीच लूट का माल बराबर बांट देता था। यह संकेत 'अथर्ववेद' की एक ऋचा से मिलता है, जो सायण के अनुसार, गणकर्माणि (गण के कर्तव्य) में सम्मिलित है। 'गुरुजनों (ज्यास्वन्त) से युक्त, दृढ़ संकल्प होकर, तू विभाजित न रह, वरन एक साथ कार्य सपादन करते हुए और संयुक्त श्रम (सधुर) से आगे बढ़ते हुए, एक-दूसरे को प्रिय लगनेवाले वचन बोलते हुए यहां आ। मैं तुझे सयुक्त (सध्रीचीन) और समान विचारोंवाला बनाता हू। तेरा पेय (प्रपा) समान हो, भोजन का अंश समान हो, एक ही जुए (योक्तृ) में मैं तुझे सयुक्त (युज) करता हूं; जिस तरह पहिए के अरे चक्रनाभि से जुड़े रहते हैं, उसी तरह तू संयुक्त होकर अग्नि की उपासना कर।'[32] गण में क्या-क्या होता था, इस बात के लिए यदि इसे प्रमाण माना जाए तो इससे एक प्रकार के आदिम साम्यवाद की ध्वनि मिलेगी, जो साथ मिलकर श्रम करने वाले और अपने श्रमफल को बराबर-बराबर बांटकर उसका उपभोग करने वाले अन्य जनजातीय समाजों की विशेषता थी। हमें यह मालूम नहीं कि 'गणपति' को कोई विशेष अंश दिया जाता था या नहीं, यद्यपि प्रारंभिक यूनानी जनजातियों के मुखिया को 'जेरास' नामक विशेष अंश दिया जाता था।[33] यह संभव है कि विशेष अंश पाने के अधिकार के फलस्वरूप गणपति युद्ध में प्राप्त लूट की संपत्ति का अपने पास सग्रह करता जाता होगा, जिससे उसके पद की प्रतिष्ठा और प्रभाव में वृद्धि होती होगी और अंत में वह पुरोहितों और सरदारों की सहायता से शासन करनेवाला वंशानुगत राजा बन जाता होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धकालीन गणराज्यों में शासन का सुसंगठित तंत्र था, जिसमें 'राजन्', 'उपराजन्', 'सेनापति', 'भांडागारिक', आदि होते थे। लेकिन वैदिक 'गण' में गणपति के सिवा कोई भी अधिकारी नहीं था। लूटपाट के माल में प्राप्य अंश के अलावा भी किसी प्रकार का पारिश्रमिक मिलता था, यह स्पष्ट नहीं है। गण के सदस्यों द्वारा अपने प्रधान को किसी प्रकार का अनिवार्य कर दिए जाने का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। उपासकों द्वारा स्वेच्छया अर्पित की गई बलि ग्रहण करने के लिए मरुतगण को आहूत किया गया है।[34] 'बोधायन ग्रह्यसूत्र' के 'बलिहरणम्' प्रकरण में बलि के संबंध में एक धार्मिक विधि है। 'गणेभ्यः स्वाहा' और 'गणपतिभ्यः स्वाहा' का उच्चारण कर गण और इसके नेता के नाम बलि

अर्पित की जाती है।[35] उसी प्रकार 'गणानां गणपतिं हवामहे' मे गणपति को अर्पित बलि का प्रमाण मिलता है। यदि हम यह मानकर चलें कि इस कर्मकांड में समसामयिक सामाजिक प्रथाओ को ही धार्मिक परिधान में प्रस्तुत किया गया है तो ऐसा प्रतीत होगा कि मानव समाज का गणपति भी, युद्ध में वह जो नेतृत्व प्रदान करता था, उसके लिए लोगों द्वारा प्रेम तथा अनुराग के साथ स्वेच्छापूर्वक दिया गया कर प्राप्त करता था। आदिम जनजातियो में प्रचलित प्रथा से भी इस बात का समर्थन होता है। जो बलि गण और गणपति को पहले स्वेच्छापूर्वक अर्पित की जाती होगी, वही जनजातीय गण के राजतंत्र में परिवर्तित हो जाने पर, अनिवार्य बन जाती होगी। 'ऋग्वेद' में राजा को 'बलिहृत्' कहा गया है, लेकिन गणपति के साथ ऐसी कोई उपाधि नही जोड़ी गई है।

वैदिकोत्तर गणो का संबंध उत्तर भारत के किसी न किसी निश्चित क्षेत्र से था, लेकिन ऋग्वैदिक गण खानाबदोशी और देशांतरगमन की अवस्था में थे, और पशुओं के लिए बराबर युद्धरत रहा करते थ। संभवतः ऋग्वैदिक गणों का आर्थिक आधार पशुपालन था, और पशु ही उनके धन का मुख्य रूप थे। इससे यह प्रतीत होता है कि ये गण किसी निश्चित भूभाग से जुड़े न होकर अपने पशुओं के साथ एक जगह से दूसरी जगह भ्रमण करते रहते थे। लडाई में कृषि उत्पादन या भूमि पर कब्जा करने का कोई उल्लेख नहीं है, जबकि सुस्थिर अर्थव्यवस्था का निर्माण इन्हीं दो चीजों के आधार पर हो सकता था। आगे चलकर 'शतपथ ब्राह्मण' में मरुतों का वर्णन कृषकों के रूप में हुआ है। फिर, 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में मरुत को अन्न कहा गया है, और उसके नाम पर अन्न को भी मरुत की संज्ञा दी गई है।[36] अतः ऐसा मालूम होता है कि जिस काल का चित्रण ब्राहमणो मे हुआ है, उस काल में गण खेतीबाडी करते थे।

उल्लेखों से प्रतीत होता है कि गण एक प्रकार की धार्मिक सभा का भी काम करता था। एक स्थल पर अग्नि से याचना की गई है कि वह इसके सदस्यों को, जो उसकी प्रार्थना और उपासना करते हैं, निराश न करे। उससे यह याचना भी की गई है कि वह साथ में सभी देवताओं को लाए ताकि वे गण के सदस्यों को धनधान्य दे सकें।[37]

गण में मद्यपान और गायन का भी उल्लेख मिलता है। मरुतों में गण को अति मद्यपायी कहा गया है।[38] इंद्र को देवसभा में सोमपान के लिए आहूत किया गया है।[39] एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि बृहस्पति गण के लिए गाता था या गीत प्रस्तुत करता था।[40] मरुतों के गायन के अनेक उल्लेख हैं। एक स्थल पर उनके गणो को पर्जन्य के लिए गाने को कहा गया है।[41] एक अन्य स्थल पर उन्हे आनंद की मुद्रा मे गाते और सोमरस का पान करते हुए वर्णित किया गया है।[42] यह भी कहा गया है कि सोम, गानेवाली पूरी टोली के हृदय में प्रविष्ट हो जाता है।[43] फिर

प्रार्थना पूजन करनेवालो से कहा गया है कि वे गण मे बैठकर गाए और इद्र से याचना की गई है कि वह उद्‌गाता (गानेवाले) को यज्ञ के लिए शक्ति दे।[44] सभवत गण के गायन कार्य से ही 'गणक' शब्द व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ स्वर ज्ञान विशेषज्ञ (स्वरमण्डल, आदि) है।[45] गणिका शब्द शायद गणक से निकला हो। महाकाव्यो मे मातृगणो के अस्तित्व के जो साक्ष्य मिलते हैं, उनसे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रारंभिक काल मे स्त्रियां भी गण मे रहती थी, और इसलिए परवर्तीकाल मे वे गणिका के रूप मे ज्ञात हुईं। लेकिन प्रारंभिक गण मे गणिकाओ का उल्लेख नही मिलता, यद्यपि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ये लिच्छवियों के गणराज्य से सबद्ध थी।[46]

वैदिक गण की विशिष्टता थी कि इसमें वर्गभेद नही था। मरुत, जो कि गणसमाज के विशेष दृष्टात हैं, विशः या जन के रूप में वर्णित हैं।[47] उनका वर्णन बार-बार कृषकों के रूप मे हुआ है, जिनके गणो में से प्रत्येक सात-सात के समूह से बना हुआ है।[48] उनका जो प्राचीनतम उल्लेख मिलता है उसमे भी वे सात-सात के नौ समूहो में विभक्त दिखलाए गए हैं।[49] इस समूहीकरण के श्रम पर आधारित किसी वर्ग विभाजन का सकेत नही मिलता। पौराणिक अनुश्रुतियों मे क्षत्रियों के गणो के उल्लेख मिलते हैं। एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि धार्ष्टक क्षत्र तीन हजार क्षत्रियों से बना हुआ गण था,[50] और नाभाग शक्ति का स्रोत एक हजार क्षत्रियों का समर्थन था।[51] हैहय कुल के क्षत्रियो के पाच गण थे।[52] ये उल्लेख बतलाते हैं कि गणसगठन क्षत्रियों की विशिष्टता थी, किंतु परवर्ती अनुश्रुतियो मे कुछ वैदिक कुलों को, शायद उनकी युद्धप्रियता को देखते हुए, क्षत्रिय कहा गया। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक काल मे एक ही गण मे क्षत्रिय और अन्य लोग भी नही होते थे। अत. इस बात की पूरी सभावना है कि वैदिक गण मे वर्णभेद नही था। यदि पौराणिक अनुश्रुतियों पर विश्वास किया जाए तो वैदिक गण को कृतयुग का माना जाएगा, जब वर्णव्यवस्था नही थी। 'शांतिपर्व' मे कहा गया है कि गण के सदस्य जन्म और कुल से बराबरी के हैं, किंतु शौर्य, बुद्धि और धन से नही।[53] समाज की जनजातीय अवस्था में असमानता, और खासतौर से धन की असमानता, किंचित ही रही होगी। अतः जन्मना समानता का भाव प्रारंभिक गणों का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू रहा होगा। परवर्ती विद्वान गण की परिभाषा परिवारसमूह करते हैं। लेकिन पूर्व वैदिककाल के गणों से ऐसा कोई संकेत नही मिलता। उत्तर वैदिक ग्रथों मे मरुतो को सात समहो मे विभक्त किया गया है, किंतु पूर्व वैदिककाल में गण सभवतः इससे बडा होता था। पहले दिखलाया जा चुका है कि 'कुल' शब्द 'ऋग्वेद' मे केवल एक ही बार प्रयुक्त हुआ है।

गण प्राक् आर्य सस्था था या नही, यह विवादास्पद है। प्रारंभिक अनुश्रुतियों मे इसका प्रयोग देवों और असुरो दोनों के लिए हुआ है। 'वायुपुराण' मे देवगणों का

वर्णन और नामोल्लेख है।[54] 'आदिपर्व' मे छह गणों का उल्लेख है, जो इस प्रकार है—रुद्रों, साध्यों, मरुतों, वसुओ, आदित्यों और गुह्यकों के गण। इनकी प्रार्थना-उपासना सभी प्रकार के पापों को नष्ट करनेवाली बताई गई है।[55] वैदिक साहित्य मे बृहस्पति, इद्र (जिसका जिक्र ईसापूर्व चौदहवीं शताब्दी के एक मितान्नि अभिलेख मे है)[56] और खासकर मरुत (जो मरुत्तश नाम से ईसापूर्व अठारहवी शताब्दी के एक कस्साइट अभिलेख में भी उल्लिखित है)।[57] जैसे सुपरिचित आर्य देवताओं के साथ प्रयुक्त गण शब्द से ऐसा भासित होता है कि इस प्रकार का जनजातीय सगठन आर्यों के बीच प्रचलित था। दूसरी ओर, अनेक महाकाव्यात्मक और पौराणिक उल्लेखो मे इस संस्था (गण) का संबंध शिव से जुडा देखने को मिलता है। इनमे शिव को 'गणाध्यक्ष'[58] कहा गया है, जिसके गण में स्कद, भूत,[59] और स्त्रिया भी शामिल हैं। 'वायुपुराण' मे यक्षो, गंधर्वों, किन्नरों और विद्याधरो के गणो का उल्लेख है, जिन्हे कश्यप की सतति कहा गया है।[60] हमें दस हजार दैत्यों के सैंहिकेय नामक गण की भी जानकारी मिलती है।[61] म्लेच्छों के भी अनेक गणों के उल्लेख हैं। इनके गण जबूद्वीप के अंग, शंख और वराह जैसे अनेक द्वीपो में बसे हुए थे।[62] इन बातो से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्येतर जातियों में भी गण जैसे संगठन विद्यमान थे। भारोपीय भाषाओं में इस शब्द के प्रतिरूप के सर्वथा अभाव से इस अनुमान की भी पुष्टि हो सकती है कि यह ठेठ भारतीय सस्था थी, जो आर्यों के प्रभाव से मुक्त थी। एक बात में गण विदथ के सर्वथा विपरीत पडता है। जहां विदथ संस्था और शब्द दोनों रूपों में वैदिकोत्तर काल मे लुप्त हो गया, गण इन दोनो रूपों में उस काल में भी कायम रहा।

सभा, समिति आदि प्राचीन भारतीय संस्थाओं के सही स्वरूप के अध्ययन में बाधा पड़ती है यदि हम उनके विशुद्ध राजनीतिक पहलू पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं, और उसी पहलू को अपने आप में सर्वथा स्वतत्र और दूसरे पक्षो से पृथक मानने लगते हैं। आदिम संस्थाओ में सामाजिक और राजनीतिक कार्यों के पृथक्करण की बहुत कम गुंजाइश है, इसलिए जब तक हम उनके विभिन्न पहलुओं को परस्पर संबद्ध मानकर उनकी जाच नही करते तब तक उनके स्वरूप का सही निरूपण नही हो सकता। इस दृष्टि से देखें तो पाएगे कि वैदिक गण शायद आदियुग के जनजातीय लोकतंत्र जैसा कोई संगठन था, जिसमें आदिकालीन लोगों के सामरिक, वितरणात्मक, धार्मिक और सामाजिक सभी प्रकार के कार्यकलाप केंद्रीभूत थे। यद्यपि इस बात का कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य उपलब्ध नही है कि गणपति का निर्वाचन होता था, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि गण में न कोई सार्वजनिक अधिकारी था और न कोई अनिवार्य कर, न कोई वर्ग था और न गण सेना से भिन्न कोई भी सेना। दूसरे शब्दों में, वैदिक गण मुख्यतया जनजातीय गणतंत्र था।

ऋग्वैदिक काल के अंत तक आते-आते अन्य प्रकार के जनजातीय गणतंत्रों से भी हमारा परिचय होता है । एक ऋचा[63] का, जिसमे सभा में एक साथ बैठे राजाओं का उल्लेख है, यह अर्थ लगाया गया है कि कुछ जनजातियो में वंशानुगत सरदार नहीं होते थे और वे सीधे जनजातीय सभाओं द्वारा शासित होती थी । यह अर्थ काफी समीचीन प्रतीत होता है । जैसा कतिपय अल्पतंत्रो (आलीगार्की) में होता था, जनजाति के सभी बडे लोग राजा की उपाधि धारण करते थे और एक जनसभा (फोक-मूट) के माध्यम से शासन करते थे ।[64] जायसवाल का यह मत कि गणतंत्र पूर्व वैदिक युग के बाद और राजतंत्र के काफी पश्चात आया, क्षेत्रीय और वर्गविभाजित वैदिकोत्तर गणतत्रों के बारे मे सही हो सकता है, लेकिन प्रारंभिक जनजातीय गणतत्रों के सदर्भ में नही । ऐसा प्रतीत होता है कि गणपति के पद के राजन् मे परिवर्तित होने के बाद जनजातीय गणतत्र ही राजतत्रात्मक अवस्था मे पहुच गया । इस तथ्य की पुष्टि मानववैज्ञानिक साक्ष्यों से भी होती है ।[65]

शासनपद्धतियों के वर्गीकरण का सबसे पहला और सफल प्रयत्न 'ऐतरेय ब्राह्मण' में देखने को मिलता है, जिसमे 'स्वराज्य' और 'वैराज्य' शब्दों का प्रयोग *गणतंत्रीय संगठनों के अर्थ में हुआ है । जिन क्षेत्रों में इन दो प्रकार के शासनसंगठनों* का अस्तित्व बतलाया गया है,[66] उनसे यह सकेत मिलता है कि आर्य भारत, अर्थात् पश्चिमी और उत्तरी भारत के अधिकतर भाग, गणतंत्रीय सगठनों से आच्छादित थे और कालातर से या तो सही गणतत्र राजतत्रों में परिवर्तित हो गए या इनको समाप्त करके राजतत्रो ने इनके स्थानों पर अपने को प्रतिष्ठित कर लिया । इसका दृष्टात दो हिमालयपारीय जनजातियां उत्तरकुरु और उत्तरमद्र हैं,[67] जो वैराज्य शासनप्रणाली से शासित बतलाए गए हैं ।[68] किंतु मैदानी इलाकों में आने पर उन्होंने राजतत्र स्थापित किए ।[69] फिर, जब राजतंत्र समाप्त हुआ तब उनमें एक प्रकार का कृत्रिम गणतत्र आया । एक ही क्षेत्र में बारी-बारी से राजतत्र और गणतत्र की स्थापना के इस चक्र का लिखित प्रमाण एरियन के विवरण में सुरक्षित है, जिसमें उन्होने मेगास्थनीज की सुनी यह अनुश्रुति उद्धृत की है कि गणतंत्रात्मक शासनप्रणाली तीन बार स्थापित हुई ।[70] यद्यपि पौराणिक अनुश्रुतियों में गणो के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है, लेकिन उनमें यह नहीं बतलाया गया है कि बाद में उनके सगठन में कौन-कौन-से परिवर्तन हुए । उनमे एक हजार क्षत्रियों वाले एक गण का उल्लेख है, जिसका प्रधान नाभाग था । संभव है, वह 'ऋग्वेद' में वर्णित नाभाक ऋषि ही हो । लेकिन पुराणो में नाभाग के वशजों का कोई जिक्र नही है । पार्टिल का तर्क है कि चूंकि नाभाग गणतंत्री जनजाति थे, इसलिए पुराणों ने उनकी वशावली सुरक्षित रखने की चिंता नही की ।[71] फिर भी, यदि अशोक के एक अभिलेख[72] में आए एक उल्लेख से यह माना जाए कि इसमें नाभागों का ही जिक्र हुआ है तो ऐसा प्रतीत होगा कि ये दीर्घ काल तक गणतत्री जनजाति के रूप में बने

रहे । इस सबसे यही निष्कर्ष निकलेगा कि राजतंत्र के बाद गणतंत्र की नही, बल्कि गणतंत्र के बाद राजतंत्र की स्थापना हुई ।

डी. आर. भंडारकर ने वैदिकोत्तर गणो के उद्भव के बारे में सामान्य ढंग से विचार किया है । उन्हें आर. सी. मजुमदार से सायण के भाष्य सहित 'बृहदारण्यक उपनिषद' के एक अवतरण का हवाला मिला । इस आधार पर उन्होने कहा है कि 'चूंकि इस निर्णायक अवतरण में ब्राह्मणों, क्षत्रियों या शूद्रों के नहीं, केवल वैश्यों के ही गणों का उल्लेख है, इसलिए जान पड़ता है कि क्षत्रियों के राजनीतिक गणों की स्थापना के पूर्व हमारे देश में वैश्यों के बीच वाणिज्यिक गण (यानी श्रेणियां) विद्यमान थे ।'[73] आगे उनका कथन है कि जिस प्रकार राजनीतिक गण कुलों या परिवारो मे विभक्त थे, उसी प्रकार वाणिज्यिक गण भी कुलों मे विभक्त थे, जैसा कि भीटा और बसाढ़ से प्राप्त मुहरों से ज्ञात हुआ है ।[74] जैसाकि पहले दिखलाया गया है, गण वैदिक काल में ही, जबकि इसके वाणिज्यिक स्वरूप का कहीं भी पता नही था, अपने राजनीतिक और सामाजिक पहलुओं के लिए सुविदित हो चुके थे । फिर, कहने की आवश्यकता नही कि प्रारभ मे केवल कृषि और पशुपालन ही वैश्यों के जिम्मे था, वाणिज्य का विकास तो परवर्ती काल में हुआ । अतः गण की उत्पत्ति के बारे मे भडारकर की परिकल्पना तथ्य पर आधारित नहीं है ।

वैदिकोत्तर काल के क्षेत्रीय और वर्गविभाजित गणो की उन्नति के वास्तविक कारण हमे उत्तर वैदिककाल में विकसित जीवनपद्धति के विरुद्ध उस प्रतिक्रिया में ढूढ़ना चाहिए जिसका विस्फोट प्रायः समग्र समाज में हुआ था । सामाजिक धरातल पर इस आंदोलन का उद्देश्य बढ़ते हुए वर्णभेद और स्त्रीपुरुष भेद को समाप्त करना तथा बड़ी तादाद में पशुधन को नष्ट करने वाले व्ययसाध्य एवं अंधविश्वासयुक्त कर्मकांडों का अंत करना था । राजनीतिक स्तर पर इस आंदोलन का उद्देश्य ब्राह्मणीय आदर्शों पर आधारित आनुवंशिक राजपद से मुक्ति और जन साधारण को सभी अधिकारों से वचित रखनेवाली व्यवस्था से छुटकारा पाना था । नए कार्यक्रम के अभाव में इन नए आंदोलनों के नेताओं ने उस अतीत को आधार मानकर अपने आदर्श निर्धारित किए जब कोई वर्णभेद नही था, ब्राह्मणों और क्षत्रियो का जनसाधारण पर प्रभुत्व नहीं था और राजा को बलप्रयोग की वह सत्ता प्राप्त नहीं थी जिसके जोर पर अब वह विराट जनसमुदाय को समस्त अधिकारों से वंचित रख रहा था ।

यदि हम ब्राह्मणीय और बौद्ध परंपराओ को मिलाकर विचार करें तो विदेह और वैशाली ऐसे दो प्रमुख दृष्टांत मिलेगे जिनमें राजतंत्र गणतंत्र में परिवर्तित हो गए । इस अनुमान को स्वीकार करने मे एकमात्र कठिनाई यह है कि ईसापूर्व छठी सदी में वैशाली के आबाद होने के प्रमाण का अभाव है । इस कठिनाई का निराकरण उस हालत में हो सकता है यदि हम यह मानकर चलें कि ये राज्य पूर्ववर्ती

काल में किन्ही अन्य क्षेत्रों में बसे अपने मूल समाज से टूटकर बने थे।[75] हो सकता है, अलगाव का कारण कृषकों से वसूल किए गए राजस्व मे से शासकवर्ग के सभी सदस्यो द्वारा सीधा और समान हिस्सा मागा जाता रहा हो। पूर्व वैदिककाल में इस वर्ग के सभी सदस्य आर्येतर लोगों से युद्ध में अधिकृत सपदा और कर का एक अंश प्राप्त करते थे। लेकिन जब विजेता कुलो के प्रधान स्थायी राजाओं की तरह स्थापित हो गए, तथा आर्य और आर्येतर दोनो प्रकार के बसे हुए कृषकों से सारा राजस्व पाने का दावा करने लगे, तब कुल के अन्य सदस्य सभी विशेषाधिकारो से वंचित और उपेक्षित रह गए। जब उन्होने अपने ही एक सदस्य को समस्त करो का एकमात्र प्रापक और युद्धों का निर्विवाद सगठनकर्ता पाया तो स्वभावतः उन्हे यह स्थिति बुरी लगी। अत. कुल के प्रमुख सदस्यों ने कृषकों से कर उगाहने, शस्त्र धारण करने और अपनी सेना, चाहे वह कितनी भी छोटी क्यो न हो, रखने के अधिकार की माग की। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जो राज्यव्यवस्था उदित हुई, वह केवल ऊपर से ही देखने मे पुराने जनजातीय सैनिक प्रजातत्र के ढग की थी। सारतः, यह अल्पतंत्रात्मक (ऑलिगार्किक) थी,[76] क्योंकि लिच्छवि राज्य में दासो, किराए के श्रमिको आदि गैर राजा लोगो के विराट समुदाय की कोई भी हस्ती गणसभा में नही थी।[77]

जायसवाल का विचार है कि धार्मिक सघ राजनीतिक सघों के ढर्रे पर बनाए गए थे।[78] लेकिन सत्य यह प्रतीत होता है कि दोनो उन आदिम गणों के ढर्रे पर बनाए गए थे जिनमें वर्गभेद का अभाव-सा था। यह बात प्रारंभिक जैन धर्मसघ के सबध मे खासतौर से सही प्रतीत होती है। इस सघ का नाम भी गण ही है, और महावीर इसके गणी या नेता हैं, तथा उनके नौ प्रमुख शिष्य गणधर या शाखानेता हैं।[79] सीधेसादे जनजातीय गणों में व्याप्त समत्व का अतीत गौरव पुनः प्राप्त करने के निमित्त ही राज्य और समाज के नए रूप को समाप्त करने की इच्छा जागृत हुई। ऐसा करने मे, सदियों के सामाजिक-राजनीतिक विकासक्रम को बिलकुल मिटा देना सभव था और इसलिए सफलता आंशिक ही रही। राजपद तो समाप्त कर दिया गया और गणतत्र स्थापित किए गए, लेकिन वर्गविभाजित पितृतत्रात्मक (पैट्रियार्कल) समाज, नौकरशाही, करप्रणाली और जनसामान्य पर बल प्रयोग करनेवाली सेना बरकरार रहीं। वह जनजातीय राजव्यवस्था, जिसमें सभवतः इसके सभी सदस्य सुलभ खाद्यसामग्री के समान हिस्सेदार थे और समान अधिकारो के भोक्ता थे, अपनी सपूर्ण प्राचीन गरिमा के साथ पुनरुज्जीवित नही की जा सकी।[80] इसका नया रूप लिच्छवियो, शाक्यो, आदि के 'विकृत' गणतत्र थे, जिनमे क्षत्रियों और ब्राह्मणों के नियत्रणाधीन राजतत्री राज्यव्यवस्था के सारे उपादान और उपकरण बरकरार रहे।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. हिंदू पॉलिटी, पृ 23
2. ऋग्वेद, I, 64 12, V, 52 13-4; 53 10, 56 1; 58 1-2; VI 16 24; X, 36 7, 77 1 III, 32 2, VII.58 1, IX, 96 17, अथर्व, XIII, 4.8, IV, 13 4, श ब्रा, V, 4 3 17
3. पाणिनि पर काशिका V, 3 114
4. इद तर्हि क्षौद्रकानामपत्य मालवानामपत्यम् इत्यत्रापि प्राप्नोति क्षौद्रक्यो भालव्य इति। नैतत् तेषा दासे वा भवति कर्मकरे वा। पाणिनि पर पतजलि का भाष्य IV, 1 168
5. श्रीपाद अमृत डागे, इंडिया फ्रॉम प्रीमीटिव कम्युनिज्म टू स्लेवरी, पृ 61
6. एकोनपचाशान्मरुतो विभक्ता अपि गणरूपेणैव वर्तन्ते। ताण्ड्य महाब्राह्मण, XIX, 14 2
7. श ब्रा, II, 5 1 12, ऋग्वेद, VIII, 96 9, तै ब्रा 1, 6 2.3
8. गणदेवानाम् ऋभव सुहस्ता। ऋग्वेद, IV, 35 3, तै ब्रा, II, 8 6 4, श ब्रा XIII, 2 8.4
9. आदिपर्व, 60.36-39
10. सप्त मातृगणाश्चैव समाजग्मुर्विशापते। शल्य पर्व (कुबकोनम सस्करण) 45 29, 47 33-34
11. शृणु मातृगणान् राजन्कुमारानुचरानिमान्, कीर्त्यमानान्मया वीर सपत्नगणसूदनान्। यशस्विनीना मातृणा शृणु नामानि भारत, याभिर्व्याप्तास्त्रयोलोका कल्याणीभिश्चभागश। वही, 47.1 2 और आगे
12. वही
13. उपरिवत्, पृ 79 80
14. वा. पु (आनदाश्रम सस्कृत सिरीज), 61 12.14. जब तक अन्यथा निर्दिष्ट नहीं हो तब तक 'वायु पुराण' का बिबिलिओथिका इंडिका सस्करण ही इसमें प्रयुक्त माना जाए
15. युवा स मारुतो गणस्त्वेषरथो अनेद्य, शुभ यावाप्रतिष्कुत। ऋग्वेद, V, 61 13
16. अथर्व, XIII, 4 8, याम् आभजो मरुतैन्द्रसोमेयेतिवाधु अवर्धन्भवनुगणास्ते ऋग्वेद, III 35.9.
17. रोदसि आ वदता गणश्रियो नृषाच शूरा सवसाहिमन्यव, आ बधुरेष्वमतिर्ण दर्शता विद्युन्नतस्थौ मरुतो रथेषु व। ऋग्वेद, I, 64 9
18. त्रायतामिम देवास्त्रायन्ताम् मरुता गणा। अथर्व, IV, 13 4
19. उभा स वरा प्रत्येति भाति च यदीं गणम् भजते सुप्रयावमि। ऋग्वेद, V, 44 12, VI, 52 14
20. ऋग्वेद, X, 103 3, अथर्व, XIX, 13 4
21. इम च नो गवेषण सातये सिषधो गण। ऋग्वेद, VI, 56 5
22. VI, ii 251
23. ऋग्वेद, X, 113 9
24. तै ब्रा, III, 11-4-2
25. गणाना त्वा गणपति हवामहे ज्येष्ठराज ब्रह्मणा ब्रह्मणस्पत आ न। ऋग्वेद, II 23 1

26 ऐ ब्रा , I, 21
27 ऐ ब्रा , IX, 6
28 ऋग्वेद, II, 23 1
29 उपरिवत्, पृ 69
30 यच्चिद्धि ते गणा इमे छदयन्ति मघत्तये, परिचिद्वष्टयो दधुर्ददतोराधो अहरयम् सुजाते अश्वसूनृते। ऋग्वेद, V, 79 5
31 यो व सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाह प्राचीस्तदृत वदामि। ऋग्वेद, X, 34-12
32 अथर्व III, 30 5 6 (ह्विटनी का अनुवाद)। ब्लूमफील्ड थोड़ा भिन्न अनुवाद प्रस्तुत करते हैं। श्रीपाद अमृत डांगे (पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 140) इस ऋचा की ओर ध्यान दिलाते हैं
33 जार्ज टामसन, स्टडीज इन एनशंट ग्रीक सोसाइटी, पृ 329-33
34 अच्छ ऋषे मारुत गणम् दाना मित्र न योषणा। ऋग्वेद, V, 52-14
35 II, 8-9
36 मारुत एव भवति। अन्न वै मरुत । तै ब्रा , I, 7 7 3
37 अग्ने याहि दूत्य मा रिषन्यो देवा अच्छा ब्रह्मकृता गणेन देवान् रत्नधेयाय विश्वान्। ऋग्वेद, VII, 9 5
38 आदित्यान् मारुत गण। प्र वो भ्रियन्त इन्दवो मत्सरा मादयिष्णव द्रप्सा मध्वश्चमूषद । I, ऋग्वेद, I, 14.3-4
39 ऋग्वेद, VI, 41 1
40 स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वल रुरोज फलिग रवेण। ऋग्वेद IV, 50 5
41 गणास्त्वोप गायन्तु मारुता पर्जन्यघोषिण पृथक। अथर्व , VI, 15 4
42 अग्ने मरुद्भि शुभयद्भिऋक्वभि सोम पिब मदसानो गणश्रिभि । ऋग्वेद, V, 60 8.
43 ऋग्वेद, IX, 32 3
44 ऋग्वेद, VI, 41.1
45 वीणावादक गणक गीताये। तै ब्रा , III, 4 15
46 लिच्छवि राज्य की प्रसिद्ध नर्तकी आम्रपाली राजाओं द्वारा अंगीकृत कर ली गई थी और इतना महत्व रखती थी कि बुद्ध उसके अतिथि बने थे
47 श ब्रा II, 5 1 12
48 वही, V, 4 3 17
49 ऋग्वेद, VIII, 96 8 सायण के भाष्य-सहित
50 वा पु (आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज), 88 4-5
51 वही, 86 3
52 वही, 94 51-52
53 जात्या च सदृशा सर्वे कुलेन सदृशस्तथा न तु शौर्येण बुद्धयावा रूपद्रव्येणवा पुन । भेदाच्चैव प्रमादाच्च नाभ्यन्ते रिपुभिगण । शा प 108 30-31 जायसवाल द्वारा उद्धृत ब्रज संस्करण के अनुवाद को स्वीकार करना कठिन है। वस्तुत दोनों श्लोकों को 'तु' और 'पुन ' शब्द से जोड़ा गया है, जबकि के एम गांगुली ने ऐसा अनुवाद किया है मानो दो शब्द दोनों श्लोकों को अलग करते हों
54 II, 3 2-3
55 त्रयस्त्रिंशत इत्येते देवास्तेषामह तव, अन्वय सप्रवक्ष्यामि पक्षेश्च कुलतो गणान्। आदि

पर्व, 60.36 एव आगे.
56 एच. आर हॉल, द एनशट हिस्ट्री ऑफ द नीअर ईस्ट, पृ 201
57. वही, पृ 202, पादटिप्पणी 1
58. महाभारत (कुभकोनम् सस्करण) X, 7.8
59 भागवत पुराण, II, 6 13, XII, 10 14 सगर ने यवनों, पारदों, काबाजों, पहलवों और शकों, इन पाच गणों को नष्ट किया, इस पौराणिक कथन में स्पष्ट ही काफी बाद के काल की अनुश्रुति का उल्लेख हुआ है
60 वा पु II. 8 11 और आगे
61 वही, 7 17.21
62 वही, स 477 परि पाटिल, कलचरल हिस्ट्री फ्रॉम द वायु पुराण, पृ 174 पर उद्धृत
63 ऋग्वेद, X, 97.6.
64 बैशम, द वडर दैट वाज इंडिया, पृ 33
65. अत्यत आदिम जातियो में प्राय सर्वत्र जनजातीय सत्ता का प्रयोग लोकतांत्रिक ढग से सभी लोगों की एक सामान्य सभा के माध्यम से किया जाता है, जबकि उन जातियों के बीच, जिन्हें निम्नतम वर्ग में डाल दिया गया है, राजतांत्रिक सिद्धातों के आधार पर गठित शासन लगभग बिलकुल ही देखने को नहीं मिलते इसे हम आदिम सामाजिक सगठन से सबद्ध एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्य मानते हैं और सिद्धातसाहित्य में इसका उल्लेख सरसरी तौर पर ही किया गया है जी लैंटमान, दि ऑरिजिन ऑफ दि इनइक्वालिटी ऑफ दि सोशल क्लासेज, पृ 309-10, मिलाए पृ 310-16
66 ऐ. ब्रा , VIII, 14
67 बी सी ला इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स आफ बुद्धिज्म ऐंड जैनिज्म, पृ 89
68 ऐ ब्रा VIII, 14
69 बी सी लॉ पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 89 93-96
70. एरियन, IX, मैक्रिंडल, इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगास्थनीज ऐंड एरियन पृ 208
71. कलचरल हिस्ट्री फ्रॉम दि वायु पुराण, पृ 53
72 रॉक एडिक्ट (अशोक की राजाज्ञा) XIII
73 डी आर भडारकर, कामाईकेल, लेक्चर्स, 1918, पृ 169-70
74 वही, पृ 170
75 रोमिला थापर, ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया (पेलिकन), I, 50-51
76. रयूबेन का विचार है कि अल्पतत्र (ऑलिगार्की) का हर सदस्य भूसपदा का मालिक था (कुवर-मुहम्मद अशरफ, पृ 23), लेकिन जहा तक वास्तविक स्वामित्व की बात है, अल्पतत्र के सदस्य न तो इसके प्रति सजग हैं और न कार्य से ही ऐसा कोई साक्ष्य पेश करते हैं
77. स्पष्ट ही बेदखल किए गए लोगों के लिए वैदिक सभाओं मे भी कोई स्थान नहीं था, लेकिन उनकी सख्या बहुत कम थी और वर्गभेद प्रखर नही था
78 के पी जायसवाल, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 42
79. श्रीमती एस. स्टीवेंसन, दि हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृ 79
80 वैदिकोत्तर सघ-गण के सदर्भ में, 'क्षत्रिय अभिजाततत्र का सामाजिक स्तर निम्नतर वर्गों की बात तो दूर, ब्राह्मणों और गृहपतियों से भी ऊपर था, घोषाल, इंडियन कलचर, XII, 6

10. पूर्वकालीन परिषद

'अर्थशास्त्र', अशोक के अभिलेखों और धर्मशास्त्रों[1] में उल्लिखित परवर्ती परिषद के स्वरूप की तो अच्छी जानकारी है, किंतु पूर्वकालीन परिषद का हमारा ज्ञान अपूर्ण है। फिर भी, 'ऋग्वेद,' 'अथर्ववेद', उत्तर वैदिक साहित्य तथा 'महाभारत' और पुराणों के आख्यानअंशों में इसके प्रचुर उल्लेख से इसकी रूपरेखा का थोडा-सा अनुमान हम लगा सकते हैं। यद्यपि 'महाभारत' और पुराणों के साक्ष्य प्राचीनतम काल की संस्थाओं के अध्ययन में वैदिक साक्ष्यों की तरह विश्वसनीय नहीं माने जा सकते, किंतु उनकी सर्वथा उपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

'ऋग्वेद' की एक पूर्ववर्ती ऋचा में बाधा पहुंचानेवाली असुरपरिषदों को अपने वज्र से नष्ट करने के लिए इंद्र का गुणगान किया गया है।[2] इससे इस बात का संकेत मिलता है कि इंद्र के नेतृत्व में आर्यों ने प्राक् आर्यों की संगठित टोलियों के विरुद्ध युद्ध किया। उसी ग्रंथ के एक परवर्ती अंश से पता चलता है कि वसु देवता के 'परिषदवान' (सहयोगी) नृषद् के पुत्र का वध करना चाहते थे।[3] इन उल्लेखों से आर्यों तथा अनार्यों दोनों की परिषद का आदिम सैनिक स्वरूप परिलक्षित होता है। दो अन्य उल्लेखों से उस संपत्ति के स्वरूप पर भी थोडा प्रकाश पडता है जिस पर इस संस्था के सदस्यों का सामूहिक स्वामित्व था। 'ऋग्वेद' के प्रारंभिक अंश की एक प्रार्थना में, जो 'अथर्ववेद' में भी उद्धृत की गई है, देवताओं का वर्णन 'हमें गौओं से परिषद संपन्न बनानेवालों' के रूप में किया गया है।[4] सायण ने 'गव्यं परिषदंत' की व्याख्या 'गोसंघम्' के रूप में की है, और इसलिए ग्रिफिथ ने इसका अनुवाद 'पशुओं का झुंड' किया है। लेकिन चूंकि 'गव्यम्' शब्द परिषद के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, इसलिए इसका सही अर्थ 'गौओं से संपन्न सभा' है। गौओं से संपन्न होना पूर्वकालीन मानव संस्था की एक सामान्य विशेषता थी। उसी संहिता की दूसरी ऋचा में कहा गया है कि शत्रु का धन परिषद का है, और, इस संदर्भ में लोगों की 'स्थायी संपत्ति के स्वामी' बनने की इच्छा भी व्यक्त की गई है।[5] दूसरे शब्दों में लूट का माल केवल नेता का ही नहीं, बल्कि सामूहिक रूप से उस पूरी टोली का था, जिसका वह नेता था। इन सभी स्थानों से संकेत मिलता है कि परिषद को गायों और युद्ध में लूटी गई संपत्ति का सामूहिक स्वामित्व प्राप्त था।

'यजुर्वेद' मे अग्नि के प्रयुक्त 'परिषद्य' विशेषण से परिषद मे उसकी उपस्थिति का संकेत मिलता है ।[6] इसकी पुष्टि एक पौराणिक उल्लेख से भी होती है, जिसमें अग्नि के एक वंशज का नाम परिषत्पवमान बताया गया है ।[7] ऐसा प्रतीत होता है कि अग्निदेव से विदथ की तरह ही परिषद को भी अपनी उपस्थिति से सुशोभित करने की आशा की जाती थी । इससे ज्ञात होता है कि परिषद आर्यों के बीच धार्मिक सभा का भी कार्य करती थी, जिसमें वे अग्नि की उपासना करते थे । एक परवर्ती ब्राह्मण में सभा और समिति के साथ-साथ 'दैवी परिषद' का भी उल्लेख है ।[8] जाहिर है कि यह दैवी परिषद आर्यों के बीच विद्यमान ऐसी ही सांसारिक सस्था की प्रतिबिंब थी । इसका समर्थन एक अन्य उल्लेख से होता है, जिसमे अहिर्बुध्न्य (जो रुद्र का एक रूप है और इसलिए जो शायद प्राक् आर्य है) को 'परिषद्य' के रूप में चित्रित किया गया है । सायण ने इसकी व्याख्या सभा में जाने की योग्यता रखनेवाला (सभायोग्य) की है ।[9] एक परवर्ती ब्राह्मण के एक अवतरण से सकेत मिलता है कि परिषद कोई राजसभा थी, जिसमें सदस्यगण वादविवाद मे अपने विपक्षी पर विजय पाने के लिए आतुर रहते थे । इसमें एक पक्ष घोषणा करता है, 'मैं राजा का समर्थक हूं और तुम राजाविहीन राज्य के ।'[10] इससे ध्वनित होता है कि राजाविहीन राज्य का समर्थक कडे मुकाबले के बाद ही राजतत्र समर्थक के सामने झुका होगा । कदाचित इससे उस प्रक्रिया का संकेत मिलता है जिससे राजा, अपने समर्थको के सहारे, प्रारंभिक परिषद में पैर जमा रहा था ।

पूर्व वैदिक साहित्य मे जो थोड़े से उल्लेख मिलते हैं उनसे प्रारंभिक परिषद के जनजातीय स्वरूप का कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता । लेकिन 'शतपथ ब्राह्मण' के उस बहुउद्धृत अवतरण से, जिसका सबंध उत्तर वैदिक साहित्य के पंचालो की परिषद से है, प्रकट होता है कि यह मूलत· उनकी कुलसभा थी, जिसका अध्यक्ष राजा होता था ।[11] 'महाभारत' और पुराणो मे उपलब्ध उल्लेखों से परिषद का न केवल जनजातीय बल्कि सैनिक और अशतः मातृतंत्रात्मक (मैट्रियार्कल) स्वरूप भी परिलक्षित होता है । हम देख चुके हैं कि अहिर्बुध्न्य को, जो रुद्र का एक रूप है, परिषद्य कहा गया है । लेकिन 'महाभारत' मे शिव के पुत्र स्कंद को अनेक स्थलों पर पारिषदो से (स्पष्टतः परिषद के सदस्य से) संबद्ध दिखलाया गया है । शिव, जो गणाध्यक्ष के रूप मे वर्णित है, 'पारिषदप्रिय' अर्थात 'परिषद के सदस्यो की संगति का प्रेमी' भी कहा गया है ।[12] ऐसे भी कुछ साक्ष्य हैं जिनसे पता चलता है कि पारिषद अपने नेता स्कद के सगेसबधी थे । ये डरावने और विचित्र सत्वा सहचर, जिन्हे स्कंद की पुरुष सतान बताया गया है, उसके वज्रप्रहार से उत्पन्न हुए थे ।[13] इस मिथक का सार यह प्रतीत होता है कि स्कद और उसके अनुयायी एक ही कुल के थे । इस अर्थ में पारिषदों के साथ स्कद का सबंध वही था जो मरुदगणों का अपने रुद्र से था । उनके जनजातीय स्वरूप का अनुमान इस कथन मे भी लगाया

जा सकता है कि विभिन्न प्रकार के चर्मवस्त्रो से आवृत ये पारिषद विभिन्न भाषाए और विभिन्न क्षेत्रीय बोलिया बोलते थे।[14] इस तरह इनकी तुलना उन आदिम लोगो से की जा सकती है जिनमे से हर जनजाति की अपनी अलग बोली होती है और पारिषदो के जनजातीय स्वरूप की पुष्टि इस बात से भी होती है कि उनकी मुखाकृतियों की तुलना मुर्गों, कुत्तों, मेंढियों, खरगोशों, ऊँटो, भेडो, शृगालो आदि विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों से की गई है।[15] पशु-पक्षियो से उनका ऐसा संबध शायद उनके बीच टोटमों—अर्थात आदिम जनजातियो द्वारा प्रयुक्त विशिष्टता-सूचक प्रतीकों के चलन की ओर संकेत करता है। चूंकि आदिम जनजातियों ने अपने टोटम अपने खाद्यस्रोतों से ग्रहण किए,[16] इसलिए पारिषदो के साथ भक्ष्य पशु-पक्षियों के संबध को इस बात का द्योतक माना जा सकता है कि उनके बीच टोटमो की प्रथा प्रचलित थी और इसलिए वे किसी न किसी रूप में जनजातीय जीवन से भी जुडे हुए थे। ध्यातव्य है कि पारिषदों से संबंधित पशु-पक्षियों की लबी सूची मे घोडे का, जा सामान्यतया आर्यों से सबद्ध माना गया है, कही काई उल्लेख नही है।

वैदिक उल्लेखो से परिषद का जो सामरिक स्वरूप प्रकट होता है उसकी पुष्टि 'महाभारत और पुराणो के साक्ष्यों से होती है। 'मत्स्य पुराण' मे विचित्र आकृतियों वाले शिवगण, जो असुरो के विरुद्ध लडे, पार्षद के रूप मे वर्णित हैं।[17] 'महाभारत' मे आए अनेक उल्लेखों मे पारिषदो को विभिन्न प्रकार के उत्थित शस्त्रास्त्रों से सज्जित भयानक लोग कहा गया है।[18] 'पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतै.' शब्द-समुच्चय का प्रयोग अनेक स्थलो पर हुआ है। असुरो के विरुद्ध लडने के लिए सेनाध्यक्ष के पद पर प्रतिष्ठित करते समय स्कद या कार्तिकेय को ब्रह्मा, पूषन और विध्य ने सबल पारिषद प्रदान किए।[19] निरपवाद रूप से सबल और प्रचंड योद्धाओं के रूप मे वर्णित इन पारिषदो को, जो स्कद को दिए गए थे, भयंकर शस्त्रधारी और बडे-बडे प्रस्तरखडो से युद्ध करनेवाला (महापाषाणयोधिन:) चित्रित किया गया है।[20] युद्ध की उत्कट अभिलाषा रखनेवाले इन याद्धाओ का सर्वाधिक आनददायक शौक युद्ध करना ही था। ये इतने वीर थे कि देवताओं का अग्रणी भी इनकी बराबरी नही कर सकता था।[21] कदाचित शांतिकाल में भी ये आर्य लोगो के विरुद्ध लूटमार जारी रखते थे, क्योंकि इनकी निंदा करते हुए कहा गया है कि ये छोटे-छोटे बच्चों का प्राणहरण करते थे।[22]

यद्यपि अनेक देवताओं के अपने-अपने पारिषद थे, जो दैत्यो से लडने के लिए स्कंद को दिए गए थे, फिर भी सामान्यतया शिव या स्कद ने ही परिषद का नतृत्व किया। 'शल्य पर्व' के एक पूरे अध्याय में स्कद के नेतृत्व मे पारिषदो का वर्णन है।[23] इसमे हम देखत हैं कि इन पारिषदो और मातृगणो के सदस्यों के साथ स्कंद दैत्यों के विनाशअभियान पर निकला।[24] स्कद उनका नेता कैसे बना? कुछ बातों

से उसके निर्वाचन का सकेत मिलता है। पहली बात तो यह कि अपना नेता स्वीकार कर देवताओं ने उसे अपने-अपने पारिषद सुलभ कराए। दूसरे, स्कंद के जन्म लेने पर विभिन्न वर्णों के लोगों ने उसका संरक्षण चाहा और ब्राह्मणो ने इन लोगों को पारिषद कहा।[25] इन सारी चीजों से पता चलता है कि उसके अनुगामियों ने स्वेच्छापूर्वक उसका नेतृत्व स्वीकार किया। अलबत्ता, दूसरे उल्लेख से किसी ऐसे अराजक काल का भी आभास मिलता है जब लोगों ने वर्ण का विचार किए बिना किसी अधिपति के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की, और इसलिए ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि यह उल्लेख मिथक रचना की विकसित अवस्था—कदाचित् मौर्योत्तर काल—से सबंधित है। लेकिन परिषद के कुछ अन्य उल्लेखों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उनका संबध परवर्ती काल से है। परवर्ती काल में परिषद बराबर राजा से सबद्ध बताई गई है, जबकि महाभारत या पुराणों में उपलब्ध प्रारंभिक उल्लेखो मे परिषदवाले राजा का जिक्र नहीं मिलता। अत ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि जब सेनापति ने अपने को राजपद पर आसीन कर लिया तब पारिषद, जिनकी सख्या तब तक घट गई होगी, युद्धसखा (कामरेड इन आर्म्स) न रहकर सभासद बन गए होगे।

प्रारंभिक परिषद के आकार की भी थोड़ी-सी जानकारी हमें मिलती है। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' और 'रामायण', दोनो में हजार सदस्योंवाली बड़ी परिषद की परपरा का उल्लेख देखने को मिलता है।[26] विभिन्न देवताओं द्वारा प्रस्तुत युद्धसखा सुलभ कराए जाने (पारिषद दान) के सिलसिले मे कहा गया है कि हजारों की सख्या मे आनेवाले ऐसे अन्य लोग उनमें शामिल हो गए।[27] एक प्रारंभिक धर्मशास्त्र मे कहा गया है कि मंत्र और व्रत से रहित लोगों के साथ यदि हजारों सहचर भी रहें तो भी वे परिषद मे चमक नही सकते।[28] इन कथनों से हमें पूर्ववर्ती काल मे इस सभा के बड़े आकार का पर्याप्त संकेत मिलता है।

वेदोत्तर काल में मंत्रिपरिषद मे—बल्कि सामान्यतया परिषद मात्र में—किसी महिला सदस्य का कोई सकेत नहीं मिलता। लेकिन परिषद शब्द के प्रयोग से प्रारंभिक परिषद के बारे मे इससे उल्टा संकेत मिलता है। पितृतर्पण की विधियो में केवल ब्रह्मा, रुद्र, विघ्न, स्कंद, विष्णु, वैवस्वत (यम या मनु), और धन्वंतरि के पार्षदों का ही नहीं, वरन उनकी पत्नियों और पार्षदियों का भी तर्पण करने का विधान है।[29] इससे कोई संदेह नही रह जाता कि किसी समय महिलाएं भी परिषद सदस्या समझी जाती थीं। पार्षदियों से संबंधित तर्पणविधियों की प्राचीनता पर संदेह की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि उनका उल्लेख बौधायन के ग्रंथ के दूसरे खड में, जो मूल धर्मसूत्र का अंग माना गया है, हुआ है।[30] समय की दृष्टि से इसे वैदिक काल के अंत में व्याप्त स्थिति का द्योतक माना जा सकता है। बौधायन दक्षिण का निवासी था, और लगता है, महिलाए शायद इसी क्षेत्र में परिषद सदस्या होती थीं।

इस क्षेत्र में परवर्ती काल में भी मातृतंत्र के चिह्न कायम रहे। इस प्रकार, परिषद से महिलाओं का सबंध अस्वीकार नही किया जा सकता, हालांकि यह मानना पड़ेगा कि इस तथ्य को प्रमाणित करनेवाले साक्ष्य उतने प्रबल नही हैं जितने प्रबल विदथ और सभा मे उनकी सदस्यता की पुष्टि करनेवाले साक्ष्य हैं।

वैदिकोत्तर साक्ष्यो के आधार पर गण और परिषद के आपसी संबधों पर कुछ प्रकाश पडता है। कुछेक उल्लेखो से इनके बीच किसी भिन्नता का संकेत नही मिलता। असुरों के विरुद्ध लड़ने वाले शिवगणो को पार्षद कहा गया है; इससे ध्वनित होता है कि इस प्रसग में बाद के काल मे गण और परिषद में अतर नही था। महाकाव्यों और पुराणों में दोनों सामान्यतः शिव से सबद्ध दिखाए गए हैं, गण को बार-बार शिव के पुत्र मरुतों की परिषद कहा गया है। स्वेच्छया बलि के सदर्भ में परिषद और गण को एक ही स्तर पर रखा गया है। हम देखते हैं कि यह बलि गण और गणपति के बाद परिषद को ही अर्पित की जाती है।[31] फिर, करीब एक सौ मातृगणों का गिनाया जाना इस बात का सकेत हो सकता है कि गण में महिलाएं भी थी।[32] यह बात शायद परिषद पर भी लागू होती है। स्कंद परिषदो और मातृगणो के साथ असुरों से लड़ने निकला,[33] यह कथन दोनों संस्थाओं के अतर का थोडा संकेत अवश्य देता है, लेकिन इस अतर का स्पष्ट उल्लेख कही नही किया गया है।

इन सारी बातो से यह सकेत मिलता है कि प्रारंभिक परिषद अशतः पितृतन्त्री और अशतः मातृतंत्री जनजातीय सैनिक सस्था थी। राजा और ब्राह्मणो से, जिन्होने आगे चलकर इसमें आधिपत्य स्थापित किया, पूर्ववर्ती काल में शायद ही इसका कोई वास्ता था। यदि हम यह मानकर चले कि मातृतत्र पितृतत्र से पुराना है तथा राजा और वर्णों का विकास वैदिक काल के अत में हुआ, तो प्रारंभिक परिषद वैदिक काल की सस्था मानी जा सकती है। तब क्या कारण है कि वेद में इसके बहुत कम उल्लेख हैं? पहली बात तो यह है कि इस संहिता में परिषद के जो चार उल्लेख मिलते हैं, उनमें से तीन उस भाग में आए हैं जो इसका सार भाग माना जाता है, जिससे इसकी प्राचीनता का सबूत मिलता है। दूसरे, वैदिक साहित्य मे परिषद सबंधी सामग्री के अभाव का कारण परिषद का प्राक् आर्य स्वरूप भी हो सकता है। इसके आर्येतर स्वरूप का अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि इसका सबंध शिव और स्कद से है, और इसके जनजातीय विशिष्टता-सूचक प्रतीकों (टोटम) में घोडों की चर्चा नही है। प्राक् आर्य प्रथाओ और सस्थाओं ने मौर्योत्तर और गुप्त कालो में महाकाव्य और पुराणों की अनुश्रुतियो मे सहज ही अपना स्थान बना लिया, क्योंकि पूर्ववर्ती शताब्दियों के दौरान आर्येतर संस्कृति के तत्व आर्यों द्वारा पर्याप्त रूप मे आत्मसात कर लिए गए थे। तीसरे 'महाभारत' मे—मुख्यतः शिव या स्कद के पराक्रमो के वर्णन के संदर्भ में परिषद के जो उल्लेख हुए हैं वे यद्यपि मुख्य आख्यान के अग नही हैं, फिर भी इसमें कोई संदेह नही कि उनमें प्राचीनतम

अनुश्रुतियों को ही लिपिबद्ध किया गया है। 'महाभारत' और पुराणों के उपदेशात्मक या स्मृतिविषयक भागों में इनका उल्लेख शायद ही कहीं हुआ हो। यदि हमारे प्राचीनतम राजवंशीय इतिहास के निर्माण के लिए 'महाभारत' और पुराणों की अनुश्रुतियों का उपयोग किया जा सकता है तो कोई कारण नहीं कि हमारी प्राचीनतम सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन के लिए उनका उपयोग नहीं किया जाए।

वैदिक और वैदिकोत्तर, इन दो प्रकार के साक्ष्यों के आधार पर प्रारंभिक परिषद के स्वरूपनिर्धारण में सदा कालक्रम संबंधी भ्रांति खड़ी हो सकती है। किंतु प्रासंगिक उल्लेखों का लाभ तभी उठाया जा सकता है जब हम उनका परीक्षण पार्जीटर की विधि के अनुसार करें, अर्थात वैदिक, पौराणिक और महाकाव्यगत सामग्री के बीच तालमेल बैठाने की चेष्टा करें। 'महाभारत' में परिषद के जो उल्लेख हुए हैं उनका अपना स्वतंत्र मूल्य तो है ही, साथ ही वे मोटे तौर पर परिषद के वैदिक उल्लेखों से मेल खाते हैं, जिससे उन्हें प्रामाणिक माना जा सकता है। इससे प्रकट होता है कि वैदिक परिषद और महाकाव्य की परिषद में शायद ही कोई तात्विक भिन्नता हो। दोनों स्रोतों से प्रकट होता है कि यह जनजातीय सैनिक सभा थी। लेकिन जैसा कि आगे दिखलाया जाएगा, वैदिक और महाकाव्यात्मक स्रोतों में वर्णित प्रारंभिक परिषद् तथा जातकों, कौटिलीय 'अर्थशास्त्र', अशोक के अभिलेखों और धर्मशास्त्रों से ज्ञात परवर्ती परिषद के बीच ढांचे और कार्यों की दृष्टि से जमीन और आसमान का अंतर था।

परिषद के इतिहास की संक्रांति अवस्था उपनिषदों और गृह्यसूत्रों में प्रतिबिंबित काल को माना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक काल के अंत में वर्णों और राज्यशक्ति के विकास के कारण परिषद अंशतः विद्वानों की मंडली (एकेडेमी) और राजसभा बनती जा रही थी, और उसमें शिक्षकों और परामर्शदाताओं के रूप में पुरोहितों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। इस संस्था का विद्वत स्वरूप कुछ उपनिषदों और गृह्यसूत्रों में हुए उल्लेखों से भासित होता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार,परिषद में शिष्य शिक्षक के समीप बैठता था।[34] यह राज्यपरिषद के रूप में कार्य करती थी, इसका साक्ष्य 'पारस्कर गृह्यसूत्र' से प्राप्त होता है, जिनमें परिषदें अपने ईशान (सभापति) की अध्यक्षता में वाद-विवाद करती दिखलाई गई हैं। वाद-विवाद के दौरान सदस्य न केवल अपने को दूसरे सदस्यों से श्रेष्ठ और प्रतिभावान सिद्ध करने को उत्सुक रहता था, वरन वह सभापति का क्रोध शांत कर उसे अपने पक्ष में लाने की चेष्टा करता था।[35] उसी स्रोत के एक अवतरण पर हरिहर की टीका से प्रतीत होता है कि इस संस्था में मुख्यतः ब्राह्मण ही उपस्थित रहते थे।[36] लेकिन इसमें संभवतः पारस्कर 'गृह्यसूत्र' के रचनाकाल की परिषद के बजाय टीकाकार के काल की परिषद का

गठन प्रतिबिंबित हुआ है।

परिषद राजसभा के रूप मे कार्य करती थी और इसके सदस्य राजा पर अत्यधिक प्रभाव रखते थे, यह बात पाणिनि के व्याकरण से ज्ञात होती है, जिसमे राजा को परिषदबल कहा गया है। इस व्याकरण से यह भी मालूम होता है कि परिषद एक ही प्रकार का कार्य नही करती थी, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक और विद्याविषयक कार्यों का सपादन करती थी।[37] यद्यपि पाणिनि न तो राजसभा और न विद्वत-परिषद के रूप मे ही इसके गठन पर कोई प्रकाश डालता है, फिर भी यह एक छोटी और प्रतिष्ठित संस्था प्रतीत होती है। कोई भी व्यक्ति परिषद का सदस्य (पारिषद्य या पारिषद) तब तक नही हो सकता था जब तक वह सम्यक योग्यता या पात्रता न रखता हो।[38] इस प्रकार वैदिक काल के अंत तक परिषद के स्वरूप मे गुणात्मक परिवर्तन आ गया था। यद्यपि नाम वही रह गया, किंतु अर्थ बदल गया।

परिषद का नया रूप मौर्यपूर्व काल मे स्थिर हुआ। ब्राह्मण विचारधारा के प्रारंभिक धर्मशास्त्रों में इसका स्वरूप विधिविशेषज्ञों की संस्था जैसा हो गया। धर्मसूत्रों से परिषद के जिस स्वरूप का ज्ञान होता है उसके अनुसार यह शिक्षण और बौद्धिक चर्चा मे व्यस्त संस्था है, लेकिन अब इसके विद्वान सदस्य शिक्षण से अधिक विधि की ओर उन्मुख थे। जहा तक इसके ढाचे का प्रश्न है, धर्मसूत्रो के प्रासंगिक अवतरणों से इस कथन की पुष्टि होती है कि यह तत्वतः एक पुरोहित सभा थी।[39] बौधायन, गौतम और वशिष्ठ ने भी लगभग इसी रूप मे इसके गठन का वर्णन किया है।[40] बौधायन का स्पष्ट कथन है कि परिषद के सदस्य विप्र (ब्राह्मण) होने चाहिए।[41] अन्य उल्लेखों में परिषद के सदस्यो के लिए विहित योग्यता के जो ब्योरे मिलते हैं, उनसे भी इस बात में कोई सदेह नही रह जाता कि इसका गठन मुख्यतया पुरोहितो को लेकर होता था।

परिषद ऐसी छोटी संस्था क्यों बन गई और प्रमुख वर्ण के रूप मे ब्राह्मणो का बोलबाला क्यो हुआ इसका कारण जनजातीय समाज के वर्णों मे विघटन और प्रमुख वर्ग के रूप मे ब्राह्मणो का उदय मालूम पडता है। वैदिक काल के अत से ब्राह्मण जिस उच्च स्थिति का उपभोग करते रहे उसका सहज प्रतिबिंब उस परिषद के गठन मे देखा जा सकता है जिसकी रूपरेखा ब्राह्मण विचारधारा के धर्मशास्त्रो मे प्रस्तुत की गई।

परिषद का आकार सभवत. धीरे-धीरे छोटा होता गया। हो सकता है कि धर्मसूत्रों, कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और अशोक के अभिलेखो में वर्णित जो परिषद का लघुकाय रूप है, उसके पहले मध्यम आकार की परिषदें गठित होती रही हो। जातकों में वर्णित परिसा या 'शांतिपर्व' में वर्णित सैंतीस अमात्योवाली परिषद की चर्चा है।[44] कौटिल्य ने तीन पुराने विचारकों के मत उद्धृत किए हैं जिनके अनुसार पारिषद क्रमशः बीस, सोलह या बारह रहने चाहिए। परिषद का यह आकार

मध्यवर्ती स्थिति का सूचक है।[44] जो भी हो, कौटिल्य की कृति में उल्लिखित मंत्रिपरिषद या धर्मशास्त्रों में उल्लिखित विधि परिषद उस प्रारंभिक परिषद से बुनियादी तौर पर भिन्न थी जिसे हम, सभा और समिति की तरह, कोई संवैधानिक या राजनीतिक महत्त्व नहीं दे सकते।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 का प्र जायसवाल, हिंदू पॉलिटी, अध्याय XXX, और XXXI, राधाकुमुद मुखर्जी, अशोक, पृ 148 वी आर आर दीक्षितार, मौर्यन पॉलिटी, पृ 133-34, अ स अल्तेकर सार्भज ऑफ हिंदू धर्म, अध्याय VI

2 विवर्गेण परिषदों जघान। ऋग्वेद, III, 33 7

3 ऋग्वेद X 61 13

4 गव्य परिषदन्तो अग्मन्। ऋग्वेद, V, 2 17, अथर्व, XVIII, 3 22

5 परिषद्यं हि अरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम। ऋग्वेद, VII, 4 7 ऐसा प्रतीत होता है कि विलसन और ग्रिफिथ द्वारा 'परिषद्यम्' शब्द का अनुवाद त्रुटिपूर्ण हुआ है। इसका अर्थ 'परिषद का' होना चाहिए। यह अर्थ पूर्वकालीन सभा के सैनिक और जनजातीय स्वरूप के अनुरूप है

6 वा स, V, 32

7 ब्रह्माड पु, II, 12 22

8 जैमिनी उपनिषद् ब्रा II, 11 13-14

9 तै ब्रा III, 1 2 9

10 पर्षदि गर्जति चोत्तरवादी भवत्युत्तरवादी भवति। सामविधान ब्रा II, 7.5 इसका निर्वचन सायण के भाष्य के आधार पर किया गया है

11. छांदोग्य उप, V-3, बृहदा उप, VI, 2, श ब्रा, XIV, 9 1 1.

12 महाभारत, X, 7-8. यदि अन्यथा निर्दिष्ट नहीं हो तो इस अध्याय में व्यवहृत संस्करण से कुंभकोणम संस्करण समझना चाहिए।

13 स्कंद पारिषदान वज्र प्रहारात् स्कंदस्य जज्ञुः। महाभारत (चित्रशाला प्रेस), III, 228 1

14 महाभारत (कलकत्ता), IX, 45-102.

15 वही, IX, 46 79-88

16 जार्ज टॉमसन, स्टडीज इन एंशंट ग्रीक सोसाइटी, पृ 37

17. वी आर. आर दीक्षितार, पुराणिक इंडेक्स II, 321 साथी के अर्थ में पार्षद और पारिषद दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है

18 महाभारत, (चित्रशाला प्रेस), III, 109. 3. 272 78

19 महाभारत, IX, 46, 23-26, 44, 49, 51

20 वही, IX, 46, 108, 111-14, 49-50

21. वही, IX, 45 95

22 महाभारत (चित्रशाला प्रेस), III, 228 2

23. अध्याय 46.

24 महा (कलकत्ता), IX, 47 53-54
25 महाभारत (चित्रशाला प्रेस) III, 225 31
26 जायसवाल की पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 302
27 सहस्र पार्षिदा कुमारमुपतस्थिरे। महा (कल) IX 46 78
28 बौधायन धर्मसूत्र, I, I 16
29 वही II 5 12, परिशिष्ट I में दी गई पाडुलिपि 'ओ' में भी
30 वही भूमिका पृ IX-X
31 बौधायन गृह्यसूत्र II, 8 9
32 महाभारत IX 47
33 वही IX 47 54
34 खादिर गृह्यसूत्र, III, 1 25, गोभिल गृह्यसूत्र (सै बु ई), III, 2 50
35 पारस्कर गृह्यसूत्र, III, 13 4 5
36 वही
37 वासुदेव शरण अग्रवाल, इंडिया एज नान टु पाणिनि पृ 339 परिषद् के विद्याविषयक कार्यों के लिए देखें पूर्वोद्धृत पुस्तक पृ 297-98
38 वही, पृ 899
39 ई हॉपकिंस 'सोशल एंड मिलिटरी पोजीशन ऑफ दि रूलिंग कास्ट, एटसेटरा', ज अ ओ सा XIII, 148
40 बौधायन I I 8 9 गौतम XVIII 50 51 वासि धर्म, III, 20
41 बौधायन, I I 8 9
42 मिलाए यू एन घोषाल 'दि स्टेटस ऑफ ब्राह्मणाज इन दि धर्मसूत्राज', इं हि क्वा, XXIII, पृ 83-92, एच सी राय पोजीशन ऑफ दि ब्राह्मणाज इन दि अर्थशास्त्र,' प्रोसिडिंग्स आफ दि ऑल इंडिया ओरियंटल कानफ्रेंस 1924
43 आर एन मेहता प्रीबुद्धिस्ट इंडिया, पृ 135
44 अर्थशास्त्र, I 15

11. रत्नहर्वीषि संस्कार

उत्तर वैदिक काल मे आर्यो के राजनीतिक सगठन पर जितना प्रकाश 'रत्नहवींषि' सस्कार से पडता है उतना शायद ही किसी एक अनुष्ठान से पडता हो । यह सस्कार 'राजसूय यज्ञ' का अग था। इसके महत्व पर टिप्पणी करते हुए हमे वेबर, जायसवाल और घोषाल का आभार स्वीकार करना होगा। इन विद्वानो ने इस विषय पर प्रकाश डालने वाले उत्तर वैदिक ग्रंथो की जाच-पडताल की ओर काफी ध्यान दिया है ।[1] किंतु अभी भी क्षेत्रीय भिन्नता, समकालीन आर्थिक पृष्ठभूमि, अन्य भारोपीय जनो की प्रारंभिक सस्थाओ को ध्यान मे रखते हुए स्रोत-सामग्री के परीक्षण की गुजाइश है और रत्नियो (रत्न धारको) के वास्तविक कार्यों की व्याख्या की आवश्यकता है ।

रत्नहवींषि सस्कार के अनुसार यजमान राजा हर रत्निन के घर जाता और वहा समुचित देवता को बलि अर्पित करता था । पाच ग्रथो मे इन रत्नियो के नाम आए हैं, जिनके आधार पर घोषाल ने एक सारिणी तैयार की है ।[2] यह सारिणी पृष्ठ 138 पर, कुछेक सुधारो के साथ, उद्धृत की गई है ।

जायसवाल ग्यारह रत्निन गिनाते हैं ।[3] लेकिन जो नाम एक सूची मे हैं वे दूसरी मे नहीं हैं । फलतः, राजा जिन लोगो के घर जाकर विभिन्न देवताओ को बलि अर्पित करता है उनकी संख्या पद्रह हो जाती है । जहां तक क्रमविन्यास और नामोल्लेख का सबध है, हम अन्य यजुः सहिताओ तथा 'शतपथ ब्राह्मण' के बीच स्पष्ट अंतर देखते हैं । लेकिन 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' मे दी गई सूची मे मिलने वाली भिन्नताओ पर हम आगे विचार करेगे ।

आगे दी गई सारणी कुरु पचाल देश मे तैयार की गई जान पडती है । इस देश मे राजसूय यज्ञ होता था, इसका साक्ष्य अभिषेकमत्र मे मिलता है । इसके अनुसार राजा भारत, कुरु और पचाल इन तीन जनो पर शासन करता है ।[4] अत रत्नियो की संस्था शायद मध्यदेश मे प्रचलित थी। जैसा कि 'शतपथ ब्राह्मण' मे उपलब्ध साक्ष्यो से स्पष्ट है, आर्यो का प्रसार जब और भी पूर्व की ओर विदेह मे हुआ तब इस सस्था मे कुछेक परिवर्तन हुए ।

यदि हम फान श्रोडर की यह मान्यता स्वीकार कर ले कि 'मैत्रायणी' और 'काठक' सहिताएँ पहले के काल की हैं'[5] तो ऐसा प्रतीत होगा कि प्राचीनतम सूची

रत्नहवींषि मे रत्नियो की सूची

तैत्तिरीय संहिता 1.8.9		मैत्रयाणी संहिता 11.6.5, IV.3		काठक संहिता XV. 4		तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.7.3 और आगे		शतपथ ब्राह्मण V.3.1 और आगे	
1	ब्रह्मन	1	ब्रह्मन्	1	बृहस्पति के लिए पुरोहित	1	ब्रह्मन्	1	सेनानी
2	राजन्य	2	राजन्य	2	इन्द्र के लिए राजा	2	राजन्य	2	पुरोहित
3	महिषी	3	महिषी	3	अदिति के लिए महिषी	3	महिषी	3.	याजक
4	परिवृक्ति	4	परिवृक्ति	4	नैऋत के लिए परिवृक्ति	4	वावाता	4	महिषि
5	सेनानी	5	सेनानी	5	अग्नि के लिए सेनानी	5	परिवृक्ति	5	सूत
6	सूत	6	सग्रहीतृ	6	अश्विनों के लिए सग्रहीतृ	6	सेनानी	6	ग्रामणी
7	ग्रामणी	7	क्षतृ	7	सवितर के लिए क्षतृ	7	सूत	7	क्षतृ
8	क्षतृ	8	सूत	8	वरुण के लिए सूत	8	ग्रामणी	8	सग्रहीतृ
9	सग्रहीतृ	9	वैश्यग्रामणी	9.	मरुत के लिए वैश्यग्रामणी	9	क्षतृ	9	भागदुघ
10	भागदुघ	10	भागदुघ	10	पूषन् के लिए भागदुघ	10	सग्रहीतृ	10	अक्षावाप
11	अक्षावाप	11	और 12	11	अक्षावाप और	11	भागदुघ	11	गोनिकर्तन
			तक्षन् तथा रथकार	12	रुद्र के लिए गोव्यच्छ	12	अक्षावाप	12	पालागल
			13 और 14					13	परिवृक्ति
			आक्षावाप और गोविकर्त						(इसका उल्लेख रत्निन के रूप में नहीं हुआ है।)

में चौदह रत्निन हैं, क्योंकि 'मैत्रायणी संहिता' में इतने ही रत्निन बताए गए हैं। इस सूची मे सबसे ऊपर ब्राह्मण है। तीन ग्रथों में वह इस प्रथम स्थान पर आसीन है, और चौथे में भी पुरोहित के रूप में इसी स्थान पर विद्यमान है। पुरोहित की उपाधि उसे 'शतपथ ब्राह्मण' में दी गई है, जिसमें उसका स्थान दूसरा है। ब्राह्मण, जिसके घर जाकर राजा को प्रधान देव पुरोहित बृहस्पति को हवि अर्पित करनी है, नवमगठित पुरोहित वर्ग का द्योतक है। बहुत ही जोरदार तर्क देकर यह कहा गया है कि ब्राह्मण आर्येतर याजक (पुरोहित) थे। फिर रत्नियों की सूची में उसका नाम सबसे ऊपर क्यों आया? सभवतः ब्राह्मण ने पटुता द्वारा विजेता की कृपा प्राप्त की जिन्होंने अपनी सहिष्णुता का प्रदर्शन किया।

चार ग्रथों मे दूसरा स्थान राजन्य को दिया गया है। फर्क इतना है कि एक ग्रथ में उसका उल्लेख राजा के रूप में है। यदि हम 'शतपथ ब्राह्मण' और 'काठक संहिता' की व्याख्या स्वीकार कर ले तो मानना होगा कि यह रत्निन और कोई नहीं, स्वय राजा है। लेकिन यह बात विचित्र-सी लगती है कि 'शतपथ ब्राह्मण' में राजा का स्थान तीसरा और अन्य ग्रंथो मे दूसरा हो। सभवत: राजन्य, जिसके घर परम योद्धा इंद्र को हवि अर्पित की जानी है, क्षत्रियों के योद्धावर्ग को द्योतित करता है।

'शतपथ ब्राह्मण' के सिवा सभी ग्रथो की सूचियों मे तीसरा स्थान महिषी को प्राप्त है। इसका शाब्दिक अर्थ पटरानी (प्रधान रानी) है, जिससे प्रतीत होता है कि राजा अनेक रानियो से विवाह करता था। जायसवाल का कहना है कि रानी मनोनीत राजा की अर्धांगिनी का स्थान पूरा करती है।[6] लेकिन 'शतपथ ब्राह्मण' मे जो व्याख्या दी गई है उससे इस अनुमान की पुष्टि नही होती है। ऐसा मालूम होता है कि महिषी, जिसके घर अदिति को हवि अर्पित की जाती है, पृथ्वी की द्योतिका है, जो दुधारू गाय और माता की तरह लोगों का भरणपोषण करती है और उनकी मनोकामनाएँ पूरी करती है।[7] इससे उत्तर वैदिक काल की राज्यव्यवस्था में मातृत्व के महत्व का सकेत मिलता है। रत्निन के रूप में दो अन्य रानियों के उल्लेख से भी इस तथ्य का समर्थन होता है।

तीन संहिताओ मे चौथा और एक 'ब्राह्मण' मे पाचवां नाम परिवृक्ति का है। 'शतपथ ब्राह्मण' की रत्निन सूची मे उसे विधिवत शामिल नही किया गया है। रत्नियों की परिगणना के बाद परित्यक्ता पत्नी के रूप में उसका उल्लेख किया गया है। उसे कोई पुत्र नही है। राजा उसके पास इसलिए जाता है कि उसका (राजा का) कोई अनिष्ट न हो।[8] यद्यपि यहां जिस उद्देश्य का उल्लेख है उससे यह पता नहीं चलता है कि राजा ऐसी पत्नी का समर्थन प्राप्त करना चाहता है, किंतु इसमें सदेह नहीं है कि राजा का अनिष्ट करने की वह क्षमता रखती थी। अन्य रीतियो की तरह वह राजा की सहायता का स्रोत नहीं, बल्कि ऐसे विरोध का स्रोत

समझी जाती थी जिसे शमित रखना आवश्यक था। रत्निन के रूप मे राजा की प्रिय पत्नी अर्थात् वावाता का उल्लेख केवल 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' मे है जिसमे इसका स्थान चौथा और परिवृक्ति का पाचवा है।

तीन संहिताओ मे पाचवा, एक 'ब्राह्मण' मे छठा, और दूसरे ब्राह्मण मे प्रथम स्थान सेनानी को दिया गया है। जान पडता है, मूलत यह दल का नेता था, किंतु 'शतपथ ब्राह्मण' मे वह प्रधान सेनापति के रूप में कार्य करता प्रस्तुत होता है।[9] सायण ने सेनानी को शूद्र बतलाया है। इसका कारण योद्धा वर्ग के प्रति ब्राह्मणो का वैर-भाव हो सकता है। इसलिए सायण के कथन को अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता।

हमारे उपर्युक्त विवेचन मे पाच रत्नियों को उसी क्रम मे रखा गया है जिस क्रम से वे अधिकाश ग्रथो मे रखे गए हैं। लेकिन शेष रत्नियों का स्थान पद और प्रधानता की दृष्टि से कैसे निश्चित हो, यह तय करना कठिन है। पहले सभी सूचियों में आने वाले छह रत्नियों के स्थान पर हम विचार करेंगे। वे हैं, 'सूत', 'ग्रामणी', 'क्षतृ', 'सग्रहीतृ' 'भागदुघ' और 'अक्षावाप'।

अनेक लेखकों ने सूत को दरबारी चारण या इतिवृत्तकार (क्रानिकलर) माना है।[10] यह अर्थ महाकाव्य मे उल्लिखित सूत के साथ ठीक बैठता है। लेकिन राजा उसके घर जाकर वरुण को हवि अर्पित करता है, जिसके लिए दक्षिणा के रूप में घोडा देने का विधान किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि यह विशिष्ट व्यक्ति सारथि था।[11] एक अन्य स्थल पर इसका जो उल्लेख है उसमें इस अधिकारी को और स्थपति को एक ही माना गया है।[12] स्थपति शब्द के शासक, वास्तुकार, प्रधान, प्रधान निर्माता, बढई और चक्रनिर्माता आदि अनेक अर्थ सभव हैं।[13] इनमे से शासक[14] और प्रधान न्यायकर्ता[15], ये दो अर्थ अधिक ग्राह्य माने गए हैं। लेकिन रथ के साथ सूत के सबध को देखते हुए चक्रनिर्माता अर्थ सदर्भ के शायद अधिक अनुकूल बैठेगा। सूत शायद सारथि और रथकार दोनो के कार्य करता था। चूकि उसके कार्यों का सबध शारीरिक श्रम से था, शायद इसीलिए परवर्ती काल मे उसका सम्मान कम हो गया। किंतु पूर्ववर्ती काल मे उसका काफी महत्त्व था, क्योंकि 'अथर्ववेद' में वह और ग्रामणी उन लोगों मे थे जिन्हे नव अभिषिक्त राजा अपना समर्थक (उपस्तिन) बनाना चाहता है।[16]

दो संहिताओ मे ग्रामणी का उल्लेख वैश्यग्रामणी के रूप मे हुआ है। इससे पता चलता है कि वह गाव मे रहने वाले लोगो (विश) का प्रधान होता था। एक अनुमान यह है कि वह राजधानी मे रहने वाला वशानुगत क्षेत्रस्वामी था।[17] लेकिन ऐसी कोई भी बात कही नही मिलती जिससे सिद्ध होता हो कि वह सदा राजधानी मे ही रहता था। भारतों, कुरुओ और पचालो के राज्य अब भी इतने बडे नही हुए थे कि राजा अपने-अपने राज्य के सभी हिस्सों मे आसानी से नही आ जा सकता हो। यह

निश्चित करना जरा कठिन है कि ग्रामणी का ठीक-ठीक कार्य क्या था। इस बात की पूरी संभावना है कि वह अब भी युद्धक्षेत्र में लोगों की छोटी-छोटी टोलियों का नेतृत्व करता था, और हो सकता है कि इसके साथ-साथ अब वह ग्रामीण लोगों की सामान्य देख-रेख का काम भी करने लगा हो। जायसवाल का कहना है कि ग्रामणी नगर क्षेत्र का भी प्रधान था,[18] लेकिन उत्तर वैदिक काल में शहरी जीवन किसी बड़े पैमाने पर शुरू हो गया होगा, यह संदेहास्पद है। इसी प्रकार, इस अनुमान का भी कोई सुदृढ़ आधार नहीं है कि ग्रामणी के जरिए राजस्व वसूल किया जाता था।[19]

क्षत् के दो अर्थ बताए गए हैं—तक्षक (कार्वर) और क्षत्रधर (चैंबरलेन).[20] लेकिन शायद पहला अर्थ उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वह तक्षन नामक रत्नि पर अधिक लागू होता है, और इसीलिए क्षत् के संबंध में यह अर्थ निष्प्रयोजन हो जाता है। अतएव इस शब्द को क्षत्रधर के अर्थ में स्वीकार करना अधिक समीचीन होगा। सूत की ही तरह परवर्ती काल में उसका स्थान भी नीचे आ गया और वह वर्णसंकर जाति के सदस्य के रूप में तिरस्कृत किया गया। क्षत् का कुछ संबंध मर्हिना से भी दिखलाया गया है, जो देवताओं का प्रेरक था किंतु इससे उसकी स्थिति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

संग्रहीतृ के स्थान के संबंध में भी मतभेद है। परवर्ती टीकाकारों के आधार पर जायसवाल उसे कोष का मालिक मानते हैं।[21] जायसवाल के अनुसार 'अर्थशास्त्र' में यह पदाधिकारी सन्निधाता कहा गया है। परन्तु परवर्ती काल में इसके जो अर्थ प्रचलित हुए उन्हें खींचतान कर पूर्ववर्ती काल के संदर्भ में लागू करने का कोई औचित्य नहीं दीखता। इसका शाब्दिक अर्थ लगाम पकड़ने वाला या चालक है।[22] अतः यह रत्निन कोई निचली कोटि का सारथि था, जो मुख्य योद्धा के सारथि के रूप में कार्य करने वाले सूत से भिन्न था। गोहरण अनुष्ठान में रथ की भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण है[23] कि इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि रथ का निर्माण या संचालन करने वाले विभिन्न प्रकार के लोगों को ऐसी प्रतिष्ठा प्रदान की जाए। संग्रहीतृ सारथि होता था, इसका अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि उसके घर पर अश्विनों को हवि अर्पित की जाती है,[24] जो अपने वाहन घोड़े पर आरूढ़ होकर तेजी से आकाश में चलने वाले देवताओं के रूप में चित्रित किए गए हैं।

यद्यपि विभिन्न सूचियों में भागदुघ का स्थान थोड़ा नीचे है, फिर भी वह महत्त्वपूर्ण रत्निन है। एक स्थान पर इस शब्द का अर्थ भागों अथवा हिस्सों का वितरक लगाया गया है।[25] अर्थात भागदुघ वही काम करता था जो पूषन की विशेषता बताया गया है। चूंकि भागदुघ के घर पशु देवता पूषन को हवि अर्पित की जाती है[26] जिसका काम भागों को बांटना था इसलिए इसकी पूरी संभावना है कि अन्न के रूप में या पशुओं के रूप में जो लूट का माल राजा के पास आता था, वह

राजपदाधिकारियों के बीच बांटा जाता था। संभव है, उत्तर वैदिक काल में पशुपालकों और किसानों से अतिरिक्त खाद्य सामग्री वसूल की जाती हो और भागदुघ उसे राजा के सेवकों के बीच बांटने का काम करता रहा हो। ध्यान देने की बात है कि बांटने का काम वैदिक जनसभाओं में होता था पर धीरे-धीरे वितरण प्रथा का भी रूप बदलता जा रहा था।

सभी सूचियों में सम्मिलित ग्यारहवां रत्निन अक्षावाप है। इसका शाब्दिक अर्थ अक्ष (पासा) फेंकने वाला है। लेकिन यह तर्क दिया गया है कि यह असाधारण बात है कि राजा ऐसे अधिकारी के पास जाए जो द्यूत विभाग का दायित्व संभालता हो। इसलिए कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में आए अक्षशाला शब्द के आधार पर कहा गया है कि अक्षावाप राज्य लेखाविभाग का दायित्व संभालता था।[27] लेकिन जैसा कि पहले बतलाया गया है, उत्तर वैदिक काल के अधिकारियों के कार्यों का अनुमान लगाने के लिए परवर्ती साक्ष्यों का उपयोग सदैव नहीं किया जा सकता। निस्संदेह, अक्षावाप अक्ष (पासा) फेंकने वाला अधिकारी ही था, क्योंकि इस प्रसंग में बिसात और पासे का भी उल्लेख मिलता है।[28] अत: व्यापक अर्थ में अक्षावाप खेलकूद और मनोरंजन का प्रबंध करता था, क्योंकि वैदिक लोग जनसभाओं में एकत्रित होकर खेलकूद में भाग लेते थे।

अंत में हमें शेष चार रत्नियों पर विचार करना है, जिनमें से किसी का उल्लेख एक में तो किसी का दूसरी-सूची में हुआ है। इस तरह कुल मिलाकर पंद्रह रत्निन होते हैं। उन चार में से एक 'गोविकर्तन' है, जो थोड़े हेरफेर के साथ तीन सूचियों में उपलब्ध है। 'यजुर्वेद' की 'मैत्रायणी संहिता' में इसका रूप 'गाविकर्तन' और 'काठक संहिता' में 'गव्यच्छ' है। 'शतपथ ब्राह्मण' में यह 'गोविकर्तन' है। इसका शाब्दिक अर्थ कसाई या गाय मारने वाला है। इसलिए इस अधिकारी का अर्थ मुख्य आखेटक लगाया गया है।[29] एक अनुमान है गोविकर्तन मेगास्थनीज द्वारा वर्णित वही अधिकारी है जो भूमि को वन्य पशुओं तथा बीजों को खा जाने वाले पक्षियों से मुक्त रखने का काम करने वाले शिकारियों का प्रधान था।[30] किंतु यह अनुमान निराधार प्रतीत होता है। हो सकता है, यह शिकार और जंगलों की देखरेख करता रहा हो। शायद इसका कार्य राजपरिवार के लिए पर्याप्त शिकार सुलभ कराना रहा होगा। बात ऐसी रही हो तो उससे यह प्रकट होता है कि अभी भी आखेट लोगों का एक मुख्य पेशा था और गोमांस उनका एक मुख्य आहार।

'यजुर्वेद' की संहिताओं में दो अन्य रत्नियों, तक्षन और रथकार, के उल्लेख हैं। इनके अर्थ के संबंध में कोई मतभेद नहीं है। पहले का अर्थ बढ़ई और दूसरे का रथ बनाने वाला है। उनके घरों पर संपन्न संस्कारों में दक्षिणास्वरूप सभी प्रकार की धातुओं के दान का विधान है। इससे प्रकट होता है कि उन लोगों का महत्त्व उनके धातुकर्म से संबद्ध होने के कारण था।[31] 'अथर्ववेद' में रथकार और कर्मार

की चर्चा है, और वे स्पष्ट शब्दों में राजा के चतुर्दिक विद्यमान विश (जन) के अंग बतलाए गए हैं।[12] यजुर्वेद में कर्मकार की जगह तक्षन का उल्लेख है। इससे जान पड़ता है कि रथकार और तक्षन को जो प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त थे उसका कारण यह था कि वे मूलतः उन आर्य जनजातियों के सदस्य थे जो कालांतर से वर्णों में विभाजित हो गई। इसलिए यजु. संहिताओं में इनका शामिल किया जाना राज्य के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में उनकी स्वीकृति का सूचक माना जाना चाहिए। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आदिम समाज में शिल्पियों का स्थान बहुत ऊंचा था।[13]

रत्नियों की सूची में सबसे अंतिम नाम पालागल का समझना चाहिए, क्योंकि उनका नाम 'शतपथ ब्राह्मण' में आया है जो उत्तर वैदिक काल के अंत की रचना है। पालागल एक स्थान से दूसरे स्थान तक संदेश ले जाने वाले दूत का कार्य करता था।[14] ध्यान देने की बात है कि आस्ट्रेलिया की आदिम जनजातियों के राजनीतिक संगठन में संदेशवाहकों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। मुखिये, परिषदें तथा अन्य सत्ताधारी मंडल संदेशवाहकों का उपयोग सारा-सारा व्यक्तियों और स्थानीय समूहों या जनजातियों की बैठक, समारोह या सामुदायिक भोज अथवा प्रतिशोध अभियान की सूचना भेजने के लिए करते हैं।[15] इस साक्ष्य के आधार पर उत्तर वैदिक काल के राजनीतिक संगठन में पालागल के महत्त्व को स्वीकार करना होगा, यद्यपि वर्णतः उसे शूद्र माना जाता था। पालागल नाम आर्य जातीय नहीं प्रतीत होता। अधिक संभावना इस बात की है कि यह किसी आदिम जाति का नाम रहा होगा, जो 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रतिबिम्बित युग में शायद आर्यों के सुदूरपूर्वी प्रसार क्षेत्र विदेह में रहती थी। यह निष्कर्ष पालागली (अर्थात शूद्रपत्नी रूप में तिरस्कृत) शब्द के प्रयोग से निकाला जा सकता है।[16] पालागली शायद ऐसी पत्नी थी जो किसी आदिमजन में से ब्याह कर लाई जाती थी। प्रसंगवश, हरकारे को दक्षिणास्वरूप दिए जाने वाले चर्मावृत धनुष, चमड़े के तरकस और लाल पगड़ी[17] से संकेत मिलता है कि वह इन हथियारों से मार्ग में शत्रुओं से अपना बचाव करता था।

रत्नियों की सूची में पालागल का शामिल किया जाना 'शतपथ ब्राह्मण' की सूची की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसी तरह इसकी दूसरी विशेषता है कि इसकी सूची में सेनानी को सर्वोच्च स्थान पर रखा गया है। इसका कारण भी क्षेत्रीय भिन्नता में ढूंढ़ा जा सकता है। यद्यपि 'शतपथ ब्राह्मण' द्वारा विदेह में आर्यों के प्रसार का श्रेय विदेघ माथव और जंगलों को जलाकर साफ करने वाले अग्नि वैश्वानर के प्रयासों को दिया गया है,[18] फिर भी ऐसा सोचना गलत न होगा कि इसके विस्तार के क्रम में बहुत से युद्ध हुए होंगे, जिसके परिणामस्वरूप सेनानी या युद्धनायक के महत्त्व में वृद्धि हुई होगी। 'शतपथ ब्राह्मण' में ऐसे अनेक अवतरण

हैं जिनमे ब्राह्मणो की श्रेष्ठता के दावे किए गए हैं जैसे कि उनकी सपत्ति कोई स्पर्श नही कर सकता परतु इस ग्रथ से ऐसी धारणा बनती है कि क्षत्रिय लोग न केवल राजनीति के क्षेत्र मे वरन बौद्धिक क्षेत्र मे भी, जिस पर अब तक ब्राह्मणों का एकाधिपत्य माना जाता था, अपना वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। इस ग्रथ मे तथा औपनिषदिक आख्यानो में अश्वपति कैकेय प्रवाहण जैबलि, विदेह जनक और काशी के अजातशत्रु आदि ऐसे अनेक क्षत्रिय राजाओ के उल्लेख मिलते हैं जो अपनी दार्शनिक उपलब्धियो के लिए विख्यात हैं और जो ब्राह्मणों के साथ दार्शनिक चर्चा करते हैं तथा उन्हे दर्शन की शिक्षा देते हैं।[39] इसलिए इसमे कोई आश्चर्य नही कि इस ग्रथ मे सेनानी को, जो योद्धावर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, रत्निनो की सूची मे प्रथम स्थान और पुरोहित को द्वितीय स्थान दिया गया है। इस सबध मे 'शतपथ ब्राह्मण' मे जो आनरिक सुसगति का अभाव दीख पडता है वह सभवत इस कारण है कि ब्राह्मणों के हितो को ध्यान मे रखकर परवर्ती काल मे इस ग्रथ मे कुछ परिवर्तन कर दिए गए हो।

जिस बढ़ते हुए सैनिक और पितृतत्रात्मक वातावरण मे 'शतपथ ब्राह्मण' की रचना हुई जान पडती है, उसका सकेत इस बात मे भी मिलता है कि उसकी रत्निन सूची में वावाता का पूर्ण लोप हो गया है और परिवृक्ति का उल्लेख भी नियमित रत्निन के रूप में नही, वल्कि रत्नियो की औपचारिक गणना कराने के बाद अत मे किया गया है। इससे महिलाओं की प्रतिष्ठा मे क्रमिक ह्रास परिलक्षित होता है, जिसके और अधिक पुष्ट प्रमाण वैदिकोत्तर काल मे मिलते हैं।

अब अत में हम 'शतपथ ब्राह्मण' की रत्निन सूची से रथकार और तक्षन के लोप पर विचार कर सकते हैं। इसे हम शारीरिक श्रम करनेवाले शिल्पियो के प्रति ब्राह्मणो तथा क्षत्रियों के बढ़ते हुए तिरस्कारभाव का प्रमाण मान सकते हैं। इसके आगे की व्यवस्था हमे मौर्यपूर्व काल मे देखने को मिलती है, जब धर्मपुत्रो मे रथकारो को वर्णसकर बताकर तथा प्रारंभिक बौधग्रथो मे 'हीन सिप्प' (अधम शिल्पी) कहकर उनका तिरस्कार किया गया। इस तिरस्कार भाव की शुरुआत 'शतपथ ब्राह्मण' के काल मे हुई जब श्रमविभाजन पर आधारित सामाजिक वर्ग ऊच-नीच के भाव से युक्त वर्णों मे बंधने लगे। इस प्रकार, इस ग्रथ मे रत्नियो की जो सूची दी गई है, उसकी विषयवस्तु अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है और उसमे रत्नियो के कार्यों का निरूपण भी अधिक विस्तार से हुआ है। यह सूची आशिक रूप से जनजातीय और मातृतत्रात्मक समाज और पूर्ण रूप से वर्गविभाजित तथा पितृतत्रात्मक समाज के बीच की सक्रमण अवस्था प्रतिबिंबित करती है।

रत्नहवीषि सस्कार की एक रोचक मानववैज्ञानिक व्याख्या हीस्टरमेन ने प्रस्तुत की है। वह इस सस्कार को आदिम मानव समाज मे प्रचलित विवाह तथा पुनर्जन्म की परिकल्पना पर आधारित मानते हैं। उनकी राय मे इस सस्कार से

राजा की पत्नियो का सबध इस परिकल्पना का स्पष्ट संकेत देता है । उनका कहना है कि ये पत्निया यहां गर्भाशयो का काम करती हैं ।[40] उनके अनुसार सारथि और चतुर्वर्णों के प्रतिनिधियों का संबंध भ्रूणीय आवरणों से जोडा जा सकता है ।[41] किंतु संहिताओ या ब्राह्मणों मे पाए गए कर्मकाडो के जो स्पष्टीकरण दिए गए हैं, उन पर यह व्याख्या लागू नही की जा सकती । इसके अलावा वैदिक काल तक पत्नी और मा, ये दो संस्थाए इतनी अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो चुकी थी कि अपनी पत्नियों के गर्भ मे प्रवेश करने और उन्हें अपनी माताए मानने का विचार न केवल यजमान राजा की दृष्टि मे, वरन ब्राह्मण पुरोहितो की नजर मे भी अत्यंत गर्हित और जुगुप्सामय माना जाना चाहिए। हीस्टरमेन का तर्क है कि रत्नियो के नाम से शासन के वास्तविक संगठन की जानकारी का कोई सूत्र हाथ में नही आता है ।[42] उनका कहना है कि सूची मे राज दपतियो, शासन या राजपरिवार की व्यवस्था से सबंधित उच्च पदाधिकारियो और शिल्पियों का विचित्र गड्डमड्ड है ।[43] किन्तु प्रारंभिक काल मे जब जीवन के विभिन्न विभाग एक दूसरे से सर्वथा अलग खडो मे नही बट पाए थे और शुद्ध प्रशासकीय तथा अन्य कार्यों का पूर्णत पृथक्करण नही हुआ था तब विभिन्न प्रकार के राजकाज करनेवाले लोगो का एक सूची में शामिल किया जाना किसी भी तरह असगत था, ऐसा नही माना जा सकता । रत्नहवींषि सस्कार के सिलसिले में राजा जिन लोगों के द्वार पर जाता था, उनका राजनीतिक महत्त्व अनेक अवतरणो मे बहुत स्पष्ट रूप से उजागर हुआ है । बार-बार यह कहा गया है कि राजा इन रत्नियों को अपने राज्य का आधारस्तभ मानता है । इस बात पर अनेक लेखको ने भी जोर दिया है ।[44] रत्नियो को राज्य देने और लेने वाले (राष्ट्रस्य प्रदातार:, एते परदातार:) कहा गया है ।[45] उन्हे राजशक्ति का अंग (क्षत्रस्य वा एतान्यगानि)[46] कहा गया है, जो मनु और अन्य विचारकों द्वारा उल्लिखित राज्य के सात अगो की याद दिलाता है । यह भी कहा गया है कि यदि रत्निन ओजस्वी और तेजस्वी हुए तो वह राष्ट्र भी ओजस्वी और तेजस्वी होगा ।[47] अधिकांश रत्नियो के घर राजा जिस मत्र का उच्चारण करता है, उसमे वह कहता है कि मैं रत्नियो के लिए ही अभिषिक्त हुआ हू और मैं उन्हें अपना निष्ठावान अनुगामी बनाता हूं ।[48] पुरोहित राजन्य, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ और सग्रहीतृ ये सब विशिष्ट व्यक्ति थे, इस बात की पुष्टि ऐसे स्रोत से भी होती है जिसका रत्नहवींषि संस्कार से कोई सबध नही है । इन्हे ऐसा व्यक्ति कहा गया है जो राजा का अभिषेक करते हैं और साथ मिलकर राजपद को सबल देते हैं ।[49] इस संस्कार में जिन अधिकारियो को रत्निन कहा गया है वे राजसूय यज्ञ के ही एक अन्य संस्कार—यज्ञखड्ग के हस्तातरण—मे भी, जो द्यूत क्रीडा का एक अंग था, महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माने गए हैं । शुक्लयजुर्वेदीय शाखा के एक अवतरण के अनुसार यह यज्ञखड्ग सूत और ग्रामणी को भी हस्तांतरित किया जाता है, ताकि वे

अतत. राजा के अधीनस्थ बन जाए।[50] इस सदर्भ में कृष्णयजुर्वेदीय शाखा के एक अवतरण मे यह खड्ग पुरोहित को दिया जाता है, जो इसे रत्नियो को हस्तांतरित कर देता है। अत मे यह अक्षावाप के हाथ जाता है जो इससे क्रीडाक्षेत्र तैयार करता है।[51] यद्यपि इस सदर्भ मे केवल दो-तीन रत्नियों का स्पष्ट उल्लेख है, फिर भी समारोह के अत में अन्य रत्निन भी, यानी संग्रहीतृ, भागदुघ और क्षतृ साक्षियों के रूप मे राजा द्वारा आमंत्रित किए जाते हैं।[52]

हिंदू समाज मे आज भी पुराने सस्कारो के अवशेष देखे जा सकते हैं। उपनयन सस्कार के अवसर पर लडके को अपने कुम्हार के घर जाकर चाक की और तेली के घर जाकर कोल्हू की पूजा करनी होती है। ये बातें लडकी को भी अपने विवाह के अवसर पर करनी होती हैं। इस सबसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि ये कारीगर अपने यजमानो के परिवारो के प्रबध के लिए जिम्मेदार होते हैं। लेकिन साथ ही, यह भी काफी स्पष्ट है कि ये संस्कार केवल उन्ही कारीगरों के घर जाकर सपन्न करने पडते हैं जिनसे परिवार को दैनिक जीवन में वास्ता पडता है, और यह तो निश्चित ही है कि प्रौद्योगिक ग्रामीण समाज मे कोई भी कृषक अपना काम इन कारीगरो के बिना नही चला सकता है। वैदिक काल में प्रचलित संस्कारों से भी इस तरह का निष्कर्ष निकालना अनुचित नही होगा। राजा तथा उसके कर्मचारियों और आश्रितो के पारस्परिक सबधों को रत्नहवींषि सस्कार द्वारा पुनीत बनाया जाता था और उन्हें धर्मसस्कारो का रूप प्रदान किया जाता था। जिन रत्नियो के पास राजा इस अनुष्ठान के क्रम में जाता था, वे निश्चय ही उसके घरेलू परिचर और प्रशासनयत्र के अग थे, और उत्तर वैदिक काल की राज्यव्यवस्था मे इन दो वर्गों के कर्मचारियो के बीच भेद की कोई स्पष्ट रेखा खीच पाना कठिन है।

लेकिन इन रत्नियो का सांविधानिक स्थान क्या था, यह कहना कठिन है,[53] क्योकि जिस अर्थ में हम आज संविधान शब्द का प्रयोग करते हैं, उस अर्थ में उन दिनों संविधान जैसी कोई चीज ही नही थी। जायसवाल रत्नियों को उच्च राज्याधिकारी मानते हैं।[54] जहा तक रत्नहवींषि सस्कार का उद्देश्य राजा को इन रत्नियो का समर्थन और निष्ठा उपलब्ध कराना था, जायसवाल का मत सही जान पडता है। हम इसमें इतना और जोड सकते हैं कि इस अनुष्ठान मे उन देवताओ का समर्थन भी पूर्वगृहीत माना जाता था जिन्हे रत्नियों के घर हवि अर्पित की जाती थी। परिवृक्ति के घर हवि अर्पित करने का उद्देश्य किसी देवता का समर्थन प्राप्त करना नही बल्कि उस रानी और निर्ऋति देवता से सबद्ध अमगलकारी शक्तियो का निवारण करना होता था। जो भी हो, इसमें कोई सदेह नही कि परित्यक्ता रानी का भी अपना एक नकारात्मक महत्त्व था। बडे और छोटे अधिकारियो का भेद विशेष स्पष्टता के साथ बता पाना शायद सभव नही है,[55] क्योंकि हमारे स्रोतग्रथों में राजा के लिए सबकी निष्ठा समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानी गई है। फिर भी

राज्याधिकारियों की श्रेणी में किसी न किसी प्रकार की वरिष्ठता-कनिष्ठता का आभास अवश्य मिलता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ये रत्निन जिनमें से ग्यारह सभी सूचियों में और बारह अधिकांश में आए हैं, एक प्रकार की राजपरिषद[56] का कार्य करते थे। संभव है, विभिन्न राज्यों में उनकी संख्या में कुछ अंतर होता हो, क्योंकि राजसूय यज्ञ भारतों कुरुओं और पंचालों तीनों के राज्यों में होता था। 'शतपथ ब्राह्मण' के भौगोलिक क्षितिज की ओर ध्यान देने पर लगता है कि यह यज्ञ शायद विदेह में भी प्रचलित रहा होगा, जिसमें रत्नियों की संख्या बारह प्रतीत होती है, यद्यपि परिवृक्ति का समावेश नियमित सूची में नहीं है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि बारह व्यक्तियों की परिषद की प्रथा अनेक भारोपीय समुदायों में विद्यमान थी। परिषद के सदस्यों की हैसियत राजदरबार के साधारण सदस्यों से कुछ भिन्न रही होगी। पुराने सैक्सन लोगों की परिषद में भी बारह सदस्य होते थे। इसकी वार्षिक बैठकें हुआ करती थीं, लेकिन उन लोगों का कोई राजा नहीं था। स्वीडन में भी आनुश्रुतिक और ऐतिहासिक युगों में ऐसी बारह सदस्यीय परिषद थी। कुछेक भारोपीय देवताओं को भी बारह सदस्यीय परिषद से युक्त होने का श्रेय दिया जाता था, और ऐसा माना जाता था कि उनकी परिषद न्यायिक और याज्ञिक कार्य करती है। बारह फ्रीसियन न्यायाधीशों का उपाख्यान काफी प्रसिद्ध है।[57] केल्टों और अन्य यूरोपीय लोगों के बीच भी बारह सदस्यों वाली परिषदों के चलन की जानकारी मिलती है।[58] होमरिक लोगों को छोड़कर बाकी कई आर्य-समुदायों में बारह सदस्यों वाली परिषदों का चलन था। इसलिए चैडविक का कहना है कि इस प्रकार की संख्या अत्यंत प्राचीन है।[59] बहुत संभव है कि आर्यों के अपने मूल स्थान से पूर्व और पश्चिम की ओर चलने के पूर्व यह संख्या उनके बीच विद्यमान रही हो, और यूरोप तथा भारत में एक-दूसरे से स्वतंत्र समुदायों के रूप में बस जाने के बाद भी उन्होंने इसे कायम रखा हो। अन्य आर्य-समुदायों के बीच इस तरह की प्रचलित संस्थाओं से अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल के ग्यारह—और अधिकांश स्रोतों के अनुसार बारह—रत्निन राजा को परामर्श देने और सहायता पहुंचाने वाली नियमित परिषद की तरह काम करते होंगे, क्योंकि सभा के गठन से लगता है कि उसका आकार इतना बड़ा था कि वह राजकाज के दैनिक संचालन में राजा को परामर्श नहीं दे सकती थी। 'ऐसी आशा करना स्वाभाविक ही है कि इस परिषद के प्रभाव को सबसे अधिक राजा की मृत्यु,' अर्थात् 'नए राजा के सिंहासनारोहण के अवसर पर अनुभव किया जाता होगा।' यही कारण है कि राजा अपने सिंहासनारोहण के समय रत्नियों के घर जाता था।

किंतु उन दिनों इसके परिषद सदस्यों और राज्य के उच्चपदस्थ अधिकारियों के बीच भेद करना कठिन था। स्पष्टतः रत्निन एक प्रकार की नौकरशाही के रूप

मे गठित थे। इस नौकरशाही का सर्वाधिक विकसित रूप कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' मे दिखलाई पडता है। लेकिन रत्नहवींषि से ज्ञात अधिकारियो की संख्या से यह सकेत मिलता है कि उत्तर वैदिक काल का शासन-सगठन ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा बहुत अधिक विकसित था। 'ऋग्वेद' में रत्निन के रूप मे नही पर स्वतत्र रूप से राजन्य, पुरोहित, सेनानी, सूत, ग्रामणी आदि कतिपय उच्चपदस्थ व्यक्तियो का उल्लेख हुआ है। किंतु उत्तर वैदिक काल में कोई आधे दर्जन नए पदाधिकारी हमारे सामने आते हैं, जिनमे से कुछेक की भरती शायद आर्येतर जनो मे से की जाती थी। प्रशासनिक दृष्टि से भागदुघ का पद महत्त्व का जान पडता है। वह हिस्से बाटता था जिससे सकेत मिलता है कि वितरण के लिए बलि और कर के रूप मे सभवत राजस्व इकट्ठा किया जाता था। यद्यपि धर्म क्रीडा पशुधन आदि की देखरेख के लिए जिम्मेदार कुछ अधिकारी शायद पूर्ववर्ती जनजातीय जीवन की विरासत थे, किंतु कुछ अन्य अधिकारी ऐसे कार्यों का दायित्व सभालते थे जिन्हें विशुद्ध शासनिक कार्य कहा जा सकता है। हम रत्नियों को शासन के पृथक्कृत अग मान सकते हैं, जो पूर्ववर्ती काल मे देखने को नही मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरानी जनजातीय सभाए उन समस्याओ के समाधान के लिए अपर्याप्त सिद्ध हुई हैं जो आर्यों के फैलाव और स्थिर जीवन के कारण उत्पन्न हुई थीं। परिणामस्वरूप राजकाज के लिए बहुत से नए-नए अधिकारी रखे जाने लगे जो सभाओ मे शरीक होकर काम करनेवाले जनसामान्य से भिन्न थे।

कुछेक अधिकारी आर्येतर थे, जिससे सिद्ध होता है कि राज्य का स्वरूप अब जनजातीय नही रह गया था, बल्कि मुख्यता क्षेत्रीय हो गया था। राज्य के क्षेत्रबद्ध स्वरूप का अनुमान अनेक स्थलो पर राज्य के अर्थ में राष्ट्र शब्द के प्रयोग से लगाया जा सकता है।[60] हरेक रत्निन अपने घर मे रहता था, जो राज्य के अतर्गत सुस्थापित बस्तियों के अस्तित्व का एक अन्य सकेत है।

रत्नियो का निर्वाचन होता था या नही, यह कहना कठिन है। जायसवाल के अनुसार ये राज्य के उच्च पदाधिकारी होते थे, जिनका चयन वर्गगत और जातिगत प्रतिनिधित्व के सिद्धात के अनुसार होता था।[61] हरेक जाति के लोग किस तरह अपने प्रतिनिधि का चयन करके भेजते थे, यह स्पष्ट नही है लेकिन इससे भी इनकार नही किया जा सकता कि लगभग सभी वर्ण और महत्त्वपूर्ण सामाजिक समुदाय शासनकार्य से सबद्ध थे। कुछेक मामलो मे तो रत्नियो के प्रतिनिधिक स्वरूप का अनुमान भी लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, वैश्य ग्रामणी उस विश या गाव का प्रतिनिधि था जिसका वह मुखिया होता था। यदि हम आदिम समाज के दृष्टात को स्वीकार करके चलें तो यह मालूम होगा कि मुखिया वैयक्तिक गुणो और अपनी उम्र के आधार पर चुना जाता होगा। क्षत्, सग्रहीतृ, अक्षावाप, आदि अनेक रत्नियों के वर्ण निश्चयपूर्वक नही बताए जा सकते, इसलिए रत्नियो

के बीच वर्ण अनुपात का पता लगाना बहुत कठिन है। कुछ रत्निन निश्चय ही या तो शूद्र मूल के थे या बाद में उन्हें शूद्रों की श्रेणी में डाल दिया गया था। लेकिन, *जैसा कि अन्यत्र दिखलाया गया है, सभी शूद्र रत्नियों को आर्येतर नहीं सिद्ध किया* जा सकता,[62] और इसलिए जायसवाल का यह निष्कर्ष सही नहीं लगता कि शूद्र रत्निन केवल विजित दास थे।[63]

रत्निन सूची में लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि इसमें स्त्रियों का स्थान दिया गया है। कुछ सूचियों में दो और अन्य में तीन रत्निन स्त्रियां हैं। राजकीय सस्कार से सबद्ध लगभग एक दर्जन रत्नियों में से दो या तीन स्थान स्त्रियों को प्राप्त हैं, यह तथ्य ऋग्वैदिक काल की याद दिलाता है, जब महिलाएं विदथ की ओर कुछ हद तक सभा की कार्यवाहियों में भी भाग लिया करती थीं। वैदिकोत्तर काल में शनै -शनै उनका महत्त्व घटने लगा। ह्रास की यह प्रक्रिया उत्तर वैदिक काल में बहुविवाह प्रथा के प्रचलन से ही शुरू हुई थी। उत्तर वैदिक काल में राजा के कम से कम तीन पत्नियां होती थीं। कानून की दृष्टि से महिषी का स्थान सर्वोच्च था। वावाता का स्थान उसके प्रति राजा के प्रेम और विशेष कृपा पर निर्भर था। परिवृक्ति निस्सतान होने के कारण प्राय परित्यक्ता होती थी। इस काल में कर्मकांड से पता चलता है कि महिषी का वैधानिक स्थान अभी सुस्थापित नहीं हुआ था, और राजा की अन्य पत्नियां उसकी स्थिति को चुनौती दे सकती थीं, क्योंकि हम देखते हैं कि इस अति महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अवसर पर अन्य दो की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

हमारे इस विवेचन से प्रकट होता है कि रत्नहवींषि सस्कार एक ऐसे विकसित राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सगठन की उपज था जिसमें जनजातीय और मातृतत्रात्मक तत्त्वों का ह्रास और वर्गीय, क्षेत्रीय तथा पितृतंत्रात्मक तत्त्वों का तेजी से उदय हो रहा था। इसके फलस्वरूप उत्तर वैदिक काल में शासन के पृथक्कृत अगों की स्थापना हो रही थी। पुरोहितों के समर्थन के बावजूद नए राज्य का स्वरूप मुख्यतः सैनिक था, क्योंकि आधे दर्जन उच्चपदाधिकारी सैनिक कार्यों से ही सबधित दिखाई देते हैं।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. जायसवाल, हिंदू पॉलिटी, पृ 200 205, घोषाल, हिस्टोरियोग्राफी ऐंड अदर एस्सेज, पृ, 249-54
2. घोषाल की पूर्वोद्धृत पुस्तक में पृ 249 के सामने, वस्तुत का स और तै. स में इनका उल्लेख रत्नियों के रूप में नहीं हुआ है। यह उपाधि बाद में तै. ब्रा और श ब्रा में उनके साथ जोड़ी गई है
3. पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ. 201.3.

4 तै स I, 8 10, कीथ, ह ओ सि, xcIII, पृ xcIII
5 हा ओ सि 9 xvIII, पृ xcvI-Iv
6 हिंदू पॉलिटी, पृ 201
7 V, 3 1 13
8 V, 3 1 4
9 V, 3 1 1
10 घोषाल की पूर्वोद्धृत पुस्तक के पृ 249 के सामने सारणी
11 श बा V 3 1 5
12 वही, V, 4 4 17-18
13 मोनियर-विलियम्स, संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, प्रविष्टि 'स्थपति'
14 एगेलिंग सै बु ई, xlI, 111
15 घोषाल, हिस्टोरियोग्राफी ऐंड अदर एस्सेज, पृ 272
16 अथर्व, III, 5 7
17 एगेलिंग सै बु ई, XlI, पृ 61, पादटिप्पणी
18 हिंदू पॉलिटी, पृ 202
19 कै हि इ, I, 117
20 कीथ, हा ओ सि xvIII, 120, जायसवाल की पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 202, घोषाल, हिस्टोरियोग्राफी ऐंड अदर एस्सेज, पृ 249 के सामने की सारणी इसके पालि पर्याय 'खत्त' के लिए देखें दी नि, I, 112
21 हिंदू पॉलिटी, पृ 202
22 वही पादटिप्पणी 12
23 श बा, V, 4 3
24 वही, V, 3 1 8
25 सै बु ई, xlI, 63, श बा 1, 1 2 17 पर पा टि 1 रा (स्टाट ऐंड गेसेलशैफ्ट इम अलटर इंडिशेन, पृ 110-11 और पा टि) का कहना है कि वह भोजन परोसने वाला था
26 श बा, V, 3 1 9
27 जायसवाल, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 202-3
28 श बा, V, 3 1 10
29 घोषाल, हिस्टोरियोग्राफी ऐंड अदर एस्सेज, पृ 249 के सामने की सारणी
30 जायसवाल की पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 203
31 मै स, II, 6 5, आ श्रौ सू, XVIII, 10-17.
32 III, 5 6
33 एलेक्जैंडर गोल्डनवाइजर, एंथ्रोपोलॉजी, पृ 386
34 श बा, V, 3.1.11
35 एलेक्जैंडर गोल्डनवाइजर, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 380
36 शूद्राज पृ 50
37 श बा, V, 3 1,11
38 वही I, 4 1, 10-17, मिलाइए सै बु ई, xII, पृ xlI-III
39 कै हि ई, I,113
40 दि एंशंट इंडियन रॉयल कसेक्रेशन, पृ 55

41. वही, पृ 56.
42. वही, पृ 53
43. जायसवाल हिंदू पालिटी, पृ 203-4, घोषाल, हिस्टोरियोग्राफी ऐंड अदर एस्सैज, पृ 250.51
44. वही
45 तै ब्रा, I 7.3
46 मै स., IV, 9 8
47 यस्य वा एतान्योजस्वीनि भवन्ति तद्राष्ट्रमोजस्वि भवति यस्य वा तानि तेजस्वीनि भवन्ति तद्राष्ट्र तजस्वी भवति। वही
48 श ब्रा, V, 3 1 12
49 प ब्रा, XIX, 1.4.
50 श ब्रा, V, 4.4, 15-19.
51 आप श्री सू XVIII, 18, 14-16
52. वही, XVIII, 19 6, भट्ट भास्कर मिश्र ने भी तै स, 1 8 16 पर अपनी टीका में इन तीन पदाधिकारियों का उल्लेख किया है
53 घोषाल की पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 255, पादटिप्पणी
54 पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 203.
55 तुलनीय, घोषाल की पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 255, पादटिप्पणी
56 यहा परिषद का प्रयोग उस अर्थ में नहीं किया गया है जिस अर्थ में नवें अध्याय में किया गया है
57 दि हिरोइक एज, पृ 370.
58 वही
59 वही, पृ 371
60 मै स, IV 3 8, तै ब्रा I, 7.3
61 हिंदू पालिटी, पृ 203
62. शूद्राज, पृ 51
63 हिंदू पालिटी, पृ 204

12. उत्तर वैदिक राज्यव्यवस्था के कुछ आदिम और जनजातीय पहलू

उत्तर वैदिक राज्यव्यवस्था का ढाचा राज्याभिषेक सबधी सस्कारों का अध्ययन कर तैयार किया जा सकता है। किंतु वैदिक काल मे अनुबधात्मक या सांविधानिक राजतत्र के तत्वो की खोज के चक्कर मे राजसूय[1] और वाजपेय यज्ञो से सबधित अनेक सस्कारो के असली मर्म को अभी तक कई विद्वान नही समझ पाए हैं। कर्मकाडो का अध्ययन करके घोषाल ने किसी हद तक इस भूल को सुधारा है।[2] राजसूय के सामाजिक तथा राजनीतिक फलितार्थों पर सबसे पहले वेबर ने प्रकाश डाला और उनके बाद कई भारतीय विद्वानो ने भी उसका विवेचन किया। किंतु हाल मे हीस्टरमेन ने इस यज्ञ का जो अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसमे उन्होने इन फलितार्थों को बहुत कम करके आका है।[3] उनका दावा है कि उन्होने ससार के प्रति वैदिक दृष्टि को सामने रखकर इस समस्या का अध्ययन किया है। लेकिन अपनी नितात मानवविज्ञानिक और आदर्शवादी दृष्टि के कारण वह पूरा चित्र प्रस्तुत करने मे असफल रहे हैं। हमारी राय मे तुलनात्मक मानवविज्ञान ओर भारोपीय लोगो की अन्य शाखाओ के बीच प्रचलित इसी प्रकार के सस्कारो को ध्यान मे रखकर इन वैदिक सस्कारो का अध्ययन करने की गुजाइश अभी शेष है। इसलिए यहा हम इन सस्कारो मे प्रतिबिंबित वैदिक राज्यव्यवस्था के आदिम और जनजातीय पहलुओ पर विचार करेगे, किंतु साथ ही यह दिखलाने की चेष्टा करेंगे कि किस अश तक उनका सबध उत्तर वैदिक समाज से है। 'रत्नहवींषि' सस्कार के अध्ययन से प्रकट होता है कि उसका प्रचलन विभिन्न प्रकार के कार्यो के पृथक्करण और निश्चित भूभाग मे बसी आबादी पर आधारित विकसित समाज मे ही हो सकता था। किंतु 'देवसूहवींषि' (अलौकिक शक्ति प्रदान करनेवाले देवताओ को हव्यार्पण), अभिषेक, प्रभुसत्ता विनियोजन, नकली गोहरण अभियान, रथ धावन, अक्षक्रीडा आदि ऐसे सस्कार हैं जिनकी व्याख्या तुलनात्मक मानवविज्ञान तथा भारोपीय लोगो की अन्य शाखाओ के बीच प्रचलित समातर सस्कारो के आलोक मे बखूबी की जा सकती है।

देवसूहवींषि सस्कार मे राजा विभिन्न प्रकार की सत्ता प्राप्त करने की

अभिलाषा प्रकट करता है। इनमें दो प्रकार की सत्ता, क्षेत्र और जनराज्य का उल्लेख सभी श्रोतग्रंथों में है।[4] क्षात्र का अर्थ तो किसी छोटे से समुदाय का प्रधानपद या लोगों के ऊपर साधारण अधिकार है। जानराज्य का अर्थ अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग किया है। किसी ने इसका मतलब 'पुरुष शासन' (मैन रूल) लगाया है तो किसी ने 'जनपद शासन' और किसी ने 'राष्ट्रीय शासन'। घोषाल का विचार है कि इसका मतलब किसी एक जनजाति पर नहीं, बल्कि पूरे जन समाज पर शासन है।[5] किंतु यह सुविदित है कि वैदिक साहित्य में पांच जनजातियों के अर्थ में पंचजना शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः संभवतया जानराज्य का मतलब शायद उस जनजाति पर शासन की अभिलाषा है जिसका कि राजा सदस्य है। इस संस्कार के दौरान सत्ता के कई अन्य रूपों की प्राप्ति की अभिलाषा भी व्यक्त की जाती है, लेकिन इन अन्य रूपों का संकेत देनेवाले शब्दों पर विचार करने की आवश्यकता हमें नहीं है। फिर भी यह बड़े महत्त्व की बात है कि कहीं भी क्षेत्रीय प्रमुखता की अभिलाषा व्यक्त नहीं की गई है। आवाहन मंत्र में राजा को अमुक पुरुष और अमुक स्त्री का पुत्र कहा गया है।[6] लेकिन एक अन्य ग्रंथ में वह केवल अमुक पुरुष के पुत्र के रूप में ही वर्णित है।[7] यद्यपि उक्त मंत्र वैदिक राजपद के मानवी उद्भव का संकेत देता है, किंतु साथ ही इससे वैदिक समाज में मातृवंशीय प्रभावों का भी आभास मिलता है। केवल पिता का ही नहीं, वरन माता का भी नाम दिया गया है। अतः इस मंत्र से प्रकट होता है कि माता भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितना पिता। और अंत में यजमान को निम्नलिखित शब्दों के साथ उपस्थित जनसमूह के समक्ष प्रस्तुत करते हुए पुरोहितगण इस संस्कार का समापन करते हैं।

'हे लोगो, यह तुम्हारा राजा हुआ, हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।'

कुरु, पंचाल, भरत आदि अलग-अलग जनों के अपने अलग-अलग राजा थे।[8] इससे प्रकट होता है कि राजपद का आधार पूर्णतः क्षेत्रीय नहीं, बल्कि जनजातीय था। ब्राह्मण राजा के नियंत्रण से बाहर बताए गए हैं, इससे यह ध्वनित होता है कि जनजाति का अंग होते हुए भी वे सामान्य लोगों से ऊपर हैं। या फिर, इससे यह संकेत भी मिल सकता है कि ब्राह्मणों को राजा के नियंत्रण से इसलिए बाहर रखा गया है कि वे मूल जनजाति के नहीं हैं। इससे ब्राह्मणों के आर्येतर मूल का भी संकेत मिल सकता है, जिसके पक्ष में अनेक विद्वानों ने तर्क दिए हैं।[10] इस मान्यता का कोई तथ्यपरक आधार नहीं जान पड़ता कि सोम और राजा दोनों एक ही थे और इसलिए उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण अवतरण से ब्राह्मणों का कोई विशेष स्थान सूचित नहीं होता,[11] क्योंकि ब्राह्मणों की विशेष स्थिति का बोध अन्य अवतरणों से भी होता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि राजा को ब्राह्मणजीवी नहीं होना चाहिए,[12] पर यह मानना गलत होगा कि इस उक्ति में

राजा का यशोगान है और इससे ब्राह्मणों की स्वतंत्रता ध्वनित नहीं होती है ।[13]

राजसूय यज्ञ का एक महत्त्वपूर्ण सस्कार 'अभिषेचनीयम्' है, जिसमें तीनों उच्च वर्णों के प्रतिनिधि राजा का अभिषेचन करते हैं, और चौथा अभिषेचक है 'जन्य' जिसके अनेक अर्थ किए गए हैं—जैसे शूद्र, शत्रु जनजाति का सदस्य, राजा का प्रतिद्वंद्वी या अभिजात कुल में उत्पन्न व्यक्ति अथवा परराष्ट्रवासी कोई मित्र आदि ।[14] अभिषेक प्रथा के उद्‌भव पर रहस्य का आवरण चढ़ा हुआ है ।[15] किंतु यह सस्कार गृह्यसूत्र में बताए गए प्रायः सभी संस्कारों के लिए विहित शुद्धि क्रिया से बहुत कुछ मिलता-जुलता जान पडता है । हमें यह ज्ञात नही कि यह कल्पना कहा तक द्विजत्व की कल्पना से सबंधित है । जो भी हो, शुद्धीकरण की आदिम रीतियो के अनुसार नवदीक्षितों को जल या रक्त से अथवा सरिता या सागर में स्नान कराया जाता है या अग्नि के समक्ष तपाया जाता है ।[16]

अभिषेक सस्कार के बाद प्रभुसत्ता-विनियोजनक्रिया सपन्न की जाती है । पुरोहित एक सुदृढ़ धनुष और तीन बाण देकर राजा से लोगों की रक्षा करने को कहता है ।[17] धनुष को कुलीनो का बल कहा गया है, और 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार यह अस्त्र राजा के हाथ में इसलिए दिया जाता है कि वह शक्तिसंपन्न होकर अभिषेकयोग्य बन सके ।[18] ध्यान देने की बात है कि आदिम जनजातियों के बीच जब मनुष्य धनुष-बाण के प्रयोग के योग्य हो जाता है तो पुरुषावस्था में प्रवेश कराने के लिए आखेटसस्कार किया जाता है । ऐसा प्रतीत होता है कि आदिम मनुष्य की आजीविका का प्रतीक धनुष यहा राजपद पर प्रतिष्ठित किए जानेवाले यजमान के लिए शक्ति और सरक्षण का प्रतीक बन जाता है ।

धनुष-बाण देने के बाद राजा का नाम तथा उसके माता-पिता और उसकी जनजाति के नाम लेकर देवताओं और फिर लोगों को उसका परिचय दिया जाता है ।[19] जनजाति के नाम लेकर राजा का परिचय दिया जाना, कात्यायन के अनुसार, इस बात का द्योतक है कि उत्तर वैदिक काल में राजपद का आधार जनजाति थी । इस वार्तिककार की राय मे चूकि राजा का क्षेत्र निश्चित नही था, बल्कि वह बदलता रहता था, इसलिए राजा किसी देश का नहीं, बल्कि लोगो का राजा था ।[20] घोषणा में कहा जाता था, 'हे लोगो, यह तुम्हारा राजा है,'[21] इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि वह देश का नही, लोगो का राजा था । इन सारी बातो से वैदिक राज्य के जनजातीय स्वरूप का सकेत मिलता है, किंतु 'तैत्तिरीय सहिता' के एक अवतरण में इस सबध में जनजाति (विश्) और राष्ट्र दोनों की चर्चा है ।[22] इसका मतलब शायद यह हो सकता है कि अब जनजाति और राज्य एक ही समझे जाने लगे थे । यद्यपि यह माना जाने लगा था कि राज्य का अपना एक क्षेत्र होता है, फिर भी इसका जनजातीय स्वरूप अब भी कायम था, क्योंकि शासक वर्ग उसी जनजाति का होता था जिस पर वह शासन करता था । यह बड़े महत्त्व की बात है

कि उत्तर वैदिक संहिताकारों को इस तथ्य का बोध था कि वैदिक राज्य का स्वरूप धीरे-धीरे जनजातीय से जानपदिक होता जा रहा था। इस अनुमान का आधार वह अवतरण है जिसमें कहा गया है कि किसी सस्कार के अपूर्ण संपादन से राजा लोगों (विश्) की प्राप्ति करता है, लेकिन राज्य की नही, किंतु पूर्ण संपादन द्वारा वह इन दोनों को प्राप्त करता है।[23] अगला सम्कार, जिसमें राजा चारों दिशाओं और शिरार्बिद् का आरोहण करता है, उन दिशाओं की ओर उसकी प्रभुसत्ता का सकेत देता है। इसमें से क्षेत्रीय प्रभुसत्ता की परिकल्पना ध्वनित होती है। इस प्रभुसत्ता के अतिरिक्त विभिन्न सामाजिक वर्गों पर भी राजसत्ता का दावा किया गया है, क्योंकि इसके साथ जो मंत्रोच्चार किया जाता है, उसमें ब्राह्मणो, क्षत्रियों, वैश्यो और कुछ अन्य लोगों से जिनकी पहचान कठिन है, कहा गया है कि वे यज्ञकर्ता को अपना सरक्षण प्रदान करे।[24] यह मंस्कार उन तीनों उच्चतर वर्गों के राजनीतिक प्रभाव का स्पष्ट संकेत देता है जिनके उदय के फलस्वरूप उत्तर वैदिक कालीन राज्य की जनजातीय विशेषताए बडी तेजी से शिथिल होती चली गई।

राजसूय यज्ञ के एक सस्कार में पुरोहित राजा की पीठ पर चुपचाप दंडप्रहार करता है।[25] कुछ लेखक इसे पुरोहितों की सत्ता की पराकाष्ठा मानते हैं।[26] दूसरों की मान्यता यह है कि इसके द्वारा राजा कानून के अधीन लाया जाता था,[27] और कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि इस विधि से राजा की शुद्धि की जाती थी या उसे विशेषाधिकार—जैसे यह विशेषाधिकार कि राजा दड से परे है—प्रदान किया जाता था।[28] कुछेक स्रोतों से अंतिम अनुमान का समर्थन होता है। 'शतपथ ब्राह्मण' मे स्पष्ट कहा गया है कि इस क्रिया द्वारा राजा को न्यायिक दंड से विमुक्त किया जाता है।[29] एक परवर्ती ग्रंथ में कहा गया है कि इस मंस्कार द्वारा राजा को पापमुक्त कर उसे मरणातीत बनाया जाता है।[30] यदि हम आदिम लोगों में प्रचलित प्रथाओ की ओर ध्यान दें तो इस संस्कार का मर्म अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। सिरेलियन की टिमिस नामक जंगली जाति को, जो अपने राजा का निर्वाचन करती है, राज्याभिषेक के पूर्व राजा को पीटने का अधिकार भी प्राप्त है। वह अपने इस सांविधानिक विशेषाधिकार का प्रयोग इतनी उदारता से करती है कि कभी-कभी बेचारा राजा सिंहासनारूढ़ होते-होते ही दम तोड देता है।[31] ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रथा का उद्देश्य राजा की सहनशक्ति की परीक्षा लेना था। हम स्पार्टा निवासियो के बीच प्रचलित एक ऐसी ही प्रथा का उल्लेख कर सकते हैं। उस प्राचीन नगरराज्य में लडकों को पीटने की प्रथा के बारे में विनसन कहता है कि किसी जमाने में एक ऐसा सस्कार था जिसमें लडकों पर पवित्र बेत से प्रहार किए जाते थे और ऐसा समझा जाता था कि इससे उन्हें शक्ति और सौभाग्य प्राप्त होता है।[32] दूसरे शब्दों में, यह एक प्रकार की दीक्षा प्रतीत होती है। इस प्रकार यह ताडनक्रिया मूलतः या तो कोई दीक्षा रही होगी या जनजातीय प्रधान की

सहनशक्ति परखने की कसौटी। आगे चलकर सिद्धांततः पुरोहितों ने राजा पर अपना अधिकार जताने के लिए इस संस्कार का उपयोग किया, किंतु व्यवहारतः इसका यह अर्थ लगाया गया है कि राजा कानून की कार्यवाही से बरी है।

गोहरण, अक्षक्रीडा और रथधावन प्रतियोगिता, इन तीन संस्कारों में कर्मकांडों या जनजातीय तथा आदिम स्वरूप और अधिक मुखर है। जान पड़ता है, मूलतः इसका विधान याजक की राजपद की योग्यताओं की कसौटी निर्धारित करने के उद्देश्य से किया गया होगा। गोहरण संस्कार में राजा को किसी के घर से गायों का एक झुंड हाककर ले जाने दिया जाता है। 'शतपथ-ब्राह्मण' में कहा गया है कि याजक राजा अपने रथ का उपयोग करके तथा 'मरुतों की प्रेरणा से विजय प्राप्त करके' अपने किसी गोतिया के यहां से सौ से अधिक गाए ले आता है।[33] उक्त ग्रंथ में यह टिप्पणी की गई है कि मरुदगण आपके सगोत्री हैं और गोत्रप्रधान जो कुछ जीतना चाहता है, अपने गोत्र के सहयोग के बल पर ही जीतता है।[34] उसी स्रोत के अनुसार, राजा जितनी गाए लेता है उतनी या उससे कुछ अधिक ही अपने गोतियों को दे देता है,[35] और याजक राजा गाएं इसलिए वापस कर देता है कि वह क्रूर कर्म नहीं कर सकता।[36] 'कृष्णयजुर्वेद' में एक जगह नकली युद्ध का विधान है, जिसमें राजा धनुष के साथ खड़े एक राजन्य पर बाण छोड़ता है और उसे पराजित करता है।[37] इस तरह पूरी क्रिया का अभिप्राय गोहरण में गोतियों पर विजय पाना और फिर विजितों पर कृपा करके उन्हें अपने स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित कर देना है। गोहरण संस्कार जनजातियों में प्रचलित पुरानी परीक्षा की याद दिलाता है। मूलतः इसका मतलब शत्रुओं से गाय जीतने की योग्यता रहा होगा। वैदिक काल में इस तरह गाए जीतने के अनेक दृष्टांत मिलते हैं—यहां तक कि गविष्टि शब्द का दूसरा अर्थ ही युद्ध हो गया। किंतु इस संस्कार में गाए किसी विरोधी जनजाति से नहीं, बल्कि गोतियों से जीती जाती हैं। इसके मूल में जनजाति के अंदर के ही शत्रुओं को राजशक्ति का प्रताप दिखाने की परिकल्पना निहित है। स्पष्ट ही, यह एक नकली अभियान है, जिसमें अभियानकर्ता को जानबूझकर जीतने दिया जाता है। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि मूलतः गोहरण-अभियान में राजा की सफलता उसमें उन गुणों को प्रकट करती थी जिनके बल पर प्रारंभिक काल की जनजातियों के सरदार इस तरह की लड़ाइयों में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते थे।

राजसूय यज्ञ में विहित ऐसा एक अन्य संस्कार अक्षक्रीडा है, जिसमें राजा की जनजाति का कोई व्यक्ति खेल के मैदान में एक गाय दांव पर लगाता है और राजा उससे यह दांव जीतता है।[38] अनुमान किया गया है कि याजक राजा इस क्रिया के द्वारा स्वतंत्र सामान्य जन पर अपना शासन स्थापित करता है।[39] लेकिन अधिक संभावना इस बात की है कि अक्षक्रीडा के द्वारा चुनाव के समय जनजातीय प्रधान के

बुद्धिकौशल की परीक्षा ली जाती थी। पूर्ववर्ती काल में यह चुनाव जनजाति के सदस्यो मे से ही करना पडता था, क्योंकि इस खेल मे राजा के प्रतियोगी को सजात कहा गया है।[40] सभव है कि वास्तव मे यह पूर्ववर्ती काल की ही स्थिति को प्रतिबिंबित करता हो। लेकिन अब यद्यपि राजा का पद वशानुगत हो गया था, फिर भी राज्याभिषेक संस्कार के अवसर पर चुनाव का वह स्वांग किया जाता रहा।

लेकिन जो कठिन परीक्षाएं इस बात का सकेत देती हैं कि किसी पूर्ववर्ती अवस्था मे राजा सभवतः निर्वाचित किया जाता था, उनमे रथधावन प्रतियोगिता का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह सस्कार वाजपेय यज्ञ का अग था, जिसके सपादन से ब्राह्मण प्रधान पुरोहित का पद प्राप्त करता था और क्षत्रिय चक्रवर्ती राजा बनता था। इस दौड में याजक राजा अन्य सोलह प्रतियोगियो के साथ मैदान मे उतरता था और रथों की सख्या सत्रह होती था।[41] नगाड़े पर चोट पडते ही युद्धघोष के बीच रथ चल पडते हैं। इस सस्कार के दौरान एक राजन्य प्रतियोगिता का लक्ष्यस्थल निश्चित करने के लिए तीर छोडता है। इस पर टिप्पणी करते हुए 'शतपथ ब्राह्मण' मे कहा गया है कि राजन्य 'प्रजापति का सबसे अधिक व्यक्त रूप है', अतः एक होने पर भी वह अनेक पर शासन करता है।[42] इसे राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत का आभास देनेवाले प्रारंभिक काल की एक उक्ति माना जा सकता है, यद्यपि अन्य वैदिक ग्रंथों से सामान्यतः इस सिद्धात का समर्थन नही होता।

हीस्टरमेन का कहना है कि रथधावन प्रतियोगिता और अन्य खेलों के द्वारा वैदिक लोग ब्रह्माड मे उत्पादक शक्तियों का पुनरुज्जीवन और विश्व का नवीकरण चाहते थे।[43] हीस्टरमेन ने जो अवतरण उद्धृत किए, उनमे रथदौड के इस उद्देश्य का उल्लेख कही नहीं हुआ है, फिर भी यह सामान्य सिद्धांत कि आदिम समाज के अधिकाश संस्कार पुनर्जन्म संबंधी परिकल्पनाओं से ओतप्रोत हैं, रथदौड पर लागू किया जा सकता है। लेकिन यदि हम केवल इसी दृष्टि से इस पर विचार करेंगे तो कदाचित इसका वास्तविक मर्म समझने में चूक जाएगे। यद्यपि यह प्रतियोगिता विकसित सामाजिक अवस्था की उपज है, फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि यह राजा की वीरता और शारीरिक शक्ति को सिद्ध करने के लिए अपनाई गई पुरानी कसौटी थी। इसका उद्देश्य राजा या जनजातीय नेता के सामरिक गुणो का पता लगाना था। इस दौड़ के साथ किए जानेवाले जयघोष से स्पष्ट है कि यह सैनिक अभियान में वास्तव में जो कुछ होता था, उसी को प्रतिबिंबित करती थी।[44] ध्यान देने की बात है कि रथदौड केवल अनेक आदिम जनजातियो में नही, प्रागैतिहासिक यूनान मे भी एक संस्कार के रूप मे प्रचलित थी। वहां एक कठिन प्रतियोगिता परीक्षा लेकर राजा को पदप्रतिष्ठित किया जाता था। मूलतः इसमें पैदल दौड आयोजित की जाती थी, लेकिन बाद मे उसका स्थान

रथदौड ने ले लिया। इस दौड का विजेता वर्ष के देव राजा के रूप मे अभिनंदित किया जाता था।[45] अनुश्रुतियों के अनुसार ओलिंपिया मे सबसे पहले खेलकूद का आयोजन एडीमिअन ने किया, जिसने अपने पुत्रो को राज्य प्राप्त करने के लिए दौड प्रतियोगिता करने को कहा।[46] इस परपरा का प्रभाव आगे भी कायम रहा। ऐतिहासिक काल मे भी ओलिंपियाई विजेता अध श्रद्धा का पात्र होता था और उसे राजोचित या देवोचित सम्मान दिया जाता था। ओलिंपिया में उसे जैतून का ताज पहनाया जाता था। जब वह अपने नगर वापस आता था तब उसे बैंगनी रग के वस्त्रों से सज्जित करके सफेद घोडे से जुते रथ में बिठाकर उसका भव्य जुलूस निकाला जाता था, जो दीवारो मे बने दरार से होकर गुजरता था।[47] वैदिक आर्यों के बीच रथ प्रतियोगिता सस्कार शायद उनके भारोपीय पूर्वजो से आया जो इस तरीके से अपना सरदार चुनते थे। भारत में भी इसका यही प्रयोजन रहा होगा, क्योकि वाजपेय यज्ञ के प्रारंभ में ही कहा जाता है कि राज्य उसी का होता है जो इस प्रतियोगिता मे जीतता है।[48] आगे चलकर यह सस्कार प्रतियोगिता का स्वांग भर रह गया, जिसमे इसके असली तत्व तो समाप्त हो गए, सिर्फ बाहर का आवरण शेष रहा, क्योंकि इसमे राजा को जानबूझकर विजयी बना दिया जाता था।

वाजपेय यज्ञ के समापन अश से भी वैदिक राज्यव्यवस्था के जनजातीय पहलुओ पर प्रकाश पडता है। राजा के सिहासनारूढ हो जाने पर उसे इन शब्दो से सबोधित किया जाता था, 'तू कृषि के लिए है। तू शांतिपूर्ण निवास के लिए है। तू धन के लिए है। तू मितव्ययिता के लिए है।'[49] 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार इन सारी बातो से यह ध्वनित होता है कि राजा लोककल्याणार्थ सिहासन पर बैठाया जाता है।[50] दूसरे शब्दो मे सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति मे इसलिए निहित कर दी जाती थी कि कृषि की उन्नति और लोककल्याण हो। द्रष्टव्य है कि खेतीबारी करने वाले समाज के जनजातीय नेता से भी ऐसे ही कर्तव्यो की पूर्ति की आशा रखी जाती थी। कृषि क्रियाओ के मथर, श्रमसाध्य और अनिश्चित स्वरूप के कारण जादू-टोने का व्यापक विकास कृषक समाज की खास विशेषता होती है। ऐसे ही समाज मे अतत' देव-राजा (गॉड-किंग) का उदय होता है, जिसका विशेष कार्य अपने जादू-टोने के जोर से बुवाई से लेकर कटनी तक ऋतुक्रम को अनुकूल रखना माना जाता है। सभव है, वैदिक भारत में, जहा राजा को अब तक ईश्वर का दर्जा प्राप्त नही हो पाया था, ऐसी बात नही रही हो। किंतु कम से कम राजा के दायित्वो की हद तक हम दोनो में बहुत अधिक समानता देखते हैं, क्योकि वैदिक राजा के दायित्व भी केवल शांति और व्यवस्था कायम रखने तक सीमित नही थे।

वाजपेय यज्ञ के अवसर पर राजा को सबोधित मत्र हमे ऐंद्र महाभिषेक के समय ली जानेवाली शपथ की याद दिलाता है। इसमे राजा और पुरोहित, दोनो एक-दूसरे से एक निश्चित आचार सहिता का पालन करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

राजा पुरोहित द्वारा दिलाई जाने वाली निम्नलिखित शपथ दुहराता है :

'यदि मैंने तेरे साथ कोई कपट किया तो जन्म की रात से मृत्यु की रात तक के मेरे सारे यज्ञ, मेरे सारे दान, मेरा स्थान, मेरे सब सुकर्म, मेरा जीवन और मेरे अपत्य (सनान) तू ले सकेगा।'[52]

जायसवाल ने ठीक ही कहा है कि इस शपथ का स्वरूप अनुबंधात्मक है।[53] लेकिन इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे प्रकट होता हो यह प्रतिज्ञा समस्त जनता से की जाती थी। जायसवाल का विचार है कि यह प्रतिज्ञा कार्यकारी पुरोहित से की जाती थी, जो समस्त समुदाय का प्रतिनिधित्व करता था।[54] किंतु चाहे जिस तरह से भी सोचें, यह बात बुद्धिसंगत नहीं जान पड़ती कि कोई एक वर्ग चाहे जितना प्रमुख और प्रबल हो, उसका एक सदस्य अन्य अभी सामाजिक वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। हो सकता है, आरंभ में सरदार अपनी समस्त जनजाति से ऐसी प्रतिज्ञा करता हो। आदिम समाजों में हमें ऐसी शपथ के दृष्टांत मिलते हैं। मैक्सिको में जब राजा गद्दी पर बैठता था, तब प्रतिज्ञा करता था कि मैं सूर्य को चमकाऊंगा, बादलों से वर्षा कराऊंगा, नदियां प्रवाहित करूंगा और धरती से प्रचुर फल दिलाऊंगा।[55] यद्यपि ऊपर उद्धृत की गई प्रतिज्ञा इससे भिन्न है, फिर भी संभव है कि जनजाति अपने प्रधान से ऐसी प्रतिज्ञा करवाती रही हो। लेकिन जब जनजाति वर्गों में विभाजित हो गई और योद्धावर्ग के समान ही महत्त्वशाली वर्ग के रूप में पुरोहितों का उदय हुआ तब राजा यह प्रतिज्ञा जनजाति के बदले पुरोहितों से करने लगा, क्योंकि उसकी सत्ता उन्हीं के वैचारिक समर्थन पर निर्भर थी।

इन संस्कारों से राजपद के स्वरूप पर भी थोड़ा प्रकाश पड़ता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' कुछ विरोधी साक्ष्य प्रस्तुत करता है। एक विचार के अनुसार, यदि निर्वाचित राजा केवल अपने जीवन-भर के लिए राज्यभोग की इच्छा रखता हो तो वह सिर्फ प्रथम पद, अर्थात 'भूः' का उच्चार करे, यदि दो पीढ़ियों तक राज्यभोग को इच्छुक हो तो 'भूर्भुवः' का, और तीन पीढ़ियों तक भोगना चाहे तो 'भूर्भुवः स्वः,' अर्थात पूरे मंत्र का उच्चार करे।[56] उसी में 'राजानं राजपितरम्'[57] शब्द भी आए हैं, जिससे दो पीढ़ियों के आनुवंशिक राजपद का संकेत मिलता है। इस प्रकार, इस ब्राह्मण के अनुसार कोई राजवंश अधिक से अधिक तीन पीढ़ियों तक शासन कर सकता था। किंतु 'शतपथ ब्राह्मण' में लगातार दस-दस पीढ़ियों तक शासन करनेवाले राजवंशों के दृष्टांत भी उपलब्ध हैं। इन दो प्रकार के साक्ष्यों के बीच संगति बैठाने का एकमात्र उपाय यह मानकर ही चलना हो सकता है कि आरंभ में राजपद की अवधि सीमित थी, किंतु कालांतर से वह वंशानुगत हो गया। सीमित कालीन राजत्व का समर्थन आदिम और प्राचीन जनजातियों में प्रचलित प्रथा से भी होता है। अनेक जनजातियों में शासक की पदावधि मात्र एक वर्ष होती है। इस अवधि की समाप्ति पर राजा या प्रमुख (चीफ) का फिर से अभिषेक होता

है। एक ऐतिहासिक साक्ष्य बेबीलोन से मिल सकता है जिसका राजा प्रतिवर्ष वहा के प्रमुख देवता मार्डुक का हाथ पकडता था।[58] लेकिन यूनान मे यह अवधि अपेक्षाकृत लबी होती थी। वहा हर आठ वर्ष बाद देवसपर्क द्वारा राजा की पवित्र शक्तियों का नवीकरण आवश्यक होता था, और इस सस्कार के बिना उसे सिहासन के अधिकार से वचित होना पडता था।[59] जो चीज परवर्ती काल मे मात्र एक औपचारिक सस्कार बनकर रह गई, वही आरभ मे शायद एक वास्तविकता रही होगी। सभव है, 'ऐतरेय ब्राह्मण' के उद्धृत मत्रो पर भी यही बात लागू होती हो।

राज्याभिषेक सस्कारो के सामान्य विवेचन से यह सकेत मिलता है कि राज्याभिषेक तत्वत दीक्षा का एक रूप था—आदिम जनो के बीच प्रचलित पुरुषत्व या मुखियागिरी की दीक्षा का एक भव्यतर रूप। इन सस्कारो में बार-बार पुनर्जन्म की परिकल्पना अभिव्यक्त हुई है, जिससे प्रकट होता है कि राज्यारोहण के बाद राजा के जीवन का एक नया चरण आरंभ होता था, और पहले के जीवन से उसका सबध पूर्णत विच्छिन्न हो जाता था। फिर, राज्याभिषेक के अवसर पर जिन परीक्षाओं का विधान किया गया है, वे उसी तरह की हैं जैसी परीक्षाएं जनजाति के वयस्क पुरुष या मुखिया की शारीरिक शक्ति को परखने के लिए निर्धारित की गई हैं। जैसा कि हम जानते हैं, प्रारंभिक समाज मे सिंहासन के लिए किसी व्यक्ति का चुनाव करने मे उसकी शारीरिक शक्ति और सुदरता को प्रमुख महत्त्व दिया जाता था।[60] रथदौड जैसी कुछ परीक्षाएं आर्यों की अन्य शाखाओं मे भी प्रचलित दीख पडती हैं। ये लोग आरभ में घोडे का उपयोग चढ़ने के लिए नही, बल्कि रथ में जोतने के लिए करते थे। लेकिन गोहरण और अक्षक्रीडा का उद्गम भारतीय प्रतीत होता है। किसी भी हालत मे इन परीक्षाओं को उत्तर वैदिककालीन राजपद के आदिम स्वरूप का सूचक नही माना जा सकता, क्योंकि तब तक इनका मात्र बाहरी रूप शेष रह गया था। लेकिन उनकी ओर ध्यान देने से इस बात मे कोई सदेह नही रह जाता कि पूर्ववर्ती काल मे राजा का निर्वाचन होता था।

चूंकि कुछेक परीक्षाओ मे राजा के प्रतियोगी सजात ही होते थे, इसलिए हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि आरंभ में राजा अपनी ही जनजाति के सदस्यो द्वारा चुना जाता होगा। राजपद के जनजातीय स्वरूप का एक साक्ष्य यह तथ्य भी है कि राजा का उल्लेख विश के नाम से होता है और विश के ही समक्ष राजा के रूप में उसे विधिवत प्रस्तुत किया जाता है। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक काल तक आते-आते राजपद का जनजातीय स्वरूप काफी क्षीण पड गया। अनेक सस्कारों से राजा का क्षेत्रीय अधिकार ध्वनित होता है, और दो सस्कारो में तो उत्तर वैदिक राजत्व के इस पहलू का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। कार्यविभाजन पर आधारित सामाजिक वर्गों का उदय पुरानी जनजातीय व्यवस्था का प्रबल भंजक सिद्ध हुआ।

कई संस्कारो मे भाग लेनेवाले लोगों का उल्लेख प्रतिनिधियो के ग्थ म नही, वरन ब्राह्मणो, क्षत्रियो, वैश्यों और कहीं-कही तो शूद्रो के रूप में भी हुआ है, और अतत रत्नहर्वीषि सस्कार में जिन अधिकारियों के नामोल्लेख हैं उनसे संकेत मिलता है कि जनजाति के कुछ सदस्य अन्य लोगो की तुलना मे ऊंचे पदो पर प्रतिष्ठित किए जा रहे थे और आर्येतर जातियो के लोग आर्य संगठनो मे भरती हो रहे थे। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप पुरानी जनजातीय समानता नष्ट होती जा रही थी। अत यह सोचना कि उत्तर वैदिक काल में राजत्व का स्वरूप सामान्यत. जनजातीय था,[61] ठीक नही जान पडता है। राजत्व मे जनजातीय तत्वो के अवशेष अवश्य थे, पर समाज मे स्थिरता और वर्गविभाजन के प्रारभ होने के कारण वह सक्रमण की स्थिति से गुजर रहा था, और राजा और प्रजा के बीच भेद बढ़ता चला जा रहा था।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 जायसवाल, हिंदू पॉलिटी, पृ 219-20
2 हिस्टोरियोग्राफी ऐड अदर एस्सेज, निबध XIII
3 जे सी हीस्टरमेन, दि एशट इंडियन रायल कॉसिक्रेशन, पृ 4-5 और पाद टिप्पणी 2
4 वा स , IX, 40, मै स , II, 6-6, तै स , I, 8-10, का स , XV.5
5 पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 257
6 वा स , IX, 40, मै स , II, 6-6
7. तै स , I, 8-10
8 वा स , IX, 40, का स , XV, 7, मै स II, 6-9, मिलाए तै स , I, 8-10, तै ब्रा I, 7 4 मे 'भरत' शब्द का प्रयोग है
9 पार्जीटर, एशट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडीशन, पृ 306 आदि, कोसाबी, एन इट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, पृ 97-98
10 हीस्टरमेन, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 75-77
11. V, 3 3 12
12. हीस्टरमेन, पूर्वोद्धृत, पुस्तक, पृ 77-78.
13 जायसवाल, हिंदू पॉलिटी, पृ 208, घोषाल, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 267
14 बद्योपाध्याय, डेवलपमेंट ऑफ हिंदू पॉलिटी ऐड पॉलिटिकल थीअरीज, पृ 174
15 जार्ज टॉमसन, एस्काइलस ऐंड एथेंस, पृ 99
16 वा स X, 8 9, श ब्रा V, 3 5 27-30
17. श ब्रा , V, 3 5-30
18 तै स , I, 8 12, का स , XV, 7, मै स II, 6 9, तै ब्रा , I, 7 7, का श्रौ सू XV, 94-96
19 यस्याश्च जाते राजा भवति, देशस्यानवस्थितत्वात्। का श्रौ सू , XV, 96-97
20. श. ब्रा , V, 3.3.12. यहा कुछ अन्य स्रोत-ग्रथों में—जैसे आ श्रौ सू , में—जनों के नामो, अर्थात कुरुओ, पाचालों और भरतों का भी उल्लेख किया गया है

21 I 8 12
22 उ भे एव विश च राष्ट्र चाडवगच्छति। तै स, II, 3 I
23 वा स, X, 10-14, तै स I, 8-13, का स XV, 7, मै स, II, 6-10
24 वही
25 श ब्रा, V, 4 4 7
26 वेबर, उवर डेन राजसूय, पृ 63, जो कि घोषाल की पूर्वोद्धृत पुस्तक के पृ 2, पादटिप्पणी 37 में उद्धृत है
27 जायसवाल हिंदू पॉलिटी, पृ 217
28 घोषाल पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 269
29 V 4 4 7
30 का श्रौ सू, XV, 191-92
31 फ्रेजर, दि गोल्डेन बाउ पृ 176
32 टामसन, ए ए, पृ 437 पर उद्धृत
33 V 4 3 1 8
34 V 4 3 8
35 V 4 3 12
36 वही
37 सै बु ई, XII, 100, पा टि I
38 हीस्टरमैन (पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 156) का विचार है कि इस खेल में वास्तव में राजा स्वय दाव पर चढ़ा हुआ होता है, किंतु इस सस्कार का वर्णन देखने से इसमें कोई सदेह नही रह जाता कि असली दाव गाय ही है
39 घोषाल, हिस्टोरियोग्राफी ऐंड अदर एस्सेज, पृ 272
40 वा स, X 29, श ब्रा, V 4 4 19-23, का श्रौ सू XV 197-205
41 श ब्रा V 1 5 6 10
42 श ब्रा V 1 5, 13-14
43 दि एशट इंडियन रायल कॉसिक्रेशन, पृ 133.
44 हीस्टरमेन, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 137
45 टॉमसन, ए ए, पृ 118
46 फ्रेजर, दि गोल्डेन बाउ, पृ 156
47 टॉमसन, ए ए, पृ 118
48 एजिमेव अस्मिन् अजामहे। श धो न उज्जेष्यति तस्य न इद भविष्यतीति। श ब्रा, V 1 1 3
49 श ब्रा, V 2 1, 25
50 वही
51 टॉसमन, ए ए, पृ 22
52 ऐ ब्रा, VIII, 15 (कीथ का अनुवाद)
53 पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 210
54 वही, पृ 211
55 फ्रेजर, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 87
56 ऐ ब्रा VIII 7, वेबर के अनुसार (इंडि स्टडीज, IX, 335) इसमें यजकर्ता, उसके पुत्र और पौत्र का उल्लेख है

57 वही, VIII, 12.
58 फ्रजर, दि गोल्डेन बाउ , पृ 281
59 वही, पृ 279-80
60 वही, पृ 156
61 तुम घोषाल, हिस्टोरियाग्राफी ऐंड अदर एस्सेज, पृ 289

13. प्राचीन भारत में राज्यनिर्माण के चरण[1]

एंजेल्स के अनुसार राज्य के लक्षण हैं—कर, भूभाग, लोक बल तथा लोक अधिकारी।[2] पारिवारिक सस्थाओ एव निजी संपत्ति की सुरक्षा के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। जब सपत्ति की प्राप्ति और रक्षा के लिए परिवार जैसी सस्था कायम होती है, और ऐसे परिवार उत्पादन के साधनो के बडे भाग तथा अतिरिक्त पैदावार का अधिकतर हिस्सा हथियाकर अपने आपको वर्ग के रूप मे सगठित कर लेते हैं तो वे शक्ति का ऐसा सयत्र विकसित करते हैं, जिसके द्वारा अपने विशेषाधिकारो को स्थायी और सुरक्षित रख सके, तथा समाज के सपत्तिहीन एव साधनहीन वर्गों को दबाकर रख सके। बुर्जुवा जनतत्रो अथवा अधिनायक तत्रो मे भी राज्य तथा सरकार के बीच स्पष्ट अतर किया जाता है। "सरकारें आती और जाती रहती हैं, कितु राज्य सदा बना रहता है।" दलगत राज, दलगत राजनीति, यहा तक कि व्यक्तिगत नीतियो को सरकार का रूप दिया जाता है, और यह माना जाता है कि वह राज्य के आधारभूत ढाचे अथवा उसके सविधान के अतर्गत कार्य करती है। कितु प्राचीन काल में ऐसे सूक्ष्म भेद नही किए जाते थे, यहा तक कि लोकप्रिय मान्यता के अनुसार राजा को ही राज्य, समाज तथा सरकार का प्रतीक माना जाता था। आजकल एंजेल्स द्वारा प्रतिपादित राज्य की अवधारणा राजनीतिक वैज्ञानिको की राज्य की परिभाषा से बहुत कुछ मिलती है। अत प्राचीन भारत मे राज्य-निर्माण की प्रक्रिया को समझने मे यह मार्गदर्शक हो सकती है। एंजेल्स के बताए हुए राज्य के लक्षण ऋग्वेद[3] के प्राचीनतम भाग मे, जिसकी रचना ईसापूर्व 1500 वर्ष के लगभग पजाब एव अफगानिस्तान मे निर्धारित की जाती है, नही पाए जाते हैं। तत्कालीन अर्थव्यवस्था के पशुपालन-प्रधान होने के कारण लोग अर्ध-घुमतू जीवन व्यतीत करते थे। पशुपालन के लिए उन्होंने टोलिया बनाईं जो आगे चलकर पितरो के वश मे ज्ञाति-आधारित समूह बन गईं। इस प्रकार की टोली का एक नाम गोत्र है। गोत्र का मूल अर्थ है, ऐसा स्थान जहा गौओ को रखा जाता हो। ऐसा प्रतीत होता है कि पशुपालन मे सलग्न टोली के लोगो ने आपस मे एक प्रकार का नातेदारी का सबध कायम किया, और इस प्रकार के समूह को गोत्र की सज्ञा दी गई।

ऋग्वेद में व्र, व्रात, व्रज सर्ध और ग्राम[4] जैसे कई शब्द हैं जो टोली अथवा यूथ

के अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं । इन शब्दो से पता चलता है कि जीविका के दो महत्त्वपूर्ण साधन थे । एक तो युद्ध था जिसके द्वारा बलपूर्वक भोज्य-सामग्री जुटाई जाती थी । दूसरा पशुपालन था जिससे मास एव दूध मिलता था । शिकार एव भोजन जुटाने वाली क्रियाओ ने युद्ध का रूप भी धारण किया । ऋग्वेद के युग मे युद्ध गौओ के लिए लड़े जाते थे । एक मान्यता के अनुसार ऋग्वेद एव अथर्ववेद मे व्र शब्द का अर्थ है सेना । स्पष्टत: ऐसे झुंड का उदय जीविका के संघर्ष के लिए हुआ, तथा जब इसने स्थायी स्वरूप धारण कर लिया तब व्र को ज्ञाति-समूह माना जाने लगा । इसी प्रकार व्रात शब्द व्रत से निकला है, तथा ऋग्वेद मे व्रत उन लोगो के लिए प्रयुक्त किया गया है जो दूध पर जीते थे । ऋग्वेद मे व्रत का अर्थ रीति, आचरण, रूढि अथवा ढग भी हैं । स्पष्ट है कि दूध पर जीने की रीति पशुपालन के बिना संभव नही थी । व्रत से व्रात शब्द बना, तथा ऋग्वेद मे व्रात का अर्थ है यूथ, टोली, दल, समूह, बहुसख्या, सगम इत्यादि । अत प्रतीत होता है कि व्रात के सदस्य पशुचारी थे और इकट्ठे होकर पशुधन के लिए लडाई करते थे । कालक्रम मे इस प्रकार के झुडो ने ज्ञाति-आधारित इकाइयों का रूप धारण कर लिया, क्योंकि पुरुषो की पांच जातियो की बात कही जाती है—अर्थात् पंचव्रातो की । पचव्रात शब्द इसी प्रकार का है जैसे पञ्चजन या पञ्चकृष्टि ।

व्राज शब्द की बात थोडी भिन्न है । यह कदाचित् उन पशुपालको को दर्शाता है जो पशुपालन करते थे तथा कबीलो के आक्रमण से गोधन की रक्षा करते थे । ऋग्वेद में व्राजपति की बात कही गई है जो स्पष्टतः पशुचारी झुड का सरदार है । किंतु यह ठीक-ठीक पता नही चलता है कि व्राज ज्ञाति-समूह के रूप मे विकसित हुआ अथवा नही । सर्ध शब्द का अर्थ है टोली, समूह, भीड, जो इसके योद्धा होने के लक्षण को इंगित करता है । ऋग्वेद मे इसे मरुतो के दल को इंगित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है जो स्पष्टतः बडे परिवार के सदस्य थे । इसलिए सर्ध योद्धाओ की टोली के रूप मे आरंभ हुआ और अततः पारिवारिक इकाई के रूप में विकसित हुआ ।

अंत मे हम ग्राम शब्द का परीक्षण करेंगे, जिसे सामान्यतः गांव के अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है । किंतु आरंभ मे इसका अर्थ था लोगों का समूह । ऋग्वेद के एक संदर्भ मे ग्राम और कबीले (जन) मे अतर नही है । गोधन की खोज मे भटकते हुए ग्राम की बात कही गई है । अतः ग्राम पशुपालन एव युद्ध से भी सबद्ध था । बाद मे इसने भी अपनी एक ज्ञाति-आधारित पहचान बना ली । जब ग्राम के सदस्य खेती मे लग गए और एक स्थान पर टिककर रहने लगे, तो यह शब्द गाव के अर्थ मे रूढ हो गया । ऋग्वेद में ग्राम का अर्थ गाव नही है । इन उदाहरणो से ज्ञात होता है कि युद्ध, आखेट एव पशुपालन् की आवश्यकताओ के कारण विभिन्न वशमूलो के लोग एक-दूसरे के सपर्क मे आए तथा आगे चलकर जीविकोपार्जन की

सुविधा के लिए ये लोग आपस में नातेदार बन गए और दस प्रकार ज्ञाति-समूहो की स्थापना हुई। नातेदारो की इन छोटी-छोटी बिरादरियो का जीविकोपार्जन तथा ससाधनो एव लूट के माल के बटवारे मे बडा हाथ रहा होगा। अतः ऋग्वेद से ऐसा सकेत मिलता प्रतीत होता है कि टोलिया या बरादरियां जैसी छोटी टुकडियां सबसे पहले सगठित हुईं। प्रत्येक टोली अपने मुखिया के नेतृत्व मे कार्य करती थी किंतु यह ज्ञात नही है कि इसका आतरिक ढांचा कैसा था। यदि गण को, जो कि ऐसे लोगो का समूह होता था जिसके सदस्य अनिवार्यतः एक ही कबीले के नही होते थे, आरंभिक अवस्था का समूह मान लिया जाए तो आतरिक ढाचे की कुछ जानकारी हो सकती है। इसका नेता गणपति अथवा राजा होता था जो पशुओ को पकडने के कार्य का नेतृत्व करता था। टोली के सभी सदस्य अपना भाग लाकर गण के नेता को समर्पित करते थे।[5] गण के श्रेष्ठ लोग ज्यस्वत अर्थात् वयोवृद्ध कहलाते थे। किंतु भोजन और पान में बडे और छोटे समान रूप से सम्मिलित होते थे।[6] इस प्रकार के दल या समूह में जो लोग भोजन जुटाते थे वे उसका उपयोग भी करते थे। जुटानेवाले और खानेवाले का एक ही समूह था; उनके बीच बिचौलिये हिस्सा नही मारते थे। टोलीवाली अवस्था का काल-निर्धारण करना सभव नही है किंतु ऋग्वेद मे इसके अवशेष की झाकी मिलती है। इसे समाज के विकास का प्रथम चरण माना जा सकता है।

विकास के दूसरे चरण का सकेत वश पर आधारित अधिक व्यापक समूह के उदय में मिलता है जिसे कबीला अथवा जनजाति कहा जाता है। इसका सरदार अपने कबीले के सदस्यो से स्वैच्छिक भेंट तथा विजित कबीलो के सरदारो से संधि उपहार पाता था। दोनो ही स्थितियों मे इस भेट को 'बलि' कहा जाता था। ऋग्वेद कालीन समाज मे टोली के सबधों के अवशेष भले ही रहे हो, किंतु अधिकाशत वह जनजातीय समाज था। नातेदारी और रिश्तेदारी पर कायम समाज मे कबीले को सबसे बडी सरचना माना जाता है, किंतु इसे गोत्रो में, गोत्रो को वशो में तथा वशो को परिवारों एव छोटे उपवशो मे विभाजित किया जाता है। इस समय हम इस स्थिति में नही हैं कि नातेदारी पर आधारित ऋग्वेद कालीन समाज की इन विभिन्न इकाइयो को पहचान करके प्रत्येक के लिए वैदिक नाम का प्रयोग कर सकें।[7]

जन, विशु, गृह आदि पद ऋग्वेद कालीन समाज का जनजातीय स्वरूप व्यक्त करते हैं। ऋग्वेद मे जन शब्द 225 बार, तथा विशु शब्द 171 बार आता है। भरत जन, यदुजन तथा त्रित्सु विशु की चर्चा है। जन शब्द को अनु, तुर्वस, द्रहयु तथा पर॰ इत्यादि पाच जनजातियों से जोडा जाता है। यह ठीक हो या नही, पर इसमें सदेह नही कि ऋग्वेद के समय मे अनेक कबीले थे। जन (कबीला) को पितृसत्तात्मक सबधो पर आधारित सबसे बडी इकाई माना जा सकता है। जब ऐसा जन किसी भूभाग पर बस गया तो उसे जनपद कहा जाने लगा जो वैदिकोत्तर

काल में सबसे बड़ी क्षेत्रीय इकाई के रूप में उमडकर आया। जो जन से संबद्ध नही होते थे, उन्हें वैदिक काल में जन्य कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम निम्न श्रेणी की इकाई थी जो गृह्यों में बंटी हुई थी। गृह्य सबसे छोटी और निचली इकाई थी, पर इससे विशाल परिवार का बोध होता था जिसमे चार पीढ़ियों के सदस्य सम्मिलित होते थे।[9] कभी कभी इसे विदथ से एकाकार माना जाता है।[10] ऋग्वेद काल में लोग प्रथमतः जनजाति पर आधारित इकाई के प्रति निष्ठावान् होते थे जिसका नेतृत्व विभिन्न कोटि के सरदार करते थे। 'वैदिक इंडेक्स' के लेखकों की यह मान्यता भ्रमपूर्ण है कि ऋग्वेद के काल मे जाति-व्यवस्था विकास की ओर अग्रसर थी।[11] वर्ण अथवा जाति-व्यवस्था जब बनी तो पुरोहित एवं कुलीन योद्धा उत्पादन के सचालक बने, पैदावार का काफी हिस्सा वसूल करने लगे और उसे अपने ढंग से बाटने लगे। कृषको, कारीगरो, तथा कृषि-मजदूरो जैसे निम्नतर वर्गों को उत्पादन मे लगाया गया। ऋग्वेद के सबद्ध सदर्भों से ऐसे सामाजिक वर्गीकरण का पता नही चलता है। वसिष्ठ एव विश्वामित्र जैसे पुरोहितों ने युद्धों में अपने सरक्षकों का मनोबल बढ़ाया था। किंतु ऋग्वेद में ब्राह्मण की चर्चा केवल चौदह बार हुई है।[12] कुछ पुरोहितों को उनके आश्रयदाता पशुधन तथा दासियां भी प्रदान करते थे। किंतु न तो कबीले के सरदार और न तो उस समाज के पुरोहित वर्ण-व्यवस्था के आधार पर कर, भेट, दक्षिणा तथा अन्य सुविधाएं पाने का दावा करते थे। न ही उन्हें भूमि अथवा चरागाह दिए जाते थे।

क्षत्रिय शब्द की चर्चा ऋग्वेद में नौ बार मिलती है।[13] अपने कबीले अथवा वंश के लोगो का नेतृत्व करने वाले सिपाही सरदार राजन् या राजा कहलाते थे। बहुत आरंभ मे सरदार अथवा राजाओं का चुनाव जनजाति के लोग समिति मे एकत्रित होकर करते थे।[14] अतः उन्हे जनस्य गोप कहा जाता था। उन्हे कर नही अपितु बलि (स्वैच्छिक भेट इत्यादि) प्राप्त होती थी जिससे उनके पास आय का निश्चित और नियमित साधन नहीं था। उनके पास पेशेवर फौज नहीं थी, जरूरत पड़ने पर कबीले के लोगों को इकट्ठा किया जाता था। संभवतः युद्ध मे भाग लेने वाले कबीले के सदस्यो को लूट के माल का समान हिस्सा मिलता था; सरदार को शायद बड़ा हिस्सा मिलता था। होमर के यूनान मे भी सरदार को विशेष भाग मिलता था,[15] किंतु यह हिस्सा उसके कबीले के लोगो की राय और मर्जी से मिलता था। स्पष्ट है कि यह विशेष भाग उसे उसके पराक्रम तथा मन और बुद्धि के गुणो के सम्मान-स्वरूप दिया जाता था। वैदिकोत्तर काल मे राजा को सर्वोत्तम गज एवं सर्वोत्तम अश्व देने की प्रथा जनजातीय समाज की उस प्रथा का अवशेष है जिसके अनुसार समुदाय की ओर से सर्वोत्तम वस्तु को सरदार को भेट चढ़ाई जाती थी।

ऋग्वेदकालीन अर्थव्यवस्था मे अन्न उत्पादन की व्यवस्था कमजोर थी। पशुपालन कृषि से कही अधिक महत्त्वपूर्ण था। अतः पशुधन का ही वितरण

सबसे अधिक होता था। लगता है कि पशुओं का स्वामित्व सामूहिक तथा निजी दोनो ही प्रकार का होता था। समूह (परिषद) के गोधन के स्वामित्व की बात सुनने में आती है।[16] किंतु कबीले का सरदार अधिक पशुधन का स्वामी होता था। ऋग्वेद के दानस्तुति अध्याय को प्रमाण माना जाए तो अनेक पुरोहित भी प्रभूत पशुधन से सपन्न होते थे।[17] उन्हे गौए, दासिया एव अन्य वस्तुएं प्रदान की जाती थी। ऐसे धनी लोगो का वर्णन मिलता है जिनके पास रथ होते थे तथा जो विदथ मे भाग लेते थे।[18] सभवत वे कबीलाई सरदार के अतरग मित्र अथवा उसके सगे-सबधी थे जो उसके कबीले के सामान्य सदस्यो से कुछ भिन्न होते थे। अर्थव्यवस्था मे अन्न उत्पादन का प्राधान्य नही होने के कारण केवल गौओ और लूट के माल के वितरण के कारण अधिक सामाजिक असमानता पैदा नही हो सकती थी। सरदारो एव पुरोहितो को विशेष स्थान मिल रहा था किंतु ऋग्वेद में इनके विशेषाधिकारो का न तो वर्णन है न ही उनकी स्थापना।

गृहपति के पास ऐसे ससाधन नही थे जो उसके परिवार के सदस्यों के श्रम से परे हो। ऋग्वेद में मजदूरी अथवा वेतना अर्जन के लिए कोई शब्द नही मिलता। न ही उसमे भिखारी के लिए कोई शब्द है। वेतन-अर्जन की प्रथा तब शुरू होती है जब कोई परिवार बलपूर्वक अथवा अन्य साधनों से इतनी भूमि हथिया ले कि उसकी देखभाल वह अपने श्रम से नही कर सके। इसी प्रकार वेतनभोगी मजदूर और भिखारी तब उत्पन्न होते हैं जब वर्ग विभेद के कारण लोग निर्धन और साधनहीन हो जाते हैं। ऋग्वेद काल मे ऐसी स्थिति नही मिलती। असमान भागों के कारण ऋग्वेद कालीन समाज समतावादी नही था। किंतु इस पशुचारी कबीलाई समाज में अतिरिक्त पैदावार के अभाव ने वर्ग-विभेद उत्पन्न नही होने दिया। विभिन्न दरजे के लोग अवश्य दिखाई पडते हैं। कबीले के सरदारो को जनस्यगोप, विशृपति, विशाम्पति, गणस्यराजा, गणाना गणपति, ग्रामणी तथा सभवत. गृहपति कहा गया है।[19] लूट में अधिक हिस्सा मिलने पर भी वे अपने सगे-सबधियों के श्रम पर नही जीते थे; कम से कम ऋग्वेद के आरंभिक अश तो ऐसा ही दर्शाते हैं। विशृ के साधारण सदस्य पशुपालक तथा योद्धा होते थे जो पुरोहितों एव कुलीन योद्धाओं के भरण-पोषण के साधन जुटाते थे, जैसा कि ऋग्वेद के बाद वाले भागो से संकेत मिलते हैं। कर्मकाडवादी और वैचारिक दृष्टि से ऋग्वेद के दसवे मडल में इस व्यवस्था का औचित्य मिलता है। इसी स्थल पर प्रथम एवं अंतिम बार शूद्र तथा वैश्य की चर्चा की गई है।[20] यह स्पष्ट है कि सगठित समुदाय के प्रमुख के रूप मे राजा पर वर्णविभाजित समाज की सुरक्षा का दायित्व नही था, क्योंकि तब तक ऐसा विभाजन उभरकर नही आया था।

ऋग्वेद काल मे प्रभुता का जो स्वरूप है उसे कबीलाई सरदारतत्र कहा जा सकता है पर कबीलो के सरदार राजन् कहलाते थे। राजन् का अर्थ है—चमकने

वाला--अनुमानत अपने गुणो के कारण। ऋग्वेद[21] तथा बाद की अन्य वैदिक रचनाओ[22] में राजा के चुनाव के सदर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी व्यक्ति को प्रमुख का पद अपने शारीरिक एव अन्य गुणो[23] के कारण मिलता था। आरंभिक चरण मे राजा के चुनाव के लिए ये गुण अधिक महत्वपूर्ण मालूम पड़ते हैं। कभी-कभी किसी परिवार में प्रमुख का पद तीन पीढ़ियों तक चलता था, फिर भी राजा बहुत मजबूत नही हो सकता था क्योंकि उसके पास न तो नियमित सेना होती थी न ही कर की कोई प्रणाली थी। प्रशासनिक कार्यों मे लगे हुए अधिकारियो की संख्या छः से अधिक नही होती थी। क्षेत्रीयता का विचार भी, जो कि प्रायः कृषक-बस्तियों से सबद्ध माना जाता है, ऋग्वेद मे प्रबल नही है।[24] इन सब बातो को देखते हुए ऋग्वेद कालीन प्रभुता की सरचना को राज्य नही कहा जा सकता। अधिक से अधिक सरदारी कहा जा सकता है जो लूटमार करने एवं पशुपालन करने वाले झुंड के प्रमुख पद से कही अधिक विकसित था। अतः कबीले की सरदारी को राज्य-निर्माण का दूसरा चरण माना जा सकता है।

तीसरी अवस्था सिंधु-गगा के विभाजन तथा उपरी गगा की घाटी मे मिलती है। ईसापूर्व सहस्राब्दी के प्रथम अर्ध काल मे इस क्षेत्र मे सात सौ से अधिक ऐसे स्थान मिलते हैं जहा भूरे रंग के चित्रित बरतन या उनके टुकडे मिले हैं। उनसे पता चलता है कि इन स्थानों पर लोग तीन शताब्दियो अथवा इससे भी अधिक समय तक बने रहे। ये क्षेत्र उन क्षेत्रो से अधिक मिलते हैं जो मद्रो, पाचालो, शूरसेनो तथा मत्स्यो के अधीन थे; इनकी चर्चा उत्तर वैदिक रचनाओ तथा महाभारत में मिलती है। ये बस्तिया दर्शाती हैं कि समाज कृषिप्रधान हो गया था। यद्यपि इस काल मे लोहे की खोज हो चुकी थी, फिर भी उसका प्रयोग मुख्यतः युद्ध अथवा शिकार के लिए ही किया जाता था। आरंभिक अवस्था मे लोहे के कृषि-उपकरणो का अभाव सा है। भूमि जोतने के लिए लकडी के फाल वाले हल प्रयोग मे लाए जाते थे। किंतु इन सीमाओ के बावजूद ऋग्वेद कालीन पशुचारी अर्थव्यवस्था की तुलना मे उत्तर वैदिक काल के लोगो ने अन्नोत्पादक अर्थव्यवस्था विकसित कर ली थी। वे गेहूं, जौ, चावल, तथा विभिन्न प्रकार की दालें उगाते थे जैसे मुग्द और उडद।[25] पशुपालन का अब पहले जैसा महत्त्व नही रहा। नई परिस्थिति के परिणामस्वरूप राजा को दिए जानेवाले उपहारों मे वृद्धि हुई, और समाज भी विभिन्न व्यवसायो मे बट गया। इस विभाजन से ही सामाजिक विभेद का आरंभ हुआ। उत्तर वैदिक रचनाओ मे ब्राह्मण, राजन्य/क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की बात कही गई है। ये चारों विभिन्न विधि-विधानो के संदर्भ मे परिलक्षित होते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण, जो कि बाद की रचना है, मे ब्राह्मण को भेट स्वीकार करनेवाला, सोमपायी, जीविका ढूढनेवाला तथा ऐसा व्यक्ति कहा गया है जिसे राजा की इच्छा से हटाया जा सकता है। वैश्य को दूसरे का करदाता, दूसरो द्वारा भोग्य तथा इच्छानुसार सताया

जानेवाला बताया गया है। शूद्र उसे कहा गया है, जो दूसरों का संदेशवाहक हो, जिसे इच्छा होने पर ताडन दिया जाए तथा जिसे किसी भी समय कार्य करने पर बाध्य किया जाए।[26] यद्यपि सामाजिक दरजों[27] के सदर्भ में एक स्थान पर वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है, वर्ण-व्यवस्था का वर्णन नहीं मिलता तथा चातुर्वर्ण्य के कार्यों को निर्धारित नही किया गया है। वर्ण-व्यवस्था की वास्तविकताएं ईसा से लगभग 600 वर्ष पूर्व स्पष्ट होती प्रतीत होती हैं, तथापि समन्वित व्यवस्था के रूप मे इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति नही होती है। राज्य के प्रमुख के रूप मे राजा वर्ण-व्यवस्था के समर्थक के रूप मे प्रकट नही होता। उत्तर वैदिक काल में भूमि उत्पादन का मुख्य साधन थी। किंतु इस बात का प्रमाण नही मिलता कि राजाओ अथवा पुरोहितो के पास खेत का अधिक हिस्सा होता था। इसी प्रकार चरागाहों तथा बजर भूमि एवं वनों के वितरण के सबंध मे भी कोई प्रमाण नही मिलते। हाँ, कृषि-उत्पादों के असमान वितरण का आरंभ दिखाई पडता है। ब्राह्मण-समर्थित राजन्य अर्थात् राजा के निकट के सगे-सबंधी, वैश्यों से अन्न के हिस्से का दावा करते थे; आरंभ में वैश्य कृषक का ही काम करते थे। अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रंथों से ज्ञात होता है कि केवल कृषक ही कर देते थे। राजा अथवा सरदार को विशमत्ता अर्थात् कृषको का भक्षण करनेवाला बताया गया है।[28] विश् अर्थात् जनजातीय किसानों पर राजन्य के नियत्रण को स्थापित और सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न विधि-विधानों की व्यवस्था की गई थी।[29] कर अथवा बलि किसी भूभाग अथवा खेत पर नही लगाई जाती थी अपितु लोगों (विश्) से वसूल की जाती थी। सजात् (राजा का सपिंड) जो योद्धा वर्ग का प्रतीक था, बलिहृत् अथवा उपहारों को लानेवाला होता था। किंतु ये सजात स्वय बलि नही देते थे। ब्राह्मण एवं शूद्र पर कर नही लगाया जाता था तथा राजन्य/क्षत्रियों को कर से छूट दी हुई प्रतीत होती है। राजा या सरदार को ब्राह्मणों[30] का रक्षक बताया गया है, और ब्राह्मण की पत्नी एव गौओ को सर्वोपरि सरक्षण प्राप्त था।[31] एक प्रकार से ब्राह्मणों तथा राजन्यों की प्रवृत्ति शासक बनने की थी। वे वैश्यों के ऊपर अपनी प्रभुता स्थापित करने एव उसे बनाए रखने का प्रयत्न कर रहे थे और वैश्य कमाने वाले कृपक वर्ग मे सम्मिलित हो रहे थे। प्रतीत होता है कि इस अवस्था मे शूद्र घरेलू दास वर्ग था जिसकी सख्या थोडी थी। ऐसे अनुष्ठानों का आविष्कार हुआ तथा उन्हें विस्मृत किया गया जिससे कबीले के सरदार एवं उसके पुरोहितों का अपने सगे-सबंधियों पर राजस्वाधिकार एव प्रशासनिक नियत्रण स्थापित हो जाए; कबीले के अधिकाश सदस्य उत्तर वैदिक काल मे कृषक हो गए थे। पुरोहित विधि-विधानों को विकसित करके तथा स्तुतियों की रचना करके सामाजिक एव राजनीतिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाते थे। इसके बदले में राजा तथा राजन्य ब्राह्मणो को लूट के माल अथवा बलि का कुछ हिस्सा देते थे। उत्तर वैदिक काल का समाज होमर

अथवा अवेस्ता के समाज की भाँति कृषिप्रधान समाज था जिस पर कुलीन योद्धाओं का प्रभुत्व था, किंतु यूनान अथवा ईरान की तुलना मे वैदिक समाज में शासक वर्ग को पुरोहितो का कही अधिक प्रबल समर्थन प्राप्त था। कुछ लोग पुरोहितों के प्रबल समर्थन को सरदारी की विशेषता मानते हैं। यही बात उत्तर वैदिक काल पर भी लागू होती है। राज्यारोहण के अनेक अनुष्ठान मिलते हैं जैसे वाजपेय, अश्वमेध, राजसूय, इंद्रमहाभिषेक इत्यादि। ये सरदार की सत्ता को सुदृढ़ तथा विधिसम्मत बनाने के साथ ही लोगो के लिए उसे स्वीकार्य भी बनाते थे। इन अनुष्ठानो को सपन्न करने मे पुरोहितो का सबसे बडा हाथ था।

राज्याभिषेक सबधी अनुष्ठानों के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि अत्यत आरंभिक काल में राजा या सरदार लोगो द्वारा चुना जाता था। गौओं के लिए किए गए आक्रमणो, अश्वरथ की दौड तथा द्यूत-क्रीडा सबधी अनुष्ठानों में चुनाव के अवशेष मिलते हैं। ये सारी कार्रवाइया राजपद के प्रत्याशितों की बुद्धि, मस्तिष्क और शारीरिक शक्ति की जाच के निमित्त होती थीं। अनुष्ठानों को स्वाग समझना चाहिए क्योंकि इसमे अपने सजातो के साथ राजा की असली प्रतियोगिता नहीं होती थी; उसे जानबूझकर जिताया जाता था। पर प्रारभ में जो प्रत्याशी प्रतियोगिता में सफल होता था वह सरदारी करता रहा होगा। प्रतीत होता है कि जब कुछ परिवारों के प्रमुख बलपूर्वक अपने गुणों के कारण कबीले के सरदार बन गए तो अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए उन्होने पुरोहितो के रचे हुए अनुष्ठान की सहायता ली। अनुवंशिकता का तत्व आगे बढ़ रहा था, किंतु राजपद 'कभी कभी अनुवंशिक' होता था,[32] और उत्तर वैदिक युग मे ज्येष्ठाधिकार की प्रथा प्रचलित नही थी।[33] राजा और सरदार के पद वैदिक युग के अत होते-होते कई प्रकार के हो गए। ऐसे पद की दस श्रेणियों का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण[34] में मिलता है। इनमें प्रमुख हैं राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, महाराज्य इत्यादि। इससे ऐसा लगेगा कि ईसापूर्व सातवी शताब्दी अथवा उससे कुछ पश्चात् राज्यों अथवा सरकारो के विभिन्न प्रकार भलीभाँति स्थापित हो चुके थे। सामान्य धारणा के अनुसार 'साम्राज्य' अंग्रेज़ी एपायर-के समतुल्य होगा। यद्यपि इसे राज्य से ऊंचा माना गया है पर राजा को सरदार मानना चाहिए और राज्य को सरदारी। महत्त्व की बात तो यह है कि साम्राज्य को एक स्थल पर किसानों के ऊपर शासन (साम्राज्यम् चर्षणिनाम्) कहा गया है।[35] पुरोहितो ने भी राज-प्रमुख को दैवी तत्त्व से जोडकर राज्य को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। ऋग्वेद में इन बातों का प्रमाण कदाचित् ही मिले। किंतु उत्तरवर्ती वैदिक रचनाओ के अभिषेक अनुष्ठानों मे विभिन्न देवी-देवताओ से स्तुति की गई है कि वे राजा को अपने-अपने गुण से संपन्न करें। कभी-कभी राजा को देवता के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है।[36]

आरंभिक वैदिक काल की सरदारी का कबीला पक्ष उत्तरवर्ती वैदिक काल में

क्षेत्रीय तत्व के उदय के कारण ढीला पड गया। 'राष्ट्र' अथवा राजा के अधीन रहनेवाले क्षेत्र के सबध मे अनेक सदर्भ मिलते हैं। राजा को न केवल कबीले (विश्) बल्कि राज्य (राष्ट्र) मे भी घोषित किया जाता था। कहा गया है कि आंशिक अनुष्ठान से राजा को विश् की प्राप्ति होती है, और सपूर्ण अनुष्ठान से 'राष्ट्र' की।[37] शतपथ ब्राह्मण (लगभग 600 वर्ष ईसापूर्व) मे राजा को राष्ट्रभृत अर्थात् राज्य का पोषण करनेवाला कहा गया है।[38] राजा न केवल युद्ध से प्राप्त लूट का माल, पशुधन तथा दासिया पुरोहितो में बाटता था, अपितु अपने कुल की सहमति से भूमि अनुदान करने का भी दावा करता था।[39] क्षेत्रीय तत्व के उदय से स्वभावत: राजा एव उसके नातेदारो का कुल या कबीले से जो लगाव था वह घटने लगा। अब यह लगाव कबीलाई समुदाय तक ही सीमित न रहा बल्कि बढ़कर उस समस्त क्षेत्र के साथ हो गया जहा कबीला बसा हुआ था। क्षेत्रीय प्रमुख-पद या सरदारी के उदय के कारण सभा, समिति, विदथ जैसे लोकप्रिय जनजातीय सस्थाओ के लिए पुरानी पद्धतियो से कार्य करना कठिन हो गया। क्षेत्र बढ़ने के कारण दूरी बढ़ी जिससे विभिन्न स्थानो से आकर एकत्र होने मे कठिनाई होने लगी। केवल वही लोग सरलता से एकत्र हो सकते थे जो राजधानी मे रहते थे। पहले जहाँ अधिकाश भाईबद इकट्ठे होते थे, वहा अब थोडे से लोग ही आ सकते थे। ऐसे लोगों में स्त्रियो का आना बद सा हो गया, केवल पुरुष आते थे। क्षेत्र के विस्तार के कारण उसमे केवल वैदिक जनजातियो के वशज नही रहते थे बल्कि अवैदिक जनजातियाँ भी थी। पुरानी वैदिक जनजातिप्रधान सभाओ में अवैदिक कबीलो को स्थान मिलना कठिन हो गया होगा।

स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल तक राज्य भली प्रकार स्थापित नही हो पाया था। इसमे ठोस भौतिक आधार, सुस्पष्ट वर्ग-समर्थन तथा सार्वजनिक सामाजिक मान्यता का अभाव था। वैदिक समुदायों में नियमित कर-व्यवस्था नही थी। राजा के भाईबदो के अलावा कर वसूल करनेवाले अन्य अधिकारी नही थे, तथा भेट-पूजा जिसे बलि कहा जाता था एव टैक्स के बीच का अतर पूर्णत. मिटा नही था। बलि की जमाबदी और वसूली की कोई व्यवस्था नही थी। भागदुघ को करसग्राहक माना जाता है पर वास्तव में वह भोजन एवं भागों का वितरण करता था।[40] दूसरे, उत्तर वैदिक कालीन समाज मे कोई पेशेवर सेना नही होती थी। पशुपालक समाज की सैन्य व्यवस्था कृषिप्रधान समाज की सैन्य व्यवस्था से बहुत भिन्न नही थी। युद्ध छिडने पर कबीले के लोगो को एकजुट किया जाता था, तथा सेनानायको एव साधारण सैनिको के आपसी सबंध भाईचारे पर कायम था।[41] नियमित कर-व्यवस्था के अभाव मे नियमित सेना को रखना सभव नही था। सेना, सेनानी तथा सेनापति शब्द अनेक स्थलो पर आते हैं, तथा शतपथ ब्राह्मण मे सेनानी को उन लोगो मे सर्वोच्च माना गया है जिनसे राजा राज्याभिषेक के समय

सपर्क करता था। किंतु 'सेना' का अर्थ केवल समूह से है। इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि उत्तर वैदिक काल में राजा वर्ष भर पेशेवर सेना रखता था। विश् का संबंध सेना अथवा सशस्त्र समूह से था। 'बल' अथवा सेना को विश् अथवा कृषक-वर्ग ही माना जाता था। राजा के दूर के भाईबद होने के कारण किसानों को भी युद्ध की लूट का कुछ अंश मिलता था। कुरुओं का राजा सदैव तत्पर 64 योद्धाओं से घिरा रहता था जो उसके पुत्र और पौत्र होते थे।[42] जब पाचाल राजा कोई अनुष्ठान करता था तो 6,033 कवचधारी तुर्वस योद्धा उठ खड़े होते थे; तुर्वस पांचालों के पांच कुलों में से ही एक थे।[43] सैनिकों की इन संख्याओं को रूढ़ माना जा सकता है किंतु राजाओं के साथ उनके वंशगत सबधों पर संदेह नहीं किया जा सकता। अश्वमेध के अश्व की रक्षा करनेवाली सेना में क्षत्रिय तथा विश् दोनों ही होते थे। धनुष-बाण तथा ढालों से लैस राजन्य सेनानायकों के रूप में कार्य करते थे; लाठियों से लैस होकर विश् साधारण सिपाही बनकर लड़ते थे। शतपथ ब्राह्मण के एक अनुष्ठान में राजा को सलाह दी गई है कि विजय के लिए वह विट् अर्थात् अपने बहुसख्यक भाईबंदों के साथ एक ही बरतन मे भोजन करे क्योंकि उनके स्वस्थ नहीं रहने से वह सफल नहीं हो सकता था।[44]

उत्तर वैदिक काल के राज्य इस अर्थ में क्षेत्रीय थे कि लोग राजा के अधीन एक इलाके में टिककर अन्न उपजा कर खाते थे। ऊपरी गंगा के मैदानों में पाए गए ईसापूर्व लगभग हज़ार अथवा पांच सौ वर्ष पूर्व के बरतन दो या तीन शताब्दियों तक लगातार रहनेवाली बस्तियों का प्रमाण देते हैं। किंतु कुल या कबीले से लगाव अब भी प्रबल था, तथा क्षेत्र के प्रति लोगों की निष्ठा अभी उतनी मजबूत नहीं थी। यद्यपि राजाओं और पुरोहितों को समुदाय में विशिष्ट स्थान मिलने लगा था, पर कृषक अभी तक उनसे पूर्णतः पृथक नहीं हुए थे। वैदिक काल की समाप्ति तक कृषक कुलीनों एवं योद्धाओं को शुल्क देते थे जो पुरोहितों को उदारतापूर्वक दान देते थे; इसके अतिरिक्त कृषक पुरोहितों को अलग से बलि और दान-दक्षिणा भी देते थे।

लुहार, रथकार और सुतार जैसे कारीगर मुख्य रूप से उदीयमान योद्धा वर्ग के लिए ही काम करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुओं का वितरण उतना व्यापार द्वारा नहीं होता था जितना पारस्परिक भेंटों और उपहारों के आदान-प्रदान के द्वारा। बलपूर्वक गोग्रहण के अनुष्ठान से राजपद के आकांक्षी सरदार के शारीरिक बल के परीक्षण का संकेत मिलता है; साथ ही यह भी पता चलता है कि राजा तथा उसके सगे-संबंधियों के बीच गौओं का आदान-प्रदान होता था। यजमान राजा अपने सजातों से सौ अथवा अधिक गाएं लेता तथा बदले में फिर उन्हें उतनी ही या अधिक गाएं भेंट करता था।[45] कबीलाई समानता के आधार पर यह आदान-प्रदान अधिक व्यापक भी हो सकता है। उत्तर वैदिककालीन कृषक को

नगरों अथवा व्यापारियों का पोषण नही करना पड़ता था, क्योंकि तब तक वे उभरकर नही आए थे। उसका समाज छोटा, मुद्रा रहित कृषक समाज था न कि पूर्ण विकसित वर्ग-समाज। निष्क तथा शतमान भेंट वस्तुओं में प्रतिष्ठा सूचक माने जाते थे। अधिकाश लोग खेती में लगे थे पर उनमें कबीले के स्पष्ट लक्षण भी पाए जाते थे। यद्यपि पुरोहित वर्ग का सतत प्रयास था कि कृषकों अर्थात् वैश्यों को कुलीनो एव योद्धाओं के अधीन रखा जाए, पर इसमें वे पूरा सफल नहीं हुए। जहां लकडी के फाल वाले हलों से खेती होती थी और यज्ञ मे गौओ की अंधाधुंध बलि दी जाती थी वहा किसानों की पैदावार सीमित थी; खाने-पीने के बाद उनके पास काफी अनाज नही बच सकता था। ऐसी स्थिति में वर्ग-निर्माण में अधिक प्रगति नहीं हो पाई। इतना ही नही, जनजातीय परपरा के अनुसार राजा पर केवल कृषिप्रसार का ही दायित्व नही था बल्कि कभी कभी उसे हल भी चलाना पडता था। परिणामस्वरूप कृषकों तथा राजन्यों के बीच का अतर बहुत नही बढ़ा। सार्वजनिक यज्ञो तथा अन्य अवसरों पर राजा से अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने लोगो के साथ मिल जुलकर खाए।[46] उपहार बाटना सरदार का महत्त्वपूर्ण कार्य होता था,[47] जिससे असमानता कम होती थी। यद्यपि कुलीन एवं योद्धा अपने कृषक बंधुओं पर शासन करते थे, किंतु शत्रु से युद्ध के समय उन्हे कृषक-बल पर निर्भर करना पडता था तथा कबीले के कृषकों की सहमति के बिना वे किसी को भूमि अनुदान नही कर सकते थे। इन सब बातों के कारण उनकी स्थिति विषम थी। ऐसी सामाजिक सरचना के लिए नृतत्वशास्त्रियों ने 'सरदारी' पद प्रयुक्त किया है, यद्यपि अब इसे त्यागा जा रहा है। उत्तर वैदिक काल मे सरदारी एक ऐसे परिवर्तन से गुजर रही थी जिसमें अपेक्षाकृत समतावादी कबीलाई समाज के लक्षण कमजोर पड रहे थे, और समाज का स्वरूप ऐसा बन रहा था जिसमें हमें वर्गों की शैशावावस्था तथा आदि-राज्य का आरंभ दिखाई पडता है। इस प्रकार के परिवर्तन में प्रबल पौरोहित्य के तत्व से भी सहायता मिल रही थी।

राज्य-निर्माण का अंतिम चरण ईसापूर्व प्रथम सहस्राब्दि के मध्य में निर्धारित किया जा सकता है जब वैदिक लोग गगा के मध्य के मैदानो अर्थात् पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार आए। उन्होने छोटा नागपुर पठारी क्षेत्र मे उपलब्ध समृद्ध लोहे की खानों से लोहा निकालना आरभ किया तथा लोहे की तकनीक विकसित की जिसके फलस्वरूप एक प्रकार का इस्पात बनने लगा। हलो के लौह-फाल तथा अन्य कृषि उपकरण के इस्तेमाल के कारण उत्पादन मे आमूल परिवर्तन आया।[48] धान की रोपाई भी इसी काल में आरंभ हुई प्रतीत होती है।[49] गगा के उपजाऊ मैदानों में पैदावार में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इन नई परिस्थितियों मे योद्धा, पुरोहित, भिक्षु, व्यापारी एव कारीगर इत्यादि कृषकों के बढ़े हुए अतिरिक्त उत्पादन पर निर्भर रह सकते थे। इस काल में प्रथम बार धातु की मुद्रा का प्रचलन

हुआ, तथा वस्तुओं की खरीद-बिक्री में इसका प्रयोग होने लगा। संभवतः लिपि का विकास हुआ जिससे लिखित हिसाब रखना संभव हुआ। मुद्रा प्रचलन तथा लेखन पद्धति के कारण शासकों को कर निर्धारित करने तथा वसूलने में और व्यापारियों को वाणिज्य व्यवसाय चलाने में विशेष लाभ हुआ।

कुछ परिवारों ने इतनी भूमि पर कब्जा कर लिया कि उन्हें दासों तथा भाडे के श्रमिकों की आवश्यकता होने लगी। उत्तर वैदिक काल में मुख्यतः दासियों की चर्चा आती है जो सभवतः गृहकार्य में लगाई जाती थीं। किंतु इस युग में दास भी मिलते हैं, जिनमें से अनेक उत्पादन कार्य में लगाए जाते थे। बुद्ध के काल में प्रथम बार बहुत बडी संख्या में मजदूरी पानेवाले श्रमिक भी दिखाई पडते हैं; उन्हें कर्मकर कहा जाता था।[50] वैदिक काल में कर्मकर शब्द से पारिश्रमिक पानेवाले श्रमिक का बोध नहीं होता था। वैदिकोत्तर काल में सामाजिक असमानताएं अत्यंत स्पष्ट हो गईं। इन्हें दूर करने के लिए गौतम बुद्ध ने अनेक उपायों का विधान किया जिनका प्रभाव बौद्धों पर पडा।[51] अशोक लोगों को दासों, श्रमिकों एवं अन्य लोगों के प्रति सदय होने की सलाह देता है। इन बातों से पता चलता है कि समाज में तनाव एवं संघर्ष आरंभ हो चुका था। इस नई परिस्थिति में पुरोहितों एवं विशेष रूप से योद्धाओं की एक ऐसी प्रबल प्रभुता की आवश्यकता थी जो सामाजिक संघर्षों को नियंत्रित करे तथा बाहरी आक्रमणों से लोगों की रक्षा करे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थिति से लाभ उठाकर राजाओं के पुराने अनुभवी एवं उद्यमी परिवारों ने विशाल क्षेत्रीय राज्यों, जिन्हें महाजनपद कहा जाता था, की प्रभुसत्ता हथिया ली। कुल मिलाकर पचास राज्यों के नाम आते हैं जिनमें से कुछ विजयी थे और अन्य राज्यों को जीतकर अपने में मिला लेते थे। बुद्धयुगीन राज्य, चाहे राजतंत्र हों या कुलीनतंत्र, जनजातीय नामों से जाने जाते थे। तात्पर्य यह हुआ कि कबीले, कुल, वंश अथवा परिवार की किसी शाखा ने राज्य की प्रभुसत्ता प्राप्त करके इस पर सारे कबीले या कुल का नाम रख दिया।[52] किंतु एक बार राज्य के स्थापित हो जाने पर विभिन्न जनजातिया, जिनकी शासक परिवार से कोई नातेदारी नही थी और जिन पर ऐसा राजा शासन करता था जो उनके वंश या कबीले का नही था, क्षेत्रीय ईकाई में सम्मिलित हो गईं जिसकी अध्यक्षता राज्य का प्रमुख ही करता था। साथ ही शासकों ने अपने निकट और दूर के सगे-संबंधियों पर आधिपत्य स्थापित कर लिया था जो समानता के घेरे से निकलकर अधीनता की स्थिति में आ पड़े थे। इस प्रकार जहां मालव एवं क्षुद्रक शब्द शासक पद को इंगित करते हैं, वहीं मालव्य एवं क्षौद्रक्य से शासितों का बोध होता है।[53] इसी प्रकार का भेद शाक्यों एवं कोलियों तथा उनके दासों एवं कामगारों के बीच भी पाया जाता है।

ऐसी परिस्थितियों में राज्य का निर्माण उन लोगों से नहीं हुआ जिनके पास

उत्पादन के साधन थे। शासकों ने केवल अपनी संपत्ति की सुरक्षा के लिए राज्य का निर्माण नही किया। चोरी से सपत्ति की सुरक्षा का महत्त्व केवल शासकों के लिए ही नही था बल्कि कृषकों के समस्त सभुदाय के लिए था। तथापि, उच्च वर्गीय लोगों के परिवार एव संपत्तियों की रक्षा राज्य के लिए अधिक चिंता का विषय थी। निस्सदेह उत्पादन के ससाधनों तक सब की पहुच एक प्रकार की नहीं थी। भूमि का स्वामित्व असमान था। कुछ गावों के राजस्व का अनुदान ब्राह्मणों तथा यहां तक कि श्रेष्ठियों को भी मिला हुआ था।[54] भूमि के वितरण की असमानता बहुत अधिक नही थी। वास्तविक असमानता तो करों को वसूलने एवं बांटने में थी। राज्य के निर्माता एव सचालक वे लोग थे जो कृषकों से उनका अतिरिक्त उत्पादन एकत्र करते थे तथा उसे सेना, आर्थिक एवं प्रशासनिक अधिकारियों, पुरोहितों, भिक्षुओं एव वैचारिक प्रचारकों पर खर्च करते थे। करों की वसूली में भी बहुत भेदभाव बरता जाता था। ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को कर से मुक्त रखा गया था। वैश्य अथवा गृहपति ही मुख्य करदाता[55] होते थे। करदाताओं में मुख्य रूप से कृषक होते थे जिनके सहायक होते थे कारीगर तथा व्यापारी, और इन तीनों की गिनती वैश्यों, अथवा गृहपतियों में ही होती थी। लोगों से कर उनकी संपत्ति की *सुरक्षा के नाम पर लिया जाता था। किंतु वास्तव में उसका अधिकांश भाग राज्य* ही खर्च कर डालता था तथा उसका बहुत कम अंश करदाता के निमित्त लगाया जाता था। राज्य की आय का अच्छा-खासा भाग ब्राह्मणों तथा जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं के ऊपर खर्च होता था। इनमे से कुछ सक्रिय राज्य होते थे। पुरोहितों और धर्मप्रचारकों को न केवल राज्य बल्कि कारीगर, कृषक, व्यापारी तथा समाज के सपन्न लोग भी आश्रय देते थे। वास्तव में कृषकों को दोहरा कर देना पडता था—एक तो राज्य को, फिर उन लोगों को जो राज्याधिकार के पोषक थे। भिक्षुओं तथा पुरोहितों को दिए जानेवाले दान को भले ही टैक्स न माना जाए, किंतु इस प्रथा के पीछे समाज एव धर्मशास्त्रों का इतना प्रबल समर्थन था कि कोई भी गृहस्थ इसकी अवहेलना नही कर सकता था। विधि की पुस्तकों अर्थात् धर्मशास्त्रों मे ब्राह्मणों को यज्ञ करने तथा दान देने का स्पष्ट निर्देश है। किंतु ब्राह्मण कही दाता के रूप मे परिलक्षित नही होते। वे तो दान ग्रहण करनेवालों के रूप में ही सामने आते हैं। कबीलाई उदाहरणों से पता चलता है कि सामाजिक विकास की आरंभिक अवस्था में जनजातीय लगाव पर आधारित सबंध एव कर्तव्य सामान्य रूप से प्रचलित थे, वैदिक भेंट-उपहार पारस्परिक तथा बहुपक्षी हुआ करते थे, तथा समाज में पारस्परिक आदान-प्रदान तथा वस्तु विनिमय इस प्रथा से चलता था। किंतु अब भेंट-उपहार पाने पर ऊपर के दो वर्णों का एक तरह से एकाधिकार हो गया था। क्षत्रिय ने इस पर कर के रूप में और ब्राह्मण ने यज्ञादि की दक्षिणा के रूप में इस पर एकाधिपत्य कर लिया। पहले राजाओं को जो उपहारादि मिलते थे उन्हें

वे विभिन्न यज्ञों में अपने कबीले के भाईबंदों तथा अन्य लोगों में बांट दिया करते थे। किंतु बडे बडे यज्ञों की संख्या घटने लगी। उपहार अथवा कर राज्य के अधिकारियों अथवा सेना के रख-रखाव पर खर्च होने लगे। यह समस्त परिघटना कैसे विकसित हुई इसका संतोषजनक समाधान मिलना अभी शेष है। कैसे कुछ परिवारों ने युद्ध एवं कर-सचय पर, कुछ अन्य परिवारों ने धर्म तथा उपहारादि लेने पर अपना एकाधिकार जमा लिया। ये दोनों धीरे धीरे उत्पादन से अलग हो गए और दोनों ने मिलकर बहुसंख्यक परिवारों को जो उत्पादन मे लगे थे, कर देने पर बाध्य किया, कैसे समुदाय के सामान्य जन को युद्ध के अधिकार से वंचित किया गया तथा कैसे सेना क्षत्रियों के हाथ मे आ गई, इस गुत्थी को सुलझाना अभी शेष है। यह गवेषणा का विषय है कि कैसे गण, विदथ सभा तथा समिति, एव परिषद् के ह्रास के साथ जन-मामलों में आम लोगों की सहभागिता समाप्त हुई।

किंतु इसमें संदेह नहीं कि नई व्यवस्था के कारण थोड़े से लोगों को विशेषाधिकार प्राप्त हुए। वे अतिरिक्त उत्पादन का उपभोग करते थे तथा सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बनाए हुए थे। इसे बनाए रखने के लिए एक तंत्र का निर्माण किया गया तथा उसे विधि-ग्रंथों अथवा धर्मशास्त्रों में व्यक्त किया गया। पैदावार और कभी-कभी उसके साधन तक पहुंचने में जो असमानता आई उसको कानूनी जामा पहनाने के लिए वर्णों की स्थापना की गई। *उच्च वर्ण के लोग उत्पादन का संचालन करते थे तथा इसका अच्छा अंश पाते थे।* निम्न वर्ग सीधे उत्पादक होते थे। इस व्यवस्था को स्थायी रूप देने के लिए ही मुख्यतः राज्य का निर्माण किया गया। जो लोग कृषकों से कर तथा व्यापारियों से चुंगी लेते थे और उसके द्वारा अपना तथा भिक्षुओं एव परोहितो का खर्च चलाते थे वे क्षत्रिय कहलाए। वे सैनिकों, अधिकारियों तथा अन्य राज्य कर्मचारियो को वेतन देते थे जिनके द्वारा वे समाज मे शांति व्यवस्था बनाए रखते थे। कृषक, जो मुख्य करदाता थे, वैश्यों की कोटि में रखे गए तथा जो लोग दासो, घरेलू नौकर अथवा मजदूरी पानेवाले श्रमिक के रूप में कार्य करते थे शूद्र कहलाए। भारत के संपत्तिशाली वर्ग यूनान अथवा रोम के समकक्ष वर्गों की भांति नही थे; न ही प्राचीन भारतीय समाज में यूनान और रोम के समान दासों को बडे पैमाने पर पैदावार चलाने में लगाया जाता था। किंतु वर्णों को वर्गों के पर्याय मानना चाहिए; वर्णव्यवस्था को बनाए रखने के लिए राज्य की स्थापना हुई।

बुद्ध के समय तक राज्याधिपत्य लगभग आनुवंशिक हो चुका था। यद्यपि जातकों[56] में राजवंशो के बाहर से भी राजा को चुनने के अनेक उदाहरण मिलते हैं, किंतु इस समय तक अतिरिक्त उत्पादन एवं सत्ता के असमान वितरण पर आधारित वर्ग-विशेषाधिकार इतनी दृढ़ता से स्थापित हो चुके थे कि उन्हें सुरक्षित रखने के लिए आनुवंशिकता के तत्त्व को व्यापक रूप से लागू किया जाने लगा।

प्रतीत होता है कि प्रथम चरण में सरदार अथवा राजा का चुनाव विशु के सदस्य समिति में एकत्रित होकर करते थे। दूसरे चरण में राजा का चुनाव नृपति निर्माता अथवा राजकर्तृ करते थे। तीसरे चरण में इन नृपनिर्माताओं में सूत तथा ग्रामीण का समावेश हुआ।[57] चौथे चरण में चुनाव राज-परिवारों अथवा प्रमुख परिवारों तक सीमित हो गया। अत में चुनाव राज्याभिषेक के रूप में रीति बनकर रह गया; वास्तव मे राज्यारोहण आनुवंशिकता के आधार पर होने लगा।

किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि बुद्ध के युग में भारतीय राज्य में वे सारे तत्त्व उपस्थित थे जिनके रहने से राज्य की पूरी पहचान होती है। इसके क्षेत्रीय लक्षण को जनपद तथा महाजनपद जैसे शब्दो द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। विशाल भूभागवाले राज्यों में कोसल एवं मगध सर्वाधिक शक्तिशाली राज्यों के रूप में उभरे। उनमें राज्य के सामान्य अग अत्यंत स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। पाणिनि के एक उद्धरण से स्पष्ट होता है कि लोगों की निष्ठा 'जनपद' अथवा उस भूभाग के प्रति होती थी जिससे वे सबद्ध होते थे। बाद में, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जानपद होने अर्थात् जनपद में जन्म लेना उच्चाधिकारी होने के लिए महत्त्वपूर्ण योग्यता बतलाई गई है। सिकदर के इतिहासकारों से ज्ञात होता है कि पूरब में नंदों के राज्य के अतिरिक्त भारत उपमहाद्वीप के पश्चिमी भाग में कम से कम पांच राज्यों के पास सुव्यवस्थित सैन्य-संगठन थे। मगध के नंद शासकों के पास 20,000 अश्वारोही, 2,000 चतुराहण रथ, तथा 3,000-6,000 हाथी बताए गए हैं। स्पष्ट है कि ऐसी सुसंगठित सैन्य-व्यवस्था का भरण-पोषण तथा संचालन सुस्थापित कर-व्यवस्था द्वारा ही सभव था।

कई पदों के प्रयोग से पता चलता है कि कर-व्यवस्था सुस्थापित थी तथा करों का संचय नियमित रूप से होता था। पालि के पद हैं बलिसाधक, बलिपटिग्गाहक, बलिनिग्गाहक, और संस्कृत के पद हैं कारकर, क्षेत्रकर इत्यादि।[58] वैदिक काल के बहुत बडे भाग में बलि स्वैच्छिक भेंट मानी गई है। किंतु अब यह अनिवार्य कर हो गई थी जिसे लोगों को राज्य के प्रति भरना पड़ता था।

उच्च तथा निम्न, दोनों ही कोटि के अधिकारियो की चर्चा मिलती है। उच्चाधिकारियों को महामात्र कहा जाता था। वे विभिन्न पदों पर कार्य करते थे जैसे मत्री, सेनानायक, न्यायाधीश, गणक (मुख्य लेखाधिकारी) तथा अंतपुर के प्रमुख के रूप में।[59] अमात्यों अथवा अमच्चों की चर्चा मुख्यत: पालि ग्रंथो अथवा विधि के आरंभिक ग्रंथों अर्थात् धर्मसूत्रों में मिलती है। वे विभिन्न प्रकार के अधिकारियों की भूमिका निभाते थे। आयुक्तों अथवा मजिस्ट्रेट की बात भी कही गई है। ध्यान देने योग्य है कि राजा के महत्त्वपूर्ण सलाहकार जैसे मगध का वर्षकार अथवा कोसल का दीर्घचारायण अपने अपने राजा के कुल के नही थे। कई स्थानों पर ये अधिकारी पुरोहित समुदाय से लिए जाते थे। अत: प्रतीत होता है कि

ईसा से 500 वर्ष पूर्व गंगा के मध्य क्षेत्र में राज्य की संपूर्ण प्रणाली का उदय हो चुका था। यह प्रणाली उत्तर वैदिक युग की बड़े सरदारतंत्र अथवा आद्य-राज्य के विकसित रूप में आई। शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय ब्राह्मण में मिलनेवाली सत्ता संरचना बुद्धकालीन राज्य के अधिक समीप बैठती है। किंतु निश्चित रूप से, इसी युग में सिद्धांत एवं प्रयुक्ति दोनों ही दृष्टियों से राज्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। निर्वैयक्तिक संस्थाएं जैसे कर, सेना, अधिकार इत्यादि सरदारी एवं कबीलाई सत्ता की कीमत पर विकसित हुईं। अब सत्ता किसी को शारीरिक गुणों तथा कबीले के समर्थन के बल पर नहीं मिलती थी बल्कि जोर-जबरदस्ती, मजबूरी, दबाव और इतजाम के बल पर मिलती थी। बुद्ध के युग में ऐसी संस्थाएं कायम हो चुकी थीं जिनमें ये सारी चीजें पाई जाती हैं। फिर धर्म और वैचारिक प्रचार से इन्हें मजबूत किया जाता था। एक बार राज्य के अस्तित्व में आ जाने पर कर-संचय, बल-प्रयोग एवं दंड-विधान को उचित ठहराने के लिए अनेक सिद्धांत प्रस्तुत किए गए। ऐतरेय ब्राह्मण में बलप्रयोग के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है जिसके अनुसार राज्य का जन्म युद्ध की आवश्यकताओं के कारण हुआ।[60] किंतु अब ऐसे सिद्धांत निकले जो राज्य के उद्भव की व्याख्या इकरार[61] तथा दैवी कारणों के आधार पर करने लगे; इस प्रकार राज्य को समाज की सहमति पाने का रूप दिया गया। फिर भी कुछ अन्य सिद्धांतों ने राज्य के उद्भव को परिवार, संपत्ति तथा वर्णव्यवस्था की सुरक्षा से जोड़ा,[62] और इस प्रकार वास्तविकता की ओर इंगित किया।

एंजेल्स के अनुसार प्राचीन इतिहास में राज्य का उदय तीन प्रमुख रूपों में होता है, पर तीनों में समता यह है कि राज्य कबीलाई संरचना के अवशेषों पर कायम होता है। एथेंस में शुद्ध शास्त्रीय (क्लासिकल) रूप मिलता है; यहां राज्य सीधे तथा मुख्य रूप से वर्ग-विरोधों से उत्पन्न होता है जो कबीलाई समाज के अपने भीतर विकसित हुए। रोम में कबीलाई समाज बहुसंख्यक जनसाधारण (प्लेब) के बीच संकीर्ण अभिजात समाज में बदल गया जिसमें जन-सामान्य को स्थान न था तथा जिनमें केवल कर्तव्य ही थे अधिकार नहीं; जनसाधारण की विजय ने नातेदारी पर आधारित पुरानी संरचना को तोड़कर उसके ध्वंस पर राज्य का निर्माण किया जिसमें शीघ्र ही कबीलाई अभिजन तथा सर्वसाधारण दोनों ही पूर्णतः एकाकार हो गए। अंत में, रोमन साम्राज्य के जर्मन विजेताओं के मामले में, राज्य सीधे विशाल विदेशी क्षेत्रों की विजय से उत्पन्न होता है जहां कबीलाई संरचना शासन का कोई साधन उपलब्ध नहीं कराती।[63]

भारत में राज्य के उद्भव पर कोई सामान्य टिप्पणी देना कठिन है, उससे भी कठिन है, उसके कारणों की समीक्षा करना, जैसा कि एंजेल्स उपर्युक्त तीन स्थितियों में करता है। राज्य का संयंत्र आंशिक रूप से वैदिक काल के अंत में तथा

पूर्ण रूप से ईसा से 500 वर्ष पूर्व स्थापित हुआ। लोहे के प्रयोग तथा धान-रोपाई ने उन अनिवार्य परिस्थितियों को उत्पन्न किया जिन्होने बुद्ध के युग में मध्य गांगेय क्षेत्रों तथा गगा की सहायक नदियों के तटवर्ती इलाकों में कामचलाऊ अतिरिक्त कृषि-उत्पाद उपलब्ध कराया। इस परिघटना ने स्थानबद्ध जीवन और फलस्वरूप क्षेत्रीय तत्व को बहुत बल दिया, जिससे वह राज्य-व्यवस्था का एक अभिन्न अग बना। किसानों के खाने-पीने के बाद जो फाजिल बचता था उससे कारीगरों, व्यापारियों तथा उत्पादन न करनेवालों का पोषण संभव हुआ। इसी से धन तथा वस्तु के रूप मे दान-दक्षिणा देना सभव हुआ जिस पर भिक्षुक तथा पुरोहित जीते थे; इसी से कर देना सभव हुआ जिस पर योद्धा, कुलीन जन, सेना तथा अधिकारी निर्भर करते थे; और इसी से विनिमय व्यवस्था तथा कच्चे माल का मिलना सभव हुआ जो कारीगरों एवं व्यापारियों की जीविका का आधार बना।

राज्य का उदय किस वस्तुस्थिति में हुआ इसकी व्याख्या की जा सकती है। पर इसके उदय के व्यक्तिपरक कारण क्या थे इसका पता लगाना कठिन मालूम पड़ता है। कैसे ब्राह्मणों ने धार्मिक आधारों पर तथा क्षत्रियों ने राजनीतिक आधारों पर अतिरिक्त उपज पर अपना दावा किया, इसका संतोषजनक समाधान अभी मिलना शेष है। स्वैच्छिक उपहार करों में, तथा स्वैच्छिक श्रम राजा के लिए बलपूर्वक लिए जानेवाले श्रम में बदल गया। पहले कबीलाई समाज में समुदाय की समृद्धि के लिए सगे-सबंधी एक-दूसरे के लिए श्रम किया करते थे। आज भी एक कुल के लोग मकान बनाने एव खेत जोतने में एक-दूसरे की सहायता करते हैं। जब आदिम समाज का ह्रास हुआ तो समुदाय के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में राजा उन श्रम-सेवाओं को प्राप्त करने लगा। इसी कारण जातकों में राजा के प्रति किसी-न-किसी प्रकार की श्रम-सेवा समर्पित करने की बात कही गई है। एक जनजाति के लोग सभाओ में संगठित होकर युद्ध करते थे तथा लूट के माल मे हिस्सा पाते थे। वैदिकोत्तर काल में ये सभाएं लुप्त हो ही गईं। जनजाति के सदस्य जब विशाल कृषक-परिवारों मे सगठित हुए तो वे अपने सामान्य अधिकारों से वंचित कर दिए गए। कृषक परिवारो का युद्ध में लडने का अधिकार समाप्त हो गया और साथ ही समाप्त हुआ युद्ध की लूट मे मिलनेवाला उनका हिस्सा। इतना ही नही, उनका अनुष्ठान करने का अधिकार भी घट गया तथा उनके एवं दोनो उच्च वर्गों के बीच दरार उत्पन्न हो गई। विवादों को निपटाने का अधिकार भी उनके पास नही रह गया। कबीलाई सभा, जिसमें स्त्री एवं पुरुष दोनों ही इकट्ठे होते थे, स्पष्टतः पंचायत जैसी थी जिसका फैसला सर्वमान्य था। अब न्यायिक अधिकार या तो अभिजनों की एक छोटी-सी सस्था के पास चला गया अथवा उच्च कुलीन अधिकारियों के पास, जिनकी नियुक्ति राजा करता था। निजी संपत्ति की संख्या के उदय से तथा विशाल भूभाग वाले राज्यों में अवैदिक तथा अन्य कबीलों के लोगों के

सम्मिलित हो जाने से ऐसे वर्ण तथा संपत्ति संबंधी विवाद उत्पन्न होने लगे जिनके समाधान के लिए कबीलाई प्रथा अपर्याप्त थी। अतः विधि ग्रंथों अथवा धर्मसूत्रों को लिखने की आवश्यकता हुई।

इस प्रकार वैदिकोत्तर काल में कबीले अथवा कुल के सदस्यों की शक्ति क्षीण हो गई तथा अंततः समाप्त हो गई; वे अपना हिस्सा पाने, युद्ध लड़ने, राजा या सरदार का चुनाव करने, सभा, समिति, विदथ, गण तथा परिषद जैसी सभाओं में बैठने के अधिकारी नहीं रहे; इन्हीं परिस्थितियों के कारण राज्य प्रणाली का जन्म हुआ। प्रभुता, परंपरा तथा अनुभव के बल पर कतिपय परिवारों ने कर वसूलने, युद्ध लड़ने तथा कानून और व्यवस्था बनाए रखने का अधिकार हथिया लिया। इन्हें समर्थन मिला उन परिवारों से जिन्होंने धार्मिक दान लेने तथा अपने यजमानों के अनुष्ठान करने का एकाधिकार हस्तगत कर लिया था। यह कहना कठिन है कि ये दोनों प्रकार के लोग एक ही कुल या कबीले के सदस्य थे। ऐसा माना जाता है कि ब्राह्मण समुदाय में अवैदिक तत्व सम्मिलित हो गए थे। जो भी हो, ये दो श्रेणियां राज्य के नेताओं के रूप में सामने आई। सरदारों की, जिन्हें राजन्य अथवा क्षत्रिय कहा जाता था, तथा पुरोहितों की, जिन्हे ब्राह्मण कहा जाता था, सत्ता के उदय ने कबीलाई सत्ता को कमजोर किया और परिपूर्ण राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। जनजातीय समाज का पतन तथा वर्गविभाजित समाज की बढ़ती हुई प्रभुता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक को दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। किंतु आरंभिक अवस्था में वर्ग वर्ण के रूप में प्रकट हुआ। वर्ण से उन लोगों का बोध होता था जो या तो अतिरिक्त उपज पर जीते थे या उसे उत्पन्न करते थे। वर्ग-व्यवस्था का अर्थ यह नहीं था कि उत्पादन के संसाधन केवल थोडे से लोगों के हाथों में हों तथा बहुसंख्यक लोग उनसे वंचित हों। पुरोहितो (ब्राह्मणों) तथा योद्धाओं (क्षत्रियों) को भूमि तथा पशुओं के स्वामित्व से उतना लाभ नहीं था जितना कि पदो पर एकाधिकार तथा करों से मुक्त होने से था। मुख्य भार कृषक वर्ग (वैश्यों अथवा गृहपतियों पर) पड़ता था जो कमोबेश पुरानी जनजातियों के वंशज थे और अब कृषि-कार्य करते थे। स्पष्टतः, प्रत्येक कृषक परिवार के कब्जे मे कुछ जमीन होती थी, भले ही उस पर कुल अथवा जनजाति के अधिकार का स्वरूप जो भी रहा हो। किंतु गृहपतियों को, जिनमें से कुछ दास रखते थे तथा अपनी भूमि पर कृषि के लिए कर्मकर (मजदूर) रखते थे और व्यापार करते थे, अपनी संपत्ति की सुरक्षा के लिए राज्य के संरक्षण की अत्यंत आवश्यकता थी। वैश्य और गृहपति यज्ञ करने तथा यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारी थे किंतु उन्हें कर देना पडता था, तथा युद्धों एवं प्रशासन से स्वयं को दूर रखना होता था। राजा अपनी प्रजा अथवा कृषक वर्ग का भक्षक (विशमत्ता) तथा रक्षक (विशाम्पति) दोनों ही होता था। ब्राह्मणों ने राजा को कुल के मुखिया के रूप मे

प्रस्तुत किया जो सारे कुल के सदस्यों से श्रम तथा उत्पादन की मांग करता है तथा बदले में उन्हें संरक्षण प्रदान करता है। उल्लेखनीय है कि कुछ अन्य आरंभिक समाजों में भी संप्रभु को अपनी प्रजा के 'भक्षण' का अधिकार प्राप्त था।[64] यद्यपि चारों वर्णों (जिनमें शूद्र भी सम्मिलित हैं, जो आरंभ में एक छोटा समूह थे) को एक ही पितृवंश का वंशज माना गया, फिर भी पुरोहितों एवं योद्धाओं ने क्रमशः कृषकों अथवा विश् को उसके पारंपरिक अधिकारों यहां तक कि उनके अपने उत्पादन के एक अंश से भी वंचित कर दिया। वे दोनों इस अर्थ में राज्य के प्रतिनिधि थे कि उन्हें उपहार तथा कर लेने का अधिकार प्राप्त था। वे भूमि के स्वामी नहीं होते थे जैसा कि यूनान और रोम की प्रथा थी। भारत में राज्य अंततः उन संघर्षों के कारण पैदा हुआ जो कबीलाई कृषिप्रधान समाज में एक ओर पुरोहित एवं योद्धा वर्गों तथा दूसरी ओर कृषक वर्गों के बीच उत्तर वैदिक काल से फूट पड़े थे। वैदिक काल के अंत में, एंजेल्स के शब्दों में, 'सैन्य प्रजातंत्र' ऐसे अभिजात्य में परिवर्तित हो गया जिसमें पुरोहित भी सम्मिलित थे। किंतु क्यों और कैसे प्राथमिक उत्पादकों में कुछ लोग पूर्णरूपेण पुरोहित तथा कुलीन योद्धा हो गए तथा कृषकों को कमाई खाने के लिए अपने को विशेषाधिकारों से सम्पन्न किया, इसके लिए और गवेषणा आवश्यक है। मार्क्सवादी नृतत्वशास्त्री भी राज्य के उदय होने की प्रक्रिया की व्याख्या करने में कठिनाई अनुभव करते हैं। पहले नातेदारी के आधार पर लोग इकट्ठे होकर सामुदायिक कार्यों का संपादन करते थे। फिर ऐसे संकीर्ण समूह कायम हुए जो आपस में श्रम और संसाधन पर आधिपत्य जमाने के लिए स्पर्द्धा करने लगे। यह परिवर्तन कैसे हुआ, इसकी पूरी व्याख्या करना अभी बाकी है।[65]

संदर्भ और टिप्पणियां

1 यह पेपर 'बेसिक प्राब्लम्स ऑफ प्रि-कैपिटलिस्ट सोशल इनफारमेशंस' पर एक अंतर्राष्ट्रीय कांफ्रेंस में प्रस्तुत किया गया था, जो ड्रेस्डन में नवंबर 1984 को फ्रेडरिक एंजेल्स के ग्रंथ 'दि ओरिजिन ऑफ दि फेमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एंड दि स्टेट' के प्रकाशन के सौवें वर्ष के उपलक्ष्य में बुलाई गई थी।

2 फ्रेडरिक एंजेल्स, 'दि ओरिजिन ऑफ दि फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एंड स्टेट', प्रस्तावना सहित, एलीनोर बी. लीकाक, न्यूयार्क द्वारा संपादित, 1972, पृ. 223-30. हाल में प्राचीन समय में राज्य-निर्माण से संबंधित कुछ रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं—हेनरी, जे. एम., क्लेसेन और पीटर स्कालिनिक की 'दि अर्ली स्टेट', माटन, दि हेग, 1978.

3 आर. एस. शर्मा, पोलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीट्यूशंस इन एंशियंट इंडिया, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1968, पृ. 265-71

4 मेरन शब्दों की व्याख्या आर. एस. शर्मा के 'मेटेरियल कल्चर एंड सोशल फारमेशंस इन एंशियंट इंडिया, दिल्ली, 1983, पृ. 46-48 में की गई है।

5. ऋग्वेद, X. 34 12

6. अथर्ववेद, III, 30.56 (अनु. व्हिट्नेज)
7. वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल के संदर्भ में जाति पर आधारित पारिभाषिक शब्दावली के लिए देखिए आर. एस. शर्मा, 'टैक्सेशन एंड स्टेट फारमेशन इन नार्दर्न इंडिया प्रि-मौर्य टाइम्स', सोशल साइंस प्रोबिंग्स, 1, 1984, पृ 6, फुटनोट 19.
8. शर्मा, मेटेरियल कल्चर आदि, पृ 48
9. वही, पृ. 48.
10. विवरण के लिए देखिए, शर्मा, एस्पेक्ट्स ऑफ पालिटिकल आइडियाज, आदि, अध्याय VI.
11. ए. ए. मैकडानल एवं ए. बी. कीथ, वैदिक इंडेक्स ऑफ नेम्स एंड सब्जेक्ट्स, ii, रिप्रिंट, दिल्ली, पृ 250
12. वैदिक इंडैक्स ऑफ नेम्ज एंड सब्जेक्ट्स, पृ. 80-81, 91, 248.
13. वही, पृ 248
14. ऋग्वेद, X 166.4 अथर्ववेद III, 4.2
15. जार्ज थामसन, एश्च्यूलस एंड एथेंस, लंदन, 1973, पृ. 38-39, 41, 49, 282.
16. गव्यं परिषदन्तो अगमन् 2.17, 3 22 ऋग्वेद में परिषद् का जाति-आधारित लक्षण स्पष्ट नहीं है, किंतु बैश-सभा अपना पांचालों की परिषद शतपथ ब्राह्मण में ज्ञात थी।
17. मंडल, VIII
18. ऋग्वेद II, 1,4.
19. शर्मा, मेटेरियल कल्चर, आदि, पृ 51
20. ऋग्वेद, X 90 12
21. X 166.4
22. अथर्ववेद III, 4 2. इंद्र को महाभिषेक के लिए इसलिए चुना गया था कि वह "सबसे बलशाली, सबसे संपूर्ण तथा किसी भी कार्य को करने के लिए सर्वोत्तम था," ऐतरेय ब्राह्मण, VIII. 12-17.
23. ओजिष्ठ, बलिष्ठ, सातिष्ठ (7), परयिष्णुतम ? सात्वमह ? धर्मज्ञ ? वह उन्हें मुख्यत: नैतिक गुण मानता है (वही), किंतु अंतिम दो को छोड़कर, अन्य सभी शारीरिक बल से संबंधित हैं।
24. शर्मा, पालिटिकल आइडियाज, आदि, पृ. 269-71
25. शर्मा, मेटेरियल कल्चर, आदि, पृ 69-73
26. ऐतरेय ब्राह्मण, VII, 27 और 28 विवेचित —आर. एस शर्मा, शूद्राज इन एंशियंट इंडिया, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, पृ 65-66.
27. ऐतरेय ब्राह्मण, VII, 29.
28. वही, VII, 29.
29. तैत्तिरीय संहिता, 11. 2. 11. 2; ऐतरेय ब्राह्मण, VII, 29; शतपथ ब्राह्मण, IX 4. 3. 3, XII 7. 3. 12; XIII 2. 9. 6
30. अथर्ववेद, XI. 1. 6 31. ब्राह्मणानाम् गोप, ऐतरेय ब्राह्मण, VIII उद्धृत रायचौधरी, पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशियंट इंडिया, पृ. 151.
31. अथर्ववेद, V. 17. 19.
32. रायचौधरी, आप. सीट., पृ. 143.
33. राजपरिवार के बाहर से लोकप्रिय व्यक्ति को वरीयता देने के अनेक उदाहरण जातकों (देखिए वही, पृ. 144) में मिलते हैं, जो संभवत: पूर्वकाल की रीति का स्मरण कराते हैं।
34. ऐतरेय ब्राह्मण, VIII. 6

35. ऐतरेय ब्राह्मण, VIII 7. उद्धृत एच सी. रायचौधरी, आप. सीट., पृ. 150
36 शतपथ ब्राह्मण, V 1.5.14, अथर्ववेद, XX 127. 1. 10.
37. तैत्तिरीय संहिता, 11 3 1.
38 IX 4 1 1 40. शर्मा, मेटेरियल कल्चर, आदि।
39 वही।
40 वही, पृ 76
41 वही, पृ 83-84
42 ऐतरेय ब्राह्मण, III 48
43 एच सी रायचौधरी, आप सीट, पृ 67
44 शतपथ ब्राह्मण, IV 3 3 15, V. 4. 3 8
45 शतपथ ब्राह्मण, V 4. 3 1. 8.
46 एक कहावत अभी तक चलती है, 'मिल जुल खाय, राजा घर जाए'।
47 ऐतरेय ब्राह्मण, VIII 15
48 शर्मा, मेटेरियल कल्चर, आदि, पृ 89-96
49 वही, पृ 96-99
50 आर एस शर्मा, शूद्राज इन एंशियट इंडिया, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1980, पृ 102-12
51 शर्मा, मेटेरियल कल्चर, आदि, पृ 109-10
52 किसी 'वंश' की सदस्यता सामाजिक पद तथा संसाधनों पर नियंत्रण निर्धारित करती है। रोमिला थापर, सभापति, भाषण, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, बर्दवान, 1983, पृ 3. इस विचार को उसकी पुस्तक 'फ्राम लिन्येज टू स्टेट' में और विकसित किया गया है। ओ. यू पी., दिल्ली, 1984
53 पातजलिआन पाणिनि, IV, I, 168 एंड काशिपा आन पाणिनि, V 3 114
54 आर एस शर्मा, 'टैक्सेशन एंड स्टेट फारमेशन इन नार्दर्न इंडिया इन प्रि-मौर्य टाइम्ज,' सोशल साइंस प्रोबिग्स, 1, 1984, पृ 15-18
55 शर्मा, शूद्राज आदि, 1980, पृ 95-98
56 वही।
57 वही, पृ 155-56
58 वही, पृ 20
59 वही, पृ 21.
60 ऐतरेय ब्राह्मण, VIII 12-17.
61 शर्मा, ऐस्पेक्ट्स आफ पालिटिकल आइडियाज. आदि, अध्याय
62. वही, अध्याय IV
63. वही।
64 डेविड सेडन, स., रिलेशंस आफ प्रोडक्शन: मार्क्सीसिस्ट एप्रोचेज टू इकानामिक एन्थ्रोपोलोजी, लदन, 1978, पृ 166-67
65 इलेनर लीकाक, 'मार्क्सिज्म एंड एन्थ्रोपोलोजी'

14. कानून और राजनीति से वर्ण का संबंध

(ईसा पूर्व लगभग 600 से 500 ईस्वी तक)

एक ओर वर्णव्यवस्था तथा दूसरी ओर कानून और राजनीति के पारस्परिक संबंधों पर विचार किए बिना वैदिकोत्तर राज्यव्यवस्था को भली भांति नही समझा जा सकता। बहुत-से कारणो से यह माना जा सकता है कि ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी से राज्यशक्ति के उदय मे वर्ण की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही, इतना ही नही, अलग-अलग अवस्थाओ में उस शक्ति के विकास को भी वर्ण ने बहुत अधिक प्रभावित किया, तथा उसके विभिन्न अगो को जो स्वीकृति प्राप्त हुई और उसके कानून जिस साचे में ढले, उसमे भी इस प्रक्रिया का बहुत बडा हाथ था।

पौराणिक सिद्धांत-परिकल्पना मे वर्णों के उदय और राज्योत्पत्ति के बीच आनुषंगिक संबंध ही दिखलाया गया है।[1] आधे दर्जन पुराणो में कहा गया है कि यद्यपि विभिन्न वर्गों के कर्तव्य निर्धारित थे, किंतु उन्होने उनका पालन नही किया, जिससे उसम आपसी संघर्ष उत्पन्न हो गया। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए ब्रह्मा ने क्षत्रियो के पेशे के रूप मे दंड और युद्ध का विधान किया। संभव है, इस प्रकार की सिद्धांत-परिकल्पनाएं गुप्तकाल मे की गई हो, जब पुराणो और 'महाभारत' के उपदेशात्मक अंशो को अंतिम रूप प्रदान किया[2] गया। लेकिन चिंतकों के मन मे ऐसे विचार तभी उठे होगे जब या तो युगो पुरानी परपराओं में उनके लिए कोई आधार रहा होगा, या फिर वर्गों मे विभक्त हो रही कतिपय समसामयिक जनजातियों में इस तरह की प्रक्रिया चल रही होगी। इसके अतिरिक्त धर्मसूत्रों और 'अर्थशास्त्र' से लेकर ब्राह्मण विचार धारा के सभी ग्रंथो मे राजा के जिस कर्तव्य पर सबसे अधिक जोर दिया गया है वह है वर्णों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की रक्षा।[3] कौटिल्य के अनुसार धर्म प्रवर्तक के रूप मे राजा चतुर्वर्ण व्यवस्था का रक्षक है।[4] 'शांतिपर्व' मे स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जाति-धर्म या वर्ण-धर्म का आधार क्षात्रधर्म, अर्थात राज्यशक्ति है।[5] मनु की घोषणा है कि राज्य तभी तक फूल-फल सकता है जब तक वर्णों की शुद्धता कायम

रहती है। यदि मिश्रित वर्णों के वर्णसकर लोग वर्णों को दूषित करेंगे तो राज्य अपने निवासियों सहित नष्ट हो जाएगा।[6] सच तो यह है कि मनु वर्णव्यवस्था से सर्वथा अलग करके राजा के कर्तव्यो की कल्पना ही नही कर सकते। हार्पकिस के अनुसार मनु मे 'ऐसे स्थल विरल ही हैं जहां अन्य वर्णों से राजा का कोई संबध जोडे बिना स्वतत्र रूप से उसका उल्लेख हुआ हो।'[7] ब्राह्मण विचारधारा के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपने जातीय कर्तव्यों से च्युत होता है तो उससे महाविपत्ति उपस्थित होती है। पाचवी शताब्दी के स्मृतिकार नारद के अनुसार, 'यदि कोई जाति पथभ्रष्ट हो जाए और राजा उसे दंडित नही करे तो सभी सांसारिक जीव विनष्ट हो जाएगे।'[8] 'शांतिपर्व' में राजपद को वर्णव्यवस्था का रक्षक कहा गया है। इसमें राजा के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले के लिए वही दड विहित किया गया है जो समाजव्यवस्था मे गडबडी फैलानेवाले के लिए निर्धारित किया गया है।[9] जहा तक राज्य द्वारा वर्णव्यवस्था के समर्थन का प्रश्न है, प्राचीन भारतीय चितकों के विचार तथा प्लेटो और अरस्तू के विचार सामान्यत. एक से हैं,[10] यद्यपि यूनान में वर्ग बंधन उतना कठोर नही माना जाता था जितना भारत में वर्ण का।

वर्णव्यवस्था की रक्षा के राजकीय दायित्व पर धर्मशास्त्रो में जो आग्रह देखने को मिलता है, उसकी पुष्टि पुरालेखीय (एपिग्राफिक) साक्ष्यों से भी होती है। यद्यपि इन अभिलेखों की शैली यत्रतत्र पारपरिक ढग की है, फिर भी कुल मिलाकर ये वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। अशोक के अधिकारी योद्धाओं (भटमयेषु), ब्राह्मणों और इभ्यो (वैश्यों) के बीच काम करने के लिए नियुक्त किए जाते हैं।[11] ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त दासभटक[12] (दासभृतक) शब्द शूद्रों का द्योतक है। स्पष्ट है कि अशोक ने समकालीन समाजव्यवस्था के आधार पर अपने अधिकारियों को चारो सामाजिक वर्गों में कार्य करने के लिए नियुक्त किया। यद्यपि अशोक ने बौद्ध धर्मावलबी होने के कारण वर्ण शब्द का प्रयोग नही किया है, पर उसने समाज को जो चार कोटियों में बाटा है, उनसे चार वर्णों का सकेत मिलता है। आगे चलकर ब्राह्मण सातवाहन राजा वसिष्ठीपुत्र पुलुमावि (ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी के मध्य) के नासिक गुफा अभिलेख से ज्ञात होता है कि क्षत्रियों का शत्रु होने पर भी वह वर्णसकरता का प्रतिरोधक था।[13] उसी के समकालीन विदेशी मूल के शक शासक रुद्रदामन के बारे में कहा गया है कि विभिन्न वर्गों के लोग उसके पास पहुचे (या उन्होंने उसे निर्वाचित किया)।[14] परिव्राजक परिवार के राजा संक्षोभ के 529 ईस्वी के एक अभिलेख में उसे वर्णाश्रम धर्म की स्थापना में निरत बतलाया गया है।[15] फिर, यशोवर्मन के 532 ई. के मदसौर प्रस्तरलेख में उसके पूर्वज अभयदत्त को चारों वर्णों के लाभार्थ कार्य करने वाले के रूप मे बतलाया गया है।[16] उस अभिलेख मे दावा किया गया है कि धर्मदोष ने राज्य को सभी वर्णों की सकरता से मुक्त

किया।[17] इस संदर्भ में हर्ष के बंसखेरा अभिलेख का हवाला भी दिया जा सकता है, जिसमें उसके पिता प्रभाकरवर्धन को वर्णाश्रम धर्म का नियामक कहा गया है।[18] इस प्रकार जहां तक गुप्त राजाओं और उनके उत्तराधिकारियों का प्रश्न है, पुरालेखों में इस काल के कतिपय विख्याततम राजा वर्णाश्रम धर्म की संस्थापना और वर्णों को अपने-अपने कर्तव्य क्षेत्रों तक सीमित रखने में संलग्न दिखलाए गए हैं।[19] अभिलेखीय साक्ष्यों से प्रकट होता है कि केवल सिद्धांत रूप में ही नहीं, वरन् व्यवहार में भी वर्ण-विभाजित समाज को कायम रखना राज्यशक्ति का प्रमुख कर्तव्य था।

जहां तक राजा के वर्ण का प्रश्न है, उसे क्षत्रिय वर्ण का होना चाहिए था। प्रारंभिक साहित्य में राजन्य और क्षत्रिय शब्द पर्यायवाची हैं। लेकिन ऐसे दृष्टांत मौजूद हैं जिनमें अन्य वर्णों के लोग भी राजा हुए हैं। जातकों में कम से कम चार ब्राह्मण राजाओं के उदाहरण मौजूद हैं।[20] आगे चलकर मौर्योत्तर काल और गुप्तकाल में हमें आंध्रों, शुंगों, काण्वों, वाकाटकों, गंगों और कदंबों द्वारा राजवंशों की स्थापना किए जाने के उदाहरण मिलते हैं। इनमें से कुछ राजवंश ब्राह्मण मूल के रहे होंगे, और कुछ—विशेषकर वे जो दकन और दक्षिण भारत में पड़ते थे—ऐसे स्थानीय राजवंश रहे होंगे जो बाद में तरक्की करके सर्वोच्च सामाजिक वर्ण में दाखिल हो गए। जो भी हो, ब्राह्मण राजवंशों के उदय का सादृश्य पूर्ववर्ती काल में नहीं मिलता है। इन शासकों को क्षत्रिय की हैसियत प्रदान करना आवश्यक नहीं समझा गया। लेकिन जो शासक मूलत शूद्र जाति के थे उन्हें यह हैसियत देना जरूरी माना गया। कलियुग में अधिकतर राजा शूद्र होंगे,[21] यह पौराणिक भविष्यवाणी या तो बौद्ध और अधर्मी शासकों को लक्ष्य करके की गई है या विदेशी मूल के उन राजाओं को ध्यान में रखकर की गई है जो ब्राह्मण जीवनपद्धति का पूर्ण आचरण नहीं कर पाए। कदाचित, विदेशियों और शूद्रों के बीच की विभाजक रेखा उतनी ही क्षीण थी जितनी यूनान में गुलामों और बर्बरों के बीच की थी।[22] 'मनुस्मृति' और 'विष्णुस्मृति' के अनुसार स्नातक (जिसने विद्याध्ययन काल पूरा कर लिया हो) को शूद्र राजा के देश में नहीं टिकना चाहिए। इससे स्पष्ट लक्षित होता है कि शूद्र शासक भी होते थे।[23] लेकिन इस संबंध में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। पहली तो यह कि वास्तविक इतिहास में शूद्र शासकों के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। मनु का अभिप्राय शायद यवन, शक और पह्लव राजाओं से है जिन्होंने बाहर से आकर उत्तर-पश्चिम भारत में अपना राज्य कायम किया था। दूसरे, जो भी विवादास्पद दृष्टांत उपलब्ध हैं उनसे प्रकट होता है कि सिंहासनारूढ़ हो जाने पर ऐसा राजा न तो स्वयं शूद्रवत व्यवहार करता था और न उसके साथ लोग वैसा व्यवहार करते थे। चंद्रगुप्त मौर्य, जैन अनुश्रुतियों के अनुसार मयूरपालक का पुत्र था और इस प्रकार शूद्र की कोटि में था, पर

मध्यकालीन अभिलेखों में वह सूर्यवंशी के रूप में महिमान्वित हुआ है।[24] गुप्त राजे, जो धर्मशास्त्र के नियमानुसार अपनी उपाधि से वैश्य सिद्ध होते हैं, वैवाहिक सबधों के कारण क्षत्रिय लिच्छवियों और ब्राह्मण वाकाटकों के रिश्तेदार बन गए। एक जावाई ग्रथ में इन्हें क्षत्रिय वंश का बताया गया है।[25] कुछ लोग कहते हैं कि हर्षवर्धन वैश्य था। लेकिन ह्वेनत्सांग से मालूम होता है कि वह राजपूत था और बाण बताता है कि वह क्षत्रिय था। इन सारी बातों से प्रकट होता है कि ब्राह्मण आदर्शों पर गठित समाज में निम्न जाति के शासकों को क्षत्रिय वर्ण में सम्मिलित कर लेने की प्रथा चल पडी थी। यदि हम विवेच्य काल के छोटे-बड़े सभी राजाओं के वर्ण के आकडे निकालें तो पाएँगे कि उनमें से अधिकांश क्षत्रिय हैं और अनेक ब्राह्मण हैं। कहा गया है कि सनातनी विचारधारा को जितना आघात ब्राह्मणों के राजा बनने से पहुँचता था उतना वैश्यों या शूद्रों के बनने से नही,[26] पर इस मान्यता का कोई विशेष औचित्य नहीं दिखाई देता। जनमानस में विद्यमान धन की महत्ता के फलस्वरूप मौर्योत्तर काल से धनाढ्य विदेशी शासकों तथा निम्नतर जातियों के धनी लोगों के उच्चतर सामाजिक वर्णों में दाखिल किए जाने का मार्ग सहज ही प्रशस्त हुआ होगा। 'पंचतंत्र' में कहा गया है कि कोई व्यक्ति अर्थ से ही बलवान या पंडित बनता है।[27] दूसरे शब्दों में, धनी लोग ब्राह्मण और क्षत्रिय जैसे ही श्रेष्ठ समझे जा सकते थे। यदि निम्नतर वर्गों के पुरुषार्थी व्यक्ति शासकवर्ग विरोधी प्रतिक्रिया का लाभ उठाकर या अपने धन के जोर पर सिंहासन प्राप्त कर लेते थे तो ब्राह्मण सिद्धातवेत्ता चतुराई से पुराने वशवृक्षों में परिवर्तन करके उन्हे क्षत्रिय वर्ण में शामिल कर लेते थे, और इस तरह प्रचलित समाजव्यवस्था में कोई विशेष व्यतिक्रम नहीं आने देते थे। यह प्रक्रिया हाल तक चलती रही है,[28] पर इसका जोर से आरंभ 6ठी-7वी सदी से हुआ। प्राचीन रोमवासियों के इस गुण की बडी प्रशसा की गई है कि वे अधिकारहीन वर्गों के प्रमुख लोगों को शासक वर्ग में शामिल करके शेष को बाहर छोड देते थे और इस प्रकार अपनी बुनियादी समाज व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखते थे। स्पष्ट है कि यह गुण प्राचीन भारत के शासक वर्ग में भी कुछ कम नहीं था।

राजा के बाद राज्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अग सेना थी। शस्त्रास्त्र धारण करने, अर्थात् दड का प्रयोग करने का अधिकार केवल क्षत्रियों को था। मनु के अनुसार आपातस्थिति में यह अधिकार ब्राह्मणों और वैश्यों को भी दिया जा सकता है, पर शूद्रों को कदापि नही।[29] शूद्रों पर थोपी गई नियोग्यताओं को देखते हुए ऐसी आशंका रखना स्वाभाविक ही था कि अवसर पाकर वे अपने हथियारों का प्रयोग कहीं राज्य शक्ति के खिलाफ न करें, क्योंकि राजा उच्चतर वर्णों के विशेषाधिकारों का रक्षक था। केवल कौटिल्य ने ही वैश्यों और शूद्रों से गठित सेना को, उसके सख्या बल के कारण, महत्त्वपूर्ण माना है। ब्राह्मण सैनिकों से बनी सेना

के विषय में उनकी राय अच्छी नहीं जान पड़ती, क्योंकि उनके विचार से, ऐसी सेना को अनुनय विनय द्वारा जीता जा सकता है।[30] सेना को राज्य के एक अनिवार्य अंग के रूप में परिभाषित करते हुए कौटिल्य कहते हैं कि सर्वोत्तम सेना वह है जिसमें केवल क्षत्रिय सैनिक ही हों।[31] इस बात की पुष्टि मेगास्थनीज से भी होती है। भारत की आबादी के पांचवें वर्ग के रूप में योद्धाओं (जो हमारी राय में क्षत्रिय ही हैं) का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं कि इनका खर्च राज्य उठाता है और शांतिकाल में ये लोग बहुत सुख-सुविधापूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।[32] 'कामंदकनीतिसार', जिसमें कौटिल्य से काफी सामग्री ली गई है, बतलाता है कि सेना के लिए क्षत्रिय सबसे श्रेष्ठ लोग हैं।[33] इन बातों से शायद यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कम से कम मौर्य काल में राज्य के खर्चे पर रखी जानेवाली स्थायी सेना में सामान्यतः क्षत्रिय ही हुआ करते थे। कौटिल्य का कहना है कि सेना में वैश्यों और शूद्रों की भी भरती पर विचार किया जा सकता है, लेकिन मेगास्थनीज इस बात से सहमत नहीं हैं। वह साफ कहते हैं कि किसान (स्पष्टतया कौटिल्य के वैश्य और शूद्र, जिनका सामान्य पेशा कृषिकार्य था)[34] सैनिक सेवा से मुक्त हैं और सेना का काम उनको सुरक्षा देना है।[35] इसका मतलब यह हुआ कि बाहरी आक्रमणों और आंतरिक अत्याचारों के समक्ष वैश्य और शूद्र पूर्णतः निरुपाय थे और फलस्वरूप फसलों को क्षति पहुंचाने वाले जंगली पशु-पक्षियों को भी वे खुद नहीं भगा सकते थे, बल्कि यह काम एक विशेष प्रकार के शिकारी करते थे।[36]

सेना में सबसे महत्त्वपूर्ण पद सेनापति का था। परवर्ती काल के विचारकों के अनुसार, इस पद पर केवल ब्राह्मण या क्षत्रिय ही नियुक्त किए जा सकते थे।[37] कामंदक का कहना है कि पुरोहित, मंत्री और अभिजात वर्ग के लोग सेना के प्रमुख नेता हैं।[38] जैसाकि आगे दिखलाया जाएगा, मंत्री या तो ब्राह्मण होते थे या क्षत्रिय। प्रारंभिक बौद्ध और जैन ग्रंथों से हमें ज्ञात होता है कि क्षत्रियों के अलावा ब्राह्मण भी सेनापति और योद्धाजीवों (योद्धाओं) के पदों पर नियुक्त किए जाते थे।[39]

नौकरशाही का संगठन भी वर्ण पर ही आधारित जान पड़ता है। राज्य के सप्तांग सिद्धांत में राजकाज के इस प्रमुख साधन का बोध करानेवाला शब्द है अमात्य। जातकों में राजा के सखा, सभासद और सेनापति के रूप में अमात्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।[40] अमच्चकुलम् (मंत्रियों का परिवार) शब्द के उल्लेखों की बहुलता को देखते हुए इस बात की संभावना नहीं रह जाती कि निम्न वर्ग के लोग भी अमात्य (मंत्री) बनते होंगे।[41] फिक का कहना है कि खत्तियों (क्षत्रियों) की तरह इन मंत्रियों में भी 'विशेष रूप से विकसित ढंग की वर्ग चेतना' विद्यमान थी।[42] लेकिन उसने इनकी जाति नहीं बताई है।[43] किंतु अमच्च के जो

उल्लेख मिलते हैं उन पर विचार करने से लगता है कि वे कभी-कभी ब्राह्मण और अक्सर क्षत्रिय हुआ करते थे।[44] गहपति (गृहपति) या शिल्पी के राजा का मंत्री होने का एक भी दृष्टांत नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यपूर्व काल में भी वर्णव्यवस्था का द्वार इतना खुला नहीं था कि निम्न वर्ण का कोई व्यक्ति उच्च पद पर पहुंच सके। धर्मसूत्रों से अमात्यों के वर्ण का पता नहीं चलता, लेकिन आपस्तंब कहता है कि नागरिकों और ग्रामीणों की रक्षा के लिए प्रथम तीन वर्णों के लोग नियुक्त किए जाने चाहिए।[45] 'अमात्योत्पत्तिः' अध्याय में कौटिल्य ने अमात्यों की जाति का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं किया है, किंतु उनके लिए जो योग्यताएं विहित की गई हैं उनसे इसका थोड़ा संकेत अवश्य मिल सकता है। कौटिल्य और कौटिल्य द्वारा उद्धृत अन्य चिंतकों ने अमात्यों के लिए अनेक गुण विहित किए हैं। किंतु इन सबने आभिजात्य गुण को आवश्यक बताया है। इस गुण को बतलाने के लिए अनेक अभिव्यक्तियों का प्रयोग हुआ है, जैसे 'जिसके पिता और पितामह अमात्य रहे हों,' 'अभिजन' और 'जानपदोऽभिजानः'।[46] यह संदेहास्पद है कि प्रथम दो वर्णों के सिवा किसी अन्य वर्ण के सदस्यों में आभिजात्य की योग्यता मिल सकती थी।[47] जैसा कि अरस्तू ने कहा है, उच्चकुलोत्पन्न वह है जो वंशपरंपरा से धनी है और जो सद्गुणों से संपन्न है।[48] इनकी आशा निम्न वर्गों के लोगों से करना व्यर्थ है। अभिजात होने के अतिरिक्त अमात्यसंपत माने जाने के लिए जो अन्य योग्यताएं गिनाई गई हैं उनसे इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि मंत्री उच्च वर्णों का ही होना चाहिए था।[49] निम्न वर्णों के लोगों के लिए उच्च पदों पर पहुंचने के रास्ते बंद थे, इस बात की पुष्टि मेगास्थनीज के कथन से भी होती है। उसने सभासदों और परामर्शदाताओं के पेशेवर वर्ग का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि प्रशासन के कार्यपालिका तथा न्यायपालिका, दोनों विभागों के सभी उच्चतम पदों पर यही लोग आसीन हैं।[50] मेगास्थनीज के ही आधार पर एक परवर्ती लेखक कहता है कि सबसे ऊंचे कुलों में जन्म लेनेवाले और सबसे धनाढ्य लोग राजकाज के संचालन में भाग लेते हैं, न्याय की व्यवस्था करते हैं और राजाओं के साथ परिषद में बैठते हैं।[51] उन लोगों की एक नितांत अलग जाति थी, ये लोग अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकते थे, अपना पेशा या धंधा नहीं बदल सकते थे और एकाधिक धंधे नहीं कर सकते थे।[52] इन नियमों से स्पष्ट है कि इनकी अपनी एक सर्वथा अलग जाति थी, जिसमें न किसी और जाति के लोग प्रवेश कर पाते थे और न जिसमें से ये खुद ही बाहर निकल पाते थे।

जान पड़ता है कि गुप्तकाल में भी राजकाज, न्यायसंचालन, आदि पर उच्च वर्ण के लोगों का आधिपत्य कायम रहा। इसके साक्ष्य समकालीन विधि-ग्रंथों और अभिलेखों से प्राप्त हो सकते हैं। कात्यायन इस बात पर जोर देता है कि अमात्य को ब्राह्मण जाति का होना चाहिए।[53] इसका एक वास्तविक उदाहरण द्वितीय

चंद्रगुप्त के उदयगिरि गुफा अभिलेख से मिल सकता है, जिसमें उत्तराधिकार में प्राप्त मंत्रीपद पर आसीन एक ब्राह्मण का उल्लेख है।[54]

1889 ई. में हॉपकिन्स ने 'महाभारत' में उल्लिखित सैंतीस सदस्यों की ऐसी अमात्यपरिषद की ओर ध्यान आकृष्ट किया जिसके इक्कीस सदस्य वैश्य थे। तब से इस तथ्य को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है।[55] ध्यातव्य है कि 'शांतिपर्व' के समीक्षित संस्करण में इस अवतरण को शामिल नहीं किया गया है। अलबत्ता, उसमें आठ मंत्रियों के निकाय के गठन का उल्लेख अवश्य है, और ऐसा निर्देश है कि इन आठ में चार ब्राह्मण होने चाहिए, तीन राजभक्त, अनुशासित और आज्ञाकारी शूद्र तथा एक सूत होना चाहिए।[56] मंत्री के रूप में तीन आज्ञाकारी शूद्रों की नियुक्ति एक प्रयोग करने योग्य आदर्श माना जा सकता है, जो 'शांतिपर्व' में शूद्रों के प्रति अन्य मामलों में भी अपनाए गए उदार दृष्टिकोण के सर्वथा अनुरूप है। किंतु स्वयं 'मंत्रिन' शब्द का अर्थ मंत्र-तंत्र से युक्त व्यक्ति है, और इसलिए इसका ध्वनितार्थ 'ब्राह्मण' है।[57]

अब, दूत (राजदूत) को लें। यह पद काफी महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि राज्य का एक अंग मित्र था और राजा को पड़ोसी राज्यों से संबंध स्थापित करना पड़ता था। दूत के बारे में यह विहित किया गया है कि उसे 'कुलीन' और 'क्षात्रधर्मरत' होना चाहिए।[58] महाकाव्य में उल्लिखित दूत के बारे में हॉपकिंस का कहना है कि 'वह कोई पुरोहित या क्षत्रिय जाति का कोई अधिकारी हो सकता है।'[59] प्रारंभिक बौद्ध और जैन स्रोतों से ज्ञात होता है कि कभी-कभी क्षत्रिय श्रेणी के ब्राह्मण दूत रूप में नियुक्त किए जाते थे।[60]

गुप्तकाल से कुछ महत्त्वपूर्ण पदों पर कदाचित वैश्य भी आसीन थे। 493-94 ई. के एक गुप्तकालीन अभिलेख में शर्वदत्त नामक दीक्षित गृहस्थ का उल्लेख आया है, जो उपरिक (प्रांतीय शासक) और दूतक (अनुदान निष्पादक) का कार्य करता था।[61] चूंकि इस अधिकारी को राजमिस्त्रियों का स्वामी (स्थपति सम्राट)[62] कहा गया है, इसलिए लगता है कि वह शायद वैश्य या शूद्र था।

परिषद, पौर और जनपद जैसी कुछेक सामूहिक संस्थाओं में भी वर्ण का महत्त्व देखा जा सकता है। वैदिकोत्तर परिषद एक महत्त्वपूर्ण समिति थी, जो न केवल कानूनी विवादों का निर्णय करती थी, वरन राजा को भी परामर्श देती थी। निस्संदेह, यह ब्राह्मणों से गठित एक प्रभावशाली निकाय थी।[63] धर्मसूत्रकार गौतम के परिषद गठन संबंधी नियमों का विधान करनेवाले अवतरण पर टिप्पणी करते हुए मस्करिन् यह राय जाहिर करते हैं कि केवल ब्राह्मण को ही कानून की व्याख्या करने का अधिकार था। अपनी इस मान्यता के समर्थन में वह वसिष्ठ का उद्धरण देते हैं।[64] बौधायन स्पष्ट कहते हैं कि इस निकाय के दसों सदस्य विप्र होने चाहिए।[65] अन्यत्र परिषद-सदस्यों के लिए जो योग्यताएं विहित की गई हैं, उससे

हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि इसकी सदस्यता प्रायः पूर्णरूप से पुरोहितों (ब्राह्मणों) तक ही सीमित थी।

जातकों में उल्लिखित परिसा के गठन, और उसके सदस्यों की जाति के बारे में हमें कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नही है। लेकिन एक विद्वान का विचार यह है कि इसमें मंत्री, उपराजन् (उपराजा), सेनापति, सेट्ठि (प्रधान व्यापारी)[66] और पुरोहित होते थे। कौटिल्य की मंत्रिपरिषद, जिसे सामान्यतः आंतरिक मंत्रिमंडल माना गया है, अमात्यों में से लिए गए मंत्रियों से गठित होती थी, और अमात्यों की जाति पर हम विचार कर चुके हैं। अशोक के अभिलेखों से परिसा के गठन के संबंध में कोई संकेन नही मिलता। हमारा अनुमान है कि बौद्ध विचारधारा के प्रभाव के कारण इस सस्था में ब्राह्मण पुरोहितों का प्रवेश शायद बंद हो गया था। किंतु जैसा मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों से प्रतीत होता है, मौर्योत्तर काल में परिषद के सारे सदस्य ब्राह्मण होते थे।[67]

पौर और जानपद के सदस्यों की जाति के सबंध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुचना कठिन है। सच तो यह है कि इन संस्थाओं का अस्तित्व ही विवादास्पद है।[68] इस मान्यता का कोई आधार नहीं दीखता कि पौरजानपद की एक केंद्रीय सभा थी, लेकिन पौर और जानपद नाम की दो अलग-अलग सस्थाओं के अस्तित्व के पक्ष में जायसवाल ने जो तर्क दिए हैं, उनकी सर्वथा उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। सामान्यतः पौर का मतलब नगरनिवासी और जानपद का मतलब ग्रामनिवासी होता है। यदि हम यह मानकर चलें कि पौर और जानपद कहीं-कहीं ऐसी नियमित सस्थाओं के रूप में भी विद्यमान थे, जिनसे राजा परामर्श करता था, तो हमारे सामने समस्या यह तय करने की रह जाती है कि किन जातियों के लोग उनके सदस्य होते थे। 'गौतम धर्मसूत्र' के एक अवतरण के आधार पर जायसवाल का विचार है कि कोई शूद्र भी पौर का सदस्य हो सकता था। लेकिन मस्करिन् ने उक्त अवतरण की टीका करते हुए उसमें प्रयुक्त पौर शब्द का अर्थ समानस्थानवासी, यानी 'एक ही स्थान के रहने वाले' लगाया है।[69] वैश्य लोग पौर के सदस्य होते थे, ऐसा सोचने का हमारे पास कहीं अधिक सबल आधार है, क्योंकि व्यापारियों के इस सस्था के अध्यक्ष होने के साक्ष्य उपलब्ध हैं।[70] गृहपतियों (जायसवाल के अनुसार वैश्यों और शूद्रों) के नैगम के सदस्यों के रूप में काम करने के अनेक दृष्टात मिलते हैं। संभवतः जातकों में प्रतिबिंबित काल में पौर के अर्थ में ही नैगम शब्द का प्रयोग होता था।[71] मेगास्थनीज के विवरण में, जो जातकों का लगभग समकालीन है, कहा गया है कि कृषक लोग (वैश्य) किसी अन्य प्रयोजन से नगरों के कोलाहल में शरीक होने नही जाते हैं।[72] इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पौर के सदस्य केवल नगरवासी होते थे। पालिग्रंथों में राजा भी नैगमों के रूप में सामने आते हैं,[73] लेकिन उनकी संख्या अधिक नहीं प्रतीत होती।

जानपद की सदस्यता के संबंध में हमें दो प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं। बौद्ध स्रोतों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय जानपद कहे जाते थे।[74] 'शांतिपर्व' में मंत्री का उल्लेख जानपद के रूप में किया गया है। इससे पता चलता है कि पूर्ववर्ती काल में मंत्री जैसे महत्वपूर्ण व्यक्ति भी जानपद की बैठक में भाग लेते थे।[75] लेकिन 'रामायण' के एक श्लोक से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण और एक विशेष वर्ग के क्षत्रिय (जिन्हें बलमुख्य कहा गया है) इसके सदस्य नहीं होते थे।[76] बौद्ध ग्रंथों में इन संस्थाओं के जो उल्लेख मिलते हैं, वे शायद किसी पूर्ववर्ती अवस्था की वस्तुस्थिति के संकेत देते हैं। आगे चलकर ज्यों-ज्यों वर्ग भेद कठोर होता गया, त्यों-त्यों पौर और जानपद की बैठकों से दोनों उच्च वर्णों के लोग अलग होते गए, क्योंकि वहां निम्न वर्ण के लोग उनके साथ बराबरी में बैठते।

पौर और जानपद के कार्यों से उनके गठन के स्वरूप पर थोड़ा प्रकाश पड़ सकता है। चूंकि पौर और जानपद का एक मुख्य कार्य कराधान पर विचार करना माना जाता था,[77] इसलिए इस बात की पूरी सभावना है कि करमुक्त ब्राह्मण और क्षत्रिय उनके सदस्य नही हो सकते होंगे। आगे चलकर उनकी सदस्यता शायद वैश्यों और शूद्रों तक ही सीमित रह गई। इन जातियों के प्रभावशाली प्रतिनिधि इनमें एकत्रित होकर अपनी समस्याओं पर विचारविमर्श करते थे। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि पौर और जानपद वैश्यों और शायद स्वतंत्र शूद्रों के ऐसे क्षेत्रीय निकाय थे जिनकी राय को राजकाज में कोई वास्तविक महत्त्व प्राप्त नहीं था, वरन जिनकी बैठकें राजा या उनके प्रतिनिधियों द्वारा करों की उगाही के प्रयोजन से बुलाई जाती थी। जैन स्रोतों से ज्ञात होता है कि गाहावैयों (वैश्यों और शूद्रों) की एक परिसा (परिषद) भी थी।[78] लेकिन इसे कर-उगाही से कोई वास्ता था या नही, यह मालूम नहीं है। पौर और जानपद के इस स्वरूप को आधार मानकर विचार करने से यह प्रतीत होगा कि निम्न वर्णों के लोगों से कर-विषयक मामलों में तो परामर्श किया जाता था, लेकिन प्रशासन के मामलों में उनकी कोई पूछ नही थी।

प्रारंभिक काल के राज्य का प्राथमिक कार्य शांति और व्यवस्था कायम रखना और न्याय-संचालन करना था। लेकिन इसके लिए जिस तंत्र की रचना की गई थी, वह चारों सामाजिक वर्णों के आपसी संबंधों के आकार पर खड़ा किया गया एक ऊपरी ढांचा (सुपर स्ट्रक्चर) था। वस्तुतः, वर्णव्यवस्था का सबसे प्रकट प्रभाव ब्राह्मण धर्मशास्त्रकारों द्वारा संगठित न्यायव्यवस्था और उनके द्वारा बनाए कानूनों में देखा जा सकता है। ऐसा विधान किया गया था कि न्यायाधीशों (प्राड्विवाक) की नियुक्ति वर्ण के आधार पर की जाए। मनु और याज्ञवल्क्य ब्राह्मणों को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं। उपयुक्त ब्राह्मण प्रत्याशी न मिलने पर क्षत्रिय और वैश्य न्यायाधीश (प्राड्विवाक) नियुक्त किए जा सकते थे, लेकिन

किसी शूद्र को इस पद पर प्रतिष्ठित करना सर्वथा वर्जित था।[79] 'विष्णुस्मृति' (लगभग 300 ई.) मे कहा गया है कि न्यायव्यवस्था के लिए विद्यासपन्न ब्राह्मण नियुक्त किए जाएं, जो या तो राजा के साथ बैठकर या अकेले इस कार्य को संपादित करे।[80] कात्यायन भी पूर्ववर्ती स्मृतिकारों की व्यवस्था को दोहराते हुए कहते हैं कि किसी भी दशा में शूद्र को न्यायाधीश (प्राड्विवाक) नही नियुक्त करना चाहिए।[81] उनके अनुसार उच्च कुल के कुछ व्यापारी न्यायालय मे उपस्थित रह सकते थे (सभ्यों के रूप में कार्य कर सकते थे)।[82]

ब्राह्मण विचारधारा की विधिसंहिता की एक प्रमुख विशेषता, जिसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है,[83] वर्णविधान है। इसकी झांकी साक्ष्यविधि तथा व्यक्ति, सपत्ति, प्रतिष्ठा, आदि के विरुद्ध किए गए अपराधों के लिए विहित दंडों मे मिलती है। साक्ष्य सबधी कानूनों पर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि जातिबहिष्कृत, अर्थात अपने वर्णकर्तव्यों से च्युत, व्यक्ति गवाह नही बन सकता,[84] और एक वर्ण का आदमी दूसरे वर्ण के लोगों के मामलों मे गवाही नही दे सकता था। ऐसा विधान था कि ब्राह्मण ही ब्राह्मण की, क्षत्रिय ही क्षत्रिय की, वैश्य ही वैश्य की, शूद्र ही शूद्र की और स्त्री ही स्त्री की गवाही दे सकती है।[85] इसके अतिरिक्त, यह व्यवस्था भी थी कि दासों और भृतकों की, जो स्पष्टतः शूद्र वर्ण के होते थे, गवाही न ली जाए।[86] गवाही देते समय भी विभिन्न वर्णों के गवाहो को अलग-अलग प्रकार की शपथ दिलाने और उनके साथ अलग-अलग ढग से व्यवहार करने का विधान था।[87] इसी प्रकार के भेदभाव परीक्षा के विषय में भी बरते जाते थे। याज्ञवलक्य ने चारों वर्णों के लिए क्रमशः भार, अग्नि, जेल और विष की परीक्षाओं का विधान किया है।[88]

हम्मुराबी या एग्लोसैक्सनों की विधिसंहिता की तरह धर्मशास्त्रों में भी एक ही अपराध के लिए विभिन्न वर्णों के लिए अलग-अलग प्रकार के दंड का विधान है। हत्या के अपराध में वसूल किए जानेवाले मुआवजे का अधिक या कम होना इस बात पर निर्भर था कि किस वर्ण का आदमी मारा गया है। लगभग पांचवी सदी ईस्वी पूर्व के दो धर्मसूत्रकारों ने विधान किया है कि यदि अपराधी ने क्षत्रिय की हत्या की हो तो उसे राजा को एक हजार गाए और एक साड, वैश्य की हत्या की हो तो सौ गाए और एक सांड और शूद्र की हत्या की हो तो दस गाएं देनी चाहिए।[89] चार परवर्ती विधि निर्माताओं ने भी भेदभावपूर्ण नियमो का विधान किया है।[90] आज के जनतांत्रिक मानस को यह जानकर आघात लगता है कि बौद्धायन, आपस्तब और मनु इन सबने शूद्र और कुत्ते की हत्या के लिए एक ही तरह के जुर्माने का विधान किया है।[91] अनेक धर्मशास्त्रकारों का विधान है कि निम्न जाति का कोई व्यक्ति उच्चतर जाति के किसी व्यक्ति पर प्रहार करे तो उसका प्रहार करनेवाला अग काट लिया जाए।[92] मानहानि,[93] चोरी,[94] उत्तराधिकार[95] आदि

के मामलों में भी ऐसे कानूनों के उदाहरण दिए जा सकते हैं। सच तो यह है कि जीवन का आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जिसमें विभिन्न वर्णों के बीच कानूनी भेदभाव नहीं किए गए हों। धर्मशास्त्र तथा महाकाव्यों एवं पुराणों के स्मृति अंश ऐसे भेदभावपूर्ण नियमों से भरे पडे हैं। गुप्तकालीन स्मृतियों में इन कानूनो में कुछ नरमी आई है, जिससे चौथे वर्ण की कानूनी स्थिति में कुछ सुधार हुआ।[96] यह प्रवृत्ति किसी हद तक शायद वैसी ही थी जैसी बैजेंतिया साम्राज्य में जस्टीनियन के शासनकाल (527-65) में देखने को मिलती है, जब दासों की मुक्ति की प्रक्रिया तो सरल बना दी गई,[97] किंतु दंडविधान में वर्गभेद कायम रहा। उदाहरणस्वरूप, अगर कोई धनी आदमी जालसाजी करता था तो उसे निर्वासित कर दिया जाता था, किंतु अगर कोई गरीब वही काम करता था तो उसे खानों में घोर कष्टकर श्रम के लिए भेज दिया जाता था।[98] किंतु गुप्तकाल में कानूनी भेदभाव सीधे आर्थिक स्थिति पर नहीं, बल्कि वर्णविभाजन पर, जिसका आर्थिक स्थिति से निकट संबध था,[99] आधारित था।

भेदभावपूर्ण विधियो की रचना का जो सिलसिला प्रारंभिक धर्मशास्त्रों से आरंभ हुआ, उसकी पराकाष्ठा हमें मनु में देखने को मिलती है, किंतु इन दोनों के बीच रचे गए कौटिल्य के विधानों में हमें उदारता के तत्वों के दर्शन होते हैं। दरअसल कौटिल्य का उद्देश्य सकुचित जातिगत दृष्टि से ऊपर उठकर साम्राज्य की आवश्यकताओं के उपयुक्त विधियो की रचना करना था। कौटिल्य की राय में नरमी न्यायव्यवस्था का सार है।[100] तदनुरूप उन्होंने वर्गविधान की कठोरता को कुछ कम करने का प्रयास किया है। कुछ अपराधो के दंडस्वरूप उन्होने ब्राह्मणों के लिए भी मृत्यु का विधान किया है,[101] और कुछ अन्य अपराधों के सबंध में उनका कहना है कि उनके ललाटों को इस प्रकार दाग देना चाहिए जिससे स्पष्ट दिखे कि वे अपराधी हैं।[102] झूठी गवाही देने के लिए वह सभी जातियो के लिए शायद समान अर्थदंड विहित करते हैं।[103] जहां अन्य विधिग्रथों में विभिन्न वर्गों के लिए ब्याज की विभिन्न दरें विहित की गई हैं, वहां कौटिल्य ने केवल सवा पण प्रतिमास की दर निर्धारित की है।[104] ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य शूद्रों के एक वर्ग को आर्य मानते हैं और इसीलिए उस वर्ग के दास बनाए जाने पर सहमत नही हैं।[105] दासों और कृषिदासों के प्रति दयापूर्ण व्यवहार करने का आदेश जारी करते हुए अशोक भी इसी दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। इन सारी बातों के बावजूद कौटिल्य और धर्मशास्त्रकारों के बीच वर्गविधान के संबंध में शायद ही कोई मूलभूत अंतर हो। यौन संबंध संचालित करने के लिए जो कौटिल्य का विधान है उस पर वर्णव्यवस्था का जबरदस्त प्रभाव है। उनका कहना है कि ब्राह्मण स्त्री के साथ यदि कोई क्षत्रिय व्यभिचार करे तो उसे कठोरतम अर्थदंड दिया जाए, यदि व्यभिचारी वैश्य हो तो उसे सारी संपत्ति से वंचित कर दिया जाए, और यदि शूद्र हो

तो उसे चटाई में लपेटकर जीवित जला दिया जाए।[106] कौटिल्य ने मानहानि, मारपीट और अभक्ष्य वस्तुएं खाने के अपराधों के संबंध में जो विधान किए हैं उनमें भी वर्गविधान के उदाहरण मिलते हैं।[107]

वर्गविधान का प्रयोग व्यवहार में किस हद तक किया जाता था? चूंकि इस तरह का विधान सभी धर्मशास्त्रों की सामान्य विशेषता है, इसलिए मानना होगा कि इसकी जड़ें वास्तविक जीवन में जमी हुई थी। जैसा कि हॉपकिंस ने एक अन्य सदर्भ में कहा है, 'इनमें अधिकाश बातों के सबध में विधिग्रंथों में जो समानता दिखाई देती है, उससे इन बातों के सार्वत्रिक चलन का सकेत मिलता है।'[108] प्रारंभिक जैन साहित्य में उपलब्ध समर्थक साक्ष्य भी इसी दिशा की ओर संकेत करते हैं। लगभग चौथी शताब्दी के एक जैनग्रंथ में न्यायव्यवस्था के सदर्भ में चार प्रकार की परिसाओं (वर्गों) का उल्लेख है। इस ग्रंथ से हमें ज्ञात होता है कि जिस *अपराध के लिए खत्तिय (क्षत्रिय) परिसा के अपराधी का शिरोच्छेदन किया जाता* था, उसी के लिए गाहावै (गृहपति अर्थात् वैश्य और शूद्र) परिसा के अपराधी को छालों के ढेर पर रखकर जला डाला जाता था, माहण (ब्राह्मण) परिसा के अपराधी के शरीर पर या तो अपराधसूचक दाग लगा दिया जाता था या देशनिकाला दे दिया जाता था और इसि (ऋषि) वर्ग के अपराधी को हल्की फटकार दे दी जाती थी।[109] एक अन्य जैनग्रंथ मे ऐसा उल्लेख है कि एक ब्राह्मण ने एक धोबी की हत्या कर उसके खून से अपना शरीर रंग लिया। जब धोबियों का समूह राजदरबार में पहुंचा तो न्याय पाए बिना ही वहां से निराश लौट आया, क्योंकि अपराधी ब्राह्मण पहले से ही दरबार में बैठा हुआ था।[110] ईस्वी सन की प्रारंभिक शताब्दियों के जैन साहित्य में उपलब्ध इन साक्ष्यों से प्रकट होता है कि वर्गविधान मात्र विधि पुस्तकों तक सीमित नही थे, बल्कि सचमुच उन पर अमल किया जाता था। संभव है, ब्राह्मण विचारधारा के विधिग्रंथों में लिखी सारी बातें अक्षरशः न लागू की जाती रही हों, किंतु जब तक किसी अन्य निष्कर्ष की ओर इंगित करनेवाले पर्याप्त साक्ष्य नहीं प्राप्त होते तब तक यह मानना कठिन है कि इन बातों पर सारतः अमल नही किया जाता होगा।

कानून और राजनीति के संदर्भ में वर्णव्यवस्था पर सतही तौर पर दृष्टि डालने से ऐसी धारणा बन सकती है कि सभी प्रशासनिक और कानूनी मामलों में ब्राह्मण को पहला, क्षत्रिय को दूसरा, वैश्यों को तीसरा और शूद्रों को चौथा स्थान दिया जाता था। पर ठीक से देखा जाए तो पता चलेगा कि क्षत्रिय ब्राह्मणों के अधिक निकट थे और वैश्य शूद्रों के।[111] उपेंद्रनाथ घोषाल ने ऐसे अनेक उदाहरण पेश किए हैं जिनसे उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय, इन दो महत्त्वपूर्ण सामाजिक शक्तियों के बीच घनिष्ठ राजनीतिक संबंधों का अस्तित्व और महत्त्व प्रकट होता है।[112] वैदिकोत्तर काल में इसके और दृष्टांत मिलते हैं। यदि ब्राह्मण

साहित्य में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर जोर दिया गया है तो बौद्ध और जैन साहित्य में क्षत्रियों की प्रमुखता पर बल दिया गया है, हालांकि सेट्ठियों और गृहपतियों से बौद्धों और जैनो को जो आर्थिक सहायता मिलती थी, उसके कारण इन ग्रथों मे इन दोनो का भी कुछ खयाल रखा गया मालूम पडता है। न बौद्ध और जैन साहित्य मे और न प्राचीन साहित्य की किसी भी अन्य शाखा मे वैश्यो या शूद्रों की श्रेष्ठता के पक्ष में कुछ कहा गया है। जातककथाओ मे जब भी क्षत्रियो का राज्यसिंहासन छिनता है, वह ब्राह्मणो के अधिकार में ही जाता है।[113] इनमे ब्राह्मणो और क्षत्रियो के सयुक्त नेतृत्व में किए गए अनेक राजविरोधी विद्रोहो के उल्लेख हैं। कौटिल्य ने भी यही बात निम्नलिखित शब्दों मे कही है 'ब्राह्मणो द्वारा समर्थित, मंत्रियों की मंत्रणाओं से अभिमंत्रित तथा शास्त्रो का अनुगमन करनेवाली राजशक्ति (क्षत्र) शस्त्रबल के बिना भी विजय प्राप्त करती है और सदा अपराजेय रहती है।'[114] परवर्ती धर्मशास्त्रो में दोनो उच्च वर्णों के सयुक्त मोर्चे की आवश्यकता का विशद विवेचन किया है और ऐसा करते समय वैश्यो को शूद्रो की स्थिति में डाल दिया गया है। मनु स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि क्षत्रियो के बिना ब्राह्मणो और ब्राह्मणों के बिना क्षत्रियों की समृद्धि असभव है तथा एक होकर ये इस लोक और परलोक दोनों में समृद्धि पा सकते हैं।[115] राजा का कर्तव्य है कि वह वैश्यो और शूद्रों को तत्परता से स्वधर्मपालन में प्रवृत्त करे, क्योकि उनके स्वधर्मपालन से विमुख हो जाने से संसार अस्तव्यस्त (व्याकुल) हो जाएगा।[116] यहा सुझाया गया उपाय वैसा ही है जैसा हमे रोम साम्राज्य मे देखने को मिलता है। तीसरी सदी मे वहा भी गुलामो और निम्न श्रेणी के लोगों को अपने कर्तव्यो पर आरूढ़ रखने का विशेष प्रयास किया गया था। पूर्व मध्यकाल की एक कृति 'ब्रहमवैवर्त पुराण' मे वैश्य या शूद्र द्वारा की गई गोहत्या एक ही कोटि का अपराध मानी गई है।[117] इसमे आगे यह भी कहा गया है कि वैश्य चाहे वैश्य की हत्या करे या शूद्र की, वह समान पाप का भागी है।[118] इस तरह दोनो निम्न श्रेणियों के लोगो के जीवन का मूल्य समान आंका गया है।

जिन स्रोतो को ऊपर उद्धृत किया गया है उनमे से जातको को छोडकर शेष के बारे में ऐसा माना जा सकता है कि वे सैद्धातिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करते हैं। किंतु दोनो उच्च वर्णों के राजनीतिक गठबधन और महत्त्व की पुष्टि सामान्यतया साहित्यिक और अभिलेखीय स्रोतों से भी होती है। यह स्थिति गणतंत्री और राजतंत्री दोनों तरह के राज्यों मे विद्यमान थी। लगभग छठी से चौथी सदी ईस्वी पूर्व के गणतंत्रो मे वर्गशक्तियो के पारस्परिक संबधो की चर्चा हम कर चुके हैं और देख चुके हैं कि इनमे न केवल निम्न वर्गों की तुलना में बल्कि, ब्राह्मणो तथा गृहपतियों के मुकाबले भी क्षत्रिय अभिजात वर्ग का सामाजिक स्थान ऊंचा था।[119] जहा तक मौर्योत्तर गणराज्यो का प्रश्न है, क्षत्रियेतर लोगो के लिए

मालव्य और क्षौद्रक्य शब्दों के प्रयोग पर पतजलि द्वारा लगाए प्रतिबंध से प्रतीत होता है कि कम से कम मालवों और क्षुद्रको के गणराज्यों में निम्न वर्गों पर दोनों उच्चतर वर्गों का आधिपत्य था।[120]

जहा तक राजतत्रों का प्रश्न है, गुप्तकालीन पुरालेखों (एपिग्राफी) से पता चलता है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच वैवाहिक सबधों के द्वारा राजनीतिक गठबधन किए गए थे। वाकाटक ब्राह्मण राजा का भारशिव नाग परिवार की क्षत्रिय राजकुमारी के साथ विवाह इसका प्रसिद्ध द्रष्टांत है।[121] प्रभावती गुप्त के पूना फलक (प्लेट) से पता चलता है कि चौथी शताब्दी में द्वितीय चंद्रगुप्त की इस पुत्री का विवाह वाकाटक ब्राह्मण शासक द्वितीय रुद्रसेन के साथ हुआ था। मालवा के यशोधर्मन् के मंदसौर अभिलेख में ब्राह्मण रविकीर्ति को गुप्त शासक भानुगुप्त (501-11 ई.) की बहन भानुगुप्ता का पति बताया गया है।[122] कदंब परिवार के ब्राह्मण राजा काकुत्स्थवर्मन ने अपनी पुत्रियों का विवाह गुप्त और अन्य राजाओ के साथ किया था। हम यह भी जानते हैं कि वाकाटक महाराजा देवसेन का ब्राह्मण मत्री हस्तिभोज एक क्षत्राणी का वंशज था, जिसका विवाह उसके पूर्वज सोम नामक ब्राह्मण से हुआ था।[123]

उत्तर वैदिक काल से ब्राह्मणों और क्षत्रियों का संयुक्त आधिपत्य चलता रहा, पर जान पडता है कि मौर्य काल तक इस गठजोड में प्रधान भूमिका बौद्धों और जैनों की असनातनी विचारधारा से प्रभावित क्षत्रियों की रही। मौर्योत्तर और गुप्तकालो में यह भूमिका ब्राह्मणों को या धर्मशास्त्रो की सनातनी विचारधारा में पले ब्राह्मणेतर शासकों को प्राप्त हुई। परवर्ती ग्रथों में सामान्यतया प्रथम स्थान ब्राह्मणों को दिया गया है। जहा क्षत्रियों की प्रमुखता के काल में राज्य का केंद्रीकरण हुआ, ब्राह्मणो की प्रधानता के युग में सामतीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। ब्राह्मणो की शक्ति और प्रभाव का मुख्य आधार उनको मिलनेवाले अनुदान थे। मनु के विरोध के बावजूद ब्राह्मण चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, वह अनुदान पाने का पात्र समझा जाता था, और निःसकोच अनुदान स्वीकार भी कर सकता था।[124] पूर्व मध्यकाल में ब्राह्मणों को देने के लिए ब्राह्मणविंशति नामक एक नियमित कर (टैक्स) देहातो में चल पडा।[125] इसकी तुलना हम मध्यकालीन यूरोप में चर्चों द्वारा वसूल किए जाने वाले धर्मशुल्क (टाइथ) से कर सकते हैं। उक्त कर के द्वारा कृषको पर पुरोहितो के पालन का दायित्व डाला गया था, क्योंकि इस कर के अनुसार उन्हें उत्पादन का बीसवां भाग देना पडता था, और राज्य की मान्यता प्राप्त होने के कारण वे इससे बच नही सकते थे। लेकिन ब्राह्मणो के प्रभुत्व का सबसे अधिक विकास भूमि अनुदान के कारण हुआ। धर्मशास्त्रों तथा महाकाव्यों और पुराणों के उपदेशात्मक अशो में अनुदान से प्राप्त होने वाले पुण्यों का प्रचुर वर्णन किया गया है। यदि कुछ पालि ग्रथों को मौर्य अथवा मौर्यकालीन माना जाए

तो पता चलेगा कि ब्राह्मणों को उपभोग के लिए ग्रामदान की प्रथा बहुत पहले शुरू हो गई थी,[126] लेकिन गुप्तकाल आते-आते इसकी व्यापकता ने गंभीर रूप धारण कर लिया। इस प्रक्रिया के राजनीतिक परिणाम केंद्रभूत राज्य के संगठन के लिए अनिवार्यतः घातक सिद्ध हुए और इसका समर्थन पुरालेखीय साक्ष्यो से होता है।

क्षत्रियप्रधान केंद्रीभूत मौर्य राज्य और ब्राह्मणप्रधान मौर्योत्तर तथा गुप्तकालीन राज्य के बीच और जो भी अंतर रहा हो, दोनो में वैश्यों और शूद्रों को ऊंचे राजपदो से वंचित रखा गया। ऐसा मालूम पडता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय शासक थे तथा वैश्य और शूद्र शासित, यद्यपि आबादी में वैश्यो और शूद्रो का प्रबल बहुमत था। हो सकता है, ऐसे कुछ श्रेष्ठियो को विशेष राजकृपा प्राप्त रही हो जो या तो श्रेणियो आदि के प्रधान या बहुत धनाढ्य थे, किंतु कुल मिलाकर दोनो निम्न वर्गों के लोग महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संस्थाओ और ऊंचे राजकीय पदों से वंचित ही रखे गए। यह बात शूद्रो पर खासतौर से लागू होती जान पड़ती है। यद्यपि याज्ञवल्क्य, जिनका रुख शूद्रों के प्रति अधिक उदार है, धार्मिक विषयों में उन्हें अधिकारहीन घोषित करते हैं,[127] लेकिन प्रायः निश्चित है कि राजकीय विषयों में भी शूद्रों की वही स्थिति थी।

अरस्तू का कहना है कि यदि बहुत से गरीबों को राजकीय पदों से वंचित रखा गया तो राज्य शत्रुओं से भर जाएगा।[128] प्राचीन भारतीय विचारको ने ऐसे विचार व्यक्त किए हैं। ऐसी भेदभावपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध निचले वर्गों की प्रतिक्रिया का पता लगना कठिन है, क्योंकि वैश्यो और शूद्रो की दृष्टि से साहित्य रचना की ही नहीं गई। जातको, कौटिलीय 'अर्थशास्त्र', 'महाभारत' के परवर्ती अंशो, 'मनुस्मृति' और 'विष्णुस्मृति' मे जो छिटपुट उल्लेख मिलते हैं, वे बहुत कम और असंतोषप्रद हैं। फिर भी उनके आधार पर थोडा बहुत कहा जा सकता है। पहले जातकों के उल्लेख को ले। इनके अनुसार राजा और पुरोहित के लूट-खसोट वाले शासन के विरुद्ध एक विद्रोह के दौरान नैगमों और जानपदो (जिनमें स्पष्टतः वैश्य और शूद्र शामिल थे) ने अपनी भूमिका निभाई थी,[129] किंतु वे पिछलगुए के रूप मे थे और नेतृत्व ब्राह्मणो और क्षत्रियो के हाथ में था। इस विद्रोह में लोग लुटेरे पुरोहित और राजा को पीटते-पीटते मार डालते हैं और ब्राह्मण बोधिसत्त को सिंहासन पर बैठाते हैं।[130] एक दूसरी कथा में लोग आततायी राजा को डंडो और पत्थरो से मार डालने पर उतारू हो जाते हैं, लेकिन किसी दैवी शक्ति के हस्तक्षेप से उसके प्राण बच जाते हैं और वह नगर से निर्वासित कर दिया जाता है।[131] इन कथाओं में जनसामान्य पर अत्याचार करने के लिए राजा और पुरोहित के गठजोड के साक्ष्य मिलते हैं। जनसामान्य के विद्रोह से शासन तो बदलता है, पर वह उच्च वर्ग के ही एक गुट से दूसरे गुट के हाथों में चला जाता है। 'महाभारत' के

आनुश्रुतिक विवरण में बताया गया है कि परशुराम द्वारा क्षत्रियों के संहार के बाद जो अराजकता फैली उसमें वैश्य और शूद्र नियंत्रण से बाहर हो गए और ब्राह्मण स्त्रियों के साथ बलात्कार करने लगे।[132] इस विवरण का कालनिरूपण कठिन है। यदि इस घटना को मौर्योत्तर काल की माना जाए तो इससे मनु के इस सिद्धांत का औचित्य सिद्ध होता है कि राजा वैश्यों और शूद्रों को कार्य करने के लिए विवश करे। विचाराधीन काल में हमें शूद्रों की राज्यविरोधी प्रवृत्तियों के कुछ संकेत तो मिलते हैं, किंतु उनकी तुलना रोम के गुलामों और स्पार्टा के दासों (हेलाटों) के विद्रोहों से नहीं की जा सकती।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 उपरिवत्, पृ 53 54
2 वा पु ।, VIII, 160
3 तुल , उपरिवत्, पृ 61-62
4 अर्थशास्त्र, III, 1.
5 64, 1-2, तुल 24-25 और 65, 5-6.
6 यत्रत्वैतेपरिध्वसाज्जायन्ते वर्णदूषका राष्ट्रिकै । सहतद्राष्ट्र क्षिप्रमेव विनश्यति II मनु , X, 61; तुल VII, 35, VIII, 41.
7. म्यूचुअल रिलेसन आफ फोर कास्ट्स इन मनु , पृ 75-76
8 ना स्मृ , XVIII, 14
9 राज्ञो वधींचिकीर्षेयस्तस्य चित्रो वधो भवेत्, आजीवकस्य स्तेनस्य वर्णसंकरस्यच; 86.21
10 रिपब्लिक, III, 434, पालिटिक्स, पृ. 274-75
11 शिलालेख V, 'भटमय' शब्द के संबंध में सेनार की व्याख्या ठीक प्रतीत होती है
12 शिलालेख IX, XI, XIII और स्तंभलेख VII
13 खत्तिय-दप-मान-मदनस विनिवतित-चातुवण-सणूकरस। सिलेक्ट इंस्क्रिप्शास, II, स 86, 1 6
14 सिलक्ट इंस्क्रिप्शास, II, स 67, 1 9
15 वर्णाश्रम-धर्म-स्थापना-निरतेन। वही, पृ. 375,प 10
16 की इ इ , III, स. 35, पंक्तिया 15-17.
17 वही, पंक्तिया 18-19
18 ए इ , iv, 29, पंक्ति 3.
19 एच सी रायचौधरी, एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ 195.
20 बेनीप्रसाद, दि स्टेट इन एशंट इंडिया, पृ 500.
21. आर. एन मेहता, प्री-बुद्धिस्ट इंडिया, पृ. 104.
22 राजान शूद्रभूयिष्ठा । वा पु , ii, 58-40, कू पु अध्याय 39, पृ 303.
23 अरस्तु, पालिटिक्स, पृ 27, 36.
24 मनु , IV, 61, वि. स्मृ XXI, 64

25. के. सी. ओझा ने जर्नल आफ द गंगानाथ रिसर्च इंस्टीट्यूट (जिल्द 9, वर्ष 1951) में प्रकाशित 'ओरिजिनल होम ऐंड फैमिली ऑफ दि मौर्याज' शीर्षक अपने लेख में मौर्यों की जाति के संबंध में व्यक्त किए गए विभिन्न मतों को साररूप में प्रस्तुत किया है
26. एच. सी. रायचौधरी, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशंट इंडिया, पृ 258.
27. रंगस्वामी अय्यंगार, राजधर्म, पृ. 213.
28. अर्थेन बलवान् सर्वोऽप्यर्थाद्भवति पंडित. मश्यार्था स पुमांल्लोके मश्यार्था. सहि पंडित: पंचतंत्र, II, 30-31.
29. डी. डी कोसांबी, 'एंशंट कोसल ऐंड मगध,' ज बा बां रा ए सो., XXVII (1952), 184
30. मनु , VIII, 348.
31. बहुलसारं वा वैश्यशूद्रबलमिति । अ शा IX, 2.
32. वही, VI, 1.
33. मैगास्थनीज, XXXIII, जे डब्ल्यू मैक्क्रिंडल, मैगास्थनीज ऐंड एरियन, पृ. 85.
34. IV, 65-67
35. रामशरण शर्मा, सम इकनॉमिक आस्पेक्ट्स ऑफ दि कास्ट सिस्टम इन एंशंट इंडिया, पृ 14.
36. मैगास्थनीज, XXXIII, मैक्क्रिंडल, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 43-44
37. वही
38. सेनापति सार्यो ब्राह्मण क्षत्रियोऽथवा । म पु (बिब्लियोथिका) इंडिका, 220 1.
39. वा भी भा , XV, 20
40. बी. सी ला, इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स ऑफ बुद्धिज्म एंड जैनिज्म, पृ. 155
41. वही
42. फिक, दि सोशल ऑर्गेनाइजेशन आफ ना ई. इंडिया एटसेटरा, पृ 143.
43. वही, पृ 143.
44. वही, पृ. 144; आर. एल मेहता, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ. 136
45. II, 10 26 4
46. अ. शा , I, 8-9
47. अ. शा, I, 9.
48. अरस्तू, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 163.
49. अ. शा., I, 9.
50. मैगास्थनीज, XXXIII, जे. डब्ल्यू. मैक्क्रिंडल, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ. 85.
51. एरियन, LVI, वही, पृ. 138.
52. मैगास्थनीज, XXXIII, वही, पृ. 85-86.
53. श्लोक 11.
54. का. इं. इं., III, सं. 6, पंक्तियां 3-4.
55. हॉपकिंस, पोजीशन ऑफ दि रूलिंग क्लास इन दि एपिक, ज. अ. ओ. सो , xiii, (1889), 95; का. प्र. जायसवाल, हिंदू पॉलिटी, पृ. 319.
56. शां. प., 85, 7-10.
57. कोसंबी, ज. बा. बां. रा. ए. सो , न्यू सि., xxii, 47.
58. शां. प., 86, 26-27; मनु , VII, 63 और अन्यत्र
59. पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ. 163.
60. बी. सी. ला , पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ. 155.

61 वॉ इ इ, III, सं 26, पंक्तियां 23-24.
62 वही
63 हॉपकिंस, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 148, पादटिप्पणी, हि. क. इ. पी, I, दि वैदिक एज, पृ 484-85.
64 ब्राह्मण एव धर्मप्रवचने तेषामेवाधिकारत्। गौतम, XXVIII, 50-51, तुल व ध सू III, 20
65 बौधायन, I, 1 8
66 आर एन मेहता, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 135
67 *मनु XII-110-4, याज्ञ I 9*
68 जायसवाल, पूर्वोद्धृत पुस्तक, अध्याय XXVII और XXVIII, बी आर. आर दीक्षितार, हिंदू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टिट्यूशस, पृ 156-58, अ स अल्तेकर, स्टेट ऐंड गवर्नमेंट इन एंशट इंडिया, पृ 101-9, दीक्षितार, 'नोट्स ऑन दि पौर जानपद' और 'रिप्लाई ऑफ एन एन लॉ,' इ हि क्वा, VI (1930), पृ 181, 183-84
69 गौतम, VI, 10
70 जायसवाल पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 275
71 वही
72 मैगास्थनीज, XXXIII, मैकक्रिंडल, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 85
73 जायसवाल, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 273
74 वही
75 कृतप्रज्ञश्चमेधावी बुधौजानपद शुचि सर्वकर्मेसु य. शुद्ध स मन्त्र श्रोतुमर्हति। शा प, 84 38.
76 ब्राह्मणाबलमुख्याश्च पौरजानपदै सह। अयोध्याकांड, II, 19-20
77. जायसवाल, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 262-63.
78 जे सी जैन, लाइफ इन एंशट इंडिया, पृ 71
79 मनु, VIII, 20-21, याज्ञ, 2-3, विज्ञानेश्वर की टीका सहित
80 विष्णु, III, 72-73.
81 ब्राह्मणो यत्र न स्यात् क्षत्रिय तत्र योजयेत्। वैश्य वा धर्मशास्त्रज्ञान शूद्र यत्नेन वर्जयेत्। *श्लोक 67*
82 कात्या, श्लोक 58.
83 इस पहलू पर सबसे पहले बी एन दत्त ने अपनी कृति स्टडीज इन इंडियन सोशल पॉलिटी में जोर दिया है
84 विष्णु, VIII 2
85. स्त्रीणाम् साक्षिण स्त्रिय' कुर्याद् द्विजानाम् सदृशा द्विजा, शूद्राणाम् सत. शूद्राश्च अन्त्या-नामन्त्ययोनय। व ध. सू, XVI 1.30, मनु, VIII 18; याज्ञ 11.19
86 मनु. VIII, 70
87. गौतम, VIII, 20-23, मनु VIII, 88-89
88. II, 98
89. बौधायन, 1.10 19 1 और 2, आपस्तंब, 1 9 24. 1-4
90 गौतम, XXII, 14-16, व. ध. सू XX, 31 33; मनु XI, 130-31; विष्णु, L 1-7 और 14.
91 *बौधा, 1.10 19 6, आपस्तंब, 1 9 25 13, मनु XI, 132*

92 मनु , VIII, 279, याज्ञ , II, 215; गौतम , XII,1.
93 गौतम , XII, 11-13
94. विष्णु , IX, 11-14
95 बौधा ,11 2 3 10, व ध सू , XVII, 48-50, विष्णु, III-32, गौतम, X, 31; मनु , IX, 151, याज्ञ , II, 125, अर्थ शा , III 6
96 शूद्राज, पृ 250-51.
97. तुल. वही, पृ 228-29.
98 जैक लिड्से, बैजैंटियम इन टु योरप, पृ 111
99 इस विषय पर लेखक की पुस्तक सम इकनॉमिक आस्पेक्ट्स ऑफ दि कास्ट सिस्टम इन एंशट इंडिया में विचार किया गया है
100 यथार्हदड पूज्य , अर्थ शा , I 4.
101 ब्राह्मण तमप्र प्रवेशयेत् । अर्थ शा , IV 9.
102. तस्याभिशाष्टाको ललाटे । अर्थ शा , IV, 8
103 अर्थ , III.9
104 सपादपणा धर्म्यामासवृद्धि पणशातस्य । अर्थ , III 9
105 शूद्राज पृ. 163-66
106 अर्थ. शा., IV, 13.
107 वही, III 18-19, IV, 13
108 पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 104.
109 जे सी जैन, लाइफ इन एंशट इंडिया, पृ. 71 पर उद्धृत
110 वही, पृ. 65.
111. आज से कोई सौ वर्ष पूर्व सबसे पहले हॉपकिंस ने 'रिलेशन ऑफ दि फोर कास्ट्स इन मनु' और 'दि पोजीशन ऑफ दि रूलिंग कास्ट इन दि एपिक' नाम की अपनी दो कृतियों मे इस बात की ओर सकेत किया था. जी एस घुर्ये ने 'कास्ट एंड रेस इन इंडिया' में इस विषय के अध्ययन को आगे बढ़ाया, और श्रीपाद अमृत डांगे ने इसी का उपयोग करके अपनी पुस्तक 'इंडिया फ्रॉम प्रीमीटिव कम्युनिज्म टु स्लेवरी' में नए निष्कर्ष निकाले इस मूल विषय के विभिन्न पक्षों का और भी अनुशीलन अपेक्षित है
112 ए हिस्ट्री ऑफ दि हिंदू पब्लिक लाइफ, भाग 1, पृ. 73-80.
113. जातक, III, 513-14.
114. ब्राह्मणेनैधित क्षत्र मंत्रिमत्राभिमंत्रित, जयत्यजितमत्यन्त शास्त्रानुगमशस्त्रित । अ. शा , I.9.
115 मनु IX, 322.
116 वही, VIII, 418.
117. कृष्णजन्मकांड (इलाहाबाद, 1920), LXXXV, पृ 407
118. वही, पृ. 418-19.
119. उपरिवत्, पृ 122, पादटिप्पणी. 4.
120 पाणिनि, IV, 1.168 पर पतंजलि और V, 3.114 पर काशिका.
121. कॉ. इ. इ , III, स. 56, पंक्तियां 2-7
122 वही, पृ 152.
123. वही.

124 काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, ii, 117.
125 इ एं, vii, 75, 79, 85, पूर्वप्रदत्तदेवब्रह्मदेयब्राह्मणविंशतिरहितम्। ए इ, viii, सं. 20 ए (639-40 ई), पंक्ति 43. 20 बी (640-41) ईस्वी पंक्ति 48.
126 उपरिवत् पृ 137, बी सी लॉ, पूर्वोद्धृत, पृ. 162.
127 याज्ञ III, 262
128 एफ डब्ल्यू कोकर, रीडिंग्स इन पॉलिटिकल फिलॉसफी, पृ 66.
129 सुणतु मेजानापदा नेगमा च समागता राजा विलुमादते राट्ठम् ब्राह्मणो च पुरोहितो। जातक, iii, 513-14.
130 वही
131 जातक, vi, 156 एव आगे
132 तत शूद्राश्च वैश्याश्च यथास्वैरप्रचारिण, अवर्तन्त द्विजाग्र्याणां दारेषु भरतर्षभ। शा. प., 49-61

15. कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में धर्म और राजनीति

राज्य की नीति पर धर्म का प्रभाव

प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था के विकास मे वर्ण के अतिरिक्त धर्म का भी महत्त्वपूर्ण योग दिखाई देता है। प्राचीन भारत में धर्म और राजनीति के घनिष्ठ संबंध का संकेत हमे सबसे पहले वैदिक कर्मकाडो में मिलता है। वैदिकोत्तर काल में जब राजतत्र का आधार सुदृढ़ हो गया तब इस संबध का रूप भी बदल गया। वैदिक कर्मकाड यदि राजा की सत्ता को सुदृढ़ करते थे, तो साथ ही उस पर अंकुश भी लगाते थे। लेकिन कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से हमे राज्य द्वारा किए गए जिन धार्मिक विधानो और कार्यों की जानकारी मिलती है, उनका उद्देश्य राजा की सत्ता को सीमित करने के बजाय उसे सुदृढ़ करना है। 'अर्थशास्त्र' में धर्म और राजनीति पर कोई स्वतंत्र प्रकरण नहीं है, फिर भी इसमें दोनों के पारस्परिक संबंधों को दर्शाने वाले पुष्कल उल्लेख यत्रतत्र बिखरे पड़े हैं। इनसे प्रकट होता है कि राज्य की आंतरिक नीति के निर्धारण में और बाहरी शत्रुओं से निबटने में धर्म का उपयोग प्रभावकारी ढंग से किया जाता था।

जहां तक आंतरिक नीति का संबंध है, कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य ब्राह्मण समाजव्यवस्था का रक्षक और समर्थक है तथा ब्राह्मण धर्माचरणों का अनुयायी है। ब्राह्मणवाद का जो रूप वैदिक धर्म में विकसित हुआ है, उसे 'अर्थशास्त्र' में वर्णित राज्यव्यवस्था का मूल आधार माना जा सकता है। धर्म क्या है और अधर्म क्या है, इस विषय में इस पुस्तक की मान्यताएं तीन वेदों पर आधारित हैं।[1] वैदिकोत्तर काल में सामाजिक ढांचे की आधारशिला के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाने वाले वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या कौटिल्य उन्हीं शब्दों में करते हैं जिनकी झांकी हमें धर्मसूत्रों में मिलती है।[2] वह इस बात पर जोर देते हैं कि हरेक वर्ण स्वधर्म पर चले, और अपनी व्याख्या के अंत मे निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि जो व्यक्ति अपने धर्म का पालन करता है वह स्वर्ग और अनत आनंद की प्राप्ति करता है। यदि वह स्वधर्म का उल्लंघन करता है तो वर्णों की अव्यवस्था के फलस्वरूप विश्व का नाश हो

जाता है ।[3] इससे भी महत्त्व की बात यह है कि कौटिल्य राजा को निर्देश देता है कि वह लोगों को कभी भी अपने धर्म से विमुख न होने दे । कारण, यदि मानव समाज आर्योचित आचरण करेगा, चतुर्वर्णाश्रम धर्म पर आधारित रहेगा और तीनों वेदों की शिक्षा के अनुसार चलेगा तो वह समृद्ध होगा और कभी भी उसका नाश नही होगा ।[4] इस तरह राजा से ऐसा समाज कायम रखने की अपेक्षा की जाती है जिसकी सत्ता का मूल स्रोत वेद है । यद्यपि वेदों में वर्णविभाजित समाज का निखरा रूप नहीं मिलता है, पर उनकी दुहाई इसलिए दी जाती है क्योंकि वे देवरचना माने जाते हैं । एक स्थल पर कौटिल्य राजा को धर्मप्रवर्तक कहता है, जिसका अर्थ यह लगाया जाता है कि वह किसी नए धर्म का प्रवर्तक है । इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि राजा धर्म के मामले में असीम अधिकारों का उपभोग करता था और उसकी सत्ता पर धर्म का कोई अकुश नही था ।[5] पर ऐसा सोचना गलत है । राजा को धर्मप्रवर्तक उस अवस्था मे बतलाया गया है जहा वर्णाश्रम धर्म नष्ट हो गया हो ।[6] स्पष्टतः राजा को मनोनुकूल समाजव्यवस्था स्थापित करने की स्वतंत्रता नही दी गई है, बल्कि उसे विनष्ट व्यवस्था को पुनरुत्थापित करने को कहा गया है । कौटिल्य राजा से अपेक्षा करता है कि वह उस ब्राह्मण समाज व्यवस्था को कायम रखे और उसका पालन कराए जिसका औचित्य वेदों पर आधारित है ।

कौटिल्य के राज्य की विदेशनीति के निर्धारण में भी धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है । विजित लोगों का शमन करने के लिए राजा से उनके धार्मिक रीतिरिवाजों और भावनाओं की ओर ध्यान देने को कहा गया है । कौटिल्य कहते हैं कि राजा को विजितों के क्षेत्रीय और धार्मिक त्योहारों तथा आमोद-प्रमोद के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करना चाहिए ।[7] उसे स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा करनी चाहिए, और वाक्शूर, विद्वान तथा धार्मिक व्यक्तियों को भूमि और द्रव्य दान और करों की माफी देनी चाहिए ।[8] आगे कहा गया है कि उसे अधर्ममय रीतिरिवाजों को मिटाकर धर्ममय रीतिरिवाजों को प्रतिष्ठित करना चाहिए । राजा को चतुर्मास में पंद्रह दिन के लिए, पूर्णिमा के अवसरों पर चार रात के लिए और विजेता के जन्म नक्षत्र या राष्ट्रनक्षत्र के अवसर पर एक रात के लिए पशुवध निषिद्ध रखना चाहिए । राजा को मादाओं तथा बछड़ों के वध और नरजातीय पशुओं के बधिया किए जाने पर भी प्रतिबंध लगा देना चाहिए ।[9] राजा शत्रुदेश में आर्यों के जीवन की रक्षा तथा देवताओं, ब्राह्मणों और तापसों (साधु-संन्यासियों) की संपत्ति का उपभोग नही करे ।[10] विजित लोगों की धार्मिक भावनाओं के प्रति आदर दिखलाने के लिए राजा को सहिष्णु नीति बरतने को कहा गया है, साथ ही उसके लिए यह भी आवश्यक बताया गया है कि वह स्वय उनके धार्मिक रीतिरिवाजों का पालन करे तथा ब्राह्मण समाज व्यवस्था के मुख्य सिद्धांतों को लागू करे ।

ब्राह्मणों के प्रति कौटिल्य के रुख पर सावधानी से विचार करने की

आवश्यकता है। वे प्रचलित समाजव्यवस्था के वैचारिक संरक्षक थे और उनका मुख्य संबंध धार्मिक कार्यों से था। उत्तर वैदिक ग्रंथों में ब्राह्मण को तीन महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार प्राप्त थे—उन्हें शारीरिक पीड़ा नहीं दी जा सकती थी, वे सम्मान पाने के अधिकारी थे, और वे दान पाने के पात्र थे। कौटिल्य ने भी इन छूटों को आमतौर पर मान्यता दी है। उनके अनुसार ब्राह्मण अपीड़नीय[11] है, जिससे ध्वनित होता है कि उसे शारीरिक पीड़ा देना वर्जित था। लेकिन 'शांतिपर्व' में उसे अदंड्य[12] कहा गया है, जिससे यह संकेत मिलता है कि वह सभी प्रकार के दंडों से मुक्त था। किंतु, 'अर्थशास्त्र' में वह गुरुपत्नीगमन, मद्य-विक्रय और चोरी के मामलो मे दडनीय माना गया है। इन सभी अपराधों के लिए दोषी ब्राह्मण के ललाट पर दोष-चिह्न अंकित किए जाने का विधान किया गया है।[13] इसमें कोई सदेह नहीं कि 'अर्थशास्त्र' मे भी सबसे अधिक सम्मान का स्थान ब्राह्मणो को ही प्रदान किया गया है। इसमें कहा गया है कि मानवो में उन्हें वही स्थान प्राप्त है जो स्वर्ग मे देवताओ को है।[14] पुरोहित वर्ग के दर्जे के सबध मे व्यक्त किए गए इस विचार की पुष्टि शायद पुरालेखीय साक्ष्यो से भी होती है क्योंकि अशोक के अभिलेखो से लगता है कि उसने पृथ्वी पर देवता समझे जाने वाले ब्राह्मणो के असली भेद खोलकर रख दिए।[15] कौटिल्य यज्ञ में ब्राह्मणों के पौरोहित्य करने और बदले मे दान-दक्षिणा पाने के अधिकार को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं। राज्य न केवल उनके इन अधिकारों को कायम रखता है, वरन कानूनो द्वारा उन पर अमल भी कराता है। यज्ञ दक्षिणा की अदायगी के बारे मे विस्तृत नियम बनाए गए हैं। उदाहरण के लिए, यदि पुरोहित की मृत्यु हो जाती है तो यज्ञ के छोटे-बड़े स्वरूप और महत्त्व के अनुसार निर्धारित दक्षिणा उसके उत्तराधिकारी को चुकाने का विधान है।[16] यदि यजमान यज्ञ पूरा होने के पहले ही पुरोहित को पदमुक्त कर दे तो उसे उसके लिए दड भरना पड़ेगा।[17] किंतु अन्य विधिनिर्माताओ की तरह कौटिल्य भी उन पुरोहितों के हटा दिए जाने के पक्ष मे हैं जो निर्धारित स्तर का निर्वाह नही करते।[18] इन व्यवस्थाओं का उल्लेख उस प्रकरण में हुआ है जिसमें श्रमिकों और सहकारी उपक्रमो मे लगे लोगो के पारिश्रमिकों का विचार किया गया है। इससे प्रकट होता है कि दक्षिणा देना यजमान की इच्छा पर निर्भर नही बल्कि यह उसकी जिम्मेदारी थी, जिसका पालन राज्य करवाता था।

ब्राह्मण धर्म से राज्य के गहरे सबंध का इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उन नियमों में मिलता है जिनमे अनेक देवताओ को राज्य संरक्षण प्रदान किए जाने और उनकी पूजा की व्यवस्था की गई है। दुर्गनिवेश के संदर्भ में कौटिल्य का कहना है कि नगर का उत्तरी भाग नगर देवता और ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित रखा जाए।[19] नगर के मध्य भाग मे आधे दर्जन देवी देवता के प्रतिष्ठित किए जाने का विधान है।[20] वास्तुदेवता को चारो कोनो में और सरक्षक देवताओं में प्रत्येक को

उसके लिए निर्धारित अलग-अलग भागों में स्थान दिए गए हैं। आगे ऐसा विधान है कि नगर के मुख्य द्वारों के नाम चार प्रमुख देवताओं के नामों पर ब्रह्मा, ऐंद्र, याम्य और सैनापत्य रखे जाएं तथा राजधानी के अंदर पूजापाठ तथा तीर्थ के स्थान बनवाए जाए।[21] कोषागारिक के कर्तव्यों से संबद्ध प्रकरण में यह कहा गया है कि तिमंजिले कोष्ठागार में एक संरक्षक देवता प्रतिष्ठित होना चाहिए। कोष्ठागार से सबद्ध सभी भवनों में उपयुक्त संरक्षक देवताओं के पूजापाठ की आवश्यक व्यवस्था रहनी चाहिए।[22] इसी तरह सीताध्यक्ष (कृषि-अधीक्षक) के कार्यों का विवेचन करते हुए कौटिल्य कहता है कि बुवाई के समय भगवान प्रजापति कश्यप को नमस्कार करने और सीता का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए एक मत्र का उच्चारण किया जाना चाहिए।[23]

'अर्थशास्त्र' में आग, बाढ़ और ऐसी ही अन्य दैवी विपत्तियों के निवारणार्थ अनेक धार्मिक अनुष्ठान बताए गए हैं। यद्यपि यह नही बताया गया है कि ये अनुष्ठान राज्य को करने थे या नही, किंतु राजपुरोहित के लिए जो योग्यताएं रखी गई हैं, उनसे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि इस तरह के अनुष्ठान राज्य की ओर से भी किए जाते होंगे। राजपुरोहित को सबसे ऊंचा वेतन—अर्थात 48000 पण—देने का विधान किया गया है। 'अर्थशास्त्र' की व्यवस्था है कि प्रधान पुरोहित मे 'अथर्ववेद' मे बताए गए पापशोधक अनुष्ठान करके दैवी और मानवी विपत्तियों का निवारण करने की योग्यता होनी चाहिए।[24] अनावृष्टि में इद्र, गंगा, पर्वत तथा महाकच्छप की, चूहों का उत्पात होने पर चूहों की,[25] सर्पभय में सांपों की, व्याघ्रहिंसादिभय में पर्वत की तथा राक्षसभय में चैत्य (श्मशानभूमि में दाहकर्म के लिए बने टीले) की[26] पूजा के निमित्त भी उसके पद का उपयोग करने का इरादा दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त, प्रधान पुरोहित से सामान्य दिनों में और पूर्णमासी के दिन हवन और देवपूजन में पौरोहित्य करने की भी अपेक्षा की जाती प्रतीत होती है।[27] दुर्दिननिवारण के लिए पुरोहित नियुक्त करने से ही राज्य का उत्तरदायित्व समाप्त नही हो जाता है। कौटिल्य का कहना है कि राजा अपने राज्य में ऐसे तापसों को आदर दे और बसाए जिन्हें तत्रमंत्र की सिद्धि प्राप्त हो और जो इस प्रकार दैवी विपत्तियों का निवारण कर सकें।[28] प्राकृतिक सकटों से प्रजा की रक्षा के निमित्त कौटिल्य ने राजा के दायित्वों का जो संकेत दिया है, वह राजा के दायित्वों के सबंध में आदिम दृष्टिकोण से मेल खाता है। पर इन दायित्वों का निर्वाह राजा स्वयं पुरोहित बनकर नहीं करता है, बल्कि इसके लिए वह अलग पुरोहित नियुक्त करता है।

कौटिल्य ने कुछेक व्यवस्थाओं में मंदिरों की सपत्ति को विशेष संरक्षण प्रदान किया है। गांव में गुरुजनो को मंदिरों और अवयस्कों की सपत्ति की वृद्धि करने को कहा गया है।[29] देवपशु की रक्षा का भी विधान किया गया है। देवपशु को देवता

के नाम पर छोड़ा गया पशु समझा गया है, ऐसे पशु गांवो मे जहां-तहां घूमते रहते थे।[30] लेकिन 'अर्थशास्त्र' के एक दूसरे अवतरण के सबंध में टी. गणपतिशास्त्री की टीका से लगता है, कि देवपशु के मालिक देवता और मदिर थे। देवताओ की प्रतिमाएं, पशु, कर्मचारी, खेत, घर, सोना, स्वर्णमुद्राएं, रत्न और अन्न चुराने या उनपर कब्जा करनेवाले के लिए शिरोच्छेद (शुद्धवध) अथवा कठोरतम अर्थदंड (उत्तम साहस दंड) की व्यवस्था थी।[31] स्पष्ट है कि देवोत्तर सपत्ति की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता था।[32] कौटिल्य ने आमतौर पर धर्म और धार्मिक संस्थाओ से जुडे सभी स्थानो का विशेष ख्याल रखा है। उसका कहना है कि ब्राह्मणारण्य (ब्राह्मण के रहने के वन), सोमारण्य (सोमवन), देवस्थान, यज्ञस्थान और पुण्यस्थान की बाधा को राजा दूर करे।[33] देवप्रतिमा के रक्षार्थ अनेक नियम विहित किए गए हैं। देवीप्रतिमा के साथ मैथुन करने वाले उन्मत व्यक्ति को 24 पण का दड देने की व्यवस्था है।[34] सर्वसाधारण द्वारा पूजित वृक्ष की रक्षा का भी विधान किया गया है। ऐसे वृक्ष को गिरानेवाला साधारण वृक्ष गिरानेवाले से दुगुने अर्थदंड का भागी बताया गया है। लेकिन यही दंड सीमानिर्धारक वृक्षों या राजा के वन मे उगाए गए वृक्षो को गिरानेवाले के लिए भी विहित है।[35] यह विधान हमे हमुराबी के कानून की याद दिलाता है, क्योंकि उसमे भी देवसंपत्ति और राजमहल की सपत्ति चुराने के लिए समान दड का विधान है।

पूजापाठ से संबधित व्यक्तियो और वस्तुओ के सबध मे थोडी छूट दी गई है। यज्ञादि कर्म, पूजापाठ और धार्मिक सस्कारो मे प्रयोग की जानेवाली सभी वस्तुओ पर शुल्क की माफी दी गई है।[36] श्रोत्रिय, अर्थात वेदज्ञाता ब्राह्मण, फल-फूल और जौ का कुछ अंश अपनी इच्छानुसार अग्रायण (पहले फल) के रूप मे ले सकता है, और उसके लिए उसे दोषी नही ठहराया जा सकता।[37] इस तरह के उल्लेखों से काफी स्पष्ट हो जाता है कि कौटिलीय राज्य की नीति धार्मिक बातो से प्रभावित है, और उसमें पुरोहितों, देवताओं, मंदिरों और पूज्य वृक्षों का विशेष ध्यान रखा गया है। 'अर्थशास्त्र' मे एक स्थल पर राजा को दैवी शक्ति के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है। ऐसा विधान किया गया है कि यदि राजा किसी निर्दोष को दड दे तो उसे चाहिए कि उसने उस दड के कारण जितना अन्याय किया हो, उसका तीस गुना जुर्माना वरुण को अर्पित करते हुए जल में डाले, और बाद मे यह रकम ब्राह्मणों के बीच बांटे। ऐसा करने से राजा अन्यायपूर्ण दंड देने के पाप से मुक्त हो जाएगा, क्योंकि वरुण पापी मनुष्यों का शासक है।[38] कौटिल्य की इस व्यवस्था में तीन महत्त्वपूर्ण बातें निहित हैं। एक तो यह है कि राजा अपने किसी कृत या अकृत कार्य के लिए किसी भी मनुष्य के प्रति उत्तरदायी नही समझा गया है। दूसरे, जब वरुण पापी मनुष्यों का शास्ता राजा है तो फिर ऐसे लोगो के संबंध मे पार्थिव राजा का अधिकार क्या रह जाता है? चूंकि राजा वरुण के प्रति उत्तरदायी माना गया है,

इसलिए स्पष्ट है कि उसकी सत्ता का स्रोत वही है। तीसरे इस उत्तरदायित्व का निर्वाह किस प्रकार किया जाना है ? देवता की ओर से यह कार्य केवल किसी मानवीय माध्यम से सपादित किया जा सकता है और वह माध्यम है ब्राह्मण। वास्तव मे राजा से दड भी वही वसूल करते हैं और इस प्रकार उस पर अपनी सैद्धांतिक नही तो वास्तविक सत्ता का तो प्रयोग करते ही हैं। ध्यातव्य है कि न्याय की हत्या के लिए राजा अर्थदड का भागी है, यह विचार गुप्तकाल में रचित 'याज्ञवल्क्य स्मृति' मे मिलता है।[39] 'अर्थशास्त्र' के पाठ का अध्ययन अभी जिस अवस्था में है,[40] उसे देखते हुए यह कहना कठिन है कि दैवीशक्ति के प्रति राजा के उत्तरदायित्व की परिकल्पना गुप्तकालीन स्मृतिकार ने कौटिल्य से ग्रहण की या 'अर्थशास्त्र' में ही यह परिकल्पना बाद में जोड दी गई। किंचित अंतर के साथ ऐसा ही विचार मनु ने भी व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि दंडधर होने के कारण वरुण जिस प्रकार राजाओं का स्वामी है, उसी प्रकार वह बड़े-बडे पापियों को दिए जानेवाले अर्थदडों का भी स्वामी है।[41] लेकिन वह यह नही कहते कि न्यायहत्या के लिए राजा कोई अर्थदड वरुण को चुकाए या नही। जो भी हो, यदि हम इस महत्त्वपूर्ण अवतरण को, यह जैसा दिखता है, उसी रूप में ग्रहण करके चलें तो कहना होगा कि ग्रथकार ने राज्य को किसी हद तक धर्मसापेक्ष रूप प्रदान किया है।

कौटिल्य किस हद तक दैवी राजत्व को स्वीकार करके चलते हैं, यह कहना कठिन है। लोगो को राजभक्त बनाने के लिए उन्होंने सुझाया है कि उनके बीच गुप्तचर राजा के देवरूप का प्रचार करे। नगर और गांव में रहनेवालों को राजा के उन विशेष प्रकट गुणो की प्रतीति कराई जाए जिनके बल पर वह लोगों को दंड देने का अधिकारी है। गुप्तचर लोगो को यह बताए कि राजा इद्र के रूप में पुरस्कार देता है और यम के रूप मे दड। उसकी अवहेलना करनेवाले दैवी दड के भागी बनते हैं। कौटिल्य 'निम्न कोटि' के लोगो के मन से सदेह दूर करने के लिए इसी तरह के तर्क का विधान करते हैं।[42] राजा मे दैवी तत्व की यह परिकल्पना कौटिल्य के उस पूर्ववर्ती कथन से भिन्न है जिसके अनुसार राजा अंततः वरुण के प्रति और उसके माध्यम से ब्राह्मणो के प्रति उत्तरदायी है। 'मनुस्मृति' और 'शांतिपर्व' में राजा के इस रूप का पल्लवन किया गया है। इन मौर्योत्तर ग्रंथों में राजा में आधे दर्जन देवताओ के गुण आरोपित किए गए हैं, लेकिन इनकी तरह 'अर्थशास्त्र' में ऐसा कही भी नही कहा गया है कि राजा नररूप में कार्य करनेवाला महान देवता है। इसके अलावा कौटिल्य का विचार प्राय उसके समकालीन यूनानी राजतंत्र में राजा के दैवी रूप के सबध में प्रचलित मान्यता से भिन्न है। जब सिकदर ने मिस्र को जीता तो मिस्रवासियो की इस मान्यता को स्वीकार कर लेना उसे राजनीतिक दृष्टि से उपयोगी प्रतीत हुआ कि फराव देवता है। बाद के काल में सिकदर साम्राज्य के ध्वसावशेषो पर मिस्र, बैक्ट्रिया आदि में जिन यूनानी राजतत्रो का उदय हुआ

उन्होने इस परिकल्पना को उपयोगी विरासत के रूप में सहर्ष अंगीकार किया ।[43] इनमें सरकारी तौर पर सम्राटपूजा को प्रोत्साहन दिया गया । जो भी हो, कौटिल्य यदि देवताओ के साथ राजा की तुलना करता है, तो उससे पुरोहितो की नहीं राजा की शक्ति बढ़ती है । अलबत्ता, पुरोहितो को इस सिद्धांत से अवश्य लाभ होता है कि राजा वरुण के प्रति उत्तरदायी है ।

कौटिल्य केवल ब्राह्मणो का पक्ष ही नहीं लेता है, बल्कि ब्राह्मणवादी जीवनपद्धति के खिलाफ पड़ने संप्रदायो का विरोध करता है । पाषडो का, जिनमे बौद्ध भिक्षु भी शामिल थे और जो वैदिक व्यवस्था को नही मानते थे, कौटिल्य विशेष विरोध करता है । पाषडों और चाडालो को सीमावर्ती श्मशान भूमि मे रहने को कहा गया है ।[44] कौटिल्य का विधान है कि यदि पाशुपत और शाक्य भिक्षु आदि परमार्थ संस्थाओ (धर्मशालाओ आदि) में टिकने आएं तो इसकी सूचना गोप या स्थानिक नामक स्थानीय अधिकारियों को दे दी जानी चाहिए ।[45] लेकिन यदि ज्ञात चरित्र वाले साधु-संन्यासी और श्रोत्रिय वहा आकर टिकें तो यह सूचना आवश्यक नही ।[46] कौटिल्य मानते हैं कि पाषंडो के निवासस्थान मे संदिग्ध चरित्र वाले लोग आश्रय लेते हैं । अतः गुप्तचरो को वहां ऐसे लोगो की तलाश करने की हिदायत दी गई है ।[47] संभवतः पाषंड किसी न किसी रूप मे राज्यविरोधी कार्यों से संबद्ध थे, क्योंकि कौटिल्य ने पाषंडों और क्षपणको के अपराधो के बारे मे कतिपय नियमों का विधान किया है । उनके अनुसार, ये लोग अर्थदड चुकाने के बदले, जितने पण का दंड दिया गया हो, उतनी रात तक राजा के नाम पर तप, अभिषेक (स्नान) या महाच्छवर्धन नामक कर्म करें । लेकिन यदि वे मानहानि, चोरी, मारपीट और स्त्री अपहरण के दोषी हों तो उन्हे ऐसी कोई छूट नहीं दी गई है ।[48] पाषंडो की संपत्ति को कोई सुरक्षा प्रदान नहीं की गई है । कौटिल्य की व्यवस्था है कि गुप्तचर पाषंडो के सघ की सपत्ति और मंदिरों की ऐसी सपत्ति राजकोष के लिए जब्त कर सकते हैं, जो श्रोत्रियों के उपभोग के लायक न हो ।[49]

कौटिल्य कुछेक वर्गों के परिव्राजको के प्रति भी ऐसे ही विरोधी रुख का परिचय देते हैं । वह इनकी गतिविधि का भी नियमन करने को कहते हैं ।[50] वानप्रस्थो के अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रव्रजितों को ग्रामीण क्षेत्रो मे बसने की अनुमति नहीं दी गई है ।[51] एक व्यापक नियम मे सभी प्रकार के विधर्मी सप्रदायो के लोगों को देवकर्म और पितृकर्म के भोजों मे शामिल होने से वर्जित कर दिया है । यदि ऐसे भोज में शाक्य, आजीवक और शूद्र (वृषल) परिव्राजक निमंत्रित किए जाएं तो दोषी व्यक्ति को सौ पण का दंड देना चाहिए ।[52] फिर, जो परिव्राजक अशोभनीय आचरण करे उसे दड देकर राजा उसे ऐसे आचरण से विमुख करे, क्योंकि ऐसा आचरण अधर्म है । और यदि अधर्म धर्म पर हावी हो जाता है तो अततः इससे राजा

ऊपर जो उद्धरण दिए गए हैं, उनसे कौटिलीय राज्य की असहिष्णु नीति का परिचय मिलता है। किंतु यह नीति वर्ग उत्पीडन नीति की कोटि में नही आती। अनेक विधान इस असहिष्णुता की तीव्रता को कम कर देते हैं। कई मामलों में पाषडों और अन्य लोगों में कोई भेद नही बरता गया है। ऐसी व्यवस्था की गई है कि पाषड और चारों वर्णों के लोग, बिना एक-दूसरे को बाधा देते हुए, किसी बड़े क्षेत्र में बस सकते हैं।[54] इसकी तुलना में मनु का रवैया सचमुच बहुत कठोर है। उनका विधान है कि अन्य अवाछनीय तत्त्वो के साथ-साथ पाषडों (जिन्हें सर्वज्ञ-नारायण ने बौद्ध आदि कहा है) को राजधानी या पुर से तुरत निकाल देना चाहिए,[55] क्योंकि इनके अधर्ममय आचरण से राजभक्त प्रजा के जीवनचक्र में बाधा पहुचती है।[56] एक स्थान पर कौटिल्य कहता है कि राजा पाषंडो के कारोबार के प्रति उसी तरह ध्यान दे जिस तरह वह श्रोत्रियों और अन्य लोगों के व्यवसायों पर ध्यान देता है। कौटिल्य का यह भी कहना है कि किसी के बंधु बांधव, चाहे वे श्रोत्रिय हो या पाषड, राजा की अनुपस्थिति में दूसरों के मकान पर यह कहकर अधिकार नही कर सकते कि वे उसमे रहते आए हैं।[57] अतः जहां तक आवास और व्यवसाय का प्रश्न है, सनातनियो और अपधर्मी संप्रदायों के लोगो पर एक ही कानून लागू होता है। किंतु अपधर्मियों (पाषडो) के आवागमन और निवासस्थानों पर कडी निगरानी रखने को कहा गया है। ऐसी सलाह दी गई है कि ग्रामीण क्षेत्र के लोगो से उनके मिलने-जुलने पर पाबदी रखी जाए। कदाचित पाषंडो से भय रहा हो कि वे लोगों से मिलकर उन्हें ब्राह्मण समाज व्यवस्था के विरुद्ध भड़का सकते हैं। मनु ने भी ऐसी आशका स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की है। धार्मिक नीति के विषय में कौटिल्य के विचारों के इस विवेचन से राज्य का धार्मिक—विशेषकर ब्राह्मणधर्मी स्वरूप सिद्ध हो जाता है। लेकिन कुछ ऐसे साक्ष्य भी मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि राज्य के हितो के समक्ष धार्मिक मान्यताओ और पुरोहितों के विशेषाधिकारों का स्थान गौण था। यह कहा गया है कि कानून के चार आधार हैं, चरित (रीति), व्यवहार (करार), धर्म (विधिपुस्तकों की व्यवस्थाओ) और राजशासन, और उनमे से प्रत्येक उत्तरवर्ती आधार पूर्ववर्ती आधार से अधिक महत्त्व का है।[58] इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि न्यायशासन मे अंततः राजशासन की प्रमुखता है। पर साथ में यह भी कहा गया है कि राजशासन धर्मसम्मत होना चाहिए।[59] तात्पर्य यह है कि धर्मशास्त्र में प्रतिपादित विधियों की व्याख्या राजा के हाथ में दी गई है, ब्राह्मणो के हाथ मे नही।[60]

राजा के प्रति अधिकारियो की असंदिग्ध निष्ठा पर कौटिल्य का प्रबल आग्रह है कि उच्चाधिकारियों मे मुख्य निष्ठा धार्मिक रीतिरिवाजों के प्रति नही, बल्कि राजा के प्रति होनी चाहिए। सरकारी विभागो में नियुक्त किए जानेवाले अमात्यों का चरित्र परखने के लिए जो कसौटी रखी गई है, उससे ऐसा निष्कर्ष निकाला जा

सकता है। न्यायाधीश पद पर केवल वही अमात्य नियुक्त किए जा सकते हैं जो धार्मिक प्रलोभनो से परे हो। नियुक्ति का तरीका यह है कि एक पुरोहित, जो राजा के कहने पर भी यज्ञाधिकारविहीन व्यक्ति को वेद की शिक्षा देने से इनकार कर देता है, बर्खास्त कर दिया जाता है। राजा के गुप्तचर अमात्य को राजा के विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए भडकाते हैं। ऐसे अमात्य जो इन परिस्थितियो में उत्तेजित न हों, उन्हीं को व्यवहार (दीवानी) और दड (फौजदारी) न्यायालयों में नियुक्त करने योग्य माना गया है।[61] अतः कौटिल्य का यह मंतव्य सूचित होता है कि न्यायाधीश आदि उच्चाधिकारियो की मुख्य निष्ठा राजा के प्रति होनी चाहिए, और यदि उस निष्ठा के निर्वाह में अयाज्ञों (वैदिक यज्ञ करने के अधिकार से रहित लोगो) को वेदों की शिक्षा न देने जैसी धार्मिक मान्यताओं का उल्लंघन होता हो तो उनका उल्लंघन करने में भी उन्हे संकोच नही करना चाहिए। राजसत्ता को प्रमुखता प्रदान किए जाने का यह एक और प्रमाण है। इससे ध्वनित होता है कि राजा चाहे तो केवल उन्ही लोगो को न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है जो आवश्यकता पड़ने पर धार्मिक मान्यताओं की उपेक्षा करके न्याय प्रशासन में राजा के आदेशों को निष्ठापूर्वक कार्यान्वित करे।

कुछ ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिनसे लगता है कि ब्राह्मणीय सस्थाओ पर भी राज्य का नियंत्रण था। कौटिल्य ने देवताध्यक्ष नामक एक अधिकारी की व्यवस्था की है, जिसका काम नगरीय और ग्रामीण क्षेत्रों की विभिन्न प्रकार की देवोत्तर संपत्तियों को एक स्थान पर इकट्ठा करके राजकोष मे जमा करना है।[62] यहां तात्पर्य मंदिरों का राज्य को दिए जानेवाले किसी नियमित पावने के सग्रह से है या मंदिरों की जब्त की गई संपत्ति के संग्रह से है, यह स्पष्ट नही है। लेकिन चूंकि देवताध्यक्ष के कर्त्तव्यों का उल्लेख कोषपूर्ति प्रकरण में किया गया है, इसलिए इसमें कोई संदेह नही कि यहां राज्य के प्रयोजन के लिए देवोत्तर संपत्ति के उपयोग का मंतव्य है। किंतु इस नीति का अनुसरण केवल ब्रह्मणेतर संप्रदायों की संपत्ति के संबंध मे ही किया जाना है। लेकिन पाणिनि के इस अवतरण का कि मौर्यों ने देवमूर्तियां बेची, पतंजलि ने जो भाष्य किया है[63] उससे ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विशेष परिस्थितियो में राज्य ब्राह्मणीय मंदिरो की सपत्ति को भी स्वायत्त कर सकता था।

राज्य की नीतियो पर धर्म के प्रभाव का ऊपर जो विश्लेषण किया गया है, उससे इस बात मे कोई सदेह नहीं रह जाता कि बहुत-सी बातों मे धार्मिक मान्यताओं को अलग रखकर कौटिल्यीय राज्य की नीति की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। लेकिन दोनो का आपसी संबंध दो परस्पर विरोधी रूपो में व्यक्त हुआ है। ब्राह्मणीय जीवन पद्धति जिस अंश तक कौटिल्य के राज्य के मुख्य उद्देश्य के—अर्थात वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के—अनुकूल है उस अंश तक वह उसका

पक्षधर है, लेकिन जो धार्मिक रीतिरिवाज राज्यशक्ति के विस्तार में बाधक हैं उनका वह त्याग कर देता है। 'शांतिपर्व' मे भी एक विचारधारा की यही दृष्टि जान पडती है, जिनके अनुसार जो गुरु या मित्र राज्य के सातो अगों के हितों के विरुद्ध आचरण करे, उसे मार देना चाहिए,[64] अथवा उसका परित्याग कर देना चाहिए।[65]

कौटिलीय राज्य, निस्सदेह, देवताओं और मंदिरों का विशेष ख्याल रखता है, और पुरोहित वर्ग के विशेषाधिकारों के दावे को भी अधिकाशतः मान्य करता है। साथ ही अपधर्मी संप्रदायो के प्रति भेदभावपूर्ण नीति बरतता है। यह नीति मनु के विचार से मेल खाती है, लेकिन लगता है, गुप्तकालीन विधिनिर्माताओं ने इसमे कुछ परिवर्तन भी किए। याज्ञवल्क्य[66] और नारद[67] दोनों ने पापडों की श्रेणियो का उल्लेख किया है और राजा से कहा है कि वह इन श्रेणियों के नियमों और रीतिरिवाजों को लागू करे। यह अपधर्मी सप्रदायों के प्रति दोनो स्मृतिकारो के उदार रुख को बतलाता है, जो इस काल में शूद्रों की धार्मिक स्थिति के सबंध में अपनाए गए दृष्टिकोण से मेल खाता है।[68] यद्यपि कौटिल्य ने अपधर्मियों को अर्धस्वायत्त स्थिति प्रदान नही की है, फिर भी उनकी भेदभाव की नीति उस आत्यंतिक सीमा तक नही पहुंचती जिसके दर्शन हमें 'लॉज' मे प्लेटो द्वारा प्रतिपादित राज्यधर्म के सिद्धांत में होते हैं। राज्य की अखडता और एकता बनाए रखने के लिए प्लेटो राज्यधर्म का विधान करता है, जिसका मतलब यह हुआ कि कुछ धार्मिक विश्वासों और प्रथाओ को सभी वर्गों के लोगों द्वारा आचरित करवाना चाहिए। इनका उल्लंघन करनेवालों के लिए कारावास या मृत्युदंड तक का भी विधान किया गया है। लेकिन ऐसी कोई उत्पीड़न की योजना कौटिल्य के राज्य की नीति को दूषित नही करती। यद्यपि कौटिल्य इस बात पर जोर देते हैं कि तीनो वेदों पर आधारित धर्म का पालन किया जाना चाहिए, किंतु वैदिक धर्म के दायरे से बाहर पडनेवाले लोगो के सबध मे वह जिस नीति की सिफारिश करते हैं, वह सिर्फ यह है कि इन लोगों के निवासस्थानों पर नजर रखी जाए, गावो में इसके प्रवेश पर प्रतिबध रखा जाए और राज्यकाष की जरूरतें पूरी करने के लिए इनकी सपत्ति राज्यसात की जाए। उन्हे दंडित तभी करने को कहा गया है, जब वे चोरी, मारपीट, मानहानि और स्त्री-अपहरण जैसे अपराध करें। इन व्यवस्थाओ की तुलना 'लॉज' में वर्णित साप्रदायिक असहिष्णुता की नीति से नही की जा सकती। वास्तव मे प्लेटो की इस कृति मे पहली बार तर्कपूर्वक धार्मिक उत्पीडन का औचित्य सिद्ध करने की कोशिश की गई है।

कौटिल्यीय राज्य अपेक्षाकृत सहिष्णु तो है, किंतु कुछ विद्वानों की यह राय सही नही है कि वह धर्मनिरपेक्ष है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ राज्य की सगठित नीतियों से धार्मिक प्रभाव का पूर्ण बहिष्कार है, जो कौटिल्य के राज्य में देखने को नही

मिलता। भारतीय परंपरा में कौटिल्य का विशेष महत्त्व इस बात में निहित है कि उसके ग्रंथ मे राज्य के हित साधन के निमित्त अनेक प्रकार से धर्मदृष्टि की अवहेलना की गई है। इस अर्थ में उन्होंने राज्यव्यवस्थाशास्त्र की रचना तथा उसे धर्म और धर्मदर्शन के प्रभाव से मुक्त करने की दिशा मे प्रथम गंभीर प्रयास किया है। लेकिन जिस समाज मे वह रहता है, उसका स्वरूप चूंकि मुख्यतः धार्मिक था, इसलिए वह राज्य को धर्म की अधीनता से पूर्णतः मुक्त नहीं करा पाए।

अंधविश्वास और राजनीति

कौटिल्य के राजकौशल के व्यवहारिक रूप का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण यह है कि वह बहुत से धार्मिक रीतिरिवाजो की प्रभावकारिता में विश्वास नहीं करते और राज्य को अपनी आंतरिक और बाह्य स्थितियों को सुदृढ़ करने के लिए सामान्य लोगों की अंधमान्यताओं से लाभ उठाने का सुझाव देते हैं।[69] आंतरिक स्थिति को लें तो वह राज्य को लोगों के अंधविश्वासों पर आधारित अनेक उपायों से अपने कोष की अभिवृद्धि करने का सुझाव देते हैं। उदाहरण के लिए, वह कहते हैं कि राजा किसी-किसी रात को किसी देवता या चैत्य की प्रतिष्ठापना करे या किसी अपशकुन की सूचना दे और तब या तो देवता की पूजा करने या अनिष्ट निवारण के लिए समाज और यात्रा के आयोजन के नाम पर संग्रहीत धन हस्तगत कर ले।[70] मंदिर के उपवन में असमय फूलने-फलने वाले वृक्षों का भी वह अपने लाभ के लिए उपयोग कर सकता है। ऐसी घटना के आधार पर वह कह सकता है कि अमुक देवता का अवतरण हुआ है।[71] राजा का कोई गुप्तचर राक्षस रूप धारण कर किसी वृक्ष पर प्रकट हो सकता है और अपनी तुष्टि के लिए नरभेट की मांग कर सकता है। इस तरह इस प्रेतबाधा को शांत करने के नाम पर नगरों और गांवों के लोगों से शुल्कें (हिरण्य) की उगाही की जा सकती है।[72] ऐसा जान पड़ता है कि इनमें से कुछ उपायों पर तो सचमुच अमल भी किया जाता था। पतंजलि से ज्ञात होता है कि मौर्य राजाओं द्वारा प्रतिष्ठित देवप्रतिमाओं की बिक्री आय का एक साधन थी, और उनको अर्पित किए जानेवाले चढ़ावे जीविका का काम करते थे।[73]

आगे कौटिल्य यह सुझाव देते हैं कि लोगो को अनेक सिरों वाला सांप दिखाकर उनसे धन इकट्ठा किया जाए।[74] अथवा किसी नाग को औषधि खिलाकर बेहोश *कर दिया जाए और भोलेभाले लोगों को उसे देखने के लिए बुलाकर उनसे* दर्शनशुल्क वसूल किया जाए।[75] शकालु लोगों को विषैला पेय पिलाकर या उन पर विषाक्त जल छिड़ककर उन्हें बेहोश कर दिया जाए और तब गुप्तचर घोषित करें कि वे देवता के कोप से संज्ञाशून्य हैं।[76] इसी प्रकार गुप्तचर देवनिंदकों को सांप से डंसवाकर इसे देवकोप बताए। फिर अपशकुन के निवारणार्थ उपाय करने के

बहाने कोष भरने के लिए लोगों से धन वसूल करे।[77] अंतिम दो उपाय स्पष्टतः बुद्धि से काम लेनेवाले लोगों को अंधविश्वासपूर्ण मान्यताओं को स्वीकार करने और शासक को धन देने पर विवश करने के निमित्त सुझाए गए हैं। इस प्रकार कौटिल्य द्वारा बताई गई सभी युक्तियां लोगों के अंधविश्वासों का लाभ उठाकर उनका धन ऐंठने के निमित्त राज्य द्वारा प्रयोग में लाए जाने के लिए हैं। ये युक्तियां 'कोषाभिभरण' (कोष पूर्ति) प्रकरण में बताई गई हैं।[78] ध्यातव्य है कि कौटिल्य के अनुसार कोष सप्तांग राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता है कि धार्मिक औपचारिकताएं धनार्जन में बाधा नहीं होनी चाहिए। उनके अनुसार, लाभ में विघ्न पहुंचाने वाले कुछेक तत्त्व हैं—परलोक की आकांक्षा (परलोकापेक्षा), धार्मिकता (धार्मिकत्वम्), मंगलकारी तिथिनक्षत्रों में विश्वास (मंगलतिथिनक्षत्रेष्टित्वम्)।[79] इसका अर्थ यह हुआ कि धनाकांक्षी को धर्म के इन तत्त्वों की परवाह नहीं करनी चाहिए। जहां तक फलित ज्योतिष में विश्वास का संबंध है, कौटिल्य स्पष्ट कहते हैं कि सदा नक्षत्र के संबंध में ही पृच्छा करते रहनेवाले बालबुद्धि लोगों से धन दूर भागता है। उनके अनुसार, धन का नक्षत्र तो धन ही है, फिर उसमें तारकों का क्या काम है?[80] इस सिद्धांत के मुताबिक, कौटिल्य राजा से कहते हैं कि जब कभी धार्मिक रीतिरिवाज उसकी उद्देश्यसिद्धि में बाधक हो तो वह उनका परित्याग कर दे। उनका स्पष्ट उद्देश्य शासक को यह विश्वास दिलाना है कि सबकी सब धार्मिक प्रथाएं अंधविश्वास मात्र हैं, और शासकों को चाहिए कि वह अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए इनसे लाभ उठाए।

राज्य के आंतरिक शत्रुओं से निबटने के लिए भी कौटिल्य राज्य को इस नीति से लाभ उठाने का सुझाव देते हैं। वह कहते हैं कि जब कोई राजद्रोही (दूष्य) व्यक्ति वन में यज्ञादि कर्म में लगा हुआ हो तब तीक्ष्ण नामक गुप्तचर उसका वध करके उसके शव को किसी जातिबहिष्कृत व्यक्ति के शव की तरह वहां से हटा दे।[81] गुप्तचरों को हिदायत दी गई है कि वे राजद्रोही व्यक्ति को प्रलोभन दें कि वह भारी कोष अर्जित करने के लिए देवता को अर्पित चढ़ावे खरीद ले। जब वह इसके लिए अपना नवार्जित धन निकाले तब खरीदते समय उसे रंगे हाथों पकड़कर[82] उसका सर्वस्व छीन लिया जाए। कौटिल्य राज्यविरोधियों द्वारा यज्ञादि कर्मों का संपादन निरर्थक बताते हैं। ऐसे विरोधियों को वह निंद्य और अधार्मिक मानते हैं।[83] राजद्रोही व्यक्ति को दंडित करने के लिए वह उस समय को उपयुक्त समझते हैं जब वह धार्मिक कृत्यों में लगा हुआ हो।

लेकिन कौटिल्य यज्ञ और पूजापाठ का उपयोग, खासकर राज्य के बाहरी शत्रुओं से निबटने के लिए करते हैं, वह उन देवस्थानों और तीर्थस्थानों में शत्रु को नष्ट करने की अनेक युक्तियां बताते हैं जिनमें वह भक्तिवश अक्सर जाया करता

है।[84] इन युक्तियों में एक यह भी है कि शत्रु जब देवालय में प्रवेश करे तब उसके सिर पर दीवार या पत्थर गिरवा दिया जाए।[85] देवालय के सबसे ऊपरी हिस्से से उसके सिर पर पत्थरों या शस्त्रों की वर्षा की जाए।[86] मंदिर के बाहरी द्वार का पल्ला या भारी दंड शत्रु पर गिरवा दिया जाए।[87] देवप्रतिमा में छिपाकर रखा गया अस्त्र उसके मस्तक पर गिरा दिया जाए।[88] यह भी कहा गया है कि जब शत्रु किसी देवालय में या साधु-सन्यासी के पास जाए तब गुप्त कक्षों या अन्य स्थानों में छिपे गुप्तचर उस पर प्रहार करें।[89] कौटिल्य ने यह व्यवस्था भी की है कि देवता की पूजा और पितरों के श्राद्ध के अवसर पर शत्रु के आदमियों को विषमिश्रित अन्नजल दिया जाए और शत्रुपक्ष के विश्वासघातियों के साथ षड्यंत्र करके अपनी छिपी सेना से शत्रु पर प्रहार किया जाए।[90] यदि शत्रु दुर्ग को घेर ले तो राजा देवप्रतिमा में बने खोखले स्थान में अपने को छिपा ले।[91]

कौटिल्य शत्रु को फंसाने की एक उत्कृष्ट युक्ति यह बताते हैं कि राजा के गुप्तचर उसे चालबाजी से किसी यज्ञादि कर्म में उलझा दें और जब वह उसमें लगा हुआ हो तब राजा उसकी हत्या कर दे।[92] शत्रु को धोखा देने के लिए विजयेच्छु राजा विपत्ति-निवारण का बहाना करके स्वयं प्रायश्चित कर्म करने लगे और इस प्रकार शत्रु को भी यज्ञादि कर्म के फंदे में फंसा दे।[93] इन युक्तियों को देखने से मालूम होता है कि शत्रुनाश का उपाय करने में राजा को उसकी धार्मिक व्यस्तता का लाभ उठाना चाहिए।

शत्रु को अन्य प्रकार से हानि पहुचाने के लिए भी धार्मिक छलावरणों का सहारा लेने का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए, कौटिल्य कहते हैं कि तापस वेशधारी गुप्तचर शत्रुओं के गोचारकों को प्रसाद के नाम पर मादक पेय पिलाकर उनकी गाएं हांक ले जाए।[94]

शत्रुदेश पर आक्रमण करने के लिए, कौटिल्य के अनुसार, यह जरूरी है कि लोगों को विजयेच्छु राजा की सर्वज्ञता और देवत्व की प्रतीति कराई जाए। ऐसा राजा अपनी सर्वज्ञता और देवताओ से निकट संबध (दैवत संयोग) को प्रचारित करके अपने लोगों को उत्साहित और शत्रु की प्रजा को आतंकित करे।[95] इसके लिए कौटिल्य अनेक प्रपंच बताते हैं, जिनमे गुप्तचरों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। जहां तक सर्वज्ञता की बात है, कौटिल्य कहते हैं कि गुप्तचरों के जरिए मुख्य अधिकारियों और राजद्रोही (दूष्य) लोगों की गतिविधियों का पता लगाकर राजा लोगों के मन पर ऐसी छाप डाले कि *वह अलौकिक शक्ति से सारी बातें जान लेता है।*[96] वह पालतू कबूतर द्वारा विदेशो की घटनाओं की जानकारी प्राप्त करे, लेकिन लोगो को बताए यह कि उसकी जानकारी का आधार उसकी शकुन पढ़ने की शक्ति है।[97] राजा के देवसान्निध्य (दैवत सयोग) की बात प्रचारित करने के तरीके और भी अधिक हैं। राजा के गुप्तचर सुरंग में से सहसा निकलकर आग के बीच

प्रकट हों और राजा उन्हें अग्निदेव बताकर उनसे बातचीत करे।[98] वह जल से नाग के रूप में प्रकट अपने ऐसे गुप्तचरों की पूजा भी कर सकता है।[99] वह जल में स्वयमेव ही आग भडक उठने के चमत्कारी दृश्य प्रस्तुत करे।[100] वह छिपी चट्टान से गुप्त रूप से, किंतु मजबूती के साथ बधे पटरे के सहारे जल में बैठने का चमत्कार प्रस्तुत करे।[101] अपनी अलौकिक शक्ति का परिचय देने के लिए जल में जादू के कुछ करतब भी दिखा सकता है।[102] इस संदर्भ से प्रचार कार्य के भारी महत्त्व को स्वीकार करते हुए कौटिल्य ने लोगो को राजा के देवत्व की प्रतीति कराने के लिए अनेक प्रकार के प्रचार अधिकारियों की व्यवस्था की है। इस कार्य के लिए *सात प्रकार के अधिकारियों को राज्य की सेवा में प्रवृत्त करना है।* वे हैं—ज्योतिषी (दैवज्ञ), भविष्यवक्ता मौहूर्तिक, पौराणिक (कथावाचक), ईक्षणिक (संभवतः एक प्रकार के दैवज्ञ, जो प्रश्नोत्तर के क्रम में भविष्य का शुभाशुभ बताते थे), गुप्तचर और साचिव्यकर (राजा के सहचर)। 'अर्थशास्त्र'[103] में अन्यत्र प्रथम चार का उल्लेख पुरोहित वर्ग के सदस्यों के रूप में हुआ है। यह लोकमत तैयार करने में पुरोहितों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का प्रभाव है। इन अधिकारियों को राज्य भर में राजा की अलौकिक शक्तियों का व्यापक प्रचार करना है। इसी तरह उन्हे विदेश में भी राजा के समक्ष देवताओ के प्रकट होने और राजा द्वारा स्वर्ग से दंडशक्ति और कोषशक्ति प्राप्त किए जाने के समाचार प्रचारित करने हैं। इन अधिकारियों को शत्रु के आदमियों को यह भी जताना है कि आक्रामक राजा स्वप्नों का अर्थ तथा पशु-पक्षियों की बोली समझता है, अतः उसकी विजय अवश्यभावी है। इसके अतिरिक्त इन अधिकारियों को आकाश से लुआठी दिखाकर और नगाड़े का शोर मचाकर शत्रु की प्रजा को उनके राजा की आसन्न पराजय का विश्वास दिलाने का भी काम सौंपा गया है।[104] कौटिल्य ने एक युक्ति यह भी सुझाई है कि कुछ देवप्रतिमाएं नष्ट करके उनसे लगातार खून की धारा बहती दिखाई जाए, और तब गुप्तचर ऐसा प्रचार करे कि यह शत्रु की हार का लक्षण है।[105]

विजयेच्छु राजा की अलौकिक शक्तियों के प्रचार के लिए सुझाए गए ये विलक्षण उपाय 'अर्थशास्त्र' के तेरहवें अधिकरण (अध्याय) में वर्णित हैं। इस अधिकरण में राजधानी जीतने के उपाय (दुर्गलम्भोपाय) भी बताए गए हैं। इन उपायो में अनेक प्रकार के चमत्कारों का सहारा लेना है, फिर भी इनसे प्रकट होता है कि राजा के देवत्व और सर्वज्ञता में वस्तुतः न स्वय कौटिल्य का विश्वास है और न वह यही चाहते हैं कि राजा इन निरर्थक बातों में विश्वास करे। तथापि वह यह चाहते हैं कि एक सुसगठित तंत्र द्वारा चतुराई से प्रचार करवाकर जनमानस पर राजा की सर्वज्ञता और देवत्व की छाप डाली जाए, उसकी अपनी प्रजा उसकी आक्रामक योजनाओं में उसे हार्दिक समर्थन दें और शत्रुदेश की प्रजा अपने राजा के बजाय नए विजेता को अपनी निष्ठा प्रदान करे। एक विद्वान की राय है कि

अर्थशास्त्र' मे कुछ स्थलो पर इस तरह के चमत्कारों पर आधारित जिन कटु-युक्तियों की हिमायत की गई है, वे इस ग्रंथ के मौलिक अश नहीं हैं। उनका यह कहना है कि 'अर्थशास्त्र' के शेष अशो में तथा 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक मे विष्णुगुप्त का जो सच्चा चरित्र प्रतिबिंबित होता है, ये युक्तिया उससे संगत नहीं प्रतीत होती।[106] ऐसा जान पडता है कि ये अश परवर्ती काल मे, भारत में तंत्रवाद का बोलबाला होने पर, इस ग्रंथ मे प्रक्षिप्त कर दिए गए। जब तक इस समस्या का समाधान नही हो जाता कि कितना अश असली और कितना नकली है, कौटिल्य के ग्रंथ के इस अतर्विरोध का कारण यह मान सकते हैं कि जहां राज्यहित का प्रश्न हो, वहा वह किसी प्रकार के धर्मसकोच में नही पडते।

ऊपर जो कुछ भी बताया गया है, उससे प्रकट होता है कि 'अर्थशास्त्र' मे कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राजनीति की एक विशेषता जनसाधारण को भ्रमित और आतंकित करके राजनिष्ठ बनाने के लिए शासक वर्ग द्वारा योजनापूर्वक उसके अधविश्वासो का लाभ उठाया जाना है। न केवल लोगो से धन ऐठने के लिए, बल्कि विजेता की आक्रामक योजनाओं को सफल बनाने तथा शत्रु का नाश करने में उन्हें प्रवृत्त करने के निमित्त भी कौटिल्य ऐसे अनेक हथकंडे सुझाते हैं जो लोगों के अधविश्वासों के कारण सभव हैं। उन्होने जिस प्रकार से इन उपायों का विधान किया है उससे इसमें कोई संदेह नही रह जाता है कि वह स्वय ऐसी बातो में विश्वास नही करते, बल्कि इन्हें अधविश्वास मानते हैं। लेकिन चूंकि इन अधविश्वासों का लोगों के मन पर भारी प्रभाव होता है, इसलिए वह इन्हें राज्य के हितों की सिद्धि का साधन बना देते हैं। उनकी हार्दिक कामना है कि जनसामान्य इन अंध मान्यताओं में विश्वास रखे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह लोगो को संगठित रूप से समझाने-बुझाने और अप्रत्यक्ष रूप से उन पर दबाव डालने के उपाय सुझाते हैं। कौटिल्य के राज्य के प्रचारतत्र का शायद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य लोगों के बीच ऐसी भ्रांति फैलाना है कि राजा अलौकिक शक्तियो से संपन्न है। कौटिल्य इस सिद्धात के अनुसार चलते दिखाई देते हैं कि सतत और प्रभावकारी प्रचार के बल पर झूठ को भी सच दिखलाया जा सकता है। यदि लोग सहज ही ऐसे झूठ मे विश्वास न करें तो कौटिल्य का कहना है कि राजा के आदमियों को विभिन्न प्रकार की व्यावहारिक युक्तियो के सहारे और शारीरिक यातना के बल पर उनका मन बदलना चाहिए। कौटिल्य राजा से ऐसी अपेक्षा रखते जान पड़ते हैं कि उन्हे यज्ञ या पूजापाठ मे विश्वास नही रखना चाहिए, क्योंकि अवसर आने पर उसे बिना किसी भय-संकोच के ऐसी चीजो की अवहेलना करने की सलाह दी गई है। इस पूरे प्रश्न के प्रति कौटिल्य के दृष्टिकोण का सार शायद इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—जो कुछ राजा के लिए अधविश्वास है वही जनसाधारण के लिए सच्चा धर्म है।

'मनुस्मृति' और 'शांतिपर्व' जैसे ब्राह्मण चिंतनधारा के ग्रथो मे राजा को सकटकाल (आपद्धर्म) मे धार्मिक मान्यताओ की भी अवहेलना करने की अनुमति दी गई है। 'शांतिपर्व' मे तो लोगो को भ्रम मे डालने के लिए राजा को अधविश्वासपूर्ण रीतियो का उपयोग करने का भी सुझाव दिया गया है। जिस प्रकरण मे भीष्म राजा को सचमुच अवसरवादी बनने का परामर्श देता है, उसमें वह कहता है कि अर्थकामी राजा शिखा धारण कर धर्मध्वजी होने का अभिनय करे।[107] जाहिर है कि यह उपाय जनसाधारण से धन ऐंठने के निमित्त उसके अधविश्वास से लाभ के लिए सुझाया गया है। शान्तिपर्व और कौटिल्य मे अतर यह है कि कौटिल्य ने इस प्रकार के बहुत से अन्य उपाय बताए हैं।

ऐसी बात नही कि प्राचीन राजनीति मे अधविश्वासो का लाभ उठाने के सिद्धात का प्रतिपादन अकेले कौटिल्य ने ही किया हो। बिल्कुल यही दृष्टिकोण प्लेटो के 'रिपब्लिक' मे भी देखा जा सकता है। उसमें यह झूठा और मनगढ़त प्रचार किया गया है कि ईश्वर ने दार्शनिको मे सोना, योद्धाओ में चादी तथा किसानो और कारीगरों में पीतल और लोहा रखा।[108] प्लेटो ने महसूस किया कि इस कल्पित कथा को एक ही पीढ़ी मे जनमानस मे सत्य के रूप में प्रतिष्ठित नही किया जा सकता, लेकिन दूसरी, तीसरी और उसके बाद की पीढ़ियों में लोगो का विश्वास इस पर जमाया जा सकता है।[109] काल की दृष्टि से तो नही, लेकिन स्थान की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत दूर होते हुए भी प्लेटो और कौटिल्य[110] दोनों के विचार में अपनी सत्ता की रक्षा और विस्तार के लिए शासक वर्ग को अधविश्वासों को प्रश्रय देना चाहिए। रोम के राजनीतिज्ञों की दृष्टि भी ऐसी ही थी। वहां के पुरोहित मडलों ने अपना प्रभाव खूब बढ़ा लिया था, फिर भी उन्होने 'और उनमें से भी खासतौर से सर्वोच्च पदों पर आसीन लोगो ने इस बात को कभी नही भुलाया कि उनका कर्तव्य समादेश देना नही, अपितु दक्षतापूर्ण परामर्श देना है।'[111] और रोमन राजनीतिज्ञ यदि इस प्रकार के स्पष्ट प्रपचो को चुपचाप स्वीकार कर लेते थे तो वह धर्म का विचार करके नही बल्कि अपने राजनैतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए। *यूनानी पालीबिअस का यह कथन सर्वथा उचित था कि 'रोमवालों के धर्म मे जो अनोखे और जटिल अनुष्ठान प्रचलित थे, उनका आविष्कार मात्र सामान्य जनो को ध्यान मे रखकर किया गया था, क्योंकि उनमें बुद्धि का अभाव था और इसलिए उन पर प्रतीको और चमत्कारो के जोर पर ही शासन किया जा सकता था।'*[112] प्राचीन भारत के राजनीतिज्ञ भी ऐसे ही प्रपचों का प्रयोग करते थे, और निर्भीक तथा सूक्ष्म चितक यदाकदा इन प्रपंचों का पर्दाफाश भी कर देते थे। जैसे, बाण ने राजा के देवत्व की अनर्गल परिकल्पना को अस्वीकार करते हुए कहा कि 'यह उन चाटुकारों की करतूत है जो कमजोर और मूढ़ राजाओं के दिमाग में इस तरह की बेतुकी बाते भर देते हैं, किंतु जो शक्तिशाली और समझदार राजाओं को मूर्ख नही

बना सकते।'[113]

अंधविश्वास और राजनीति का आपसी संबंध कौटिल्य की कृति की ऐसी विशेषता है जिसकी ओर सामान्यत. ध्यान नहीं दिया जाता। इसीलिए हमने यहां एक अलग प्रकरण में इस पर विचार किया है। किंतु वास्तव मे इस अध्याय के प्रथम और द्वितीय प्रकरणों के बीच भेद की कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुल मिलाकर देखें तो 'अर्थशास्त्र' मे धर्म और राजनीति के आपसी संबंधों के विवेचन से तीन प्रमुख प्रवृत्तियां सामने आती हैं। एक तो यह कि कौटिल्य वर्णित राज्य प्रारंभिक विधिग्रंथों में प्रतिपादित ब्राह्मण विचारधारा का रक्षक है। लेकिन भारतीय मानस की जो एक सामान्य विशेषता है, उसके विपरीत कौटिल्य का राज्य पुरोहित-सत्ता का अनुयायी नहीं है। कारण, वह राज्यसत्ता की नींव को कमजोर बनानेवाले ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर धार्मिक रीतिरिवाजों की न केवल उपेक्षा करके चलता है,'[114] बल्कि उसका दमन भी करता है। यह दूसरी प्रवृत्ति है। तीसरी प्रवृत्ति यह है कि कौटिल्य राज्य के हितसाधन के निमित्त—विशेषकर विदेशनीति के संदर्भ में—जनसाधारण के अज्ञान और अंधविश्वास से लाभ उठाते प्रतीत होते हैं।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 अर्थ I 2
2 वही, I 3
3 वही
4 वही
5 तुलनीय, एस एन सिन्हा सॉवरेंटी इन एंशंट इंडिया, पृ 149 199
6 चतुर्वर्णाश्रमास्यायम् लोकस्याचाररक्षणात्। न श्यता सर्वधर्माणाम् राजा धर्मप्रवर्तक ।।— अर्थ III I
7. अर्थ XIII 5
8 सर्वत्राश्रम पूजानम् च विद्यावाक्यधर्म शूरपुरुषाणाम् च भूमिद्रव्यदानपरिहारान् कारयेत्। वही
9 अर्थ XIII 5
10 पर विषयाद्वा विक्रमेणानीत यथाप्रदिष्टम् राज्ञा भुजीत अन्यत्र आर्यप्राणेभ्यो देवब्राह्मण तपस्विद्रव्येभ्यश्च। अर्थ III 16
11 अर्थ IV 8
12. 56 22, 59, 69, 114
13 अर्थ IV 8
14 ये देवा देवलोकेषु च ब्राह्मण । वही, XIV, 3
15. यहां सेनर्ट और ह.प्र शास्त्री का निर्वचन ग्रहण किया गया है पा हि. ए इ , पंचम संस्क , 357.

16 अर्थ, III,14
17 वही
18 वही
19 वही, II 4
20 वही
21 वही
22 वही, II 5
23 वही, II 24
24 अर्थ , I 9
25 वही, IV 3, म्युनिख पाडलिपि में अतिरिक्त पाठ मिलना है
26 वही
27 वही
28 वही
29 वही, II 1
30 अर्थ , IV 13, अन पृ 263
31 वही, IV 10 टी गण शास्त्री मस्करण, II, 166
32 मनुस्मृति (IX 280) में इस नियम का दायरा बढ़ा दिया गया है. इसमें कहा गया है कि जो कोई भी राजभडार, सेना या मंदिर का भेदन करे और जो हाथी, घोडा या रथ चुराए, उसका वध राजा बेहिचक कर दे
33 अर्थ , III 9
34 वही, IV 13
35 वही, III 19
36 वही, II 21
37 अर्थ , II 24
38 अदण्ड्यदण्डनेराज्ञो दण्डस्त्रिंशद्गुणो अभंसि । वरुणाय प्रदातव्यो ब्राह्मणेभ्यस्तत परम् ।। अर्थ IV,13
39 II 307
40 अर्थशास्त्र के अध्ययन की भावी प्रगति इसके पाठ के स्तरीकरण पर निर्भर होगी
41 IX, 243 45
42 अर्थ , I 13
43 डब्ल्यू डब्ल्यू टार्न हेलेनिस्टिक सिविलिजेशन, पृ 49 एव आगे टार्न का यह मत कि राज देवत्व की भावना सिकदर ने एशिया से ली, भारत के साथ लागू नहीं होता
44 अर्थ , II 4
45 वही, II 36, टी गणपति शास्त्री की टीका पर आधारित
46 वही
47 वही
48 वही, III 16
49 वही, V 2
50 वही, II 1
51 वही, III 20

52 वही, III 16 शामशास्त्री ने इसका अनुवाद भिन्न तरह से किया है टी गण शास्त्री (II, 99) में निम्न रूप में दिया गया है प्रव्रज्यासु वृथाचारा राजा दण्डेन वारयेत्। धर्मोहयधर्मोपहत शास्तारं हन्त्युपेक्षित ।।
53. वही, III.16
54 IX 225
55 IX 226 शा प्र के ऐसे ही श्लोक, 89 13 14 में पाषडों का उल्लेख नहीं है
56 वही, I 19
57 वही, III 16
58 अर्थ III 1
59 वही, टी गण शास्त्री सस्करण ॥ 10 की टीका पर आधारित
60 परतु यह श्लोक जिसमें राजशासन को प्रधानता दी गई है, अर्थशास्त्र में क्षेपक के रूप में प्रतीत होता है गुप्तकाल तथा बाद की स्मृतियों और पुराणों में यह श्लोक पाया जाता है उस काल में भूमि अनुदान के लिए शासन का प्रयोग अभिलेखों में होता है अतएव न्याय करने में शासन की प्रमुखता का तात्पर्य यह है कि भूमि उसकी होगी जो राजशासन दिखलाएगा
61 अर्थ, I 10
62 अर्थ, V 2
63 मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चा प्रकल्पिता पाणिनि ३ 99 पर पतजलि का भाष्य तुलनीय वा श अग्रवाल, इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि, पृ 361-62
64 57-5
65 57.6-7
66 श्रेणिनैगम पाषडिगणानामप्ययम् विधि भेदम् चैषाम् नृपयो रक्षेत् पूर्ववृत्तिम् च पालयेत II 192.
67 X.1-2.
68. शूद्राज, पृ 268-78
69 यू एन घोषाल, हि. पॉ थि पृ 101
70 दैवतचैत्यम् सिद्धपुण्यस्थानामौपपादिकम् वा रात्री उत्थाप्य यात्रासमाजाभ्याम् आजीवेत् अर्थ, V 2
71. अर्थ, V 2
72. चैत्योपवनवृक्षेण वा देवताभिगमनमनार्तवपुष्पफलयुक्तेन ख्यापयेत् वही।
73 भाष्य पाणिनि, V 3.99, तुल अग्रवाल, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ 362
74 सरगायुक्ते वा कूपे नागमणियर्ताशिरस्कं हिरण्योपहरणे दर्शयेत्, अर्थ, V 2
75 सर्पदर्शनमाहारेण प्रतिबंधसंज्ञं कृत्वा श्रद्धानानां दर्शयेत् वही
76 अश्रद्धानानाम् आचमन प्रोक्षणेषु रसमुपचाय्य देवताभिशापं ब्रूयात् वही
77. अभित्यक्तं दर्शयित्वा वा योगदर्शनप्रतिकारेण वा कोशाभिसहरण कुर्यात् टी गण शा स, ii, 197.
78 अर्थ, V.2
79 वही, IX 4
80. नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थोतिवर्तते,
अर्थोह्यर्थस्यनक्षत्र किं करिष्यन्ति तारका । अर्थ, IX 4
81. अर्थ V.2

82 वही
83 वही
84 दैवतेज्याया यात्रायामिवस्य अर्हति पुण्यागमस्थानानि चकित तत्रास्य योगमुख्येन अर्थ, XII 5
85 अर्थ XII 5
86 वही
87 वही
88 वही
89 अर्थ XIII 2
90 दैवतोपहारश्राद्धप्रहवणेषु वा रसविद्धमन्नपानमवसृज्य कृत्यपक्षोपजापो दूष्यव्यञ्जनैर्निष्पत्य गूढसैन्योऽभिहन्यात्—अर्थ, XII, 5
91 अर्थ, XII, 5
92 अर्थ, VIII,2
93 एतान् वा योगानात्मनि दर्शयित्वा प्रतिकुर्वीत परेषामुद्देशार्थम् तत प्रयोजयेद्योगान् अर्थ, XIII, 2
94 अर्थ, XIII, 2
95 विजिगीषु परग्राममवाप्तुकाम सर्वज्ञ दैवतसयोगख्यापनाभ्या स्वपक्ष उद्धर्षयेत् परपक्ष चोद्वेजयेत् अर्थ, XIII 1
96 सर्वज्ञख्यापन तु गृहगुह्यप्रवृत्तिज्ञाने मुख्याना प्रत्यादेशो कण्टकशोधनापसर्पेण प्रकाशन राजद्विष्टकारिण। अर्थ, XIII 1 जा ली के अर्थ सस्करण, पृ 242 में 'ज्ञाने' के बदले 'ज्ञानेन' रखा गया है।
97 अर्थ, XIII 1, तुलनीय उदयवीर शास्त्री सस्करण, भाग 2, पृ 544
98 दैवतसयोगख्यापन तु सुरगामुखेनाग्निचैत्यदैवतप्रतिमाच्छिद्रानुप्रविष्टै अग्निचैत्य- दैवतव्यञ्जन सभाषण पूजन च। अर्थ, XIII 1
99 अर्थ, XIII 1
100 वही
101 वही
102 वही
103 कार्तान्तिकनैमित्तिकमौहूर्तिक पौराणिकसूतमागधा पुरोहितपुरुषा सर्वाध्यक्षाश्च साहस्रा अर्थ, V 3
104 परस्य विषये दैवतदर्शन दिव्यकोशदण्डोत्पत्ति अस्य ब्रूयु। दैवप्रश्ननिमित्त वायसागविद्या स्वप्नमृगपक्षिव्याहारेषु चास्य विजय ब्रूयु। अर्थ, XIII,1.
105 दैवतप्रतिमानामभ्यर्हिताना वा शोणितेन प्रस्रवणम् अतिमात्र कुर्यु तदन्ये देवरुधिरसस्रावे अत्र शूरवादिकोऽन्यत्र वादुष्मृग्री आगच्छेत अर्थ XIII 25
106 एच सी सह, 'टि स्प्रंग्स इन कौटिल्याज अर्थशास्त्र', ए वाल्यूम आफ इस्टर्न एड इंडियन स्टडीज प्रजेंटेड टु प्रोफेसर एफ डब्ल्यू टामस, पृ 25
107 अर्थकाम शिक्षा कुर्याद्धर्मध्वजोपमायु शा पृ, 120 9
108 द रिपब्लिक (जावेट का अनुवाद), पृ 126 27
109 वही
110 लेखक कौटिल्य को चद्रगुप्त मौर्य का समकालीन मानने के पक्ष में है

111. सै बु ई XII, भाग I, प्रस्तावना पृ X में उद्धृत मौमसन, हिस्ट्री ऑफ रोम, 1,179
112 सै बु ई XII, भाग I प्रस्तावना पृ X उद्धृत मौमसन, पूर्वोद्धृत III, पृ 445
113. बैशाम, वण्डर दैट वाज इंडिया, पृ 8687
114 सेनर्ट, कास्ट इन इंडिया, पृ 204

16. सातवाहन राज्यव्यवस्था

सातवाहनो का शासन दकन मे था। ये उन सभी भौतिक उपादानों से सज्जित थे जो इनसे पहले उत्तर भारत में शासन करनेवाले मौर्य राजाओं के पास थे। अर्थात इनके राज्य में सिक्को और लोहे के औजारों का भरपूर उपयोग होता था। इनके शासन की एक अन्य विशेषता यह थी कि भूमध्य सागरीय क्षेत्रो के साथ इनके राज्य का वृहत् व्यापार था। इसके परिणामस्वरूप रोम के सिक्के यहा प्रचुर प्रमाण में पहुचते थे, जिससे दकन मे बडे पैमाने पर शहरी बस्तियो की स्थापना हुई। इन तमाम बातो ने नई समस्याओ को जन्म दिया, जिनका समाधान ढूढ़ना इनके शासन का काम था।

सातवाहन आर्येतर जाति के थे और इनकी परपराए मातृवशीय थी। ये ब्राह्मण सस्कृति को अगीकार करनेवाले दकन के सबसे पहले राजवशों मे थे। एक बार नए सस्कारों को ग्रहण करने के बाद ये लोग वर्णव्यवस्था के कट्टर समर्थको के रूप मे आगे आए, किंतु बौद्धधर्म से भी इनका विरोध नही था। अभिलेखों से मालूम होता है कि ये बौद्ध भिक्षुओ तथा ब्राह्मणो को द्रव्य और भूमिअनुदान देनेवाले प्राचीनतम शासक थे। इन अनुदानों के फलस्वरूप बौद्ध भिक्षु और ब्राह्मण दोनो समान रूप से सातवाहन राज्यव्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण तत्व बन गए। मौर्य शासन के अनुभवों से लाभ उठाकर सातवाहनों ने अपने पैर उन क्षेत्रों पर जमाए जो किसी हद तक ठीक से आबाद थे और जिन पर बहुत-से छोटे-छोटे राजाओ और सरदारो का शासन था। जिस शासनपद्धति का उन्होंने विकास किया उसकी प्रकृति स्वदेशी थी और भारत-यूनानियों, शकों, पार्थियनो और कुषाणों द्वारा भारत मे लाई गई राज्यव्यवस्था से सर्वथा भिन्न थी।

मैसूर में प्राप्त शिलालेखो और आध्रप्रदेश के अमरावती मे प्राप्त स्तभलेख के एक टुकडे से स्पष्ट है कि इन क्षेत्रों के नरेश अशोक की शासनपद्धति से अवगत थे। स्वभावत, इसके कुछेक तत्व सातवाहनो के अधीन दकन के पश्चिमी हिस्से में भी कायम रहे। अशोक की तरह ही प्रारंभिक सातवाहन शासक राजा कहे जाते थे। यद्यपि गौतमीपुत्र शातकर्णी की माता गौतमी बलश्री का दावा है कि उसके पुत्र और पौत्र महाराज हैं,[1] किंतु गौतमीपुत्र और वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि में से किसी ने

भी वास्तव में यह उपाधि धारण नहीं की। साथ ही इन शासकों ने वे आडंबरपूर्ण उपाधियां भी धारण नहीं कीं जो कुषाण राजाओं की विशेषता थी। इसके अतिरिक्त, इन राजाओं ने अपने अधीनस्थ अधिकारियों को अपने आदेशों की सूचना उसी मुहावरे और उसी प्राकृत भाषा में दी है जो अशोक के शासन में प्रचलित थे। हां, सातवाहनों के ये अधिकारी कुमार, आर्यपुत्र या अशोक के अधिकारियों की तरह महामात्र नहीं, बल्कि अमात्य कहे जाते थे।

सातवाहन राज्य अशोक के राज्य की ही तरह आहारों या जिलों में बंटा हुआ था। अशोक के अभिलेखों में आहारों के नाम नहीं दिए गए हैं, यद्यपि जिन अभिलेखों में इनका उल्लेख मिलता है उनके प्राप्तिस्थानों की दृष्टि से सोचें तो लगता है कि ये आहार मध्य प्रदेश तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में पड़ते थे। किंतु सातवाहन-अभिलेखों में गोवर्धन आहार और कुछ अन्य आहारों का उल्लेख बहुधा हुआ है। यह प्रशासनिक इकाई वाकाटक राज्य में कायम रही, और गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तर काल के अभिलेखों के अनुसार इन कालों में महाराष्ट्र और गुजरात में भी प्रचलित थी।[2] तीसरी शताब्दी के प्रथम चरण के एक सातवाहन पुरालेख से लगता है कि आहार और जनपद एक ही थे।[3] जनपद का उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी हुआ है और अशोक के अभिलेखों में भी। लेकिन नाम की समानता से ऐसा नहीं माना जा सकता कि सातवाहन जनपद (आहार) और अशोककालीन जनपद के आकार भी समान थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित जनपद के आकार को यदि लिया जाए तो अशोककालीन जनपद में संभवतः 3200 गांव होते थे।[4] इस प्रकार यह निश्चय ही बहुत बड़ी इकाई थी।

यद्यपि कौटिल्य ने महामात्रों का उल्लेख विरल स्थानों पर ही किया है, किंतु अशोक के अधीन महामात्र कहे जानेवाले अधिकारियों का एक संगठित संवर्ग (काडर) था, जिसके सदस्यों को तरह-तरह के कार्यों में लगाया जाता था। उनका उल्लेख सातवाहन अभिलेखों में भी हुआ है, और एक प्रसंग में वह बौद्ध भिक्षुओं की देखरेख के लिए जिम्मेदार अधिकारी जान पड़ता है।[5] इस तरह मोटे तौर पर उसकी तुलना अशोक के धम्ममहामात्र से की जा सकती है। लेकिन स्पष्ट है कि सातवाहन राज्य में महामात्र नाम की संस्था उतनी व्यापक और महत्त्वपूर्ण नहीं थी। अशोक के महामात्रों वाला स्थान शायद सातवाहनों के अमात्यों या अमचों को प्राप्त था। भूमि अनुदानों या गुफाअनुदानों से संबंधित सभी राजादेशों की सूचना सातवाहन शासक अमात्यों या अमचों को ही देते थे। जातकों में अमात्यों का उल्लेख सलाहकारों या मंत्रियों के रूप में हुआ है, लेकिन इनके बारे में सबसे विस्तृत जानकारी कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' से मिलती है, जिसमें इनका उल्लेख अधिकारियों के ऐसे संवर्ग (काडर) के रूप में हुआ है जिसमें से अन्य सभी उच्च पदाधिकारी लिए जाते हैं। विचित्र बात है कि अधिकारियों के इस महत्त्वपूर्ण वर्ग

का उल्लेख अशोक के अभिलेखों में नहीं हुआ है। जहां तक अभिलेखों का संबंध है, इनका उल्लेख सबसे पहले सातवाहनों के ही राज्य में मिलता है। इन अभिलेखों से प्रकट होता है कि गुप्तकाल की तरह सातवाहनों के अधीन अमात्य पद वंशानुगत नहीं था। विष्णुपालित,[6] शिवदत्त,[7] और श्यामक,[8] कम से कम इन तीन व्यक्तियों ने गौतमीपुत्र शातकर्णी के राज्यकाल में गोवर्धन आहार में अमात्य के पद पर काम किया। फिर, वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के राजत्वकाल में 152 ई. में उसी स्थान पर अमात्य शिवस्कंद को कार्य करते देखते हैं।[9] 28 वर्षों के दौरान एक ही स्थान पर कार्य करनेवाले इन चार अधिकारियों के नामों से प्रकट होता है कि ये एक परिवार के भी नहीं थे। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक अमात्यों के भी उल्लेख मिलते हैं। जैसे परिगुप्त, जो शायद गौतमीपुत्र शातकर्णि[10] के अधीन काम करता था, और सनेरक[11], सर्वाक्षदलन तथा विष्णुपालि, जो कदाचित वासिष्ठीपुत्र शातकर्णि के अधीन काम करते थे।[12] किंतु इनमें से किसी भी उल्लेख से अमात्यपद के वंशानुगत रूप की जानकारी नहीं मिलती। कुछ अभिलेखों में राजामात्य का उल्लेख अवश्य हुआ है, पर अभी तक गुप्तकालीन कुमारामात्य का जिक्र किसी भी सातवाहन अभिलेख में देखने को नहीं मिला है। कुल मिलाकर, अमात्य सातवाहन राज्यव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण अंग थे। उन्हें वही स्थान प्राप्त था जो अशोक की शासनव्यवस्था में महामात्रों को और गुप्तों की राज्यव्यवस्था में कुमारामात्यों को था। जहां तक इनके कार्यों का संबंध है, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे प्रकट होता हो कि ये सलाहकार या मंत्री का कार्य करते थे। कम से कम वे किसी मर्यादित निकाय के रूप में कार्य करते तो नहीं ही प्रतीत होते। लेकिन व्यक्तिगत रूप से वे प्रांतीय शासकों (गवर्नर), कोषागारिकों, भूमिदान निष्पादकों (एक्जिक्यूटर) आदि अनेक हैसियतों से कार्य करते थे।

अनेक अधिकारी शासनपत्र (लैंड चार्टर) लिखने से संबद्ध थे। एक प्रसंग में हम अमात्य को, दूसरे में प्रतीहार (जिसका प्रथम उल्लेख सातवाहन अभिलेखों में ही हुआ है) को और तीसरे में महासेनापति को शासनपत्र लेखक के रूप में देखते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि यह काम किसी एक अधिकारी के जिम्मे नहीं था, यद्यपि गुप्तोत्तर काल में यह काम मुख्यतः सांधिविग्रहिक ही करता था। सातवाहन राजे शासनपत्रों की देखरेख करनेवाले अधिकारी भी रखते थे, जिन्हें पट्टिकापालक कहते थे।[3] इनके अलावा, शासनपत्रों को उत्कीर्ण करनेवाले और भोक्ताओं को अनुदानों की सूचना देने वाले अधिकारी भी रखे जाते थे। लेकिन अशोक के राज्य के राजुक, प्रादेशिक, प्रतिवेदिक, पुरुष, युक्त, आदि किसी अधिकारी का उल्लेख सातवाहन-अभिलेखों में नहीं मिलता। यदि हम इस नकारात्मक साक्ष्य को प्रमाण मानें तो कहना होगा कि सातवाहन शासनतंत्र काफी सरल था।

संभव है, सातवाहन राज्य मे अधिकारियो को वेतन नकद दिया जाता रहा हो। कौटिल्य द्वारा 'अर्थशास्त्र' में अनुशंसित इस वेतनविधि का चलन सातवाहन राज्य में था, इसकी पुष्टि कार्षापणो के उन विभिन्न आंकड़ों की लंबी सूची से होती है जो नागनिका के नागाघाट गुफालेख[14] मे तथा अन्यत्र दिए गए हैं। इन आंकड़ों से पता चलता है कि विभिन्न यज्ञो के अवसर पर दी गई दक्षिणा की राशि 1,48,000 कार्षापण[15] से भी अधिक थी। नकद भुगतान की पुष्टि रांगे, पोटीन, तांबे और चांदी के उन असख्य सिक्को से होती है जो मुख्यत. महाराष्ट्र में, लेकिन किसी हद तक आध्र और मध्य प्रदेश के कुछ हिस्सों में भी मिले हैं। सातवाहन क्षेत्र में रोम की स्वर्णमुद्राए प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हुई हैं। इन मुद्राओ का उपयोग शायद बड़े-बड़े सौदों मे या धनसग्रह के लिए किया जाता होगा। लेकिन सातवाहन सिक्के स्पष्ट ही रोजमर्रा के सौदो मे, जिनमें अधिकारियो को वेतन की अदायगी भी शामिल थी, इस्तेमाल किए जाते होगे। किंतु इस सबसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अधिकारियों को जिसों के रूप मे वेतन दिया ही नहीं जाता होगा।

सातवाहनो की राजस्वव्यवस्था का कुछ अंदाजा धार्मिक अनुदानों में दिए गए गावो मे प्रदत्त राजस्व विषयक रियायतों से लगाया जा सकता है। कर बसे हुए गांवो या आबाद जमीन पर लगाए जाते थे। नमक सहित समस्त खनिज संपदा राजा की मानी जाती थी। राज्याधिकारियों, पुलिस और सैनिको को ठहराने का भार किसानो के सिर डाला जा सकता था और इन सरकारी अमलों का खाना खर्चा या जिस तंत्र के ये अग थे उसके संचालन का खर्च किसानो से वसूल किया जा सकता था। देय-मेय[16] और भोग[17]—जैसे शब्द उपज मे राजा के हिस्से के द्योतक हैं। राजा कारुकर[18] भी प्राप्त करता था। इस शब्द का अर्थ कारीगरों से उगाहा गया कर लगाया जा सकता है। यदि ये कारीगर धर्मशास्त्रो की व्यवस्था के अनुसार महीने में एक दिन अपने सरदार (यहां महारठी वासिष्ठीपुत्र सोमदेव)[19] के लिए काम नहीं करते होगे तो संभव है कि कर की नकद अदायगी करते होगे। ऐसा मालूम होता है कि राजस्व नकद और माल दोनो रूपो में वसूल किया जाता होगा। साधारण धातु के जो बहुत-से सिक्के मिले हैं उनसे लगता है कि नकद वसूली कम नहीं होती थी। इस बात का समर्थन कोषपाल (ट्रेजरर) के लिए हैरण्यिक, यानी स्वर्णरक्षक, शब्द के प्रयोग से भी होता है।[20]

यहां पर इस बात का विचार करना अनुचित न होगा कि सातवाहन राजनीतिक सगठन पर दकन के उन्नतिशील कलाकौशल और बढ़ते हुए वाणिज्य-व्यापार के क्या प्रभाव हुए। एक अभिलेख मे एक अधिदर्शक (ओवरसियर) का जिक्र है, जिसकी देखरेख मे कारीगरों ने एक गुफा बनाई।[21] अधिदर्शकों (ओवरसियरो) के इस वर्ग मे बौद्ध भिक्षु, गुरुजन, व्यापारी आदि सम्मिलित थे। इन्हे नवकर्मिक और उपरक्षित[22] जैसी अनेक सज्ञाओं से अभिहित किया जाता था। राज्य से इनका कोई

वास्ता था या नही, यह स्पष्ट नही है। अभिलेखों में बहुधा उल्लिखित विभिन्न प्रकार के कारीगरों और व्यापारियों (नैगमों) के समूहों से व्यवहार करने के लिए सातवाहन राजाओं ने कैसा सगठन कायम कर रखा था, इसका कोई सकेत नहीं मिलता है। लेकिन इतना निश्चित है कि उन्हें अपनी श्रेणियां (गिल्ड) बनाने की पूरी स्वतत्रता थी, और राजपरिवार के सदस्य भी इन श्रेणियों में धर्मस्व राशिया जमा किया करते थे।

बौद्ध भिक्षुओं और सस्थाओं को दिए गए जिन अनुदानों का उल्लेख 'ल्यूडर्स लिस्ट' में हुआ है उनके अवलोकन से यह धारणा बनती है कि भरहुत और साची मे अधिकतर दान कारीगरों और गंधिक (जिससे गाधी उपाधि निकली) कहे जाने वाले एक व्यापारी वर्ग द्वारा दिए गए। लेकिन नासिक और जुन्नर गुफालेखों से प्रकट होता है कि बहुत-से व्यक्तिगत अनुदान नैकम या नैगम कहे जानेवाले व्यापारियों ने लिखे, हालांकि दाताओं के रूप में गंधिकों, सेठियों और सथवहों के नाम भी आए हैं। यदि व्यापारी धर्मखाते में इस तरह दिल खोलकर दान देते थे तो राज्य खुद अपने मामले मे उन्हें कजूसी क्यो करने देता? कारीगरों और व्यापारियों से राजा को होनेवाली आय के प्रत्यक्ष साक्ष्य बहुत कम मिलते हैं, किंतु कारुकर शब्द के प्रयोग से लगता है कि गाव मे रहनेवाले कारीगरों को भी कर चुकाना होता था। घाटकर (फेरी ड्यूज), जिसे कुछ प्रसगो मे तो हम उषभदात[23] को वसूल करके भेजते देखते हैं, मुख्यत व्यापारी ही देते होगे। सभव है, सातवाहन राज्य के विभिन्न समुद्री बदरगाहों में बने चुगीघरो की देखरेख के लिए चुगी अधिकारी भी रखे जाते होंगे, लेकिन हमे वास्तविक स्थिति जानने का कोई जरिया मालूम नहीं है।

सातवाहन राजा बडे-बडे सरकारी पदों पर शायद व्यापारियों को रखते थे। *उनके अमात्यों के नामों—जैसे शिवगुप्त और परिगुप्त—से लगता है कि वे वैश्य* थे। नगरव्यवस्था से व्यापारियो का घनिष्ठ सबध दिखाई देता है। सातवाहन राज्य में इन नगरों की सख्या सबसे अधिक प्रतीत होती है। अभिलेखों में भरुच, सोपारा, कन्हेरी, कल्याण, पैथन, तगर (तेर), जुन्नर, कर्ले, गोवर्धन, नासिक और धन्यकटक नाम आए हैं। उत्खननों से अन्य अनेक नगरीय या अर्धनगरीय बस्तियों का भी पता चलता है। ये हैं मस्की, ब्रह्मगिरि, चद्रवलि, ब्रह्मपुरी (कोल्हापुर), जोर्वे, कोंडपुर, बहल, सगंकुल्लु, अमरावती, नागार्जुनिकोंड आदि। हम इनमे अरिकमेदु को भी शामिल कर सकते हैं। टालेमी ने जिस एरिएक एडेनन नामक प्रदेश का वर्णन किया है उसे सातवाहन राज्य मानने के अनेक आधार उपलब्ध हैं। टालेमी द्वारा वर्णित इस क्षेत्र में पाच बदरगाह और अठारह अतर्देशीय नगर थे।[24] बहुत संभव है कि इनमें से बहुत से नगर वही हैं जिनकी जानकारी अभिलेखों या उत्खननों से मिलती है। व्यापारी लोग अपना परिचय देने

में अपने माता-पिता के नामो की अपेक्षा अपने-अपने नगरो के नाम बताने को अधिक उत्सुक दिखाई देते हैं। अनेक नैगम बताते हैं कि वे कल्याण के निवासी हैं।[25] हमें सोपारा[26] के एक नैगम, कल्याण[27] के एक लोहार और धेनुकाकटक[28] के एक बढ़ई की भी जानकारी मिलती है। कुछ लोग अपने को मात्र निगमपुत्र, यानी नगरनिवासी, बताते हैं। यहां जो थोडे-से दृष्टात दिए गए हैं उनसे प्रकट होता है कि कारीगरों और व्यापारियों का अपने-अपने नगरो और अपने उस नागरिक जीवन पर, जिसमें उनका भी यथाशक्ति योगदान रहता होगा, कितना गर्व था। इस तरह के बहुत-से और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं, जो इस बात की ओर सकेत करते हैं कि व्यापारियों के लिए, वे किस जनजाति या परिवार के हैं, इसका उतना महत्त्व नही था जितना कि इसका कि वे किस क्षेत्र या नगर के हैं।

इनमें से कम से कम कुछ नगरों का प्रबध निगमसभा करती थी। उपभदात ने प्रथानुसार इसी सभा में अपने दानपत्र की घोषणा की और पजीयन करवाया।[29] कभी-कभी किसी नगर के निवासी सामूहिक रूप से भी दान देते थे। अमरावती के तक्षणों मे धान्यकटक नगर द्वारा दिए गए अनेक अनुदानों के उल्लेख हैं।[30] स्पष्ट ही निगमसभा के सदस्य व्यापारी ही होते थे, यद्यपि कुछ गृहपति भी इस हैसियत से काम करते थे।[31] स्थानीय प्रशासन में लोकतत्त्व की प्रधानता पर अनेक लेखको ने जोर दिया है। मगर यहा खासतौर से ध्यान देने लायक बात यह है कि पुरालेखो और उत्खननों से ईस्वी सन की प्रथम दो शताब्दियो में दकन और विशेषकर महाराष्ट्र में जितने अधिक नगरों के अस्तित्व का पता चलता है, प्राचीन इतिहास के अन्य किसी भी काल में इस क्षेत्र मे उतने अधिक नगरो के अस्तित्व की जानकारी नहीं मिलती। यह तो स्पष्ट ही है कि व्यापारी लोग प्राचीन भारत में नागरिक जीवन में जितने बडे पैमाने पर दकन में हाथ बटाते थे उतने बडे पैमाने पर और कहीं नही। व्यापारियो और कारीगरों के संघो से—जिन्हें अभिलेखों मे सेनि या श्रेणी और निकाय कहा गया है[32]—मिलनेवाले साक्ष्यों को भी ध्यान मे रखकर देखे तो कुल मिलाकर लगता है कि सातवाहनों के अधीन नागरिक जीवन का अभूतपूर्व विकास हुआ। व्यापारियों और कारीगरो के संघों का निगमसभा के साथ और निगमसभा का राज्य के साथ क्या सबंध था, इसकी जानकारी हमें नही है। लेकिन जाहिर है कि ये संघ राजा के लिए आर्थिक स्थायित्व के महत्त्वपूर्ण आधार थे, और संभव है, उसे नगर प्रशासन में भी सहायता देते रहे हों। विचित्र बात है कि सातवाहनों के उत्तराधिकारियो के अधीन ईस्वी सन की छठी शताब्दी के अंत तक व्यापारियों के ऐसे संघों का कहीं कोई जिक्र देखने को नही मिलता।

सातवाहनों की एक और विशेषता, जो उनके शासन की समाप्ति के बाद अधिक समय तक कायम नहीं रह सकी, मातृक उत्तराधिकार की परपरा थी। इस परंपरा का संकेत सातवाहन राजाओं के मातृनामों और ऐसी ही कुछ अन्य बातों से

मिलता है, जहा गुप्त और गुप्तोत्तर राजा 'पितृपादानुध्यात' (अर्थात पिता के चरणों में अनुरक्त) कहे गए हैं, गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'अविपनमातुसुसुक' (अनवरत मातृसेवा में रत) बताया गया है।[33] ध्यातव्य है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि, वासिष्ठीपुत्र पुलमावि,[34] वासिष्ठीपुत्र शातकर्णि, गौतमीपुत्र श्री विजय शातकर्णि और गौतमीपुत्र श्री यज्ञ शातकर्णि के नामों में उनके पिता के नाम नही जुड़े हुए हैं। यह उत्तर भारत में गुप्तों के काल में प्रचलित प्रथा से बिलकुल भिन्न है, क्योंकि इस काल में वहां राजा अपने नामों के साथ पितृनाम जोड़ना और अपने पिता के वास्तविक या काल्पनिक पराक्रमों का सोत्साह वर्णन करना कभी नहीं भूलते।

चूंकि अभिलेखों से ज्ञात पूर्वतम सातवाहन राजाओं—सिमुक और कृष्ण—के नामों के साथ मातृनाम नही जुड़े हैं, इसलिए कुछ विद्वान ऐसा सोचते हैं कि सातवाहन राजवंश में मातृवंशीय प्रथाएं आगे चलकर समाविष्ट हुई। लेकिन जिस स्तरक्रम (स्ट्राटिग्राफिकल पोजीशन) से महाराष्ट्र के कोल्हापुर जिले में ब्रह्मपुरी[35] नामक स्थान पर वासिष्ठीपुत्र विलिवायकुर, माढरीपुत्र सिलवकुर और गौतमीपुत्र विलिवायकुर के सिक्के प्राप्त हुए हैं, उससे यह प्रमाणित होता है कि सातवाहनों के उदय के पूर्व से ही दकन में मातृवशीय प्रथाए प्रचलित थीं। यह प्रथा सातवाहनों के समकालीन और अधीनस्थ शासक घराने महारठियों में भी प्रचलित थी। मातृनामिकता सामान्य लोगों में भी प्रचलित थी, जैसे कि गृहपति कौंत (स्पष्टत: कुंतीपुत्र) साब के नाम से प्रकट होगा।[36] मातृनामों का सभावित कारण मातृक उत्तराधिकार ही प्रतीत होता है, और चूंकि वशानुगत शासन में राज्य परिवार का ही वृहत्तर रूप होता था, इसलिए राज्य के सबंध में भी उत्तराधिकार की मातृक पद्धति ही लागू होती थी। उत्तराधिकार की ठीक-ठीक रीति क्या थी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किंतु मातृनामिकता से संकेत मिलता है कि राजाओं को सिंहासन अपने पिता से नही मिलता था। नायर समाज में पुत्री को उत्तराधिकार में मिली सपत्ति का प्रबंध उसका भाई और उसके न होने पर उसका पुत्र करता है। कदाचित यही दृष्टात गौतमीपुत्र शातकर्णि पर भी लागू होता हो, जो स्पष्ट ही अपनी माता के उत्तराधिकार में प्राप्त राज्य की व्यवस्था करता था। यदा-कदा रानी अपने वैधानिक अधिकार का आग्रह करने से भी नही चूकती थी। उदाहरण के लिए, अपने पुत्र के राजत्वकाल के चौबीसवें वर्ष में उसने एक कृषिभूमि के अनुदान से सबंधित आदेश सीधे गोवर्धन आहार के शासक के पास भेज दिया। राजसिंहासन का वैध अधिकारी ही ऐसा व्यवहार कर सकता था, क्योंकि अशोक के अभिलेखों में या अन्य सातवाहन अभिलेखों में हम देखते हैं कि केवल राजा ही शासकों को आदेश भेजता था।

नागनिका द्वारा संपादित वैदिक यज्ञों की लंबी और प्रभावोत्पादक सूची स्त्रियों

के लिए यज्ञादि कर्मों का वर्जन करनेवाली वैदिक तथा ब्राह्मण संस्कृति की पितृतंत्रात्मक परंपरा पर मातृतंत्र के प्रभाव की द्योतक हैं। इसके खिलाफ यह दलील दी गई है कि नागनिका ने तो ये सारे यज्ञ अपने पति के साथ संपन्न किए,[37] किंतु संबंधित अभिलेख से यह अर्थ अनुचित खींचतान करके ही निकाला गया है कि इन यज्ञों में वह अपने पति की अर्धांगिनी थी। वास्तव में नागनिका की गरिमामय धार्मिक स्थिति के संबंध में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है, और ऐसा लगता है कि उसकी एक प्रतिमा भी सार्वजनिक रूप से प्रतिष्ठित की गई थी। इस सबके लिए उसे अनेक गांव, विपुल द्रव्य तथा बहुत-से पशु दान करने पड़े थे,[38] जिससे राजकोष निश्चय ही बहुत क्षीण हो गया होगा। रानी नागनिका राजकोष के धन का इस तरह व्यय कर सकती थी, यह उसकी उच्च राजनीतिक स्थिति का असंदिग्ध प्रमाण है। यद्यपि नागनिका तथा बलश्री,[39] इन दोनों रानियों ने अपना पूर्वेतिहास विस्तारपूर्वक दिया है, किंतु उनके भूमि अनुदान राजा द्वारा अनुमोदित नहीं किए गए हैं। इन रानियों का जिन गावों पर अधिकार था वे उन्हें निवाह अनुदानो के रूप में नहीं मिले हुए थे—जैसा कि हम चाहमनों के अधीन देखते हैं—बल्कि शायद मातृक उत्तराधिकार के अंशों के रूप मे प्राप्त हुए थे।

सातवाहन अधिकारियों और सामंतों की पत्नियां अपने पति का प्रशासकीय पदनाम धारण करती थीं, जिससे प्रकट होता है कि वे भी अपने पति की बराबरी की प्रतिष्ठा और प्रभाव की दावेदार थी। महासेनापत्नी[40] और महातलवारी[41] उपाधियां इसके प्रमाण हैं। एक भूमिदान शासनपत्र का प्रवर्तन करनेवाली महिला प्रतिहारी (द्वारपालिका) का भी अनोखा उदाहरण मिलता है।[42] ये सारे तथ्य सातवाहन शासनपद्धति में महिलाओ की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं।

यद्यपि गुप्त राजाओं के अभिलेखों में भी राजमाता का नामोल्लेख हुआ है, लेकिन वाकाटक राज्य की संरक्षिका के रूप में काम करनेवाली द्वितीय चंद्रगुप्त की पुत्री प्रभावती को छोड़ किसी ने भी प्रशासन मे कोई उल्लेखनीय भूमिका नहीं निभाई। स्पष्ट है कि गुप्तों तथा गुप्तोत्तर राजवंशों की शासनपद्धति पर सातवाहनों की विरासत का कोई गंभीर प्रभाव नही पड़ा। अलबत्ता, पूर्व मध्यकालीन उड़ीसा में प्रशासन के क्षेत्र में महिलाओं ने महत्त्वपूर्ण योग दिया।

लेकिन सातवाहन राज्यव्यवस्था के अनेक तत्व चिरस्थायी सिद्ध हुए। हम गौतमीपुत्र शातकर्णि में अरोपित आलौकिक और अतिमानवीय विशिष्टताओं के उल्लेख से प्रारंभ कर सकते हैं। शक्ति और तेज मे उसकी तुलना राम, केशव, अर्जुन, भीम, नाभाग, नहुष, जनमेजय, सागर, ययाति, अंबरीष, पवन, गरुड़, सिद्ध, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, भूत, गंधर्व, चारण, चंद्र, दिवाकर और नक्षत्र—जैसे कथा- कहानियों के पात्रों और अलौकिक शक्तियों से की गई है।[43] इन साम्यों से

किसी हद तक राजत्व के दैवी पक्ष का आभास मिलता है, जो गुप्त राजाओं के पुरालेखीय वर्णनों में स्पष्ट रूप से सामने आई है।

सातवाहन राजनीतिक पदाधिकारियों द्वारा 'महा' उपाधि का प्रयोग, वास्तव में, इस उपाधि के प्रयोग के प्राचीनतम दृष्टांतों में से है। बाद में गुप्त राजाओं, अधिकारियों और सामतो के पदनामों में इसका व्यापक प्रयोग होने लगा। सातवाहन राजा अपने को राजा ही कहते थे, हालांकि उनके अभिलेखों मे महाराज का उल्लेख मिलता है। महासेनापति, महारठी, महाभोज, महातलवार आदि अन्य पदनाम भी मिलते हैं, जो सातवाहन सामंतों की उपाधियां माने गए हैं। महारठी जैसे कुछ सामत सातवाहनो की तरह न केवल मातृनाम धारण करते थे, वरन उनका स्थान भी वशानुगत होता था,[44] जिससे वे स्वतत्र रूप से सिक्के जारी कर सकते थे[45] और ग्राम अनुदान दे सकते थे।[46] हम इक्ष्वाकुओं, चुटुसों, विष्णुकुंडिनों आदि को, तथा सातवाहनों की भी अन्य शाखाओं के सदस्यों को, जो स्पष्ट ही मुख्य सातवाहनों के सामंत थे, इनमें से कुछ उपाधियां धारण करते देखते हैं। 'महा' उपसर्ग के प्रयोग के साथ राजपुरुषों के बीच श्रेणिबद्ध और असमान सबधों का सूत्रपात होता है और उन उपाधियों का आरभ होता है जो पूर्व मध्यकाल के सामंती श्रेणि विन्यास मे व्यापक रूप से प्रचलित हुईं।

किंतु सातवाहन प्रशासनपद्धति का एक महत्त्वपूर्ण अंग, जिसका रूप आगे चलकर विकसित हुआ, ग्रामप्रशासन था, इस व्यवस्था में ग्रामीण लोगों की देखरेख का दायित्व या तो पुलिस और सेना को अथवा धर्मानुदानभोगियो को सौंप दिया जाता था। ग्रामीण क्षेत्रों के प्रशासन मे कुछ विद्वान लोकतत्व का भी समावेश देखते हैं,[47] किंतु अभिलेखों से इसका कोई सकेत नही मिलता। कवि हाल की 'गाथा सत्तसइ' को आधार मानकर यह कहा गया है कि ग्रामणी का अधिकार क्षेत्र पाच या दस गावो तक भी होता था।[48] लेकिन इस ग्रंथ के पांचवें अध्याय में–रहट्टघडिय– शब्द के उल्लेख से यह संकेत मिलता है कि ग्रंथ का सकलन किसी समय ईस्वी सन की नवीं शताब्दी में हुआ होगा, जब से उत्तर भारत के अभिलेखों में सिचाई के इस फारसी तरीके का जिक्र होने लगा। यद्यपि सातवाहनों के धार्मिक अनुदानों के सिलसिले में अनेक गांवो के नाम बताए गए हैं, किंतु परवर्ती काल के शासनपत्रों की तरह, उनमें ग्रामप्रधानो (हेडमेन) और गुरुजनों (एल्डर) का कोई उल्लेख नही मिलता। ईस्वी सन की तीसरी शताब्दी के प्रथम चरण के एक अभिलेख[49] के आधार पर यह कहा गया है कि ग्राम का प्रबंध 'गामिक' या 'ग्रामिक' करता था। लेकिन जिसे 'गामिक' या 'ग्रामिक' पढ़कर ऐसा निष्कर्ष निकाला गया है वह महत्त्वपूर्ण शब्द 'गुमिक' प्रतीत होता है, जो गौल्मिक का प्राकृत रूप है।[50] इस शब्द को 'गुमिक' मानना उस सदर्भ से भी संगत जान पडता है जिसमें गौल्मिक कुमारदत्त को सातवाहणिहार के शासक महासेनापति स्कदनाग

का अधीनस्थ बताया गया है । उसी क्षेत्र से प्राप्त एक शताब्दी बाद के एक पल्लव ताम्रशासन पत्र में गुमिक या गौल्मिक को उन राज्याधिकारियों की सूची में शामिल किया है जिन्हें अनुदान की सूचना दी गई है ।[51] गौल्मिक गुल्म-प्रधान होता था ।[52] और ईस्वी सन की प्रथम चार शताब्दियों के स्रोतों के अनुसार गुल्म में नौ पत्तियां, अर्थात कुल मिलाकर 9 रथ, 9 हाथी, 27 घोडे और 45 पैदल सैनिक होते थे ।[53] बहुत सभव है कि इस काल तक युद्ध में रथों का उपयोग समाप्त हो गया था। लेकिन यह स्पष्ट है कि गुल्म सैनिक टुकडी थी । मनु का कहना है कि दो, तीन, पांच या सौ ग्रामों के बीच एक गुल्म रखा जाना चाहिए ।[54] पुलिस और सेना के मिले-जुले रूपवाला यह दस्ता स्पष्ट ही ग्राम्य क्षेत्र के निकट रहता था और वहां राजशक्ति का मुख्य प्रतीक होता था । ग्रामीण क्षेत्रों की व्यवस्था के लिए गुल्म तैनात किए जाने का प्राचीनतम साक्ष्य ईसवी सन की तीसरी शताब्दी का है और वह मैसूर में कृष्णा के दक्षिण बैलारी जिले मे प्राप्त हुआ है । इसके आधार पर यह मानना शायद उचित न हो कि इसका चलन पूर्ववर्ती काल में तथा दकन के उस पश्चिमी भाग में भी था जहा अधिकाश सातवाहन अभिलेख प्राप्त हुए हैं । ईस्वी सन की दूसरी शताब्दी मे भी महासेनापति शासनपत्र का प्रारूप तैयार करने जैसे कुछ गैरसैनिक कार्य किया करता था,[55] लेकिन यह ज्ञात नही कि इस तरह के अधिकारी पर बडी-बडी क्षेत्रीग इकाइयो की देखरेख की जिम्मेदारी होती थी या नहीं । सुकथंकर का विचार है कि ये सैनिक अधिकारी भू-सामत थे, और इनके अधीनस्थ क्षेत्र इन्हे जागीर के तौर पर मिले हुए थे । यह अनुमान सही हो या गलत, लेकिन क्षत्रिय शासकों के रूप में सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति की प्रथा अशोक के जनपद प्रशासन से बिलकुल भिन्न है, क्योंकि हम देखते हैं कि अशोक के जनपदशासन का दायित्व 'राजुक' कहे जानेवाले उच्च गैरसैनिक पदाधिकारी पर होता था । निस्सदेह, अशोक को सीमांत क्षेत्रों के लोगों को शात रखने की समस्या से बराबर जूझते रहना पडा, फिर भी उसने उन्हें सैनिक शासन के अधीन कभी नहीं रखा ।

सातवाहन ग्राम प्रशासन मे बलप्रयोग का तत्व विद्यमान था, ऐसा निष्कर्ष धर्मानुदानभोगियों को दी गई हिदायतों से भी निकाला जा सकता है । हम देखते हैं कि अनुदत्त कृषिक्षेत्रो तथा गांवो, दोनों को चाटो और भटो (सेना और पुलिस के लोगो) के प्रवेश तथा राजकीय अधिकारियों के हस्तक्षेप से मुक्त कर दिया जाता है । यो अनुदानभोगियों को करों की अदायगी से भी मुक्त कर दिया जाता था, किंतु शासनपत्रों में जोर करमुक्ति पर नही, बल्कि उपर्युक्त सुविधाओ पर ही दिया गया हैं । इससे यह धारणा बनती है कि राजकीय पुलिस, सैनिक, परिचर (रिटेनर) और अधिकारी ग्रामीण क्षेत्रो में मनमाना व्यवहार करते होंगे और शोषण के कारगर साधन रहे होगे । वाकाटक राजाओं के अधीन यह चलन कायम रहा, बल्कि इसमें

और भी तीव्रता आ गई। उन्होंने तो उन वस्तुओं का स्पष्ट निर्देश कर दिया जो ग्रामवासियों को विभिन्न राजकीय परिचरों को सुलभ करानी थीं। कालांतर से यह प्रथा पूर्व मध्यकाल की ग्रामीण शासनव्यवस्था की एक सामान्य विशेषता बन गई।

सातवाहन शासन के सैनिक स्वरूप का एक प्रमाण यह भी है कि उनके अभिलेखों में सैनिक शिविर के पर्याय कटक और स्कंधावार जैसे शब्दों का प्रयोग बार-बार हुआ है। ऐसा मालूम होता है कि हरेक आहार का अपना कटक होता था। गोवर्धन आहार में स्थित बेनकटक[56] इसका एक उदाहरण है। शायद धेनुका कटक या धान्यकटक भी किसी आहार से जुड़ा कटक ही था। विजय-स्कंधावारों से शासनपत्र जारी करने का चलन, जिसका पूर्व मध्यकाल में व्यापक प्रचार हुआ, सातवाहनों ने ही आरंभ किया।

भूमि अनुदान सातवाहन ग्राम प्रशासन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। अभिलेखों से प्रकट होता है कि सातवाहनों ने ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं को राजस्विक तथा प्रशासनिक रियायतें देने का चलन शुरू किया। पुरालेखों में वर्णित भूमिदान का शायद सबसे प्राचीन दृष्टांत नागनिका के नानाघाट गुफालेख से उपलब्ध होता है। रानी नागनिका ने अपने वैदिक यज्ञों के पुरोहितों को दक्षिणा में कई गांव दिए।[57] लेकिन अनुदत्त गावों में उन्हें कुछ रियायतें भी दी गईं या नही, इसका उल्लेख इसमें नही है। रियायतों का प्रथम उल्लेख ईस्वी सन की दूसरी शताब्दी के प्रथम चरण मे गौतमीपुत्र शातकर्णि के दानपत्र में मिलता है। इन रियायतों में से एक यह भी है कि राज्य ने आबाद खेतों में मिलनेवाले नमक (जो शायद ऐसे सभी खेतों में नही ही मिलता होगा) पर अपने अधिकार का परिहार कर दिया है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सैनिकों, पुलिस के लोगों तथा राजपरिचरों को आदेश दिया गया है कि वे अनुदत्त गांवों या खेत के प्रबंध में हस्तक्षेप न करे। इस प्रकार अनुदत्त क्षेत्र पूर्णतः धार्मिक दानभोगियों के हाथों में चला जाता था।

ईस्वी सन की दूसरी शताब्दी के सातवाहन अभिलेखों में प्रयुक्त सर्वजाति परिहार[58] शब्द-समुच्चय से प्रकट होता है कि अनुदानभोगियों को सभी प्रकार की रियायतें दी जाती थीं। राजकीय शासनपत्र के अर्थ में परिहार की जो परिभाषा कौटिल्य ने की है उसके अनुसार उससे जाति विशेष, नगरविशेष, ग्रामविशेष या प्रदेशविशेष पर की गई राजकृपा का बोध होता है।[59] करमुक्ति के अर्थ में परिहार की सिफारिश नए बसे इलाकों के किसानों के लिए[60] तथा कुछ विशेष परिस्थितियों में नाविकों और व्यापारियों के लिए भी की गई हैं।[61] सिंचाई साधनों का जीर्णोद्धार करने वालों को भी इसी अर्थ मे पांच वर्षों के लिए परिहार प्रदान करने को कहा गया है।[62] 'अर्थशास्त्र' से हमें परिहार का उपभोग करनेवाले गांवों[60] और परिहार के

सहारे ही जीवनयापन करनेवाले राजकृपापात्रों[64] के उल्लेख भी देखने को मिलते हैं। कौटिल्य विशुद्ध रूप से धर्मनिरपेक्ष उद्देश्य से अर्थात अंततः राजकीय संसाधनों की वृद्धि के प्रयोजन से—परिहार की सिफारिश करते हैं। किंतु सातवाहन अभिलेखों में केवल धार्मिक प्रयोजनों से प्रदत्त परिहारों का उल्लेख है, और सिर्फ चार-पांच मदों में रियायत दी गई है।[65] ईस्वी सन की चौथी शताब्दी के एक पल्लव अभिलेख में अलग-अलग प्रकार के परिहारों (अष्टादश जातिपरिहार) का उल्लेख मिलता है।[66] इस अभिलेख के अनुसार सातवाहन राष्ट्र में भी इन परिहारों का प्रचलन था।[67] लेकिन हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि ईस्वी सन की तीसरी शताब्दी के प्रारंभ से, जबकि यह क्षेत्र सातवाहनों के अधीन आया, कृषकों से ये सारे कर वसूल किए जाते थे या नहीं।

राजस्विक और प्रशासनिक अधिकारों का पूर्ण और स्थायी परिहार किया जाता रहा हो, ऐसी बात भी नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ने बौद्ध भिक्षुओं के एक समूह को प्रदत्त गांव उनसे लेकर दूसरे समूह को दान दिया।[68] फिर, जान पड़ता है, गौतमीपुत्र ने भिक्षुओं को प्रदत्त एक क्षेत्र उनसे इस आधार पर वापस ले लिया कि वे उसमें खेती नहीं करते थे और गांव में लोग निवास नहीं कर रहे थे। इसके बदले उन्हे नगरसीमा पर दूसरी जमीन दी गई।[69] जो भी हो, सातवाहन राज्य में स्थायी भूमि अनुदान नहीं दिया जाता था। वैसे तो इस काल में भी हमें अक्षयनीवि[70] धृति (टेन्योर) का उल्लेख मिलता है, लेकिन अभी इसका अर्थ किसी क्षेत्र या वस्तु का स्थायी अनुदान नहीं, बल्कि अनुदत्त क्षेत्र या वस्तु का अक्षय स्वरूप ही मानना चाहिए।

स्पष्ट है कि ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए सातवाहनों ने दंडप्रयोग के साथ-साथ भिक्षुओं और पुरोहितों को अनुदान देने के उपाय से भी काम लिया। बौद्ध भिक्षुओं ने, जो अभिलेखों के अनुसार प्राचीनतम भूमि अनुदान-भोगी प्रतीत होते हैं, निश्चय ही सामान्य लोगों के बीच शांति और सदाचरण के नियमों का प्रचार किया होगा, जिससे प्रजा द्वारा राजसत्ता तथा समाजव्यवस्था को चुनौती दिए जाने के प्रसंग बहुत कम हो गए होंगे। वर्णव्यवस्था के नियमों का पालन करवाने के लिए उत्सुक ब्राह्मणों से गौतमीपुत्र का भी कुछ ऐसा ही प्रयोजन सिद्ध होता होगा। एक अभिलेख में शातकर्णि को एकमात्र ब्राह्मण और वर्णसंकरता का निवारक कहा है। सातवाहन लोग बनावटी प्रतीत होते हैं, और शायद यही कारण था कि उन्होंने ब्राह्मणव्यवस्था को इतना प्रबल समर्थन दिया। सातवाहन अभिलेखों में उल्लिखित चारों वर्ण सातवाहनों के राज्य में, शायद, समान रूप से सुस्थापित नहीं हो पाए थे और संभव है कि वर्णव्यवस्था की रक्षा के लिए राजा को वास्तव में सिर्फ शूद्रों को अनुशासित करने का काम ही करना पड़ता हो, हालांकि गौतमीपुत्र का दावा है कि 'उसने क्षत्रिय

राजाओ को नीचा दिखाया । इस राजा ने अपने जिम्मे जो कर्तव्य लिया है वह वही है जो कौटिल्य ने राजा के लिए निर्धारित किया है । आगे चलकर अभिलेखों में यही दावा गुप्त राजा, हर्षवर्धन और अन्य शासक भी करते हैं । लेकिन प्रचलित समाजव्यवस्था को कायम रखकर राजनीतिक स्थिरता में योगदान देने के राजकीय दायित्व पर सबसे पहले सातवाहनों ने ही जोर दिया ।

इस अध्ययन से सातवाहनों के राजनीतिक संगठन की जो तसवीर सामने आती है वह अधूरी है । हमे उनकी न्याय पद्धति की कोई भी जानकारी नही है, नागरिक प्रशासन की बहुत थोडी, तथा राजस्व और सैनिक संगठन की अपर्याप्त जानकारी ही सुलभ है । दूसरी और तीसरी शताब्दियों के अभिलेखों से पता चलता है कि उनका राज्य 'आहारो' और 'ग्रामो' में विभाजित था । 'आहार' ऊपर के स्तर की ईकाई था और गाव नीचे की स्तर की । 'आहार' शायद अमात्य या महासेनापति के अधीन होता था और गाव गौल्मिक के अधीन । क्षेत्रीय इकाइयों के प्रधान के रूप में दो परवर्ती अधिकारियो का उल्लेख हमें बैलारी जिले मे ईस्वी सन की तीसरी शताब्दी में मिलता है । इसलिए ऐसा मानना कठिन है कि यह साफ-सुथरी क्षेत्रीय व्यवस्था सपूर्ण सातवाहन राज्य में और पूरे सातवाहन शासनकाल मे लागू थी । अनेक पुरालेखीय साक्ष्यों से यह सकेत मिलता है कि भिक्षु और व्यापारी सातवाहन राज्यव्यवस्था के स्तभरूप थे । लेकिन प्रशासन मे उनका वास्तविक योगदान क्या था, यह हम नही बता सकते । सभवत. भिक्षु, उन्हें जो विपुल अनुदान मिलते थे, उनके बदले में लोगो के बीच शांति का प्रचार करते थे और व्यापारी इनके तथा राज्य के अन्य खर्चों के लिए आवश्यक साधन जुटाते थे ।

सातवाहन शासन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसका दडात्मक, अर्थात सैनिक स्वरूप है, जिसका अदाजा एक तो इस बात से मिलता है कि ग्रामीण क्षेत्रो में पुलिस के लोगों तथा सैनिकों के प्रवेश और हस्तक्षेप के वर्जन का उल्लेख अनुदानों में दी गई एक प्रमुख रियायत की तरह किया गया है, और दूसरे, इससे कि हम प्रशासनाधिकारियों के लिए महासेनापति और गौल्मिक जैसे सैनिक पदनामों का चलन देखते हैं ।

सातवाहन प्रशासन पद्धति मौर्यों और गुप्तो के बीच, तथा उत्तर और दक्षिण के बीच की महत्त्वपूर्ण कडी प्रतीत होती है । सातवाहनो ने अशोक के प्रशासन के कुछेक तत्व कायम रखे, किंतु साथ ही, उन्होंने अनेक नए और महत्त्वपूर्ण तत्व समाविष्ट भी किए, जिन्हे आगे वाकाटकों और गुप्तो ने अपना लिया । उनके शासन मे महिलाओ और व्यापारियो द्वारा निभाई जानेवाली भूमिका अधिक दिनो तक कायम नही रही, लेकिन ग्रामीण क्षेत्रो को सैनिक शासन में रखने तथा अनुदान मे राजस्विक और प्रशासनिक अधिकारो के परिहार की प्रथाएं उत्तर और दक्षिण दोनो ही दिशाओ में फैली । इस दृष्टि से पल्लव प्रशासनपद्धति को सातवाहनों की

विरासत का दक्षिण दिशा म हुआ प्रसार माना जा सकता है। पल्लवो ने गुल्म प्रशासनपद्धति और परिहारों का सिलसिला कायम ही नहीं रखा, बल्कि इनके शासन में चौथी सदी मे परिहारों की सख्या अठारह और छठी सदी में पैंतीस तक पहुच गई।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 सिलेक्ट इंस्क्रिप्शस, II, स 86, पंक्ति 10
2 एच सी रायचौधरी का विचार है कि सातवहिन काल के बाद आहार शायद लुप्त हो गए (जी याजदानी-सपादित, अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि देकन, भाग I-IV पृ 45) लेकिन अभिलेखों से इस बात का समर्थन नहीं होता
3 जनपदे सातवहणिहारे, से इ, II, स 90, पंक्ति 2
4 'स्थानीय' में 800 गाव पडते थे (अर्थ II-2 1) यह जनपद का अग था (अर्थ, II 2 3) जनपद राजस्व के प्रयोजनार्थ चार इकाइयों में विभाजित होता था। (II 2 34) हर राजस्विक इकाई शायद स्थानीय के बराबर होती थी
5 वही, स 75, पंक्तिया 1-2
6 से इ II, स 83, पंक्ति 2
7 वही, पंक्ति 5
8 वही, स 84, पंक्ति 1
9 वही, स 87, पंक्ति 2
10 ल्यूडर्स लिस्ट, न. 1105
11 वही, 994
12 क्लेक्टेड वर्क्स ऑफ आर जी भडारकर II, 242
13 से इ, II, स 87, 14 के सबध में सरकार का पाठ 'बटिक खेहि' है जिसका सस्कृत रूप वह पट्टिकापालकै बताते हैं.
14 से इ, II, स 82
15 जी याजदानी, सपा, द अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि देकन, I VI, पृ 134, पादटिप्पणी 2
16 से इ, II, स 85, पंक्ति 3
17 वही, II, स 86, पंक्ति 11
18 वही, स 85, पंक्ति 3
19 वही
20 ल्यूडर्स लिस्ट, स 996, 1033 स 1141 में 'भाडाकारिकय' शब्द आया है
21 वही, 987
22 वही
23 से. इ II, स 59, पंक्ति 2
24 ज आं हि सो, xxII (1952-54), 69
25. ल्यूडर्स लिस्ट, स 1000-1, 1024 आदि
26. स 995

27 स. 1032.
28 स 1092
29 से इ, II स. 58, पंक्ति 4
30 सी शिवराममूर्ति, अमरावती स्कल्पचर्स इन द मद्रास गवर्नमेंट म्युजियम (बुलेटिन ऑफ द मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम, न्यू सि जेनरल सेक्शन, IV मद्रास 1956), 275, 285.
31 व्ही एस बाखले, 'सातवाहनाज एंड द कटेंपरेरी क्षत्रपाज', ज. ब ब्रा. रॉ ए सो, न्यू सि, 1, 57, अर्ली हिस्ट्री ऑफ द देकन, भाग I-IV, पृ. 135 पर उद्धृत.
32 ल्यूडर्स लिस्ट, स 1137, 1180, 1133, 1165.
33 से इ, II, स 86 प 4
34 वासिष्ठीपुत्र पुलमावि ने 'पितृस्नेहवश' एक गाव का दान किया था से इ II, सं 86, पंक्ति 11
35 परमेश्वरी लाल गुप्त, 'क्वाइस ऑफ ब्रह्मपुरी एक्सकेवेशस (1945-46)' दि बुलेटिन ऑफ दि देकन कालेज रिसर्च इस्टीट्यूट, जिल्द 21, पृ 45-47.
36 से इ II, स 90, प 3
37 डी सी सरकार, सें इ (द्वितीय सस्क), पृ 97, पादटिप्पणी 1.
38 से इ, II, स 82
39 वही, स 86
40 वही, स 89, पंक्ति 2
41 वही स 98, पंक्ति 9 यह ईस्वी सन् की तीसरी सदी के उत्तरार्ध का इक्ष्वाकु अभिलेख है
42 से इ, II, स 84, पंक्ति 6 इसे जिस रूप में डी सी सरकार ने पढ़ा है उसके आधार पर, तथा द्वितीय सस्करण के पृष्ठ 201 पर दी गई उसी की पादटिप्पणी के अनुसार, इस अभिलेख का यही अर्थ निकलता है
43 से इ, II, स 86, पंक्तिया 7-9
44 से इ, II, स 85, पंक्तिया 2-3
45 परमेश्वरी लाल गुप्त, दि बुलेटिन ऑफ दि देकन कालेज रिसर्च इस्टीट्यूट, जिल्द 21, 42-45
46 से इ, II, स 85, पंक्तिया 2-3.
47 जी याजदानी, सपा, अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि देकन, भाग I-IV, पृ. 135.
48 वही
49 से इ, II, स 90
50 ए इ, XIV 155, पादटिप्पणी 5
51 वही, III, स 65, पंक्ति 5
52 से इ, II स 90, पंक्ति 13 डी सी सरकार इसे 'गमिक' कहते हैं। सुकथकर इसे 'गुमिक-गौल्मिक' (ए ई, XIV 155, पा. टि 5) कहते हैं, जिसे डी डी कोसाबी ने अपनी पुस्तक एन इट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, पृ 276 पर स्वीकार किया है.
53 कोसाबी की पूर्वोद्धृत पुस्तक के पृ 276 पर उद्धृत महाभारत, I-2. 15-17, और अमरकोश, II, 8-10 11.
54 VII 114
55 से इ, II, स 87, पंक्ति 4
56 से इ, II, स 83, पंक्ति 1
57 से इ II, स.. 82

58 वही, स 83, पंक्ति 4
59 अर्थ II 10
60 वही II.1.
61. वही, II 16
62 वही, III 9
63. वही, II 35.
64 वही, II 37
65 से इ, II, स. 83, पंक्तिया 3-4.
66. वही, III स 65, पंक्तिया 31-26
67 वही, I 27
68 वही, II स 87, पंक्तिया 2-4
69 वही, स 84, पंक्तिया 3-5
70 वही, स 87, पंक्तिया 2

17. कुषाण राज्यव्यवस्था

जिस पृष्ठभूमि में कुषाण राज्यव्यवस्था की रचना हुई उसके दो मूलभूत तथ्य थे। एक तो था व्यापार का विस्तार, और दूसरा, विदेशी आधिपत्य से स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली समस्याएं। कुषाण राज्य अरब सागर से लेकर गंगा तक फैला हुआ था, और भारतीय व्यापारी मध्य एशिया के कुषाण साम्राज्य से होकर गुजरने वाले मार्ग से रेशम का व्यापार करके खूब लाभ कमाते थे। भारत से बडे पैमाने पर स्वर्णमुद्राएं सर्वप्रथम कुषाण राजाओं ने ही जारी कीं, जो बहुत हद तक इसलिए संभव हो सका कि इन दिनों भारत को मध्य एशिया से काफी मात्रा में सोना मिल रहा था। किंतु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कुषाणों ने सबसे अधिक मात्रा में तांबे के सिक्के जारी किए जो इस बात का द्योतक है कि अर्थव्यवस्था मजबूत हो रही थी और फलस्वरूप कारीगरों और व्यापारियों का महत्त्व बढ़ रहा था।

यों तो मौर्य शासनव्यवस्था में भी विदेशी प्रभाव ढूढ़ने का प्रयास किया गया है, किंतु कुषाण राज्यव्यवस्था के संदर्भ में यह प्रयत्न शायद अधिक फलप्रद सिद्ध होगा। सीथियन लोग अपने साथ चीन और मध्य एशिया से राजत्व तथा प्रशासन संबंधी नए विचार लेकर आए थे, जिनका उन्होंने भारत की नई मिट्टी में प्रयोग किया। विदेशी शासक होने के नाते उनके लिए आवश्यक था कि बड़े-बड़े राजकीय पदों पर अपने देशभाइयों को रखें तथा नवविजित क्षेत्रों के शासन के लिए किसी न किसी प्रकार के सामंती संगठन का विकास करें, जिसमें सैनिक तत्व को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत की राजनीतिक एकता के विघटन का जो सिलसिला शुरू हुआ वह दो सौ वर्षों से अधिक समय तक चलता रहा। अंत में कुषाणों ने उस एकता को अंशतः पुनः प्रतिष्ठित किया और प्रायः एक सदी से अधिक काल तक कायम रखा। किंतु कुषाणों के राजनीतिक संगठन में कठोर केंद्रीकरण की वह प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती जो मौर्यों के शासनतंत्र की विशेषता थी। कुषाण राज्यव्यवस्था के अध्ययन के मुख्य स्रोत अभिलेख, और किसी सीमा तक, सिक्के हैं। किंतु इनसे उन बहुत सारे राज्याधिकारियों का कोई संकेत नहीं मिलता जिनका उल्लेख अशोक के पुरालेखों और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में हुआ है। मौर्य तथा कुषाण शासकों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि कुषाणों ने

बड़ी-बड़ी आडंबरपूर्ण उपाधियां धारण कीं। भारत में कुषाण शासन के संस्थापक कुजूल कडफिसेस का आरंभ एक छोटे सरदार (यवुग) के रूप में हुआ, किंतु कालांतर से जब कुषाण शक्ति की अभिवृद्धि हुई तो वह, और आगे चलकर, उसके उत्तराधिकारी महाराज और राजातिराज[1]-जैसी उपाधियां धारण करने लगे। इन दोनों उपाधियों का प्रयोग ईस्वी सन की पहली सदी के पूर्वार्ध[2] के पार्थियन[3] राजा गोंडोफार्नीस और अजीलीसिस ने भी किया था, यद्यपि अपने उत्तराधिकारी राजवंश कुषाणों की तुलना में उनकी शक्ति बहुत सीमित थी। पुरालेखों को लें तो महाराज उपाधि का प्राचीनतम उल्लेख खारवेल के पहली शताब्दी ई. पू. के हाथिगुंफा अभिलेख में मिलता है, जिसमें उसके पहले पूर्वज महामेघवाहन का वर्णन महाराज[4] के रूप में हुआ है, यद्यपि सिक्कों में इस शब्द का प्रयोग इससे पहले के काल के भारतीय-यूनानी राजाओं के लिए भी हुआ है। लेकिन राजातिराज उपाधि का रूप भारतीय होते हुए भी उसका मूल विदेशी था, और स्पष्टत. कुषाणों ने इसे अपने पूर्ववर्ती पार्थियन शासकों से ग्रहण किया था। इस उपाधि को धारण करनेवाला प्रथम पार्थियन राजा द्वितीयमिथरीडेटस (123-88 ई. पू.) था।[5] 88 ई. पू. के बाद इसका अनुकरण शायद शक सरदार मौइस ने किया,[6] और यदाकदा पार्थियन राजा भी इसका उपयोग करते रहे। 'कालकाचार्य कथानक' नामक जैन ग्रंथ में, जिसमें भारत में शकों के प्रथम आगमन के बारे में प्रामाणिक अनुश्रुतियां दी गई प्रतीत होती हैं,[7] एक शक साहि के लिए राजातिराज के प्राकृत रूप 'रायाहिराय' का प्रयोग हुआ है।[8] चूंकि शकों और खासकर पार्थियनों जैसे छोटे-छोटे राजा भी अपने को राजातिराज और महाराज कहते थे, इसलिए इन उपाधियों को किसी महत्तर राजसत्ता का द्योतक नहीं मानना चाहिए। यह बात कुषाणों पर भी लागू होती है। निस्संदेह, अशोक का साम्राज्य कुषाणों से बहुत बड़ा था और उसकी सत्ता भी उनसे बहुत अधिक सुदृढ़ थी, फिर भी वह राजा की उपाधि से ही संतुष्ट रहा। इसलिए बड़ी-बड़ी कुषाण उपाधियां—जैसा कि कुछ विद्वानों का विचार है[9]—राजसत्ता के उत्कर्ष की नहीं, वरन विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति की द्योतक हैं। ऐसी उपाधियों से ऐसे छोटे-छोटे राजाओं और सरदारों के अस्तित्व का संकेत मिलता है जिनकी हैसियत सर्वोच्च सत्ताधारी राजा के सामंतों की थी, क्योंकि वह सर्वोच्च शासक अन्य राजाओं के संदर्भ में महाराज कहा जाता है। इसी प्रकार अपने राज्य के अन्य अधीनस्थ राजाओं के मुकाबले वह राजातिराज, अर्थात राजाओं का राजा, कहलाता है। अतएव इन उपाधियों से सामंती या सरदारी संगठन का संकेत मिलता है, जिसमें अनेक करदाता राज्य या सरदार शामिल थे।

कनिष्क समूह के राजाओं को हम अपने नाम के पूर्व सामान्यतः षाहि उपाधि जोड़ते देखते हैं।[10] कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों के मुद्रालेखों में हम इस उपाधि को 'शाओनानोशाओ' के रूप में देखते हैं।[11] इस उपाधि के संस्कृत रूप

षाहाणुषाहि का प्रयोग समुद्रगुप्त की प्रसिद्ध प्रयाग-प्रशस्ति में मिलता है। यद्यपि यह उपाधि मूलत. ईरानी स्रोत से निकली, लेकिन हम निश्चयपूर्वक कुछ नही कह सकते कि यह कैसे-कैसे पास पहुची। मुद्रालेखो में यह उपाधि शुद्ध खोतानी शक भाषा मे अंकित है,[12] और 'कालकाचार्यकथानक' में इसके प्राकृत रूप 'साहानुसाहि' के प्रयोग का श्रेय शकों को दिया गया है। बहुत संभव है कि कुषाणो ने इसे उन शकों से ग्रहण किया जिन्हे परास्त करके उन्होने मोहेजोदरो के निकटवर्ती क्षेत्रों में अपनी सत्ता प्रतिष्ठित की थी। उपर्युक्त जैन ग्रंथ में जिस संदर्भ मे इस उपाधि का उल्लेख किया गया है उससे इस उपाधि के प्रशासनिक तथा राजनीतिक महत्त्व पर काफी प्रकाश पडता है। प्रसंग यह है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल ने जैन गुरु कालक की भगिनी का अपहरण कर लिया। बहन को मुक्त कराने के लिए 'कालक शक कुल' मे गया। वहा सामंतगण 'साहि' और उन सामतो का प्रभु (सामताहिवै) 'साहाणुसाहि' कहलाते थे। कालक एक साहि के यहा ठहरा, लेकिन चूँकि यह साहि तथा पचानवे अन्य साहि 'साहाणुसाहि' के कोपभाजन बन गए, इसलिए कालक ने उन्हे सौराष्ट्र चलने को प्रेरित किया। फलत वहा पहुचकर उन्होने उस क्षेत्र को आपस मे बाट लिया। पतझड आने पर जैन गुरु इन सबको लेकर उज्जयिनी पहुचे। वहां गर्दभिल्ल को बंदी बना लिया गया और एक साहि रायाहिराय (अधिराज) के रूप मे प्रतिष्ठित कर दिया गया। इस प्रकार शक शासक वश की स्थापना हुई। इस कथा से शक राज्यव्यवस्था की तीन विशिष्ट बातों का पता चलता है, और जान पडता है, कुषाणों ने इन तीनो को अपना लिया। एक तो मह कि साहि ऐसे स्वतत्र राजे नही थे जिन पर बाद मे किसी ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, बल्कि वे ऐसे सरदार थे जिनकी हैसियत अपने प्रभु अर्थात सामताहिवै के सामतो की थी। दूसरे, साहि लोग भी उसी जनजाति के थे जिसका षाहाणुषाहि था, और इसलिए उसकी स्थिति बराबरी वालो के बीच प्रथम व्यक्ति की थी। तीसरे, जैसा कि ऐसे सबध मे स्वाभाविक ही था, अपने प्रभु के प्रति षाहियों की निष्ठा का आधार बहुत कमजोर था और असतोष का तनिक सा कारण मिलते ही वे अपनी प्रभुभक्ति को तिलाजलि देकर अपना भाग्य अन्यत्र आजमाने को तत्पर हो जा सकते थे। अपने प्रभु के प्रति षाहियो के दायित्वो की कुछ जानकारी हमे प्राप्त है। 90 ईस्वी मे यूचियो ने अपने प्रतिनिधि साई को, जो एम सिलवा लेवी के अनुसार एक षाहि था, पान-चाऊ पर आक्रमण करने भेजा, लेकिन पान-चाऊ ने उसे पराजित कर दिया।[13] इससे प्रकट होता है कि अपने प्रभु की सैनिक सेवा करना षाहि का प्रमुख कर्तव्य था। दुर्भाग्यवश, उपलब्ध सामग्री मे न तो छोटे राजाओ, षाहियो आदि के नामों का कही कोई उल्लेख मिलता है, और न अपने कुषाण प्रभुओं के साथ उनके सबंधों के स्वरूप का कोई सकेत मिलता है। किंतु बाहर से आकर अपना शासन स्थापित

करनेवाले मुट्ठीभर विजेताओं के सरदारी संगठन का सहारा लेना सही मालूम पड़ता है।

कुषाण राजनीतिक व्यवस्था के सामंती स्वरूप का अनुमान कुछ अन्य उपाधियों से भी लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, द्वितीय वेम कडफिसेस द्वारा प्रयुक्त 'महीश्वर'[16] उपाधि का अर्थ है। महाप्रभु। 'सर्वलोक-ईश्वर'[17] का मतलब है समस्त ससार का प्रभु। यद्यपि कनिष्कसमूह के कुषाण शासकों ने ये उपाधिया धारण नही कीं, लेकिन इनमे अतर्निहित भावना भिन्न नहीं थी। ध्यातव्य है कि कुषाण शासकों द्वारा सामान्यतः प्रयुक्त राजातिराज तथा षाहि जैसी उपाधियां देशी शासको ने धारण नही की, लेकिन कडफिसेस समूह के राजाओ की उपाधियो के साथ जुडे ईश्वर शब्द का गुप्तोत्तर राजाओ के बीच आम चलन हो गया। वे अपने को परमेश्वर, अर्थात परमप्रभु कहने लगे।

कुषाणो पर रोम की शासनप्रणाली का भी प्रभाव पडा, क्योंकि कनिष्क ने हमकैजर[18] की उपाधि धारण की। सभवत इसके पीछे उसका मंतव्य रोम की शक्ति को चुनौती देने का था। किंतु यह सस्ती नकल भर थी। रोम की प्रातीय शासनप्रणाली का, जो रोमवालों की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी, कुषाणों पर कोई प्रभाव नही पडा। कुषाण लोग मौर्यों अथवा रोमवालो के ढग पर किसी सुदृढ प्रातीय व्यवस्था का विकास नही कर पाए। अपने राज्य के एक बहुत बडे क्षेत्र पर शायद उनका कोई प्रत्यक्ष शासन और नियत्रण नही था। प्रथम कनिष्क के शासनकाल के तीसरे वर्ष (81 ई.)[19] के सारनाथ बौद्ध प्रतिमा अभिलेख में वनस्पर और खरपल्लान नामक दो क्षत्रपों का उल्लेख हुआ है, जो कनिष्क के साम्राज्य के सबसे पूर्वी प्रांत, अर्थात बनारस के आसपास के क्षेत्रों में शासन करते थे।[20] इससे पूर्ववर्ती काल मे उत्तर भारत के कुछ हिस्सों मे द्वैध राजत्व का चलन था, यह तो कतिपय यूनानी तथा जैन स्रोतो से मालूम होता है; लेकिन लगता है, कुषाणों ने एक ही प्रात मे दो शासक रखने की विचित्र प्रथा भी प्रारंभ कर दी। स्पष्ट ही इसमें प्रयोजन यह था कि दोनों क्षत्रप एक-दूसरे पर अकुश रखने का काम करे। लेकिन शायद वनस्पर और खरपल्लान बहुत अधिक दिनों तक समान स्थिति में नही रह पाए। एक अन्य अभिलेख में वनस्पर का उल्लेख तो क्षत्रप के रूप मे और खरपल्लान का महाक्षत्रप[21] के रूप में किया गया है। यह परिवर्तन कैसे हुआ, कहना कठिन है। दोनो क्षत्रपो की हैसियत बराबरी की हो, इसकी अपेक्षा यह बात सामंती प्रणाली के श्रेणिबद्ध सगठन में शायद अधिक सगत थी कि दोनों में से एक की स्थिति अधिपति की और दूसरे की अधीन की हो। महाक्षत्रप, को भरसक क्षत्रप का प्रभु बना दिया गया और क्षत्रप को प्रशासन कार्य मे उसका सहायक बनाया गया। दोनो के नामो से स्पष्ट है कि वे विदेशी थे। एक अनुमान यह है कि वे मथुरा

के महाक्षत्रप षोडास के वंशज थे, जिनकी पूर्वस्थिति कुषाणों ने कायम रखी।[22] यदि हम इस अनुमान को स्वीकार कर लें तो इसका मतलब यह होगा कि कुषाण राजा प्रत्यक्ष रूप से क्षत्रपों की नियुक्ति भी नहीं करते थे, बल्कि उन्हें विजित सरदारों के रूप में अपने अपने स्थानों पर पुनः प्रतिष्ठित कर देते थे। संभव है, कभी-कभी ऐसा भी होता रहा हो, और कभी-कभी क्षत्रपों की प्रत्यक्ष नियुक्ति भी की जाती रही हो। कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि सामान्यतः राज परिवार के सदस्य ही इस पद पर नियुक्त किए जाते थे। उदाहरण के लिए, एक महाराज का पुत्र, शायद पश्चिमोत्तर भारत में, क्षत्रप नियुक्त किया गया।[23] कुषाण साम्राज्य में कितने प्रांत थे, यह हमें ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। अनुमान लगाया गया है कि साम्राज्य पांच, या शायद सात, प्रांतों में बंटा हुआ था।[24] लेकिन हमें यह नहीं मालूम है कि यह विभाजन कब तक और कितनी नियमितता से काम करता रहा। इसी तरह इन प्रांतों को प्रशासन प्रथा की दृष्टि से सुपरिभाषित वर्गों में बांटना आसान नहीं है।

अभिलेखों से क्षत्रपों के कार्यों के बारे में पूरी जानकारी नहीं मिलती। व्यक्तियों के रूप में वे, वनस्पर और खरपल्लान की तरह, बुद्ध की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित करते थे, या क्षत्रप वैश्पसि की तरह,[25] बुद्ध के बहुत-से स्मारक स्थापित करते थे। वैश्पसि नामक क्षत्रप के विषय में हमें इतना और मालूम है कि स्मारकों के निमित्त ही उसने एक अनुदान अधीक्षक की भी नियुक्ति की थी। लेकिन सिवाय इसके, प्रांतीय शासक के रूप में क्षत्रप के असैनिक कार्यों पर अभिलेखों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। पार्थियन तथा कुषाण क्षत्रपों से पहले के अखामनी क्षत्रपों के कार्यों से[26] कोई निष्कर्ष निकालना उचित न होगा, क्योंकि कुषाणों और ईरानी अखामनी वंश के सम्राटों के बीच पांच सदियों का अंतराल पड़ता है। तथापि, पेशावर क्षेत्र में प्राप्त एक परवर्ती खरोष्ठी अभिलेख में एक क्षत्रप के लिए प्रयुक्त ग्रामस्वामी[27] पदनाम से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि क्षत्रप शायद गांवों से राज-कर वसूल करता था और ग्रामप्रधान तथा राजा के बीच की कड़ी का काम करता था[28]। जिस प्रकार बहुत-से लोग कुषाण महाराजों के आध्यात्मिक कल्याण के निमित्त धार्मिक अनुदान देकर उन्हें सम्मानित करते थे,[29] उसी प्रकार एक नवदीक्षित व्यक्ति ने उक्त क्षत्रप के सम्मान में एक 'संघाराम' तथा 'स्तूप' का निर्माण करवा कर उसके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की।[30] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह क्षत्रप व्यक्तिगत रूप से काफी प्रभावशाली था और एक तरह से अपने महाराज से प्रायः स्वतंत्र था।

कुषाणों के अभिलेखों आदि से उनके सैनिक संगठन की ठीक जानकारी नहीं मिलती। उनके अभिलेखों में दंडनायक शब्द का, विभिन्न रूपों में, काफी उपयोग हुआ है। इससे कुषाण राज्यव्यवस्था में सैनिक तत्व के महत्त्व का संकेत मिलता

है। लेकिन, कुषाणो ने भारत की पारपरिक चतुरंगी सेना के स्वरूप को कहा तक परिवर्तित किया, इसका पता अब तक नही चल पाया है। इसमे संदेह नही कि वे बड़े कुशल घुडसवार थे। वे रकाबो का भी उपयोग करते थे, जिसका चलन जैसा कि समकालीन मूर्तियों से प्रकट होता है—सीथियनों ने आरंभ किया। पर यह रकाब लोह या अन्य किसी धातु के बने नहीं थे बल्कि रस्सी के बने होते थे। इस काल में भारत चीन को घोड़े भेजता था, और हान राजाओ के एक कानून के अनुसार घुड़सवारो के लिए पतलून पहनना आवश्यक था। इस नियम का पालन भारतीय कुषाण भी करते थे। मथुरा मे प्राप्त कनिष्क की मूर्ति से स्पष्ट है कि बूट और पतलून कुषाण घुडसवारो के आवश्यक पहनावे थे और ये बहुत अच्छे धुनर्धर भी होते थे। दुर्भाग्यवश हमे न तो कुषाण सेना के संख्या बल के बारे में कोई जानकारी प्राप्त है और न उसके सगठन तथा वितरण के सबध मे कुछ मालूम है।

क्षत्रप अपनी सत्ता का प्रयोग दडनायक या महादंडनायक कहे जानेवाले अर्धसैनिक अधिकारियो के माध्यम से करते थे। जान पडता है, कुषाणराज्यव्यवस्था मे दडनायकों और महादडनायकों का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण था। कनिष्क के राजत्वकाल में लल नामक एक दडनायक का उल्लेख मिलता है, जो क्षत्रप वेश्यसि के अनुदान-अधीक्षक के रूप में काम करता था।[31] यह सैनिक अधिकारी शासक परिवार का सदस्य था, क्योंकि इसे 'कुषाणवशवर्धक'[32] कहा गया है। इसके अतिरिक्त, मथुरा में प्राप्त एक कुषाणकालीन अभिलेख मे महादंडनायक वालिन[33] का उल्लेख हुआ है। मथुरा के ही एक अभिलेख मे एक और महादंडनायक का जिक्र है, जिसका बेटा हुविष्क के अधीन काम करता था।[34] मथुरा में ही प्राप्त तीसरे अभिलेख मे, जो कनिष्क के राजत्वकाल के चौथे वर्ष का है, महादडनायक हुम्मियक चन्यक्क का उल्लेख हुआ है, जिसके नाम पर एक बौद्ध विहार का नामकरण हुआ।[35] इनमे से कुछ उल्लेखो से ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये अधिकारी कभी-कभी असैनिक कार्य सँभालते थे, लेकिन विजित प्रदेशो के प्रशासन में उनके सैनिक कर्तव्य अधिक महत्त्वपूर्ण रहे होगे। इस मत को स्वीकार करना कठिन है कि दंडनायक सामंत सरदार होता था, और वह राजा को सैनिक तथा असैनिक सहायता देता था।[36] सामंती व्यवस्था में सरदारों को उनकी सेवाओं के लिए अनुदान स्वरूप भूमि दी जाती थी, पर इसका कोई साक्ष्य कुषाण व्यवस्था में नही मिलता। यह मत इसलिए प्रस्तुत किया गया है क्योंकि विभिन्न विद्वान इस पद के साथ सैनिक, दंडाधिकारिक (मैजिस्ट्रियल) तथा न्यायिक दायित्वों का संबध जोडते हैं। कोई आश्चर्य नही कि नए प्रदेशों पर आधिपत्य जमाने के समय शासन के विभिन्न कार्यों का कोई विशेष पृथक्करण नही हो पाया, और एक ही राजकीय अधिकारी ये सारे कार्य सपादित करता रहा। बहुत सभव है कि कालांतर से दंडनायक के सैनिक तथा कार्यकारी पक्ष पृष्ठभूमि में

चले गए हो और न्यायिक पक्ष मुख्य रूप से सामने आ गया हो। परवर्ती शब्द-कोषों मे इसी कारण से दडनायक का अर्थ दडाधीश बताया गया है। इस प्रकार, जैसे हम नागरिक[37] शासन के क्षेत्र में राजा तथा महाराज, क्षत्रप तथा महाक्षत्रप के उल्लेख देखते हैं वैसे ही सैनिक क्षेत्र में दंडनायक और महादडनायक के प्रसग मिलते हैं। यह चीज उस काल में प्रचलित प्रशासनिक स्तरावली से सर्वथा मेल खाती है। गरज यह कि मौर्य राज्याधिकारियों के विपरीत कुषाण अधिकारियों के पदनामो से उनके किसी क्षेत्र-विशेष या कार्य-विशेष से जुडे होने का बोध नही होता बल्कि वे सभी तरह के काम करनेवाले एक ही प्रकार के वरिष्ठ और कनिष्ठ अधिकारियों की श्रेणी हैं। इन अधिकारियो को वेतन देने की प्रथा का उल्लेख कही नही मिलता। ब्राह्मणों को खिलाने-पिलाने के लिए दिए गए नकद अनुदानो तथा सोने और ताबे के सिक्कों के व्यापक प्रयोग से प्रकट होता है कि उन्हें शायद नकद वेतन मिलता था। इसके अतिरिक्त, कुषाण अधिकारियो की संख्या कम होने के कारण उन्हें नकद वेतन देना कठिन भी नही रहा होगा।

जहा तक कुषाण शासन की क्षेत्रीय इकाइयों का सबध है, समुद्रगुप्त के इलाहाबाद अभिलेख में उनके राज्य के विषय तथा भुक्ति का उल्लेख हुआ है।[38] भुक्ति के चलन की पुष्टि किसी समकालीन स्रोत से नही होती, और इसीलिए ऐसा माना जा सकता है कि यहां एक गुप्तकालीन तथ्य को ही कुषाण काल पर घटा दिया गया है, लेकिन 'विषय' के अस्तित्व का समर्थन तीसरी सदी के एक महायान ग्रथ से होता है, जिसमे देवपुत्र की परिभाषा करते हुए 'विषयों' मे शासन करनेवाले राजाओ का उल्लेख किया गया है।[39] मौर्योत्तर तथा गुप्तकाल के अभिलेखों मे ऐसी इकाइयो का उल्लेख सामान्यतया भूमि-अनुदानों के प्रसग में हुआ है, लेकिन कुषाण राजाओ द्वारा भूमि-अनुदान दिए जाने का कोई साक्ष्य अब तक नही मिल पाया है। कुषाण राज्य के शहरी क्षेत्रों के प्रशासन की भी हमे प्रायः कोई जानकारी नही है। पूर्वोत्तर भारत मे कारीगरों और व्यापारियों के सघो (श्रेणियो) के अस्तित्व का साहित्यिक साक्ष्य तो प्रारंभिक पालि ग्रथो और निस्सदेह, मौर्योत्तर बौद्ध ग्रथों मे ढूढा जा सकता है, लेकिन इसका सबसे प्रारंभिक पुरालेखीय साक्ष्य कुषाणकाल में ही मिलता है। भीटा में प्राप्त चार कुषाणकालीन मुहरों मे निगम[40] का उल्लेख हुआ है, और एक अभिलेख मे चार श्रेणियो का जिक्र आया है, जिनमें से एक मथुरा के गेहू के आटे का व्यापार करनेवाले लोगो की थी।[41] मथुरा की जिन दो श्रेणियो को ब्राह्मणो को खिलाने-पिलाने के लिए नकद अनुदान मिले, वे निश्चय ही अपने सदस्यों की देखरेख करने तथा शहर के कार्य-व्यापार की व्यवस्था करने की सामर्थ्य रखती थी। यद्यपि इस काल के अभिलेखों से पश्चिमी भारत और दकन के जितने सघों की जानकारी मिलती है, उसकी तुलना मे उत्तर भारत के बहुत कम सघों की जानकारी मिलती है, फिर भी इसमें सदेह नही कि इन सघों से निगम की

उन प्रवृत्तियो का सूत्रपात होता है जिन्होने गुप्तकाल मे वैशाली तथा उत्तर के अन्य नगरों मे व्यापक महत्त्व प्राप्त कर लिया ।

निस्सदेह सबसे छोटी क्षेत्रीय इकाई गाव था, जो ग्रामिक के अधीन होता था । जान पडता है, मथुरा क्षेत्र में ग्रामिक कुषाण शासनप्रणाली का अभिन्न अंग होता था । मथुरा मे प्राप्त वासुदेव के राजत्व काल के एक जैन अभिलेख[42] मे ग्रामिक का स्पष्ट उल्लेख हुआ है । मथुरा मे ही प्राप्त एक अन्य जैन प्रतिमाभिलेख को भी, जिसमें एक स्थानीय ग्रामिक[43] की दो पीढ़ियों का जिक्र है, कुषाणकाल का ही मानना चाहिए । जाहिर है कि कुषाणों को यह ग्रामसस्था अपने पूर्ववर्ती शासको से विरासत मे मिली थी और उन्होने आगे उसे कायम रखा, क्योंकि ग्रामिक का पद बिबिसार के काल से ही चला आ रहा था । ऐसे साक्ष्य भी मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि बिबिसार के राज्य मे 80,000 ग्रामिक थे । जैसा कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से ज्ञात होता है, यह पद मौर्यकाल के दौरान कायम रहा । लेकिन नाम कायम रहा, इससे आवश्यक तौर पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्रामिक की हैसियत और उसके कार्य भी सदा एक से रहे होगे । मौर्योत्तर काल का ग्रामिक किस हद तक पूर्व मौर्यकालीन ग्रामभोजक और मौर्यकालीन ग्रामिक के कर्तव्यो का निर्वाह करता रहा, इस सबध में हम निश्चयपूर्वक कुछ नही कह सकते । लेकिन मनु की कृति मे ग्रामिक के जो उल्लेख आए हैं, उनसे इस पदाधिकारी की स्थिति और कार्यों का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । शांति एव सुव्यवस्था कायम रखना—जिसके लिए आवश्यकता पड़ने पर वह दशाधिप (दस गावो के प्रधान) से भी सहायता और निर्देश की याचना कर सकता था—तथा अन्न, पेय, ईंधन आदि के रूप मे राजस्व वसूल करना उसके मुख्य कार्य थे[44] : और इस मामले मे वह पूर्ववर्ती ग्रामप्रधान से भिन्न नही प्रतीत होता । इसी प्रकार, उसकी नियुक्ति की पद्धति मे भी कोई अतर नही दिखाई पड़ता, क्योंकि ग्रामभोजक की तरह ग्रामिक की नियुक्ति राजा ही करता था । लेकिन मनु के ग्रामप्रधान के पद मे हमें दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं । एक तो यह था कि अब गांव की सुरक्षा का दायित्व उस पर नही था, जबकि, लगता है, पूर्व मौर्यकाल मे यह काम ग्रामभोजक के जिम्मे ही था और मौर्य काल मे ग्रामिक और ग्रामीणजन सयुक्त रूप से यह जिम्मेदारी निभाते थे ।[45] अब यह कार्य ग्रामीण क्षेत्रो मे हर दो, तीन या पाच गांवो पर राजा द्वारा तैनात किया गया एक गुल्म या सैनिक दस्ते के जिम्मे दिया गया ।[46] स्पष्ट है कि मौर्योत्तर काल के विदेशी विजेता पुराने ग्रामप्रधानो को सशस्त्र रहने देना निरापद नही मानते थे । दूसरे, अब ग्रामिक को वेतन मे पूर्व मौर्यकाल की तरह ग्रामीण जनो से प्राप्त जुर्माने की रकमे नही दी जाती थी, और न मौर्य काल की तरह उसे नकद वेतन दिया जाता था । इसके बजाय अब उसे अनुदानस्वरूप जमीन का कोई टुकडा दे दिया जाता था ।[47] वेतन देने की पहली दो प्रथाओ के कारण उसकी

शक्ति बढ़ नही सकती थी, पर तीसरी प्रथा के कारण उसकी अभिवृद्धि होने लगी। जब इस पद के वशानुगत रूप के साथ इसके पदाधिकारी को भूमिअनुदान मिलने लगा तो कुल मिलाकर ग्रामप्रधान के महत्त्व में और भी वृद्धि ही हुई, जैसा कि इस काल मे ग्रामिक के लिए प्रयुक्त 'ग्रामस्य अधिपति'[48] (गाव का स्वामी) शब्द-समुच्चय से प्रकट होता है। हमें पद्रपाल[49] कहे जानेवाले एक और अधिकारी की भी जानकारी मिलती है, जो शायद गाव की सामूहिक परती जमीन का प्रधान रहा होगा।

मनु के आधार पर कहा जा सकता है कि कुषाणकाल के ग्रामिक का राजस्व सग्रह से सबध था, लेकिन इस काल के अन्य राजस्व अधिकारियों की हमें कोई जानकारी नही है। इसी तरह, हमें विभिन्न प्रकार के सपत्ति विषयक अधिकारों की भी जानकारी नही है। लेकिन इस काल मे प्रचलित अनुदान की 'अक्षयनीवि' प्रणाली से हमे कुषाणो की राजस्व पद्धति का कुछ संकेत मिलता है। हुविष्क के मथुरा प्रस्तर-अभिलेख (वर्ष 28–106 ईस्वी?) में इस प्रणाली के अनुसार दो अनुदान—एक पुण्यशाला[50] तथा 500 पुराण[51]—दिए जाने का उल्लेख है; जिसका मतलब यह है कि ये दोनों अनुदान स्थायी तौर पर दिए गए थे। इस काल में महाराष्ट्र में भी इस प्रणाली के अनुसार नकद राशि के रूप में अनुदान दिए जाते थे। इसकी जानकारी हमें नहपान के काल के नासिक गुफा-अभिलेख[52] से मिलती है। नहपान शक क्षत्रप था और अपने छत्रपत्व के आरंभिक दौर मे शायद कनिष्क के अधीन था। पहली शताब्दी ई. पू. से हमे सातवाहन शासक द्वारा दिए गए भूमि अनुदानों के पुरालेखीय साक्ष्य मिलने लगते हैं, लेकिन उत्तर भारत के सदर्भ मे हमें ऐसे अनुदानो का कोई पुरालेखीय प्रमाण नही मिलता। संभव है कि उत्तर भारत में अक्षयनीवि अधिकार के अनुसार भूमि अनुदान देने का प्रचलन कुषाणों के अधीन आरभ हुआ हो, परतु अभी तक इसका कोई पुरालेखीय प्रमाण नही मिला है। कुषाण तथा सातवाहन शासकों द्वारा दिए गए अक्षयनीवि अनुदानों से पता चलता है कि देश मे सिक्के का प्रचलन बडे पैमाने पर था। उत्तर और दक्षिण दोनों क्षेत्रों में अक्षयनीवि प्रणाली के अनुसार दिए गए नकद अनुदान बतलाते हैं कि ईस्वी सन की प्रथम दो शताब्दियों के दौरान पश्चिम और उत्तर भारत मे सिक्को का व्यापक उपयोग होता था। साहूकारी के धंधे को धर्म का अनुमोदन प्राप्त था, क्योंकि धार्मिक सस्थाओं को अनुदान मे मिली नकद राशि से जो ब्याज प्राप्त होता था उससे वे अपना खर्च चलाते थे। साथ ही ताबे के बहुत सारे सिक्के कुषाण के समय मे पाए जाते हैं; इन बातो को ध्यान मे रखते हुए हम ऐसा सोच सकते हैं कि राजस्व की वसूली बहुत हद तक नकद राशि के रूप मे की जाती थी। मुद्रा पर आधारित अर्थव्यवस्था छोटे-छोटे सामतो और सरदारों पर अपनी सत्ता कायम रखने में कुषाण राजाओं के लिए काफी सहायक हो सकती थी, किंतु ऐसी अर्थव्यवस्था के

बावजूद अक्षयनीवि अनुदानो के चलन तथा सामंती सगठन के फलस्वरूप विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति को गति मिलना अवश्यंभावी था।

राजा को दैवी स्वरूप प्रदान करने से शायद, विकेंद्रीकरण की शक्तियों को किसी हद तक रोका जा सकता था। अधिकांश कुषाण शासक बौद्ध थे, फिर भी उन्होने देवपुत्र की उपाधि धारण करके तथा मृत राजा की पूजा की प्रथा चलाकर अपने को देवता के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। राजा का ऐसा दैवीकरण 'दीघ निकाय' मे प्रतिपादित राजत्व की उत्पत्तिविषयक बौद्ध सिद्धांत से असंगत था और प्रारंभिक ब्राह्मणवादी सिद्धांतों के भी अनुरूप नही था। यद्यपि उत्तर वैदिककाल की अभिषेक विधियों में विभिन्न देवताओं से प्रार्थना की जाती है कि वे राजा को अपने-अपने गुण प्रदान करे, लेकिन उनमे कही भी राजा को देवता नही कहा गया है। इसके विपरीत, वैदिक अभिषेक विधियो में राजा के पार्थिव माता-पिता का स्पष्ट उल्लेख है। लेकिन 'शतपथ ब्राह्मण' में राजा को प्रजापति का मानव रूप बतलाया गया है।[53] ऐसी ही परिकल्पना 'अथर्ववेद' में भी मिलती है, जिसमें वैश्वानर परिक्षित को सभी मानव प्राणियो पर शासन करनेवाला राजा बतलाया गया है और उसे सभी मर्त्यजनों से उच्च स्थान पर स्थित देवता के रूप में रखा गया है,[54] लेकिन संहिता का यह अश बाद में जोडा गया। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि कि वैदिक काल में राजा का देवत्व कोई व्यापक रूप से मान्य नहीं था। परवर्ती काल में 'अर्थशास्त्र' में राजा की सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिए धार्मिक हथकंडों का सहारा लिया गया है,[55] लेकिन राजा में देवत्व का आधान नही किया गया है। बौद्ध राजा अशोक देवानांप्रिय—देवताओं का प्रिय—कहलाने में गौरव का अनुभव करता था। इस उपाधि को उसके पौत्र दशरथ ने भी कायम रखा,[56] लेकिन मौर्योत्तर काल में इस उपाधि का प्रयोग समाप्त हो गया, और इसके स्थान पर एक अन्य उपाधि देवपुत्र का चलन हुआ। इस उपाधि का उल्लेख 21 ब्राह्मी ('ल्यूडर्स लिस्ट' के मुताबिक) और 3 खरोष्टी (कोनो की सूची के अनुसार) अभिलेखों मे हुआ है, और जान पडता है, कुषाण शासकों को यह उतनी ही प्रिय थी जितनी कि देवानांप्रिय उपाधि अशोक को। एक अन्य उपाधि 'देवव्रत' का उपयोग केवल पार्थियन राजा गोडोफरनीस ने किया।

ऐसा लगता है कि जब कुषाण राजाओं ने देवपुत्र की उपाधि अपनाइ, तो एक समकालीन महायानी बौद्ध ग्रंथ 'सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र' में इसका सैद्धांतिक औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया गया। इस बात की ओर सबसे पहले सिलवां लेवी ने ध्यान दिलाया।[58] बौद्ध ग्रंथ मे प्रश्न पूछा जाता है कि मनुष्य रूप में उत्पन्न राजा देव क्यों कहा जाता है और उसे देवपुत्र सज्ञा से क्यों अभिहित किया जाता है।[59] उत्तर में बतलाया जाता है कि मनुष्य रूप में उद्भूत होने के पूर्व वह देवों के बीच रहता था, और चूंकि जिन तत्वों से उसका निर्माण हुआ उन तत्वों मे तैंतीसों देवताओ में से प्रत्येक ने योगदान किया, इसलिए वह देवपुत्र कहलाता है।[60]

मनुस्मृति[61] तथा शांतिपर्व में राजा की दैवी उत्पत्ति की जो इस प्रकार की व्याख्या की गई है, उसमें भी शायद कुषाणों का प्रभाव हो। सुवर्णप्रभासोत्तम सूत्र की तरह मनु ने राजा के लिए देवपुत्र शब्द का प्रयोग नहीं किया है, लेकिन वह कहता है कि उसमें आठ देवों के गुणों का समावेश है[62] और राजा यदि बालक हो तो भी उसकी अवहेलना नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य रूप में देवता है।[63] शांतिपर्व मे, जिसके अनेक श्लोक मनु के श्लोकों के समान हैं और जिसमें राजा की उत्पत्ति के सबध में सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र के ढग पर ही प्रश्न पूछा गया है, मूल राजा को ईश्वर का वशज कहा गया है।[64] ये तीनों ग्रथ, जिनमे से एक बौद्ध परपरा और दो ब्राह्मण परपरा के हैं, राजा को ऐसा दैवी रूप प्रदान करते हैं जो पहले कभी नहीं किया गया था, और लगता है कि तीनों को प्रेरणा कुषाण कालीन स्थिति से मिली थी। किंतु, कुषाणों का देवपुत्र कहा जाना भारतीय परपरा के अनुरूप नहीं था, और इसलिए अन्य समकालीन अथवा परवर्ती भारतीय राजाओं ने इसे ग्रहण नहीं किया।

एफ. डब्ल्यू. टॉमस का विचार है कि देवपुत्र कुषाण राजाओं की राजकीय तौर पर ग्रहण की गई उपाधि नहीं, बल्कि प्रजा द्वारा उनके नामों के साथ सम्मान के भाव से जोड़ा गया विशेषण था। इस विचार को यू. एन. घोषाल ने भी स्वीकार किया है।[65] लेवी की मान्यताओं के आधार पर टॉमस ने यह दिखलाया है कि देवपुत्रों का उल्लेख पूर्ववर्ती साहित्य में भी हुआ है और देवपुत्र देवताओं के एक वर्ग का नाम था।[66] लेकिन यदि पूर्ववर्ती साहित्य में इस शब्द का प्रयोग 'देवता का पुत्र' या 'देवताओं का वर्ग' के अर्थ मे हुआ है, इसका मतलब यह नहीं लगाया जा सकता कि कुषाण राजा एक विशेष अर्थ मे इसका प्रयोग कर ही नहीं सकते थे। सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र मे देवपुत्र उपाधि का जो औचित्य सिद्ध किया गया है तथा राज्यव्यवस्था पर इसी काल के आसपास लिखे ग्रथों में जिस तरह राजा की दैवी उत्पत्ति समझाने का प्रयत्न किया गया है उससे ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसका प्रयोग कुषाण राजाओं के देवत्व पर जोर देने के लिए किया जाता था। टॉमस का कहना है कि कुषाण सिक्कों में महाराज और राजातिराज जैसी उपाधियाँ तो आई हैं, लेकिन देवपुत्र नहीं, और इसलिए यह कुषाणों की राजकीय उपाधि नहीं हो सकती। एलेन से परामर्श के आधार पर वह मानते हैं कि कुजुल कर कफस (द्वितीय कडफिसेस) के एक सिक्के में कनिंघम ने जिस एक शब्द को देवपुत्र पढ़ा है, वह गलत है।[67] अगर इस दलील को स्वीकार कर लिया जाए तब भी ध्यान देने की बात है कि स्थानाभाव के कारण सिक्के में सभी उपाधियाँ शामिल नहीं की जा सकती। शायद देवपुत्र को इतनी महत्त्वपूर्ण उपाधि नहीं माना जाता था कि महाराज और राजातिराज जैसी अधिकृत और प्रचलित उपाधियों को छोड़कर उसे स्थान दिया जाता। टॉमस की यह दलील भी है कि यूचिह को छोड़कर और किसी

भी राजवंश के राजाओं के लिए भारत में इस उपाधि का प्रयोग नही हुआ। किंतु इस तर्क से भी टामस की स्थापना का समर्थन नही होता। राजातिराज, षाहि, षाहानुषाहि आदि अन्य अनेक कुषाण उपाधियों का प्रयोग भी तो भारतीय राजाओं ने नहीं किया,[68] किंतु क्या इसी कारण से हम उन्हे कुषाणों की अराजकीय उपाधियां मान ले सकते हैं? टामस बतलाते हैं कि चीनी तुर्किस्तान से खरोष्ठी लिपि में भेजे गए सदेशों मे राजा की उपाधियो के रूप में महनुअव और महरय शब्दों का तो प्रयोग हुआ है, लेकिन देवपुत्र का नहीं।[69] लेकिन इस दलील से भी उनकी स्थापना का समर्थन नही होता है, क्योंकि इन सदेशों के प्रारंभिक संबोधनों से भी सबंधित अशो मे अन्य कुषाण उपाधियो—राजातिराज तथा षाहानुषाहि—का भी प्रयोग नहीं हुआ है। टॉमस की सारी दलील का आधार कुछ स्रोतों में देवपुत्र उपाधि के उल्लेख का अभाव है। पर उसके मुकाबले हमें ऐसे निश्चित साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनसे प्रकट होता है कि इस उपाधि का प्रयोग भारत में ही नही, मध्य एशिया मे भी होता था, जहां के खरोष्ठी लिपि मे लिखे खोतनी प्रलेखों में—विशेषकर कालनिर्देश के सदर्भ मे—इस उपाधि के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[70] कुषाण अभिलेखों में अन्य उपाधियो के साथ देवपुत्र का भी उल्लेख हुआ है, और इसलिए इस पर अन्य उपाधियो से भिन्न दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, हुविष्क के लिए इसका प्रयोग एक राज्याधिकारी ने किया है, जिसकी उपाधि या पदनाम बकनपति था और जो एक महादंड-नायक का पुत्र था।[71] राज्याधिकारी तो स्वभावतः राजकीय उपाधियो के प्रयोग को ही प्राथमिकता देगा। फिर, प्रसिद्ध प्रयागप्रशस्ति में भी अन्य उपाधियों के साथ देवपुत्र का उल्लेख हुआ है और ध्यातव्य है कि इसका प्रारूप समुद्र गुप्त के लेख्य-रचयिता हरिषेण ने तैयार किया था। जिस उपाधि का आविष्कार प्रजा ने किया हो और जिसका प्रयोग भी प्रजा ही करती रही हो तथा जिसे कुषाण राजाओं ने राजकीय तौर पर स्वीकार न किया हो, ऐसी उपाधि का प्रयोग तो शायद वह नहीं ही करता। और अंत मे तीसरी सदी के एक बौद्ध ग्रंथ मे, जिसका 392 ईस्वी में चीनी में अनुवाद हुआ, भारत के राजा और यूची से राजा को भी 'स्वर्ग-पुत्र'[72] कहा गया है, और तीसरी शताब्दी के ही एक चीनी स्रोत मे भी यूची राजा को 'स्वर्ग-पुत्र'[73] कहा गया है। इन साक्ष्यो का खडन करना स्वय टामस को भी कठिन प्रतीत होता है,[74] और इनसे इस बात मे कोई सदेह नही रह जाता कि देवपुत्र कुषाणो की राजकीय उपाधि थी। लेकिन टामस का यह विचार शायद सही है कि इस उपाधि का मूल चीनी नहीं था। विम कडफिसेस के एक सिक्के पर एक शब्द को कुछ लोग देवपुत्र पढ़ते हैं, लेकिन एलेन और टामस इससे सहमत नही हैं। यदि हम इनकी असहमति को उचित मानकर चले तो देखेंगे कि यह उपाधि केवल कनिष्क समूह के उन राजाओ के संदर्भ मे ही प्रयुक्त हुई है जिन्होंने पहली शताब्दी

के उत्तरार्ध में पश्चिमोत्तर भारत से पार्थियनों को मार भगाया। पार्थियन राजाओं ने एक उपाधि अपनाई थी जिससे पता चलता है कि वे देवता को अपना पिता मानते थे। स्रोत चाहे सामी हो या यूनानी, लेकिन इसमें कोई संदेह नही कि पहली शताब्दी के पूर्वार्ध के दो पार्थियन राजाओं, द्वितीय फरैटिस तथा तृतीय फरैटिस ने, जो कुषाणों के ठीक पूर्ववर्ती शासक थे, यह उपाधि धारण की थी।[75] स्पष्ट है कि जब प्रारंभिक कुषाण राजाओं ने पार्थियो को जीता तब कनिष्क तथा उसके उत्तराधिकारियों ने पार्थियन उपाधियों तथा पार्थियन राज्य, दोनो को अपना लिया। समकालीन स्रोतों से स्पष्ट है कि कालांतर से इस उपाधि का प्रयोग महत्त्वपूर्ण राजनीतिक हथियार की तरह होने लगा।

कुषाणों ने मृत राजाओं की प्रतिमाएं रखने के लिए देवकुलों के निर्माण का आरम किया। विम की विशाल प्रतिमा पर गुदे अभिलेख मे देवकुल शब्द आया है,[76] और इसके अतिरिक्त हमें हुविष्क के राजत्वकाल में उसके पितामह के देवकुल के जीर्णोद्धार का भी उल्लेख मिलता है।[77] भास के प्रतिमानाटक के आधार पर कहा गया है कि देवकुल मे मृत राजा के सम्मान में उसकी प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती थी,[78] और देवकुल का यह अर्थ सही भी जान पडता है। इसी स्रोत के आधार पर यह भी कहा गया है कि यह कोई पूजास्थल नही, बल्कि लौकिक प्रयोजनों में बनवाया गया मंदिर था,[79] क्योंकि नाटक में इस मंदिर की न अपनी कोई ध्वजा बताई गई है, न कोई दिव्य शस्त्रास्त्र और न अन्य अनेक प्रतीक उपादान जो साधारण मंदिर से जुडे होते हैं।[80] इन उपादानों के अभाव से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह उतना महत्त्वपूर्ण नही था जितने कि परपरागत मंदिर थे। नाटक में देवकुल का ब्राह्मण अभिरक्षक भरत को अपने पूर्वजों की प्रतिमाओं को नमस्कार नही करने देता है, पर उसकी दलील है कि क्षत्रिय राजाओं को देवता मानकर उनके आगे झुकना ब्राह्मण के लिए उचित नही है।[81] उसका यह कथन ब्राह्मण वर्गगत पूर्वाग्रहों से प्रेरित है, और भरत के क्षत्रिय होने के कारण कोई अर्थ नही रखता। देवकुल शब्द का अर्थ स्पष्टतः 'देवताओं का घर' है। हुविष्क के मथुरा अभिलेख से प्रकट होता है कि राज्याधिकारी द्वारा उसके राजा के पितामह के भग्न देवकुल का जीर्णोद्धार पुण्यकार्य माना जाता था, और यह महाराज राजातिराज देवपुत्र हुविष्क की आयु और शक्ति की अभिवृद्धि के लिए संपादित किया गया था।[82] राजा का भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण साधने का प्रचलित तरीका बुद्ध के स्मृति चिन्हों पर कोई स्तूप बनवा देना या ऐसा ही कोई अन्य पुण्यकार्य सपन्न करना था। मथुरा में भी राजा के पूर्वज के देवकुल का जीर्णोद्धार इसलिए किया गया कि राजा का भौतिक कल्याण हो। इसके अतिरिक्त, अभिलेख की अंतिम पंक्ति[83] से प्रतीत होता है कि दैनिक अतिथियों तथा उन ब्राह्मणों के लिए भी कुछ किया गया,[84] जो स्पष्ट ही इस देवकुल मे पुरोहितों के रूप मे सबद्ध

थे। राजपूताना के देवगढ़ों मे ऐसे पुरोहितों के उदाहरण मिल सकते हैं।[85]

कुषाणों ने देवकुल स्थापित करने की प्रथा कहां से ग्रहण की ? एक अनुमान यह है कि यह प्रथा उन्होंने टाइबर तट पर रोमवासियों से ग्रहण की।[86] लेकिन मृत राजा की पूजा का चलन प्राचीन मेसोपोटामिया मे था, और मिस्र में भी जहां फराबों की प्रतिमाओं को रखने के लिए समाधि-मंदिर बनवाए जाते थे। शायद रोमवासियों ने यह चीज अपने इन पूर्ववर्ती मिस्री राजाओं से ही सीखी और बाद में या तो प्रत्यक्ष व्यापारिक संपर्क के फलस्वरूप या किसी अप्रत्यक्ष माध्यम से उनसे यह प्रथा कुषाणों ने ग्रहण की। भास को कौटिल्य का पूर्ववर्ती मानकर उसके आधार पर यह कहना गलत होगा कि यह प्रथा यहां पूर्व मौर्य काल में भी प्रचलित थी,[87] और कुषाण राजा ने उसे सिर्फ अपना लिया। सही स्थिति भिन्न जान पडती है। कौटिल्य ने 'देवपितृपूजा' का उल्लेख किया है,[88] लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि पूर्वजों की प्रतिमाओ की पूजा की जाती थी। इसके अतिरिक्त, कौटिल्य ने मृत राजाओं की पूजा का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। जाहिर है कि यह प्रथा भारत मे कुषाण राजा लाए, जिनकी कई प्रतिमाए आज भी यहां उपलब्ध हैं। भास इसी काल के साहित्यकार जान पडते हैं और उनकी कृतियों में मात्र समकालीन स्थिति प्रतिबिंबित हुई है। देवकुल स्थापित करने की प्रथा देवपुत्र उपाधि के अनुरूप थी, और ये दोनो बाते कुषाण राजाओं के दैवीकरण में सहायक सिद्ध हुईं। सिक्कों पर कुषाण राजाओं की जो अर्धप्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं, उनके चारों ओर दिव्य प्रभामंडल भी दिखलाया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुषाण राजाओ द्वारा देवपुत्र की उपाधि धारण किया जाना तथा देवकुल स्थापित किया जाना राजा को देवरूप देने की सुविचारित युक्ति थी। सोने के टुकडों पर द्वितीय कडफिसेस की जो प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं उनमें राजा का स्कंधदेश लपटों के आलोकमय प्रकाश से आवृत्त है और उसका ऊर्ध्वांश ऐसा प्रतीत होता है, मानो यूनानी देवताओं की तरह, वह बादलो को चीरकर निकल रहा हो। कनिष्क के स्वर्ण सिक्कों में कुछ पर प्रभामडल दिखलाया गया है, किंतु हुविष्क के कुछ विशेष प्रकार के स्वर्ण सिक्कों में से तो प्रायः सभी पर वह देखने को मिलता है। उनमें राजा प्रभामडल, लपटों तथा बादलों इन तीनो से सज्जित दिखलाया गया है। वासुदेव की प्रतिमा में सिर्फ उसके मस्तक के चारों ओर प्रभामंडल है।[89] हमें मालूम है कि प्रभामंडल विशेषरूप से कनिष्क और हुविष्क के सिक्को पर अंकित देव-प्रतिमाओं में दिखलाया गया है।[90] इसलिए अपने दिव्य उद्‌भव का संकेत देने के लिए कुषाण राजाओं ने अपने सिक्को पर अपनी प्रतिमाओं को प्रभामंडल, बादलो या लपटों से विभूषित रूप मे अंकित करवाया।[91]

इंग्लैंड में ट्यूडर शासनकाल मे निरंकुशता तथा केंद्रीकरण की प्रवृत्तियों के तर्कसंगत परिणाम के रूप मे राजा के दैवी अधिकार के सिद्धांत का विकास हुआ।

उसके विपरीत यद्यपि मौर्य राज्य ने जनजीवन के प्रत्यक्ष क्षेत्र पर नियन्त्रण रखने की चेष्टा की पर उसने राजसत्ता के दैवी मूल पर कही भी जोर नही दिया। लेकिन मौर्योत्तर काल में जब विकेंद्रीकरण की शक्तिया उभडी तब दैवी अधिकार के सिद्धात का प्रतिपादन बड़े जोरदार ढग से किया गया। जहां कुषाण राजाओं की बडी-बडी आडबरपूर्ण उपाधिया विकेंद्रीकरण की वास्तविकता का बोध कराती हैं, वहा दैवीकरण की युक्ति भी उनकी राजनीतिक दुर्बलता पर आवरण डालने तथा उसे दूर करने का प्रयत्न दिखाई पड़ती है। राजनिरकुशता को शक्ति प्रदान करने की दृष्टि से राजा के दैवी अधिकार के सिद्धात मे निहित सभावनाओ से इनकार नही किया जा सकता, परतु उसे स्वीकार करने मे ब्राह्मणों ने बडी तत्परता दिखाई और उसका उपयोग इस प्रकार किया जिससे ब्राह्मण समाजव्यवस्था का वैचारिक समर्थन हो।[92]

कुषाण राजाओ का दैवीकरण उन्हे अपनी प्रजा की निष्ठा प्राप्त कराने मे बडा सहायक सिद्ध हुआ। राज्याधिकारियो तथा व्यक्तियो द्वारा दिए गए धार्मिक अनुदानो मे इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए, तक्षशिला से प्राप्त एक खरोष्ठी अभिलेख मे महाराज राजातिराज और देवपुत्र की उपाधियो से विभूषित किसी अनाम कुषाण सम्राट के स्वास्थ्य के लिए एक बैक्ट्रियाई द्वारा तक्षशिला के ही धर्मराजिका स्तूप में बुद्ध के स्मृतिचिह्न स्थापित किए जाने का उल्लेख है।[93] इसी प्रकार अफगानिस्तान मे प्राप्त एक अन्य खरोष्ठी अभिलेख में महाराज राजातिराज हुविष्क के पुण्यार्जन के निमित्त शाक्य मुनि के स्मृति-चिह्न प्रतिष्ठित किए जाने का जिक्र मिलता है।[94] गैर सरकारी व्यक्तियो तथा राज्याधिकारियों द्वारा राजाओ के भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ के लिए अनुदान आदि देने की प्रथा की जड उत्तर भारत में कभी नही जम पाई, लेकिन पश्चिमोत्तर सीमाप्रदेश के परवर्ती कुषाण राजाओ के बीच इसका चलन कायम रहा। उदाहरणार्थ, रोटसिद्धवृद्धि नामक एक विहारस्वामी ने न केवल अपने कुटुंबियो के लाभ के लिए, बरन महाराज तोरमाण शाह जऊव्ल की रानी, राजकुमारो तथा राजकुमारियों के कल्याण के लिए भी एक विहार बनवाया।[95]

कुषाण राजाओ ने दैवी अधिकार का दावा करने के साथ-साथ यह बात भी स्पष्ट शब्दो में बताई कि वे किस धर्म के अनुयायी थे। कुषाण राजाओ के सिक्को से साफ दिखता है कि वे किस धर्म को मानते थे। उदाहरण के लिए, कुषाण यवुग कुजल कस, जिसकी पहचान प्रथम कडफिसेस के रूप मे की जाती है, अपने को ध्रमथिदस[96] कहता है। कुषाणो के सिक्को में यह उपाधि 'सचध्रमठितस' के रूप में भी देखने को मिलती है। यह बुद्ध के धर्म में उनकी भक्ति का बोध कराता है। इसके अतिरिक्त उनके सिक्कों पर शिव प्रतिमा भी अंकित है[97] किंतु, बौद्ध या शैव धर्म में अपनी स्पष्ट आस्था के बावजूद कुषाणो ने कभी धार्मिक उत्पीडन की नीति

नही अपनाई । इसके विपरीत, लगता है, वे अनेक यूनानी, ईरानी तथा भारतीय देवताओ की पूजा करते थे, क्योंकि हुविष्क के सिक्को मे इन सबकी प्रतिमाएं अंकित मिलती हैं ।[98] कनिष्क तथा हुविष्क के राजत्वकाल में जैन धर्म के गृहस्थ तथा पुरोहित दोनों वर्गों के अनुयायियो द्वारा मथुरा मे दिए गए जैन प्रतिमाओ के अनेक दानों से प्रकट होता है कि कुषाणों के अधीन यह नगर इस धर्म का विख्यात केंद्र था । इसी प्रकार, यज्ञप्रधान ब्राह्मण-धर्म के प्रति भी सहिष्णुता बरती जाती थी । एक अभिलेख मे ऐसा उल्लेख मिलता है कि भारद्वाज गोत्र के किसी ब्राह्मण ने बारह रातो का सत्र पूरा कर लेने पर एक यूप (यज्ञस्तंभ) की स्थापना की ।[99] स्पष्ट ही यह धार्मिक सहिष्णुता की नीति थी । किंतु चूंकि बौद्ध धर्म के प्रति कुषाणो ने विशेष झुकाव दिखाया, शायद इसीलिए जब उनके शासन की समाप्ति के आधी सदी बाद उत्तर भारत में उनका स्थान गुप्त राजवश ने लिया तब प्रतिक्रिया स्वरूप यहा ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान बड़ी तेजी से हुआ ।

कुषाण राज्य-व्यवस्था की इस रूप रेखा से, जो सामग्री के अभाव मे सर्वांगपूर्ण नही बन पाई है, प्रकट होता है कि कुषाणो ने भारतीय राज्य-व्यवस्था में कतिपय नए तत्वो का समावेश किया । राजा के भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण के लिए अनुदान देने की प्रथा तथा प्रातो में दोहरे शासक रखने के चलन और इसी तरह की कुछ और भी नई प्रवृत्तियो के लिए भारत की मिट्टी अनुकूल नही सिद्ध हुई । किंतु राजा के देवत्व की परिकल्पना ने परवर्ती शासको पर अपना प्रभाव अवश्य छोड़ा, क्योंकि हम देखते हैं कि समुद्रगुप्त की तुलना चार विभिन्न देवताओ से की गई है । इसके अतिरिक्त, महादंडनायक का पद तथा अक्षयनीवि अधिकार के अनुसार भूमि अनुदान देना, ये दोनो चीजे गुप्त राज्यव्यवस्था के अभिन्न अंग बन गईं । गुप्त साम्राज्य के पूर्वी, दक्षिणी तथा उत्तरी प्रांतों में हम महादंडनायको को शासनतंत्र के संचालन मे महत्त्वपूर्ण योग देते देखते हैं[100] । सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि जान पडता है, कुषाण राजनीतिक ढांचे की मुख्य विशेषता, अर्थात श्रेणिबद्ध सामंती व्यवस्था, को समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य संगठन के एक स्तंभ के रूप मे अपना लिया । जहां तक शेष बातो का संबंध है, कुषाणों ने ग्रामिक के माध्यम से गांव का प्रशासन चलाने की पुरानी पद्धति कायम रखी, और अंतर शायद सिर्फ इतना किया कि अब इस अधिकारी को अपनी सेवाओं के प्रतिफल के रूप में कुछ जमीन अनुदान में दे दी जाती थी और वह गांव की रक्षा के दायित्व से भी मुक्त हो गया था । शायद उन्होने कारीगरो और व्यापारियों के संघो को बढ़ावा दिया, जो परवर्ती काल में काफी शक्तिशाली बन गए ।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 से इ, II, स 51, पंक्ति, 2, तुल पृ 124
2 वही, II, स 29, पंक्ति 1
3 वही, II, स 23, पंक्ति 1
4 L I
5 कॉ इ इ, II, भाग I, पृ xxix
6 वही
7 वही, पृ xxvi-ii
8 स एच जैकोबी, जि डि मो जे, 1880, श्लोक 62, 'साहि' प्राकृत रूप है
9 रायचौधरी, पॉ हि ए इ, पाचवा सस्करण, पृ 518, घोषाल, द मौर्याज ऐंड सातवाहनाज, पृ 344
10 ल्यूडर्स लिस्ट न 21, 69 ए, 72, 149 ए, 161, सै इ, II, स 49, पंक्ति 10
11 कै क्वा इ म्यू, I, 69, 75-79, 84
12 कॉ इ इ, II, भाग I, पृ I III
13 जि ड मो जि, 1880, पृ 262, पंक्तिया 33-36
14 वही, पृ 267 और अन्यत्र
15 कॉ इ इ, II, भाग, I, पृ I XXII मे उद्धृत
16 सै इ, II, स 31, पंक्ति 1
17 वही
18 वही, II, स 51, पंक्तिया 1-2
19 वही, II, स 37, पंक्तिया 1-10
20 वही, पा टि 4
21 वही, II, स 38, पंक्तिया 1-2
22 एस के चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृ 84
23 सै इ, II, स 36, पंक्ति 2
24 बी एन पुरी, 'प्रोविंसियल ऐंड लोकल एडमिनिस्ट्रेशन इन दि कुषाण पीरियड', प्रो इ हि का, 1945, पृ 64
25 से इ, II, न 43, पंक्तिया 2-4
26 हेरोडोटस, दि हिस्ट्रीज (पेंग्विन) पृ 214-15
27 ए इ, XXIV, पृ 10
28 'क्षत्रप' के लिए प्रयुक्त ग्रामस्वामी पदनाम की एक सभावित व्याख्या यह भी हो सकती है कि उसके महाराज ने उसकी सेवा के प्रतिदानस्वरूप उसे ग्राम अनुदान दिए थे। लेकिन इस व्याख्या के समर्थन में और कोई साक्ष्य हमें उपलब्ध नहीं है
29 ए इ, XXIV, पृ 10
30 उपरिवत्, पृ 233
31 का इ इ, II, भाग 1, स 76, पंक्ति 2-3 दडनायक और महादडनायक शब्दों की विभिन्न व्याख्याओं के लिए देखिए, घोषाल इंडियन हिस्टोरियोग्राफी एन्ड अदर एसेज पृ 177-79 घोषाल, का यह निष्कर्ष सही लगता है कि महादडनायक का अर्थ सेनापति है, वही पृ 179

32 कॉ इ इ, II, भाग I, स 76, पंक्ति 2
33 ल्यूडर्स लिस्ट, स 60
34 ज रॉ ए सो, 1924, पृ 402, पंक्ति 5
35 के डी बाजपेयी, प्रौसि इ हि का, 1958, पृ 68, पंक्ति 2
36 बी एन पुरी, इंडिया अडर दि कुषानाज, पृ 84
37 बशर्ते कि इस काल के संदर्भ में शासनिक क्षेत्रों के पृथक्करण का बोध करनेवाली ऐसी अभिव्यक्ति का प्रयोग अनुचित न हो
38 पंक्तिया 23-24
39 ज ए 1934 पृ ३
40 आ.स रि 1911 12 पृ 56
41 से इ, खड II, स 49, पंक्तिया 12-13
42 ल्यूडर्स लिस्ट स 69 ए
43 वही, स 48
44 मनु, VII, 116-18
45 अलतेकर, स्टेट एड गवर्नमेंट इन एशिएट इंडिया, पृ 226, अध, III-10
46 मनु VII, 114
47 वही, VII, 119
48 वही, VII, 115 16
49 बी एन पुरी, इंडिया अडर दि कुषानाज, पृ 84
50 से इ, II, स 49, पंक्तिया 1-3
51 वही, पंक्तिया 11-12
52 वही, II, स 58, पंक्ति 1
53 V 15, 14
54 XX, 127 7-10
55 उपरिवत्, पृ 192-98
56 ल्यूडर्स लिस्ट, स, 954-56
57 से इ, II, स 29, पंक्ति 1
58 ज ए, 1934, प 1 आदि
59 कथ मनुष्यसभूतो राजा देवस्तुप्रोच्यते, केन च हेतुना राजा देवपुत्रस्तु प्रोच्यते। बी सी लॉ वाल्यूम, ii, 313, में एफ डब्ल्यू टॉमस द्वारा उद्धृत
60 देवेन्द्रानाम् अधिष्ठाने मातु कुक्षौ प्रवेक्ष्यति। पूर्वं अधिष्ठिते देवै पश्चाद्गर्भे प्रपद्यते। किं चापि मानुषे लोके जायते श्रीयते नृप, अपि वै देवसभूतो देवपुत्र स उच्यते। त्रयस्त्रिशैर्देवराजेन्द्रैर्भागोदत्तो नृपस्य हि, पुत्रस्त्व सहदेवाना निर्मितो मनुजेश्वर। ज ए, 1934, प 3-4
61. मनुस्मृति का रचनाकाल सामान्यत 200 ई पू से 200 ई के बीच माना जाता है। राजधर्म का विवेचन करनेवाले प्रकरणो का सग्रह शायद ईस्वी सन की प्रथम दो सदियो के दौरान हुआ।
62 VII. 7.
63. VII 8
64. *अध्याय* 59.
65 दि मौर्याज ऐंड सातवाहनाज, पृ. 345.
66. बी सी. लॉ. वाल्यूम, ii, 306-10

67 वही, 307
68 वही, 319
69 'साही' अथवा शाही' उपाधि पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की कुछ जमींदार जातियों में प्रचलित है। सभवत यह पुराने समय से चली आ रही है।
70 वही, 308
71 का इ इ, II भाग 1, पृ XXIV दुर्भाग्यवश, मुझे कनिष्क और वासुदेव के उन सिक्कों की विषयवस्तु की कोई जानकारी नहीं है जो रूसी मध्य एशिया में मिले हैं
72 ज रॉ ए सो, 1924, पृ 402-3.
73 बी सी लॉ वाल्यूम, II, 314-15
74 वही, 318
75 वही, 319
76 वही, 305
77 डी आर साहनी, ज रॉ ए सो, 1924, पृ 402
78 वही, पृ 402-3
79 जायसवाल, ज बि ओ रि सो, 1923, पृ 98-99, एच पी शास्त्री, वही, पृ 558-61
80 जायसवाल, ज बि ओ रि सो, 1919, पृ 98-99
81 वही
82 वही, पृ 960
83 ज रॉ ए सो, 1924, पृ 402, अभिलेख की पंक्तिया 2-5
84 वही, पंक्ति 61
85 वही, पृ 403
86 ज बि ओ रि सो, 1919, पृ 559
87 पॉ हि ए इ, पचम सस्करण, पृ 5
88 ज बि ओ रि सो, 1919, पृ 560
89 पॉ हि ए इ, पचम सस्करण, पृ 517, पा टि 3
90 एम ई ड्रइन, 'दि नियुस ऐंड साइस ऑफ डिफिकेशन आन दि क्वाइस, ऑफ दि इडो-शिथियन किंग्स, रिव्यू न्यूमिस्मेटिक, 1901, पृ 154-66, अनु इ ए, 1903, पृ 427
91 इ ए, 1903, पृ 428
92 वही, 432
93 राजा के दैवी रूप के सबध में धर्मशास्त्रों में जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनकी वर्तमान व्याख्याओं को अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन पॉलिटिकल आइडियाज' (पृ 566-67 पा टि 20) में साररूप में प्रस्तुत करके घोषाल ने उनका विवेचन किया है
94. से इ, II स 34, पंक्ति 3
95. वही, II स 55, पंक्ति 3
96 ल्यूडर्स लिस्ट, स 5
97. से इ, II, स 19 पंक्ति 1
98 वही, पृ 125, पा टि 3, पृ 155
99 वही, पृ 155, पा टि 5
100 ल्यूडर्स लिस्ट, स 149 ए
101 घोषाल, 'इंडियन हिस्टोरियोग्राफी ऐंड अदर एसेज', पृ 178.

18. गुप्त राज्यव्यवस्था

गुप्तकाल में कृषि क्षेत्र का जोर से विस्तार हुआ। इसका प्रमाण इस युग में पिछड़े इलाकों में ब्राह्मणों को दिए गए भूमिदान हैं। इस काल में जमीन पर निजी अधिकारों का विकास स्पष्ट रूप से हुआ। धार्मिक प्रयोजनों के लिए भूमि की खरीद-बिक्री के प्रथम पुरालेखीय साक्ष्य हमें इसी काल में उत्तर बंगाल से प्राप्त होते हैं। स्वभावतः धर्मशास्त्रों (विधिग्रंथों) को इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का खयाल रखकर चलना था। फलतः हमें कानून और वास्तविक व्यवहार दोनों क्षेत्रों में भूमि विवादों के निपटारे की अनेक युक्तियों का उल्लेख देखने को मिलता है। भूमिदानो का प्रशासनिक ढांचे पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा। धार्मिक भोक्ताओं को दिए गए ग्राम अनुदानों के कारण राजस्व और प्रशासन की नई व्यवस्थाओं का उदय हुआ।

यद्यपि गुप्तकाल में विदेश-व्यापार के परिमाण में ह्रास हुआ, फिर भी उत्तर भारत में कला और शिल्प की काफी उन्नति हुई। मुहरों और अभिलेखों में कारीगरो, व्यवसायियों और व्यापारियों तथा इनके संघों का उल्लेख इस काल में अक्सर देखने को मिलता है, और गुप्त शासन के स्थानीय स्तरों पर ये एक प्रमुख तत्व के रूप में सामने आते हैं। गुप्त लोग वैश्य प्रतीत होते हैं, और शायद यही इस नई वस्तुस्थिति का तथा साम्राज्य के विभिन्न भागों मे ब्राह्मणेतर और क्षत्रियेतर शासकों और अधिकारियों की नियुक्ति का रहस्य है।

आर्थिक दृष्टि से गुप्तकाल की भव्यता इसलिए है—कि गुप्त राजाओं ने प्रचुर मात्रा में स्वर्ण मुद्राएं जारी कीं। सच पूछिए तो इसी अर्थ में यह काल स्वर्ण-युग माना जाना चाहिए। स्वर्ण मुद्राओं का व्यवहार जमीन की खरीद-बिक्री मे होता था, और संभव है, राजस्व की वसूली और उच्चाधिकारियो के वेतन की अदायगी भी स्वर्ण मुद्राओं मे ही की जाती रही हो। किंतु तांबे के सिक्को के अभाव से यह संकेत मिलता है कि छोटे मोटे अधिकारी अधिक संख्या मे नही रखे जाते थे।

गुप्तकालीन राजनीतिक स्थिति का मुख्य तथ्य है समुद्रगुप्त की दिग्विजय और आगे चलकर पश्चिमी भारत मे द्वितीय चंद्रगुप्त के नेतृत्व में की गई अनेक लड़ाइयां। इन अभियानों के फलस्वरूप विजित राजाओं के साथ किसी न किसी प्रकार के संबंध का विकास करना आवश्यक हो गया।

और अंत में हम इस काल मे ब्राह्मण विचारधारा के प्राबल्य का उल्लेख कर

सकते हैं। 'मनुस्मृति' में प्रतिपादित ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों की नारद ने जोरदार हिमायत की है। इस काल की उपदेशात्मक कृतियों में भूमिदान के पुण्य का खूब गुणगान किया गया है, और पितरों के आध्यात्मिक कल्याण के संबंध में जो परिकल्पना प्रस्तुत की गई है, उससे भूमि अनुदान की प्रवृत्ति को उत्तेजन मिला, तथा बड़े पैमाने पर दिए गए भूमि अनुदानों के फलस्वरूप नई प्रशासनिक समस्याएं उत्पन्न हुईं।

गुप्तकाल में राजत्व के स्वरूप में क्या क्या परिवर्तन हुए, इसका पता लगाना कठिन है। सातवाहनों के विपरीत गुप्तों के राज्य में राजकीय उत्तराधिकार विशुद्ध रूप से पैतृक था। गुप्त सम्राटों ने अपनी माताओं के नामों का उल्लेख तो किया है, किंतु प्रशासन में महिलाओं की कोई कारगर भूमिका नहीं थी। द्वितीय चंद्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता ने वाकाटक राज्य की संरक्षिका का काम किया, लेकिन गुप्तों के राज्य में ऐसे उदाहरण नहीं मिलते। किंतु ज्येष्ठाधिकार, अर्थात अन्य पुत्रों को छोड़कर केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकार सौंपे जाने का नियम, सुस्थापित नहीं हो पाया था। कभी कभी ज्येष्ठ पुत्रों के रहते कनिष्ठ पुत्र भी सिंहासन पर बैठते थे, और कुछ विद्वानों के अनुसार 467 ईस्वी में स्कंदगुप्त की मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य को सिंहासन के दो दावेदार राजकुमारों के बीच विभाजित करना पड़ा। अग्रज के बाद अनुज के राजा बनने की विचित्र प्रथा गुप्तों के अधीनस्थ राजवंश वलभी के मैत्रकों में तो प्रचलित थी, किंतु स्वयं गुप्तों के बीच नहीं।

सिक्कों और अभिलेखों में गुप्त राजाओं को मुख्यतः योद्धा और सेनापति के रूप में चित्रित किया गया है। इन्हें शिकार और युद्ध बहुत प्रिय थे। राजा मंत्रियों, सेनानायकों, क्षेत्रीय शासकों आदि की नियुक्ति करता था। वह अपने सामंतों और अधीनस्थ राजाओं का अभिनंदन स्वीकार करता था, और परमेश्वर, महाराजाधिराज, परमभट्टारक आदि आडंबरयुक्त उपाधियों से प्रकट होता है कि उसके साम्राज्य में ऐसे छोटे छोटे राजे और सरदार भी थे जिनसे उसे किसी न किसी प्रकार का संधि संबंध स्थापित करना पड़ा था।

गुप्तों के अभिलेखों से लगता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि की तरह वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना गुप्त राजा का भी एक प्रमुख कर्तव्य था। राजा का दूसरा महत्त्वपूर्ण दायित्व प्रजा की रक्षा करना बताया गया है। उसे हजारों स्वर्ण मुद्राओं का दाता कहा गया है। सुरक्षा प्रदान करने के बदले राजा करग्रहण का अधिकारी है, इस पुरानी मान्यता को कतिपय गुप्तकालीन स्मृतियों में दुहराया गया है। लेकिन हम देखते हैं कि अब इस पर उतना जोर नहीं दिया जाता है जितना पहले दिया जाता था। इसके विपरीत, हमें एक नई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का आभास मिलता है। कात्यायन के मतानुसार राजा इसलिए कर पाने का हकदार है कि वही भूमि का मालिक है।[1] यह सिद्धांत राजत्व को सामंती स्वरूप प्रदान करता है और इसमें

राजा को भूमि अनुदान देने का कानूनी अधिकार प्राप्त होता है, पर यह अधिकार इस अर्थ मे सीमित था कि अनुदान देते समय उसे उन सभी लोगों से परामर्श करना पड़ता था और उन सबको दान की सूचना देनी पडती थी जिनका अनुदत्त भूमि में किसी प्रकार हित निहित होता था।

गुप्त राजाओं के अधीन राजत्व में जो एक अन्य परिवर्तन लक्षित होता है वह गुणात्मक नहीं, बल्कि परिमाणात्मक है। उसका संबध राजपद में दैवी शक्ति के आरोपण से है। सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि की तरह गुप्त राजाओं की तुलना बार-बार यम, वरुण, इंद्र, कुबेर आदि विभिन्न देवताओं से की गई है। लोगों के पालन और रक्षा के राज कर्तव्य को ध्यान में रखते हुए उनकी तुलना विष्णु से की गई है। अनेक गुप्त सिक्कों पर विष्णु की पत्नी और ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी की आकृति अंकित है। संभव है कि गुप्त राजाओं के वैष्णव मतावलबी होने से उनके कुछ राजनीतिक उद्देश्यों की भी पूर्ति होती होगी। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि उन्हे देव कहा गया है।[2] इस तरह उन्हे कुषाण राजाओं की तरह देवपुत्र के रूप में नहीं; बल्कि स्पष्ट रूप से स्वयं देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

गुप्त राजाओं मे दैवी तत्वो के आरोपण के बावजूद यह मानना गलत होगा कि कानूनी तौर पर वे स्वेच्छाचारी थे। सिद्धांततः गुप्त राजा धर्मशास्त्रो में विहित नियमों का पालन करने को कर्तव्यबद्ध था, और व्यवहारतः देखें तो इन विधियों के मुख्य अभिरक्षक और व्याख्याता ब्राह्मण लोग राजसत्ता पर जबरदस्त अंकुश रखते थे। इसके अतिरिक्त राजा को व्यापारियों और शिल्पियों के संघों तथा अन्य सामुदायिक संस्थाओ को भी अपनी सत्ता में साझेदार बनाकर चलना होता था। उसे इनके निर्णयों का अनुमोदन करना पडता था और इनके रीति-रिवाजों का पालन कराना होता था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अनुदानभोगी और सामतगण व्यापक सत्ता का उपभोग करते थे और राजा को इन सबका खयाल रखकर चलना पडता था। वस्तुतः मौर्य काल या प्राग्गुप्तकाल की अपेक्षा गुप्तकाल मे राजसत्ता पर कहीं अधिक अकुश लगे हुए थे।

मंत्रिगण भी, जो अमात्य या सचिव भी कहे जाते थे, राजा की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों पर अंकुश रखते होगे, यद्यपि अभिलेखो से हमे उनके कार्यों की बहुत कम जानकारी मिलती है और एक निकाय के रूप मे उनके अस्तित्व की तो कोई जानकारी नही मिलती। करीब आठवीं ई. की एक रचना 'कामदक नीतिसार' मे तो मंत्रिमंडल शब्द का प्रयोग मिलता है, लेकिन किसी अभिलेख मे नहीं। निस्संदेह, हरिषेण जैसे इक्के-दुक्के मंत्री काफी शक्तिशाली बन गए थे। कारण यह था कि एक ही व्यक्ति महादंडनायक, कुमारामात्य और सांधिविग्रहिक इन तीन-तीन पदो का भोक्ता होता था। इसके अतिरिक्त, एक ही परिवार के लोग कई पीढ़ियो तक वशानुगत रूप से इस पद पर आसीन रहते थे। ऐसे परिवारों ने निश्चय ही

राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी।

मंत्रि गुप्त राजाओं की नौकरशाही की उच्चतर श्रेणी के अंग थे। ऊपर की श्रेणी के अन्य अधिकारियों में कुमारामात्य और सांधिविग्रहिक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्राग्गुप्तकालीन अभिलेखों में इनका कोई जिक्र नहीं मिलता। जिस प्रकार अशोक के शासन मे महामात्रों और सातवाहनों के अधीन अमात्यों का महत्त्वपूर्ण सवर्ग (काडर) था, उसी प्रकार गुप्त राजाओं के अधीन कुमारामात्यों[3] का विशिष्ट सवर्ग था और राज्य के उच्च पदाधिकारी मुख्यतः इसी सवर्ग मे से नियुक्त किए जाते थे। मगध या नगर और तीर भुक्तियों के मुख्यालयों में कुमारामात्य-पद का उल्लेख बार-बार मिलता है।[4] इसी तरह सम्राट[5] या युवराज[6] से सबद्ध कुमारामात्यों का जिक्र भी मिलता है। बगाल स्थित पंचनगरी विषय का प्रधान एक कुमारामात्य था। किंतु कुमारामात्य कहे जानेवाले ये अधिकारी जहा विपयाधिपो के रूप मे सामने आते हैं, वहीं उन्हें हम मंत्रियों, सेनापतियों महादडनायको[7] सांधिविग्रहिकों[8] और यहा तक कि महाराजो[9] के रूप में भी देखते हैं। कुछ कुमारामात्यों की अपनी स्वतत्र सत्ता थी और कुमारामात्याधिकरण नाम का उनका स्थायी कार्यालय होता था। इसके शाब्दिक अर्थ 'लघु अमात्य' या 'राजकुमार से सबद्ध अमात्य' से इस अधिकारी के कार्यों का सकेत नही मिलता है, क्योंकि वह जिन अतिरिक्त पदों पर आसीन होता था उनके अनुसार उसके कार्य अलग-अलग प्रकार के होते थे। गुप्त साम्राज्य के अंतिम समय में महाराज नंदन[10] जैसे कुछ कुमारामात्य स्वतत्र हो गए और उन्होने अपने नाम से भूमि-शासनपत्र भी जारी किए।

सांधिविग्रहिक का शाब्दिक अर्थ शांति और युद्ध का मत्री है। इस पद का प्रथम उल्लेख समुद्र गुप्त के काल में मिलता है। उसके हरिषेण नामक अमात्य को हम इस उपाधि से विभूपित देखते हैं। लेकिन शर्वनाथ के छोटे से सामती राज्य में ऐसे एक अधिकारी का उल्लेख 'महासांधिविग्रहिक' के रूप में हुआ है। अत. यह मानना गलत होगा कि इन अधिकारियों की कोई स्तरावली (हाइराकी) थी। गुप्तकाल में और उसके बाद भी आपस में छीना झपटी करते रहनेवाले छोटे-छोटे राज्यो के बीच जैसा सबंध कायम था उसको देखते हुए ऐसे पद की आवश्यकता तो समझी जा सकती है, लेकिन यह समझ में नही आता कि ब्राह्मणो के नाम शासनपत्र जारी करना उसके कर्तव्य में कैसे शामिल हो गया। यह प्रथा गुप्तकाल से प्रारभ हुई और पूर्व मध्यकाल मे खूब प्रचलित हो गई। अल्तेकर का कहना है कि चूंकि विदेश विभाग को दाताओ की वंशावली का विशद ज्ञान रहता था, इसलिए शासनपत्र का प्रारूप (मसौदा) तैयार करने का काम सांधिविग्रहिक को सौंपा गया। लेकिन सभवत. इस अधिकारी का मुख्य कर्तव्य सामंतों से निबटना था, जिनके नाम शायद शासनपत्र भी जारी किए गए होंगे। कदाचित इसीलिए

धार्मिक ग्रहीताओं के नाम शासनपत्र जारी करने का काम भी उसीके सुपुर्द कर दिया गया होगा।

अधिकारियों की नियुक्ति में जाति[11] और वंश का ध्यान बहुत अधिक रखा जाता था। उदाहरण के लिए, कुछेक बड़े-बड़े क्षेत्रों के शासक राजपरिवार के सदस्य थे। ऐसे बहुत-से अमात्य और उपरिकर, अर्थात प्रांतीय शासक हुए जो कुछ विशेष परिवारों के थे। यह तो बहुत स्पष्ट है कि मंत्रियों तथा प्रमंडलों (डिवीजन)और मंडलों (डिस्ट्रिक्ट) के प्रधान अधिकारियों के पद उत्तरोत्तर अधिकाधिक आनुवंशिक होते जा रहे थे। यद्यपि कौटिल्य का कथन है कि अमात्य और सैनिक वंशानुगत होने चाहिए, किंतु मौर्यकाल से इसका कोई भी वास्तविक उदाहरण देना हमारे लिए अशक्य है। लेकिन गुप्तकालीन अभिलेखों से प्रकट होता है कि गुप्त सम्राट के साथ रहकर उसकी सेवा करनेवाले मंत्री और सचिव के पद वंशानुगत थे।[12] यही बात मध्यभारत[13] और वैशाली[14] में अमात्य पद के साथ लागू थी। मध्य भारत में प्राप्त एक उदाहरण में हमें एक ही परिवार से लिए गए पदाधिकारियों की पांच पीढ़ियां देखने को मिलती हैं। इनमें से पहला अमात्य, दूसरा अमात्य और भोगिक, तीसरा भोगिक तथा चौथा और पांचवां महासांधिविग्रहिक[15] था। उसी क्षेत्र से हमें भोगिकों की दो-दो[16] और कभी-कभी तीन-तीन[17] पीढ़ियों के दृष्टांत मिलते हैं। किंतु ये अधिकारी सीधे गुप्त राजाओं की सेवा में नहीं, बल्कि उनके सामंतों की सेवा में थे। मगर पुंड्रवर्धन भुक्ति के शासन की देखरेख करनेवाले उपरिकों के कुलनाम (सरनेम) दत्त[18] से यह संकेत मिलता था कि ये संभवतः एक ही वंश के थे। सिद्धांततः तो इन अधिकारियों का पदारूढ़ रहना न रहना सम्राट की इच्छा पर निर्भर था, किंतु व्यवहारतः ये और इनके वंशज अपनी स्थानीय शक्ति के कारण अपने पद पर कायम रहे। इसके अतिरिक्त, एक ही व्यक्ति के अनेक पदों पर आरूढ़ रहने के कारण भी इन अधिकारियों के प्रभाव और शक्ति की अभिवृद्धि होती थी। उदाहरण के लिए, हरिषेण कई महत्त्वपूर्ण पदों को एक साथ सँभाले हुए था। इसी तरह एक कुमारामात्य महाश्वपति और महादंडनायक भी था।[19]

हमें ठीक-ठीक मालूम नहीं कि गुप्त साम्राज्य में अधिकारियों को भुगतान कैसे किया जाता था। बहुत-सी गुप्तकालीन स्वर्ण मुद्राओं की प्राप्ति, बंगाल में जमीन की खरीद-बिक्री में इनके उपयोग और हिरण्य नामक कर के प्रचलन से यह संकेत मिलता है कि कम से कम उच्च अधिकारियों को नकद भुगतान किया जाता था। इस संबंध में उपलब्ध चीनी साक्ष्य पूरी तरह स्पष्ट नहीं है। फाहियान के एक अवतरण का लेगे ने जो अनुवाद प्रस्तुत किया है उससे विदित होता है कि राजा के सभी अंगरक्षकों और परिचारकों को नियमित वेतन मिलता है।[20] लेकिन बील ने इसका अनुवाद दूसरी तरह से किया है : राजा के सभी मुख्य अधिकारियों के निमित्त

कुछ राजस्व रख छोडे गए हैं।"[21] हाल मे एक चीनी विद्वान ने इस महत्त्वपूर्ण अवतरण का अनुवाद इस प्रकार किया है : 'राजा के सभी परिचारकों, रक्षको और परिचरों को परिलब्धिया (इमाल्युमेंट्स) और पेंशन दी जाती है।[22] यदि हम अंतिम अनुवाद को स्वीकार करे तो परिलब्धियां शब्द के अर्थ की व्यापकता को देखते हुए ऐसा मान सकते हैं कि उसमे राजस्व अनुदान भी शामिल रहा होगा। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि नौकरशाही को नकद और राजस्व अनुदान, दोनों रूपो में भुगतान किया जाता था।

उच्चाधिकारियों की इन श्रेणियों के अलावा अभिलेखों मे दर्जन से ऊपर अन्य छोटे-बडे अधिकारियों का भी उल्लेख हुआ है, जिन पर हम गुप्त शासन पद्धति के सैनिक, राजस्विक और ग्रामीण पहलुओ की चर्चा के संदर्भ मे विचार करेगे। यद्यपि गुप्त कर्मचारिवर्ग (इस्टैब्लिशमेंट कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' मे विहित कर्मचारिवर्ग के जितना बडा नही था, लेकिन साथ ही वह नगण्य या शक्तिहीन भी नही था। जमीन की खरीद बिक्री संबंधी प्रलेखों (रेकार्ड्स) से यह स्पष्ट है कि जब तक पुस्तपाल (अभिलेखपाल) इस आशय का प्रमाणपत्र नही दे देता था कि अमुक भूमि बिक्री के लिए उपलब्ध है और जब तक विषयपति (जिलाधिकारी) उसका अनुमोदन नहीं कर देता था तब तक वह भूमि बेची नही जा सकती थी। अधिकारियों के वंशानुगत स्वरूप और नकद भुगतान के चलने के ह्रास से यह संकेत मिलता है कि निहित स्वार्थों का विकास करने की दृष्टि से गुप्त साम्राज्य की नौकरशाही मौर्य नौकरशाही की अपेक्षा कहीं अधिक अनुकूल स्थिति मे थी।

II

समुद्र गुप्त की दिग्विजय तथा द्वितीय चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त द्वारा किए गए अनेक युद्धों के बावजूद गुप्तों की सैनिक व्यवस्था के बारे में हमारी जानकारी स्वल्प ही है। गुप्त सिक्कों और अभिलेखों से हम सिर्फ सेना की रचना के बारे में थोडा बहुत अनुमान लगा सकते हैं। हालांकि कुछ गुप्त राजाओ को उत्कृष्ट और अद्वितीय रथी कहा गया है, लेकिन उनके सिक्को पर प्रायः घुडसवारों की आकृतिया ही मिलती हैं। सिक्को पर धनुर्धरों की आकृतिया भी मिलती हैं, जिनसे सेना में अश्व-धनुर्विद्या और अश्वारोहियो का महत्त्व प्रकट होता है। अश्वारोही सेना का बढ़ता हुआ महत्त्व मुद्राओं और अभिलेखों से भी सिद्ध होता है। इनमे अश्वपति[23], महाश्वपति[24] और भटाश्वपति[25] का उल्लेख मिलता है। जाहिर है कि ये सब अश्वरोही सेना के नायक थे। पूर्वकालीन गुप्त-अभिलेखों में हस्तिप्रबंध से संबंधित किसी अधिकारी का जिक्र नहीं मिलता। बंगाल से प्राप्त छठी शताब्दी के एक अभिलेख में पिलुपति शब्द का उल्लेख मिलता है, पर हम निश्चयपूर्वक यह नही कह सकते कि पूर्ववर्ती गुप्त राजाओं के अधीन इस पद का कोई विशेष महत्त्व

था या नहीं। सेना के अन्य अगों के सेनापतियों के क्या-क्या पदनाम थे, इसकी जानकारी अभी तक अभिलेखों से नहीं मिल सकी है। महाबलाधिकृत, महाप्रतीहार और गौल्मिक कतिपय अन्य सैनिक अधिकारी हैं। अंतिम दो के नाम प्राग्गुप्त अभिलेखों में भी मिलते हैं, पर पहला कोई नया सैनिक अधिकारी है जिसका उल्लेख पहली बार इसी काल में मिलता है।

अमात्य, कुमारामात्य, आदि असैनिक अधिकारी सैनिक कार्य करते थे, या इनकी पदोन्नति करके इन्हें ऊंचे सैनिक ओहदो पर नियुक्त किया जाता था। पाटलिपुत्र निवासी एक मत्री द्वितीय चद्रगुप्त के पश्चिमी भारत के सैनिक अभियान में उसके साथ गया था। इसी तरह सैनिक अधिकारी भी असैनिक कार्य करते होंगे।

हमें वैशाली जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण नगरो में स्थायी तौर पर सेना रखे जाने के बारे में भी थोडी-सी जानकारी है। वहा से प्राप्त एक मुहर पर 'श्रीरणभाडागाराधिकरण'[26] शब्द अंकित है, जिससे सिद्ध होता है कि वहां कोई सैनिक भंडार रहा होगा, जो वहा रखे गए सैनिकों के लिए आवश्यक रहा होगा। इसमें एक ऐसे युद्ध अधिकरण की भी जानकारी मिलती है जिसका सबंध युवराज से था।[27] इसके अतिरिक्त पैदल और घुडसवार सैनिकों के प्रमुख[28] का भी उल्लेख मिलता है। वैशाली में राजप्रसाद रक्षकों का प्रमुख भी रखा जाता था।[29]

III

गुप्तों की कर-व्यवस्था उतनी विस्तृत और सगठित नहीं थी जितनी मौर्यों की थी। ग्रामीण लोग जिसों में कुछ परपरागत पावने चुकाया करते थे, जिन्हें नापा या तौला जा सकता था, फिर भी जिनका कोई निश्चित प्रमाण कहीं नहीं बतलाया गया है।[30] वे हिरण्य[31] भी अदा करते थे। सोने के पर्यायवाची इस शब्द का इस सदर्भ में क्या अर्थ था, यह हम नहीं कह सकते। कारीगरों को भी कुछ महसूल देने पडते थे[32], और व्यापारियों से उनके माल पर सीमा-शुल्क लिए जाते थे, जिनका आरोपण और सग्रह सीमा-शुल्क अधिकारी करता था।[33] इस अधिकारी को शायद साहूकारों, सौदागरों और कारीगरो के निगमों से भी व्यवहार रखना पडता था। ऐसे निगम वैशाली, भीटा, इंदौर (बुलदशहर), मंदसौर आदि में काफी सक्रिय थे।

जमीन की खरीद-बिक्री से सबंध रखनेवाले जिला या विषय स्तर के अधिकारियों की भी हमें कुछ जानकारी है। एक अधिकारी को पुस्तपाल[34] कहा जाता था, जो जमीन की बिक्री का लेखा करता था। 'ग्रामाक्षपटलाधिकृत'[35] या गांव का लेखपाल गांव की जमीन का आलेख रखता था। स्कंदगुप्त के बिहार-अनुदानपत्र में जिन अधिकारियो को संबोधित किया गया है उनमें एक है

पादितरिक[36], जिसका अर्थ निकालना कठिन है, लेकिन उसी में उल्लिखित गौल्मिक[37] कोई छोटा सैनिक अधिकारी था, जिसके मातहत सैनिको की एक छोटी टुकडी रहती थी। किसानो या असामाजिक तत्वो द्वारा किसी प्रकार का उपद्रव किए जाने पर शायद वह सबंधित क्षेत्र के सिविल अधिकारी की सहायता करता था।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में जितने करो का जिक्र हुआ है उनकी सख्या गुप्त अभिलेखो में उल्लिखित करों की अपेक्षा बहुत बडी है। इससे ऐसा सकेत मिलता है कि गुप्तकाल मे कर भार कम हो गया था। यूनानी विवरणों से प्रकट होता है कि उस काल में किसानों को अपनी उपज का चौथाई हिस्सा कर के रूप में देना पडता था, लेकिन अगर हम गुप्तकाल के विधिग्रथों को तथा बगाल के जमीन के सौदों के आधार पर देखे तो पाएगे कि इस काल में राज्याश पैदावार के छठे हिस्से से अधिक नही होता था। 'अर्थशास्त्र' मे अनुशसित आपात करों का गुप्त काल में कोई चिह्न नही मिलता। दरअसल कराधान के वे सिद्धात, जो राजा को उत्पादक के पास जीवन यापन के लिए पर्याप्त पैदावार छोड देने का आदेश देते हैं, ईस्वी सन की प्रारंभिक सदियों की देन थे, और सभव है, इस काल के शासकों की राजस्विक नीति पर उनका प्रभाव पडा हो। गुप्तों का कोई विशाल कर्मचारिवृंद नही था, इसलिए उन्हे उतने करों की आवश्यकता नही थी जितने की मौर्यों को थी। विचित्र बात यह है कि वाकाटक अभिलेखों मे गुप्त अभिलेखों की अपेक्षा कही अधिक करों का उल्लेख हुआ है।

भूमिदानपत्रों मे उल्लिखित अधिकाश राजस्व अधिकारी भूराजस्व के आरोपण और सग्रह से सबद्ध प्रतीत होते हैं। बगाल और गुजरात के आयुक्तकों तथा विनियुक्तकों का सबध जमीन के सौदो से था। बगाल में भूमि के हस्तातरण के लिए आयुक्तकों को यथोचित कार्रवाई करनी पड़ती थी। भूमि के आलेख 'ग्रामाक्षपटलाधिकृत' या 'देशाक्षपटलाधिकृत' रखते थे। ये शायद लेखाकार और पटवारी का काम करते थे। लिपिक का काम करनेवाले दिविर, करणिक, कायस्थ आदि मुख्यत: राजस्व कार्यालय मे ही रखे जाते थे और याज्ञवल्क्य ने राजा को कायस्थों के अत्याचार से प्रजा की रक्षा करने की सलाह दी है।

राजस्व शायद मुख्यत: जिसो में वसूल किया जाता था। धनी किसान सभवतः नकद अदायगी करते थे, क्योंकि इस काल की स्वर्ण-मुद्राएं बहुत बडी सख्या में प्राप्त हुई हैं और जमीन खरीदने मे तो इनका उपयोग होता ही था। नकद कर वसूल करनेवाले अधिकारी को हिरण्य सामुदायिक कहा है, और बगाल से प्राप्त छठी शताब्दी के पूर्वार्ध के एक अभिलेख में उसका उल्लेख हुआ है।[38] इस अधिकारी का उल्लेख चूंकि जिसो मे कर वसूल करनेवाले अधिकारी औदरंगिक के साथ हुआ है, इसलिए स्पष्ट ही उसका काम नकद कर वसूल करना रहा होगा।

जान पड़ता है, व्यापार की वस्तुओं पर लगे शुल्को की उगाही करने से संबंधित एकमात्र अधिकारी शौल्किक था, यद्यपि बंगाल में एक ऐसे अधिकारी का भी उल्लेख देखने को मिलता है जिसका संबंध व्यापार विभाग से था। छठी सदी के पूर्वार्ध में कुछ ऐसे क्षेत्रों में,[39] जो गुप्तों के अधीनस्थ राजाओं के शासन थे, और्णस्थानिक नामक एक अधिकारी का उल्लेख मिलता है। उसका संबध बंगाल के ऊन बाजार के नियंत्रण से था। इसी काल में गुजरात मे द्रंगिक कहे जानेवाले अधिकारी का जिक्र मिलता है, जिसका काम सीमावर्ती नगरों में सीमा शुल्क वसूल करना था।

IV

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सुव्यवस्थित प्रांतीय और स्थानीय प्रशासन का विकास सबसे पहले गुप्त राजाओं ने ही किया। इस प्रशासन का मुख्य कार्य राजस्व वसूल करना और शांति एवं व्यवस्था कायम रखना था। साम्राज्य के जिन क्षेत्रों पर गुप्त राजाओं का प्रत्यक्ष नियंत्रण था वे प्रांतो में बंटे हुए थे। इन प्रांतो का आकार मौर्य प्रांतों से छोटा किंतु आधुनिक प्रमंडल (डिवीजन) से बड़ा होता था।

गुप्तों के अधीन भुक्ति सबसे बड़ी प्रशासनिक इकाई जान पड़ती है। बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में ऐसी कम से कम छः भुक्तियां थीं। भुक्ति का प्रधान उपरिक[40] होता था। इस उच्च पद की सही स्थिति अब तक ज्ञात नही हो पाई है। शायद मूलतः इसका कुछ संबध किसानों पर निश्चित वार्षिक कर के ऊपर से लगाए गए उपरिकर नामक अतिरिक्त कर की वसूली से था। यह अधिकारी निस्संदेह गुप्त राजा द्वारा नियुक्त क्षेत्रीय शासक था, लेकिन भुक्ति के शब्दार्थ से ऐसा भासित होता है कि यह क्षेत्र उसे इसलिए नहीं दिया जाता था कि वह इसके हितों को ध्यान में रखकर इस पर शासन करे, बल्कि इसलिए सौंपा जाता था कि वह इसका उपभोग करे। दुख की बात है कि भुक्ति के प्रधान के कार्यों की हमें कोई जानकारी नही है।

भुक्ति विषयों या जिलो में विभक्त होती थी। विषयो की संख्या की जानकारी हमें नहीं है। राजगृह, पाटलिपुत्र और गया, ये तीन विषय मगधभुक्ति मे शामिल थे, और यदि हम समुद्रगुप्त के नाम से जारी किए गए जाली नालंदा अनुदानपत्र मे दिए गए भौगोलिक ब्यौरों को मानकर चले तो इसमें क्रिमिला विषय[41] भी आता था। इस विषय में मोटे तौर पर आधुनिक मुंगेर और बेगूसराय जिलों के क्षेत्र आते थे। वैशाली तीरभुक्ति का एक महत्त्वपूर्ण नगर था और कोई आश्चर्य नही कि यह एक विषय का मुख्यालय भी रहा हो, लेकिन विषय के रूप में इसका उल्लेख केवल एक मुहर[42] में हुआ है, और उस मुहर के लेख को भी जैसा पढ़ा गया है वह सही है या नहीं, यह कहना कठिन है। पुंड्रवर्धनभुक्ति में 'कोटिवर्ष विषय' एक प्रसिद्ध

प्रशासनिक इकाई था। आरंभ मे यह विषय कुमारामात्य के अधीन था, लेकिन बाद में विषयपति को इसका प्रधान बनाया गया। बंगाल और बिहार मे सामान्यतया विषयपति विषय का प्रधान होता था और स्थानीय अधिकरण की सहायता से शासन चलाता था। लेकिन पश्चिमी उत्तर प्रदेश में एक विषयपति भाग नामक प्रशासनिक इकाई का प्रधान था। कोटिवर्ष विषय का विषयपति अपनी सत्ता और शासन किस प्रकार चलाता था, इसकी कुछ जानकारी हमें है। उसकी सत्ता का आधार हस्तिसैनिकों, अश्वारोहियों तथा पदाति सैनिकों से युक्त सेना थी और इस सेना का खर्च शायद उस विषय से प्राप्त राजस्व से चलता था।[43] संभवतः प्रत्येक विषय में एक सशक्त सैनिक टुकड़ी रखी जाती थी, जो आवश्यकता पडने पर सिविल अधिकारियों की सहायता करती थी।

विषय वीथियो में विभक्त था। बिहार में हमें एक वीथि की जानकारी हासिल है। यह थी नंदवीथि,[44] जिसका मुख्यालय मुंगेर जिलान्तर्गत सूरजगढ़ा गाव से दो मील उत्तर-पश्चिम में पड़ता था। किंतु बंगाल में पडनेवाली कई वीथियों की जानकारी उपलब्ध है। इस मामले में तो हमें उस समिति के गठन की पूरी जानकारी उपलब्ध है जो वीथि के शासन में भाग लेती थी। गोपचंद्र के काल (छठी शताब्दी के पूर्वार्ध) के मल्लसारुल ताम्रपत्र अभिलेख में स्पष्ट उल्लेख है कि वर्धमानभुक्ति में स्थित वक्कट्टक वीथि के अधिकरण में ग्यारह देहाती बस्तियों के, जिनमें से अधिकतर गांव थे, प्रतिनिधि शामिल थे। इस तरह यह विधिग्रथों में अनुशंसित अष्ट-सदस्यीय सस्था या दशमिक इकाई नहीं थी। कुछ प्रतिनिधियों को तो गावो का प्रधानपद इस आधार पर प्राप्त हुआ था कि उन्हे अग्रहार अनुदान मिले हुए थे और कुछ को इस कारण से कि वे खड्गधरों या शायद परिवहन संयोजकों के रूप में अच्छे सैनिक पद पर आसीन थे। शेष लोगों के प्रधानत्व का कारण नही बतलाया गया है। इस प्रकार इस समिति में भूस्वामियो और सैनिक कार्यों से सबद्ध लोगों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व था और ये सब के सब राजा से संबंधित थे। यह स्पष्ट नही है कि वीथि अधिकरण संबद्ध काल को ध्यान में रखकर गठित की गई कोई तदर्थ समिति थी अथवा कोई स्थायी समिति। ध्यातव्य है कि इस सूची में उल्लिखित ग्यारह गांवों मे दो उस भूमि की चौहद्दी के हिस्से हैं जिसका हस्तांतरण इस समिति की सम्मति से होनेवाला है। जो भी हो, इसमें तो कोई सदेह नहीं कि वीथी प्रबध समिति जैसा मडल उन दिनों काम करता था और भूमिदान पानेवाले लोग तथा सैनिक पदाधिकारी उसके सदस्य होते थे, जिनका कुछ सबध शायद शांति एव व्यवस्था कायम रखने तथा स्थानीय विवादों के निबटारे से भी था।

वीथि गाव में बटी हुई थी। सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई गांव ही था। गुप्त अभिलेखों और मुहरों में कई गांवों का उल्लेख हुआ है। गाव के मामलों की

व्यवस्था का मुख्य भार ग्रामिक पर और महत्तम, महत्तर या महत्तक कहे जाने वाले बड़े बुजुर्गों पर था। अभिलेखों में बगाल[45] और मध्य देश के ग्रामिक का[46] उल्लेख मिलता है। मध्य देश मे यह पद वशानुगत हो गया जान पडता है, क्योंकि एक ग्रामिक के पिता और पितामह के नामो का भी उल्लेख हुआ है।[47] सभव है, वह करों की उगाही में मदद करता रहा हो, लेकिन इस ग्रामिक ने अपने राजा के राज्य की सीमा पर एक स्तभ भी खड़ा किया था।

उत्तर बिहार में ग्रामप्रधान का, जिसे महत्तर कहा जाता था, इतना अधिक महत्त्व था कि उसकी अपनी मुहर भी होती थी। महत्तर से ही महतो उपाधि व्युत्पन्न हुई है। यह उपाधि बिहार के कई हिस्सो मे आज भी प्रचलित है और कुछ क्षेत्रों मे अब भी इस उपाधि को गाव के प्रधान के अर्थ में लिया जाता है।

बगाल के भूमि अनुदानपत्रो मे महत्तरो के स्थान के सबध मे कुछ महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। आमतौर पर वे ब्राह्मण जाति के नहीं होते थे, क्योंकि अनुदानपत्रों में ब्राह्मणों और महत्तरो को अलग अलग सबोधित किया गया है। 448 ई. के बैग्राम ताम्रपत्र में इन्हें 'सव्यवहारिप्रमुखान'[48] के रूप में सबोधित किया गया है, लेकिन सामान्यतया इनके लिए महत्तर शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उत्तर बगाल में महत्तरों की अनुमति के बिना धार्मिक प्रयोजनों से भी जमीन नही बेची जा सकती थी। स्वय कुछ महत्तरों द्वारा इस प्रयोजन से अपनी जमीन बेचे जाने का उल्लेख मिलता है। ऊपर हमने जिस मल्लसारुल ताम्रपत्र का हवाला दिया है उसमें कुछ महत्तरों तथा कई गांवो की दूसरी ऐसी ही महत्त्वपूर्ण हस्तियों के नामों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। तीन महत्तर अग्रहारियों में से प्रत्येक एक-एक गांव से संबद्ध है,[49] जिससे ऐसा सकेत मिलता है कि महत्तर उस गाव का प्रधान होता था जो उसे अग्रहार अनुदान के रूप में प्राप्त होता था। लेकिन दो गांवों में से प्रत्येक में ऐसे दो-दो महत्तरों के नाम दिए गए हैं।[50] इससे यह भासित होता है कि प्रत्येक गाव की व्यवस्था दो पदाधिकारी मिलकर करते थे। इन आग्रहारियों के नामों के अंत मे दत्त या स्वामी शब्द जुड़ा हुआ है,[51] जिससे लगता है कि इनमे से कुछ ब्राह्मण और कुछ कायस्थ थे और राजा की किसी सेवा के पुरस्कारस्वरूप इन्हें राजस्वमुक्त गाव दिए गए थे। इनके अतिरिक्त, एक ऐसे महत्तर को भी गांव का प्रधान बतलाया गया है जो आग्रहारी नही है।[52]

इस अभिलेख में तीन खाड्गियों (खड्गधारियो) का भी उल्लेख हुआ है, जिनमें से प्रत्येक का सबध एक-एक गांव से है।[53] इससे जान पडता है कि जो गांव इनके अधिकार में थे इन्हें किसी सैनिक सेवा के प्रतिदानस्वरूप मिले थे। अंत में हमें वाहनायक हरि आदि का उल्लेख मिलता है। ये लोग भी एक गांव के प्रतिनिधि हैं।[54] हरि शायद किसी ऐसे गांव का प्रधान था जो राजा को माल ढोनेवाले श्रमिकों की सेवा सुलभ कराता था। जान पडता है, बगाल में महत्तर लोग जिला स्तर पर

और ग्राम स्तर पर निगमित सस्थाओ के रूप मे सगठित थे । दोनों स्तरों पर इस सस्था का नाम एक ही था—'अष्टकुलाधिकरण'[55], अर्थात आठ परिवारों का निगमित सगठन । पूरी सभावना है कि इस सदर्भ में आठ की सख्या परपरा से चली आ रही हो, लेकिन यदि ऐसी कोई परपरा थी तो उसका मूल हमे ज्ञात नही है । ये परिवार एक ही जाति के होते थे या आठ प्रमुख जातियो और पेशो के प्रतिनिधि रूप होते थे, यह स्पष्ट नही है । अधिक सभावना इसी बात की है कि सभी परिवार एक ही जाति के होते थे, लेकिन यहां परिवार को आज की छोटी पारिवारिक इकाई के अर्थ मे नही, बल्कि द्रायाद की बृहत्तर परिधि के अर्थ में लिया जाना चाहिए । बगाल के अभिलेखो से यह स्पष्ट है कि उनकी सहमति के बिना जमीन का कोई सौदा नही हो सकता था, और हम बेखटके ऐसा मान सकते हैं कि अन्य स्थानीय मामलों मे भी उनकी आवाज का काफी असर था ।

मध्य भारत के कुछ क्षेत्रो मे देहाती इलाकों के स्थानीय मामलों का प्रबध पचमडली नामक पाच सदस्यों की एक सस्था करती थी । एक धार्मिक अनदान देते हुए दाता ने इस मडली का अभिवादन किया है । इस सस्था में हमें परवर्ती काल मे राजस्थान तथा गुजरात में मिलनेवाले पचकुलों और आगे चलकर देशभर में फैल जानेवाली पचायतो का आदिरूप देखने को मिलता है । पचमडली के गठन की जानकारी हमें नहीं है, लेकिन इसके निगमित रूप में कोई सदेह नही है ।

अत में विभिन्न जनपदो के संबध मे दो शब्द कह देना आवश्यक है । ये अपनी मुहरे और अपने सिक्के भी चलाते थे । स्पष्ट है कि यद्यपि राजस्विक तथा प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए कई जनपद नालदा मे शामिल थे, फिर भी उनका इतना अधिक महत्त्व था तथा उन्हे इतनी स्वायत्तता प्राप्त थी कि वे अपनी अलग मुहरे रख सकते थे । इन मुहरो से उनके निगमित स्वरूप का भी प्रमाण मिलता है । बडे-बडे जनपदो की व्यवस्था के लिए पचमडली के गठन की सिफारिश की गई है और जान पडता है, इसका चलन गुप्तकाल के पूर्व ही प्रारंभ हो चुका था ।

वैशाली के आसपास शहरो या गावों मे एक प्रकार की परिषदे भी काम करती थी । उदाहरण के लिए, एक परिषद उदानकूप में थी ।[56] लेकिन यह कहना कठिन है कि यह गाव की समस्याओ से निबटनेवाली कोई पचायत थी या धर्मशास्त्रों मे विहित नियमों की व्याख्या करनेवाली विद्वान ब्राह्मणो की कोई समिति । राजा को याज्ञवल्क्य का आदेश है कि वह लोगों से उनके परिवारो, जातियों, श्रेणियो, सघों या गावो (जानपदान) के नियमों का पालन कराए ।[57] मनु ने भी ऐसे नियमो का महत्त्व स्वीकार किया है ।[58] इस सबसे सकेत मिलता है कि नालदा क्षेत्र के सभी जानपदो के अपने अलग नियम थे, जिनका आदर राजा भी करता था ।

इन सस्थाओं के अस्तित्व का अर्थ यह नही लगाया जाना चाहिए कि ग्रामीण लोग, प्रशासन में लोकतांत्रिक रीति से भाग लेते थे । इसका मतलब ज्यादा से

ज्यादा यही हो सकता है कि थोडी बहुत सत्ता का उपभोग राज्य कर्मचारियो से इतर वर्ग के ऐसे लोग भी करते थे जिनके समर्थन के बिना प्रशासन नही चल सकता था। समकालीन ग्रथो[59] मे प्रयुक्त 'ग्रामाधिपति' और 'ग्रामस्याधिपति' शब्दो से ऐसा जान पडता है कि ग्रामप्रधान को गाव का अधिपति माना जाता था। यदि हम वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के साक्ष्य का विश्वास करके चले तो पश्चिम भारत मे, जहा इस ग्रथ की रचना हुई, 'ग्रामाधिपति आयुक्तक' सज्ञा से अभिहित ग्रामप्रधान अपने क्षेत्र मे शायद सर्वशक्तिमान होता था। वह कृषक स्त्रियो को अपना धान्यागार भरने, विभिन्न वस्तुए अपने कार्यालय मे ले जाने और वहा से ले आने, अपने आवास की सफाई और सजावट करने, अपने खेतो मे काम करने और अपने कपडे के लिए कपास, ऊन, सण या पटसन से सूत कातने को विवश कर सकता था[60]।

ग्राम प्रशासन का बढ़ता हुआ दायरा गुप्त प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। इस नई प्रवृत्ति का कारण यह था कि राज्य ने न तो इतने अधिक कर लगाए कि उनकी आमदनी से अधिकारियो का एक बडा सगठन कायम रखा जा सकता था और न उसके पास इतनी ताम्रमुद्राए थी कि वह छोटे-छोटे अधिकारियो को सुविधापूर्वक वेतन दे सकता। स्वभावत: किसी समय केंद्रीय सरकार द्वारा संपादित किए जानेवाले बहुत-से कार्यों का दायित्व ग्राम प्रशासन पर आ गया, जिस पर किसी एकताबद्ध और समत्ववादी समुदाय का सामूहिक नियन्त्रण नही था, बल्कि जिसमे भूस्वामियों तथा अन्य प्रभावशाली लोगो का बोलबाला था।

V

गुप्त साम्राज्य के कम से कम बगाल मे पडनेवाले हिस्से मे नगरों की व्यवस्था पुरपात नामक अधिकारी के अधीन थी, लेकिन प्रशासन कार्य मे प्रमुख स्थानीय तत्वो का सहयोग भी लिया जाता था। जहा तक उत्तर भारत का सबंध है, मुहरो और अभिलेखों को देखने से प्रकट होता है कि गुप्तकाल व्यापारियो और शिल्पियो के सघो के चरमोत्कर्ष का युग था। वैशाली, भीटा (इलाहाबाद के निकट), इदौर (बुलंदशहर के पास) और मंदसौर (मालवा स्थित) जैसे नगरो में ऐसे सघ खूब क्रियाशील थे। स्पष्ट है कि नगरों के प्रशासन की अच्छी खासी जिम्मेदारी इनके ऊपर थी।

बिहार प्रात में स्थित वैशाली एक महत्त्वपूर्ण नगर था। गुप्तकाल मे इसके प्रशासन की भी कुछ जानकारी हमें उपलब्ध है। वहा शिल्पियो (कुलिको) और व्यापारियों (श्रेष्ठियो) के संघ थे। लेकिन वहा से जो मुहरें मिली हैं उनमे सबसे बडी संख्या (274) ऐसी मुहरों की है जो श्रेष्ठियों, सार्थवाहो और कुलिको (शिल्पियो) के निगम की हैं।[61] इस निगम की तुलना आधुनिक व्यापार सघ से की

गई है,[62] लेकिन इसमे कुलिको के शामिल किए जाने से प्रकट होता है कि वह इससे कुछ भिन्न और अधिक व्यापक सगठन था, जो न केवल आर्थिक गतिविधियां चलाता था, बल्कि नगर के प्रशासन में भी सहयोग करता था। निगम के गठन के सबंध में हमें कोई ठीक जानकारी उपलब्ध नही है। जान पडता है, हर पेशे के प्रमुख और प्रभावशाली लोग इसके सदस्य होते थे और वे या तो चुनाव द्वारा लिए जाते थे या वंशानुगत आधार पर। दास, दत्त, नंदी, पाल, सेन, सिंह आदि उपाधियों से प्रकट होता है कि निगम मे विभिन्न जातियों के सदस्य लिए जाते थे। निगम जिन साहूकारों, व्यापारियों और शिल्पियों का प्रतिनिधित्व करता था उनके लिए शायद वह ऐसे कार्य भी करता था जो आज नगरपालिकाएं करती हैं। जिन नागरिक तथा सैनिक कार्यालयों के मुख्यालय वैशाली मे स्थित थे उनके कर्मचारियों को भी शायद निगम की इस प्रकार की प्रवृत्तियों का लाभ मिलता था। एक समकालीन विधिग्रंथ से ज्ञात होता है कि यह निगम अपने नियम स्वय बनाता था। वे नियम समय कहे जाते थे।[63] किले के अंदर और बाहर पडनेवाली बस्तियों में *निगम की इन रूढ़ियों का पालन करवाना राजा का कर्तव्य* होता था।[64] इससे ऐसा सकेत मिलता है कि वैशाली का निगम काफी हद तक स्वायत्तता का उपभोग करता था।

उत्तर बंगाल के सबंध में दामोदरपुर ताम्रपत्र अभिलेखों से इस बात का स्पष्ट सकेत मिलता है कि उस क्षेत्र के नगरो के प्रबंध में व्यापारियों और शिल्पियो के प्रतिनिधियों का योगदान रहता था। इन अभिलेखों के अनुसार पुंड्रवर्धन- भुक्ति स्थित कोटिवर्ष विषय के मुख्यालय के मामलों की व्यवस्था का दायित्व केवल विषय अधिपति पर ही नही, बल्कि स्थानीय सौदागरों और व्यापारियों पर भी था और इस प्रयोजन के लिए इन्हें शायद उपरिक की मान्यता प्राप्त थी।[65] नगरश्रेष्ठि ऋभुपाल, सार्थवाह वसुमित्र, प्रथमकुलिक वरदत्त और प्रथमकायस्थ विप्रपाल[66], ये सब कम से कम चार वर्ष तक विषय-समिति के सदस्य रहे—इसकी पुष्टि करनेवाले पुरालैखिक साक्ष्य उपलब्ध हैं। लेकिन इससे ऐसा निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि उन्होंने चार साल तक ही सेवा की या उनकी सेवा की अवधि चार साल की ही थी। आयुक्तक को मिलाकर कुल पांच पदाधिकारी होते थे। यह सख्या देहाती और शहरी क्षेत्रों में भी रूढ़ होती जा रही थी। यह स्पष्ट है कि स्थानीय प्रशासन में व्यापार और उद्योगो से संबंधित लोगों को अच्छा प्रतिनिधित्व प्राप्त था। पाल, मित्र, दत्त आदि उपाधियां बंगाल में आज भी व्यापक रूप से प्रचलित हैं, और इस आधार पर हम ऐसा नही कह सकते कि विषय की प्रबंध समिति में केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते थे।

VI

गुप्तकाल में शांति एवं व्यवस्था कायम रखनेवाले संगठन का आधार दंडनायक, दांडिक और दंडपाशिक के पद थे। दंडनायक कोई उच्च कार्यपालक अधिकारी प्रतीत होता है, जिसके अधीन पर्याप्त सैन्यबल होता था। इस पद का बिहार और उत्तर प्रदेश में विशेष चलन था। भीटा मे इन दंडनायकों की आठ गुप्तकालीन मुहरें प्राप्त हुई हैं।[67] महादंडनायक की मुहरे भीटा[68] और वैशाली[69] दोनों नगरों मे मिली हैं। इनमें से कुछ को अपना पद पिता से उत्तराधिकार मे मिला था। इसका उदाहरण हरिषेण है। जान पडता है, दांडिक, दंडपाशिक और दंडनायक, ये सभी मुख्यतः पुलिस और मजिस्ट्रेट द्वारा किए जानेवाले कार्यों का संपादन करते थे। 'मनुस्मृति' मे दंड और दांडिक की भूमिका पर जो विशेष जोर दिया गया है, उससे ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके कार्य निषेधात्मक थे—अर्थात प्रतिष्ठित विधियों का उल्लंघन करनेवालो को दंडित करना। पुलिस कार्य, अर्थात आंतरिक सुरक्षा का काम, दंडपाशिक करता था, जिसके अधिकरण का उल्लेख वैशाली से प्राप्त एक मुहर मे हुआ है।[70] उडीसा का दंडौसी गुप्तकालीन दंडपाशिक का ही ऐसा अवशिष्ट रूप है जो आज अपनी सारी प्राचीन गरिमा खोकर गांव के एक अदना से चौकीदार का काम करता है। ग्रामीण क्षेत्रों मे आंतरिक सुरक्षा का ध्यान रखनेवाला दूसरा अधिकारी 'चौरोद्धारणिक' है, जिसने मध्यकाल में एक प्रमुख भूस्वामिवर्ग के रूप मे शांति एवं व्यवस्था का ध्यान रखनेवाले चौधरी का रूप ले लिया। उत्तर भारत में यह उपाधि अब भी प्रचलित है, लेकिन इसकी सारी प्रतिष्ठा और शक्ति तिरोहित हो चुकी है। नगरों मे मजिस्ट्रेट का काम 'विनयस्थितिस्थापक' करता था। तीरभुक्ति के मुख्यालय में तो यह पद था ही, और शायद अन्य प्रांतीय मुख्यालयों मे भी था।

उपर्युक्त अधिकारियो में से अधिकांश का उल्लेख परवर्ती गुप्त भूमिदानपत्रों में हुआ है। चूंकि जमीन को लेकर खडे होनेवाले विवाद से गावों की शांति एवं व्यवस्था भंग हो सकती थी, इसलिए भूमि के हस्तांतरण और उसके स्वामित्व मे होनेवाले हर परिवर्तन की सूचना इन सभी अधिकारियों को देना जरूरी समझा जाता था।

गुप्तकाल मे प्राचीन भारत के कानून और न्यायव्यवस्था के इतिहास मे एक नए युग का सूत्रपात हुआ। इस काल मे प्रचुर परिमाण में विधि साहित्य का प्रणयन हुआ। इस साहित्य से विधि प्रणाली की स्पष्ट प्रगति का बोध होता है। सबसे पहले इसी काल के स्मृतिकारों को हम कानून की दो शाखाओं—सिविल विधान और दंड विधान, के बीच विभाजन रेखा खीचते देखते हैं। बृहस्पति ने कानून को अलग-अलग अठारह शीर्षको में बांटा है और बताया है कि इनमे से चौदह का मूल संपत्ति में (धर्ममूल) और चार का हिंसा में (हिंसामूल) निहित है।[71] पहले की

तुलना कौटिल्य के धर्मस्थीय विभाग से और दूसरे की कंटकशोधन विभाग से की जा सकती है। लेकिन जहा कौटिल्य में दड विधान का प्रशासन महत्त्वपूर्ण जान पडता है, बृहस्पति मे सिविल विधान का। गुप्तकाल मे जमीन पर निजी स्वामित्व का विकास हुआ[72] और अब उसकी खरीद-बिक्री भी होने लगी। इसलिए इस काल के विधिग्रथों मे हमें जमीन के बटवारे, बिक्री, बधक और पट्टे के संबंध में विस्तृत कानून देखने को मिलते हैं। इस सबसे प्रकट होता है कि चीजों को बुद्धिपूर्वक देखने-समझने की दिशा में काफी प्रगति हुई थी, किंतु विचित्र बात यह है कि न्यायप्रक्रिया में हम तब भी अधविश्वासो का कुछ बोलबाला देखते हैं। मनु[73] ने इस प्रक्रिया के सबध मे मात्र दो परीक्षाओं का विधान किया है, लेकिन याज्ञवल्क्य[74] तथा नारद[75] ने पाच और बृहस्पति[76] ने नौ परीक्षाएं सुझाई हैं। इतनी परीक्षाए विचारपूर्वक रखी गईं या इनके पीछे विभिन्न जनजातीय लोगों के विश्वासों को विधि-ग्रथो में स्थान देने का मंशा भर था, यह कहना कठिन है; लेकिन इन विधि संहिताओ पर नजर डालनेवाले किसी भी व्यक्ति का ध्यान इस नई चीज की ओर बरबस आकृष्ट हो जाता है। सभव है, इनमें से अनेक मामलों में कठिन परीक्षा की नौबत ही नहीं आती हो, और अपनी सफाई पेश करने के दौरान अपराधी घबराकर अपना अपराध स्वीकार कर ले और इस तरह न्याय का मार्ग सुगम बना दे।

गुप्तकाल के विधिग्रथों मे न्यायालय के गठन और साक्ष्य सबंधी नियम विस्तार से विहित किए गए हैं। राजा से कम से कम तीन सभ्यों की सहायता से विवाद का निर्णय करने को कहा गया है। सभ्यो के रूप में वह ब्राह्मणों को ही चुने, यह आवश्यक नही है, लेकिन शूद्रों का चयन वर्जित है। दुख की बात है कि भूमिदानपत्रों से इन न्यायालयो के गठन पर कोई प्रकाश नही पडता। लेकिन अभिलेखों मे विषय-अधिष्ठान स्तर की या ग्राम-स्तर की अष्टसदस्यीय व्यवस्था समिति अथवा वीथिस्तर की प्रबध समिति का वर्णन करने के लिए जिस 'अधिकरण' शब्द का प्रयोग हुआ है उसे सातवी शताब्दी की साहित्यिक कृतियों में न्यायालय के अर्थ में भी लिया गया है। 'मृच्छकटिक' में एक ऐसे न्यायालय का वर्णन है जिसमें अधिकरण, श्रेष्ठि और कायस्थ शामिल हैं।[77] इससे पुरालेखों में वर्णित उस समिति का रहस्य किसी हद तक स्पष्ट हो जाता है जिसके सदस्य न केवल नगरश्रेष्ठि और प्रथम कायस्थ हैं, बल्कि सार्थवाह और प्रथमकुलिक भी। इसलिए सभव है कि प्रसंगानुसार विषय, गाव या समिति की पाच, आठ अथवा ग्यारह सदस्यो की स्थानीय सस्थाए भी जमीन तथा अन्य विषयों से सबंधित विवादों का निवटारा करती होगी।

जान पडता है, दीवानी न्यायालय महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक केंद्रों में काम करते थे। नालदा मे प्राप्त दो मुहरे, जिनमे 'धर्माधिकरण' शब्द का प्रयोग हुआ है (एक

द्वितीय प्रवरसेन वाकाटक के समय (पाचवी सदी) से लेकर आगे के काल तक जो भी अनुदान दिए गए उन सबमें राजा गोचर भूमि, चर्म, काष्ठागार, नमक की खान, बेगार, और समस्त भूगर्भस्थ सपदा, अर्थात राजस्व के प्राय. सभी स्रोतों पर अपने अधिकार का परिहार कर देता था।[83] 'रघुवंश' मे ऐसा कहा गया है कि धरती की रक्षा करने के लिए राजा को दिए जानेवाले वेतन का एक साधन खानें भी हैं।[84] चौथी और पाचवी सदियों के कुछ अनुदान पत्रों के अनुसार, ब्राहमणों को गाव की भूगर्भस्थ निधियों और सपदाओ के उपभोग का भी अधिकार प्रदान किया गया।[85] इसका मतलब खानो पर राजकीय स्वामित्व का परिहार था, और ध्यातव्य है कि यह स्वामित्व राजा की प्रभुसत्ता का एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक था।

उतनी ही महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दाता गावो के निवासियों पर शासन करने के अपने अधिकार का भी परिहार कर देता था। गुप्तकाल में इस बात के कम से कम आधे दर्जन उदाहरण मिलते हैं कि मध्य भारत के बडे-बडे सामत राजाओं ने ब्राहमणों को स्पष्टत: आबाद गांव अनुदान मे दिए, और शिल्पियो तथा कृषकों सहित समस्त ग्रामवासियो को अनुदान भोगियों को न केवल सभी परपरागत कर देने, वरन उनके आदेशो का पालन करने का भी स्पष्ट निर्देश दिया। गुप्तोत्तरकाल के दो अन्य अनुदानो मे सर्वाध्यक्ष के पद पर काम करनेवाले सरकारी अधिकारियों तथा स्थायी सैनिकों और छत्रधरो को ऐसा राज्यादेश दिया गया है कि वे ब्राहमणों के जीवनक्रम में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नही करें।[86] इस सबसे राज्य द्वारा अपने प्रशासनिक अधिकारों के परिहार का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।

पाचवी शताब्दी तक चोरों को दंडित करने की सत्ता राजा सामान्यत: अपने हाथो मे रखता था, और यह अधिकार राजसत्ता का एक मुख्य स्तभ था। किंतु बाद के काल मे राजा ने न केवल यह अधिकार, बल्कि परिवार, सपत्ति, व्यक्ति आदि के प्रति किए गए अपराधों के प्रति दड देने की सत्ता ब्राहमणो को सौंप दी, और इस प्रकार विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया अपनी तर्कसगत परिणति को प्राप्त हुई। मध्य और पश्चिमी भारत में राजपरिवार के कुछ दाताओं ने अनुदान भोगियों को अनुदत्त गावो में मुकदमों की सुनवाई का अधिकार भी प्रदान किया। उनके शासनपत्रों में अभ्यतर सिद्धि[87] शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसके अलग अलग कई अर्थ लगाए गए हैं।[88] लेकिन इसे गाव के आतरिक विवादों के निर्णय के अर्थ में लेना अधिक समीचीन होगा,[89] और इस अर्थ को स्वीकार करने के बाद यह मानना पडेगा कि इस अधिकार की प्राप्ति के बाद गाव पूर्णत: आत्मनिर्भर हो जाता था। स्पष्ट ही यह तकनीकी शब्द-उत्तरी भारत के अनुदानों में प्रयुक्त 'सदडदशापराध:' शब्द-समुच्चय का पूरक है। लेकिन जहाँ दूसरा शब्द अनुदान भोगी के अधिकारक्षेत्र को आपराधिक मामलों तक सीमित रखता है,[90] पहला शब्द दीवानी

मामलों को भी उसके अधिकार क्षेत्र मे शामिल कर देता है। गरज यह कि ऐसे अधिकारों से संपन्न अनुदानभोगी अनुदत्त क्षेत्र को बडी आसानी से लगभग स्वतंत्र इकाई बना ले सकता था।

ब्राह्मणो को दिए गए अनुदानो के फलस्वरूप मौर्योत्तरकाल तथा गुप्तकाल में विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति प्रबल होती गई और 'केंद्रीभूत' नियंत्रण के आधार पर स्थित 'राज्य की वह व्यापक क्षमता', जो मौर्यशासन की मुख्य विशेषता थी, तिरोहित होती चली गई। कर उगाहना, बेगार लेना, खानों, कृषि आदि का नियमन करना, शांति एवं सुव्यवस्था कायम रखना और देश की रक्षा करना—ये सभी कार्य, जिनका संपादन अब तक राज्य कर्मचारी करते थे, धीरे-धीरे पहले तो पुरोहित वर्ग के हाथों में और बाद मे योद्धावर्ग के अधिकार मे चले गए।

बंगाल और मध्य भारत से प्राप्त गुप्त अनुदानपत्रों मे ग्रहीता को भूराजस्व के उपभोग का अधिकार सदा के लिए प्रदान किया गया है, किंतु उनमे उसे अनुदत्त भूमि या उसका राजस्व किसी अन्य के नाम हस्तातरित करने का अधिकार नहीं दिया गया है। ग्रहीता को यह हक देने का शायद प्राचीनतम उदाहरण हमें मध्य भारत मे मिलता है। वहां इंदौर में प्राप्त 397 ईस्वी के अभिलेख में महाराज स्वामिदास नामक व्यक्ति ने, जो शायद गुप्त सम्राट का सामंत था, किसी व्यापारी को अपना एक खेत दान करने की अनुमति दी है।[91] मतलब यह है कि स्वामिदास अपने अधिकारक्षेत्र के भीतर किसी भी व्यक्ति को धार्मिक अनुदान देने की मंजूरी दे सकता था। इससे भासित होता है कि सामंत की हैसियत से स्वयं स्वामिदास को भी राजकीय अनुमति के बिना धार्मिक अनुदान देने का अधिकार प्राप्त था। गुप्तों के अन्य सामंतो द्वारा भी धार्मिक अनुदान दिए जाने के प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए, परिव्राजकों और उच्छकल्पों ने कई गाव दान किए थे। लेकिन न तो स्वामिदास वाले उदाहरण में और न अन्य उदाहरणो मे ऐसा कोई उल्लेख मिलता है जिससे यह समझा जा सके कि इन सामतो को जमीन राजा की ओर से मिली हुई थी। इस प्रकार के अनुदान असली उपसामतीकरण के उदाहरण नही हैं। लेकिन इंदौर अनुदान मे ग्रहीता को यह अधिकार दिया गया है कि वह जब तक ब्रह्मदेय अनुदान की शर्तों का पालन करता रहेगा तब तक वह उस भूमि का उपभोग कर सकता है, उसमें स्वयं खेती कर सकता है या दूसरों से करवा सकता है।[92] इस शर्त में इस बात के लिए साफ गुंजाइश है कि भोक्ता अगर चाहे तो अनुदान में प्राप्त भूमि पट्टे पर दूसरों को दे सकता है। यह भूमि के उपसामंतीकरण का शायद सबसे प्रारंभिक पुरालेखीय प्रमाण है। यद्यपि इसमें देश के दूसरे हिस्सों मे ऐसे उदाहरण नही मिलते, किंतु यहां उपसामंतीकरण की प्रक्रिया का सूत्रपात तो हो ही जाता है। यह प्रक्रिया मध्य भारत के पश्चिमी हिस्से मे पाचवी शताब्दी मे जारी रही और छठी तथा सातवी शताब्दियों मे वलभी नरेशो के अनुदानो में तो यह चीज

निरपवाद रूप से देखने को मिलती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि गुप्त साम्राज्य के केंद्रीय हिस्सों में, अर्थात आधुनिक बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में किसी भी सामंत सरदार द्वारा सम्राट की अनुमति के बिना भूमिदान अथवा ग्रामदान करने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। इस प्रकार के जो भी उदाहरण मिलते हैं, सभी इस परिधि के बाहर के सुदूरवर्ती क्षेत्रों में ही मिलते हैं, जहां के सरदार नाममात्र को ही गुप्त सम्राट के अधीन थे। साम्राज्य के केंद्रीय प्रदेशों में यह प्रवृत्ति जब गुप्त सम्राटों का शासन समाप्ति पर था तब से शुरू हुई। कुमारामात्य महाराज नंदन ने छठी शताब्दी के मध्य में आधुनिक गया जिले में एक गांव दान में दिया था,[93] यद्यपि पहले ऐसे अनुदान देना गुप्त सम्राटों का विशेषाधिकार था। लेकिन हमें कुछ अग्रहारिकों का जिक्र मिलता है। जान पड़ता है, ये लोग राजस्व-युक्त गावों का उपभोग करनेवाले धार्मिक अनुदानभोगी थे। उनका उल्लेख पांचवीं सदी के अंतिम वर्षों के एक गुप्त अनुदानपत्र में हुआ है। फिर, छठी शताब्दी में मुंगेर जिले में भी एक ब्राह्मण अग्रहारिक को कुछ जमीन दिए जाने का उल्लेख मिलता है।[94] स्पष्ट ही अग्रहारिक अनुदत्त गावों के निवासियों से विभिन्न कर वसूल करने के लिए कुछ कर्मचारी रखता था, यद्यपि समुद्रगुप्त के नाम से जारी किए गए जाली अनुदानपत्रों में भी, जो शायद सातवीं सदी के हैं, मगध भुक्ति स्थित ग्रहीताओं को कोई प्रशासनिक कार्य नहीं सौंपा गया है। मगध के विपरीत, मध्य प्रदेश के गुप्त सामंतों द्वारा दिए गए धार्मिक अनुदानों में उन्हें ऐसे कार्य भी सौंपे गए हैं। दरअसल मध्य भारत के अग्रहारिकों की तुलना में बिहार के अग्रहारिकों का अधिकारक्षेत्र बहुत सीमित था। उस पर लगी एक महत्त्वपूर्ण मर्यादा यह थी कि यदि वह अपने अग्रहार के बाहर से किसी करदाता किसान या कारीगर को बसाएगा तो उसका मतलब ब्रह्मदेय अनुदान की शर्त को भंग करना होगा। अग्रहारिक को अपने अग्रहार के मामलों के प्रबंध की पूरी छूट थी, क्योंकि एक ऐसे अनुदान में कहा गया है कि दाता के वंशजों को अग्रहारिक के लिए कोई बाधा उपस्थित नहीं करनी चाहिए।[95]

गुप्तकाल में इन क्षेत्रों में जो भूमि अनुदान दिए गए वे सामंती परिस्थितियों को जन्म देने में विशेष रूप से सहायक हुए, क्योंकि ये क्षेत्र जंगलों और पहाड़ों से भरे पड़े थे और इसलिए यहां व्यापारिक प्रवृत्तियों तथा मुद्रा के उपयोग की बहुत कम संभावना थी। गुप्त राजाओं द्वारा जारी किए गए अधिकांश सिक्के मैदानी इलाकों में प्राप्त हुए हैं और मध्य प्रदेश में बहुत कम। यदि परिव्राजक और उच्छकल्प नरेश गुप्त राजाओं की अनुमति के बिना भूमि अनुदान दे सकते थे तो निश्चय ही वे अपने सिक्के भी जारी कर सकते थे, जैसा कि सातवाहनों के सामंतों ने किया। लेकिन अब तक इन दोनों सामंत राजघरानों द्वारा जारी किया गया कोई सिक्का नहीं मिला है। स्पष्ट ही, मुद्रा के अभाव से ग्रस्त इन क्षेत्रों में धार्मिक तथा अन्य

प्रकार की सेवाओं का प्रतिदान मुख्यतः भूमि अनुदानों के रूप में दिया जाता था।

दानपत्रों को देखने से ज्ञात होता है कि भूमि अनुदानों के बदले पुरोहितों को दाताओ या उनके पूर्वजों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए पूजा प्रार्थना करनी पडती थी। इनके सांसारिक कर्तव्यो का निर्देश कदाचित ही कही किया गया हो। इसका एकमात्र उदाहरण वाकाटक राजा द्वितीय प्रवरसेन का चम्मक ताम्रपत्र है। इसमें एक सहस्र ब्राह्मणो को एक गाव दान किया गया है और उनके लिए कुछ कर्तव्य भी निर्धारित किए गए हैं।[96] उन्हें हिदायत दी गई है कि वे राजा और राज्य के विरुद्ध द्रोह नहीं करेगे, चोरी और व्यभिचार नहीं करेंगे, ब्रह्म हत्या नही करेगे, और राजा को अपथ्य अर्थात विष नही देगे; इसके अतिरिक्त वे अन्य गांवों से लडाई नहीं करेंगे और न उनका कोई अनिष्ट करेंगे।[97] ये सभी दायित्व निषेधात्मक हैं, जिसका मतलब यह हुआ कि पुरोहित लोग इस शर्त पर भूमि का उपभो करते थे कि वे प्रचलित सामाजिक एव राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध कोई काम नही करेंगे। दूसरे दानपत्रों में भोक्ता पुरोहितों ने इन निषेधो को शायद एक सर्वमान्य तथ्य के रूप मे यों ही स्वीकार कर लिया, जिससे इनके उल्लेख की जरूरत नहीं समझी गई। लेकिन ऐसा मानना स्वाभाविक ही होगा कि ब्राह्मणों ने अपने उदार दाताओं से जितना पाया, बदले में उन्हें उससे अधिक ही दिया। उन्होने अपने-अपने अधीनस्थ क्षेत्रों मे शांति एव व्यवस्था कायम रखी, प्रजा को वर्ण धर्म के निर्वाह का पवित्र कर्तव्य समझाया तथा उनके मन में राजा के प्रति, जो गुप्तकाल से विभिन्न देवताओं के गुणों से विभूषित बताया जाने लगा था, यह भाव जगाया कि उसकी आज्ञा का पालन करना पुनीत कार्य है। अतएव, दाताओं का मंशा चाहे जो रहा हो, ऐसा मानना गलत होगा कि इन अनुदानों से सिर्फ धार्मिक उद्देश्यों की ही सिद्धि होती थी। यह ठीक है कि पुरोहित लोग दाताओ तथा उनके पूर्वजों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए पूजा-प्रार्थना करते थे और इंग्लैंड के पादरियों की तरह उनके लिए सेना नही जुटाते थे, लेकिन अगर जनता को ठीक आचरण करने और प्रचलित व्यवस्था को स्वीकार करके चलने के लिए समझाया जा सकता था तो फिर सैनिक सेवा की जरूरत ही क्या थी?

गुप्तकाल मे अधिकारियों को सैनिक और प्रशासनिक सेवाओं के लिए भूमि-अनुदान देने का कोई पुरालेखीय साक्ष्य नहीं मिलता, यद्यपि हो सकता है कि ऐसा प्रचलन रहा हो। राजस्विक अधिकारियो को वेतन के रूप में भूमि-अनुदान देने की मनु की व्यवस्था[98] को गुप्तकालीन स्मृतिकारों ने दुहराया है। पाचवीं सदी में प्रसादलिखित अर्थात राजकृपा लेख की परिभाषा करते हुए बृहस्पति कहता है कि किसी व्यक्ति की सेवाओं, पराक्रम आदि से प्रसन्न होकर राजा ऐसा अनुदान देता है और इस तरह के अनुदान मे कोई विषय आदि क्षेत्र दिया जाता है।[99]

गुप्तकाल के कुछ अभिलेखो से ज्ञात होता है कि धर्म कर्म में लगे पुरोहितों और

पंडितों के अतिरिक्त गृहस्थों को भी अनुदान स्वरूप गांव दिए जाते थे, किंतु ये लोग उन गावों से होनेवाली आय का उपयोग धार्मिक प्रयोजनों के लिए करते थे। सातवाहनों और कुषाणों के अधीन शिल्पियों के संघों को धर्म-कार्यों में लगाने के लिए राज्य की ओर से नकद राशियां दी जाती थी, लेकिन गुप्तों के शासनकाल में इसी उद्देश्य से अधिकारियों तथा अन्य लोगों को भूमि-अनुदान दिए जाते थे। इसका एक उदाहरण बहुत प्रारंभ में ही, अर्थात 496-97 ई. में मध्य भारत में उच्छकल्प महाराज जयनाथ द्वारा दिए गए एक अनुदान में देखने को मिलता है।[100] इसमें दिविर (लिपिक), उसके पुत्र और दो पौत्रों को अग्रहार के रूप मे एक गाव दिया गया है, जिसकी व्यवस्था उन्हें धार्मिक प्रयोजनों के लिए करनी है।[101] उस गांव के निवासियों को निर्देश दिया गया है कि वे भोक्ताओं को भाग, भोग, कर, हिरण्य आदि नियमपूर्वक दे तथा उनके आदेशो का पालन करें; लेकिन दाता ने चोरों को सजा देने का अधिकार अपने ही हाथों में रखा है।[102] अब ऐसा अनुमान लगाना असगत न होगा कि इन गृहस्थ न्यासियों (ट्रस्टीज) ने इन रियायतों का उपयोग सदैव धार्मिक कार्यों के लिए ही नही किया होगा; और चूंकि वे न्यासी अपने अत्याचार के लिए प्रसिद्ध दिविर लोग थे, इसलिए ऐसी शंका का और भी बड़ा कारण है। यह कहना कठिन है कि दिविर को यह अग्रहार देने के पीछे कोई ऐसा मशा था या नही कि इसकी आमदनी से अपनी धर्मेतर सेवाओं के प्रतिदान स्वरूप उसे मिलनेवाले वेतन की रही सही कमी पूरी कर दी जाए; लेकिन व्यवहारतः तो वह उससे अपनी थैली भरने से शायद नही ही चूकता होगा।

उसी क्षेत्र मे इस प्रकार के कई अनुदान जयनाथ के पुत्र शर्वनाथ ने भी दिए। 512-13 ई. में उसने एक गाव चार हिस्सों में दान किया। इनमे से दो हिस्से विष्णुनंदिन के थे, एक व्यापारी शक्तिनाग का और एक-एक कुमारनाग तथा स्कंदनाग का था।[103] यह गाव उद्रग और उपरिकर के अधिकार के साथ-साथ दान किया गया था और इसमे सरकार के अनियमित अथवा नियमित सैनिकों का प्रवेश वर्जित था।[104] इस महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक छूट का कोई उल्लेख उपर्युक्त अनुदान में नही मिलता। स्पष्ट है, यहा प्रत्यक्ष भोक्ता वे गृहस्थ लोग थे जिनको यह दान दिया गया था; और उनके वंशजो को भी सदा के लिए दान का उपभोग करने का अधिकार प्राप्त था।[105] किंतु अततः इसके भोक्ता दो देवता थे, जिनकी पूजा और मंदिरों की मरम्मत के लिए दाता और ग्रहीता के बीच हुए इकरारनामे के मुताबिक यह दान दिया गया था।[106] जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि राजस्व तथा प्रशासन सबधी सत्ता प्रयोग करने का अधिकार इन गृहस्थ भोक्ताओं के ही हाथों में था, और सिर्फ आय का उपभोग मंदिरो के लिए निर्धारित था। इसी राजा ने चोड्गोमिक नामक व्यक्ति को ऐसी ही शर्तों पर आधा गाव दान किया। यह व्यक्ति भी गृहस्थ ही था, और इसने दाता के साथ अनुबंध किया कि अनुदान का

उपयोग पिष्टपुरिका देवी की पूजा और मंदिर के जीर्णोद्धार के लिए किया जाएगा।[107] इन सभी दानपत्रो से यही आभास मिलता है कि अनुदान प्राप्त करनेवाले गृहस्थ लोग दान में दिए गए गावो के व्यवस्थापक बन जाते थे, और उन पर मंदिरो को चलाने की जिम्मेदारी होती थी।

लेकिन इसी राजा द्वारा 533-34 ई मे जारी किए गए एक दानपत्र को देखने से इस विषय मे कोई शका नही रह जाती कि सीधे गृहस्थ लोगो को भी भूमि अनुदान दिए जाते थे। इस दानपत्र के अनुसार, पुलिदभट नामक किसी व्यक्ति को राजकृपा स्वरूप दो गाव सदा के लिए दे दिए गए और उनके राजस्व तथा प्रशासन सबंधी उपर्युक्त अधिकार भी उसे सौंप दिए गए।[108] ऐसा लगता है कि पुलिदभट कोई आदिवासी सरदार था। यह तो निश्चित है कि उक्त दानपत्र द्वारा जब ये दो गाव उसे हस्तांतरित किए गए, उसके पूर्व भी एक विशुद्ध धर्मेतर अनुदानपत्र के आधार पर वह इन दोनो गावों पर काबिज था। सभव है, इस काल मे और भी धर्मेतर अनुदान दिए गए हो, परतु उनका सबध चूकि धार्मिक प्रयोजनो से नही था, इसलिए उन्हें पत्थर और तांबे जैसी टिकाऊ धातु पर अंकित नही किया गया।

गुप्त काल के प्रशासनिक अधिकारियो के कतिपय पदनामो तथा प्रशासनिक इकाइयों की कुछ सज्ञाओ से भी प्रकट होता है कि सरकारी कर्मचारियो को भू-राजस्व अनुदान के रूप मे वेतन दिया जाता था। भोगिक तथा भोगपतिक, इन दो पदनामो से भासित होता है कि इन अधिकारियो को ये पद मुख्यतः राजस्व का उपयोग करने के लिए ही दिए गए थे और प्रजा पर राज-सत्ता का प्रयोग करना तथा उसके कल्याण के लिए कार्य करना इनका गौण दायित्व था। कभी-कभी भोगिक अमात्य भी हुआ करता था।[109] क्या पता कि उस अवस्था में उसे भोगिक का पद उसको अपने दूसरे पद से संबंधित कार्यों के लिए वेतन देने के उद्देश्य से ही न दिया जाता हो! इसके अतिरिक्त भोगिक का पद सामान्यतया वंशानुगत हुआ करता था; क्योकि भोगिको की कम से कम तीन पीढियो का उल्लेख तो कई स्थानो पर मिलता है।[110] इन तमाम बातो के परिणामस्वरूप भोगिक स्वभावतः शक्तिशाली सामतप्रभु (ओवरलॉर्ड) हो गया होगा, जिस पर केंद्रीय सत्ता का अकुश अपेक्षाकृत बहुत कम रह गया होगा। भोगपतिक का उल्लेख वर्धमान भुक्ति मे नियुक्त लगभग दर्जन भर अधिकारियों के साथ-साथ हुआ है। यह बात लगभग 507 ई. की है, जब महाराजाधिराज श्री गोपचद्र के सामत के रूप में महाराज विजयसेन वहां शासन करता था।[111] इसके बारे मे ठीक ही अनुमान लगाया गया है कि यह अधिकारी शायद कोई जागीरदार था।[112]

सामंतवादी संबंधो के विकास मे देश-विजय की उस प्रक्रिया से भी बडी सहायता मिली जिसमे पराक्रमी राजा छोटे-छोटे सरदारो को जीत कर उन्हे इस शर्त पर पुनः पदासीन कर देता था कि वे उसे कर देते रहेगे और उसके प्रति अपनी

श्रद्धाभक्ति व्यक्त करते रहेगे। सामती सबधों का विकास समुद्रगुप्त के समय में अपनी पराकाष्ठा पर पहुच गया। उसने बवडर के वेग से भारत के विशाल भू-भाग को जीत लिया और अधिकाश विजित राजाओ और सरदारो से उपर्युक्त रीति से अधीनता स्वीकार करवा कर उन्हे अपने-अपने पदो पर छोड दिया। परिणामस्वरूप अब सामतवादी सबध बहुत बडे पैमाने पर स्थापित हो गए। जो आदर्श समुद्रगुप्त कायम कर गया उसी का अनुसरण उसके उत्तराधिकारियो ने किया। प्रयाग प्रशस्ति में राजा के प्रति सामतों के कर्तव्यो को स्पष्ट किया गया है। उसके अनुसार, अपने अपने सिंहासनों पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिए जाने के बदले विजित और अधीनस्थ राजाओ से अपेक्षा की जाती थी कि वे सभी कर प्रदान करें, राज्यादेशो का पालन करें, विवाह मे राजपरिवार को अपनी कन्याएं दे और विजेता के प्रति श्रद्धा भक्ति प्रकट करे।[113]

समुद्रगुप्त द्वारा विजित नरेशो और सरदारो के लिए सामत शब्द का प्रयोग नही हुआ है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और अशोक के अभिलेखों[114] मे इस शब्द का अर्थ स्वतत्र पडोसी है। मौर्योत्तर विधि-ग्रंथों में इसका प्रयोग पडोसी भूस्वामी के अर्थ मे हुआ है।[115] अधीनस्थ सरदार के अर्थ मे सामत शब्द का प्रयोग दक्षिण भारत मे पाचवी सदी से आरभ हुआ; क्योंकि शांतिवर्मन के काल (लगभग 455-70 ई) के एक पल्लव अभिलेख में सामत-चूडामणय· शब्द-समुच्चय का प्रयोग हुआ है।[116] दक्षिणी और पश्चिमी भारत के भी इस सदी के कुछ शासनपत्रो में इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ मे हुआ है।[117] जान पडता है कि उत्तर भारत मे इस अर्थ मे इसका प्रयोग सबसे पहले बगाल के एक अभिलेख मे और मौखरि सरदार अवंतिवर्मन के बाराबार पहाडी के गुफा अभिलेख मे हुआ है। अवंतिवर्मन के अभिलेख में उसके पिता को 'सामत-चूडामणि' कहा गया है।[118] पुरालिपिशास्त्र की दृष्टि से यह अभिलेख हरहा अभिलेख के काल, अर्थात 554 ईस्वी से पहले का माना गया है।[119] अतएव अवंतिवर्मन के पिता का काल 500 ईस्वी के आसपास माना जा सकता है। उन दिनो मौखरि गुप्त सम्राट के सामत थे। सामत शब्द का प्रयोग यशोधर्मन (लगभग 525-35 ई) के मदसोर प्रस्तर स्तभ अभिलेख में भी मिलता है। इस अभिलेख मे उसने सारे उत्तर भारत के सामतों को पराजित करने का दावा किया है।[120] छठी शताब्दी मे वलभी शासक सामतमहाराज और महासामंत की उपाधि धारण किया करते थे। धीरे-धीरे सामत शब्द का प्रयोग पराजित सरदारो के अतिरिक्त राज्याधिकारियो के लिए भी होने लगा। उदाहरण के लिए, कलचुरि-चेदि युग के अभिलेखों मे 597 ईस्वी से उपरिको और कुमारामात्यो का स्थान राजाओ और सामतो ने ले लिया।[121] उत्तरी और पश्चिमी भारत मे प्राप्त छठी शताब्दी के कई अभिलेखो मे अधीनस्थ सरदार के अर्थ में सामत शब्द का उल्लेख हुआ है। यद्यपि गुप्त सम्राटों द्वारा जारी किए गए

शासनपत्रादि में इस शब्द का जिक्र नही हुआ है, लेकिन हम ऐसा तो निःशंक मान सकते हैं कि गुप्तकाल के उत्तरार्ध में छोटे-बड़े सरदारों और सबके प्रभुसम्राट या राजा के आपसी संबंधों के आधार पर जो राजनीतिक ढांचा खडा था उसमें सामंत एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का काम करता था।

मौर्य और गुप्त शासनपद्धतियो का अंतर स्पष्ट दिखाई देता है। यद्यपि गुप्त राजा को दैवी गुणों से विभूषित माना जाता था, तथापि जितना शक्तिशाली मौर्य राजा था उतना वह नही था। उसकी सेना, नौकरशाही और कर व्यवस्था उतनी विस्तृत नहीं थी जितनी कि मौर्यों की थी। अधिकारियों को जब तब जो भूमि अनुदान मिलते रहते थे उनके कारण उनका पद वंशानुगत और अधिक शक्तिसंपन्न होता जा रहा था। गुप्त शासकों ने ग्रामीण तथा शहरी दोनों क्षेत्रों में सबसे पहली बार ऐसे व्यवस्थित प्रांतीय तथा स्थानीय शासन की शुरुआत की जिसमें भूस्वामियों, सैनिकों तथा पेशेवर लोगो के प्रतिनिधियो को स्थान दिए गए। इस काल में ग्राम प्रशासन को सहसा बहुत अधिक सत्ता प्राप्त हो गई। राज्य कर्मचारियों की संख्या में जो भारी कमी आ गई थी उसका यह स्वाभाविक परिणाम था। न्याय व्यवस्था में भी स्थानीय तत्वों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और ऐसा जान पडता है कि प्रशासन का यह अंग अब पहले की अपेक्षा बहुत अधिक सुसंगठित हो चुका था।

इस काल की दो सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियो मे से एक तो यह थी कि गुप्त राजाओं के मध्यभारत स्थित सामंतों ने धार्मिक ग्रहीताओ को राजस्विक तथा प्रशासनिक छूटों के समेत पूरे के पूरे गांव अनुदान में दिए और दूसरी यह कि गुप्त सम्राटो ने विजित सरदारों के साथ एकपक्षीय अनुबंधात्मक संबधो की स्थापना की। कुल मिलाकर गुप्त शासन प्रणाली में हमे सामंतवाद की स्पष्ट विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं। वस्तुत. गुप्त शासनप्रणाली ने परवर्ती काल के उस प्रशासनिक ढांचे की नीव तैयार कर दी जो पूर्णतः सामतवादी था।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 श्लोक 16

2 से इ . III, स 2, पंक्ति 28 परमदैवत शब्द (वही, स 16, पंक्ति 2) का अर्थ सभवत महान ईश्वरभक्त है .

3 विचित्र बात है कि गुप्तकालीन साहित्यिक ग्रथों में कुमारामात्य पद पर कोई प्रकाश नही डाला गया है

4 यह शब्द-समुच्चय 'तीर-कुमारामात्याधिकरणकस्य' है, भुक्ति शब्द का उल्लेख नही हुआ है आ स इ रि, 1903-4, पृ 109

5 वही, पृ 108.
6 वही, पृ 107-8
7 से इ, III स 2, पंक्ति 32.
8 वही
9 ज ए सो ब , न्यू सिरीज, (1909), 164
10 ए इ , X, पृ 49
11 निम्नवत्, अध्याय XII
12 से इ , III, स 17, पंक्तिया 6-7, कॉ इ, इ , ई , iii, स 6, पंक्तिया 3-4
13 कॉ इ, इ , iii, स 22, पंक्तिया 28-30
14 आ स रि , 1913-14, पृ 134
15 कॉ इ इ , iii, स 22, पंक्तिया 28-30, स 23, पंक्तिया 18-20.
16 वही स 27, पंक्तिया 21-22.
17 वही, स 26, पंक्तिया 22-23
8 से इ , III, स 18, प 3, स 34, प 2, स 36, पंक्ति 2
19 आ स रि , 1911-12, पृ 52
20 ए रेकर्ड आफ बुद्धिस्टिक किगडम, अनु पृ , 45
21 ट्रैवेल्स ऑफ फाहियान एटसेटरा, पृ 55
22 हो चाग चुन : फाहियानुस पिलग्रीमेज टु बुद्धिस्ट कंट्रीज, चाइनीज लिटरेचर, 1956, स. 3, 154
23 आ स रि , 1911-12, पृ 52-53
24 वही
25 वही, 1903-4, पृ 109 समुद्रगुप्त के अप्रामाणिक नालदा फलक (प्लेट) में उल्लिखित 'महापिलुपति' पूर्ववर्ती अभिलेखों में नही मिलता
26 वही, पृ 108
27 युवराज-भट्टारकपादीय-बलाधिकरणस्य वही.
28 वही, पृ 109
29 वही, पृ 108
30 कॉ इ इ , iii स 60, पंक्ति 12
31 ए इ , xxiii, स 8, पंक्ति 3
32 वही
33 वही, स 12, पंक्ति 29
34 ए इ , xxiii, स 8, पंक्ति 8
35 कॉ इ इ , iii, स 60, पंक्ति 15
36 वही, सं 12, पंक्ति 28
37 वही, पंक्ति 29
38 से इ , III, स 46, पंक्ति 4
39 वही

40. आ. स इ रि., 1903-4, पृष्ठ 109
41 ए इ , XXV, स 9, पंक्ति 5.
42. आ स इ रि., 1903-4 पृ 109
43 रा श शर्मा, इंडियन फ्यूडलिज्म, पृ 18
44. ए. इं , xxiii, स 8, पंक्ति 3
45 से इ , III, स 34, पंक्ति 3
46 का इं इ , iii, स 24, पंक्तिया 4-6
47 वही
48 से इ , III, सं 41, पंक्ति 2
49 वही, स 46, पंक्तिया 5-6
50 वही, पंक्तिया 6-7
51 वही, पंक्तिया 5-7
52 वही, पंक्ति 5.
53 वही, पंक्ति 7
54 वही, पंक्तिया 7-8
55 वही, स 34, पंक्तिया 2-3, ए. इ , स XVII, स 23, पंक्तिया 5-6
56 आ स इ रि , 1903-4, पृ 109
57. I, 361
58 VIII, 41, तुलनीय से बु ई., XXV, 260, पा टि 41
59 शा प , 88 3, बहु-ग्राम इकाइयों के प्रधान के लिए मनु , VII, 115-9 और शा. प . 88 3-9 में 'पति', 'अधिपति', और 'अध्यक्ष' शब्दों का प्रयोग हुआ है
60 V, 5 5, तुलनीय इंडियन फ्यूडलिज्म, पृ 51, 52
61 आ स इ रि , 1903-4, पृ 110
62 वही, पृ 104
63 नारद , X-1
64 वही, X-2
65 से इ , III, स 36, पंक्तिया 1-4
66 वही, पंक्तिया 3-4
67 आ स रि , 1911-12, पृ 54-55
68 वही
69 वही, 1903-4, पृ 109
70 आ स रि , 1903-4, पृ 108
71. II, 5
72 रा श शर्मा, इंडियन फ्यूडलिज्म, पृ 145-52.

73 VIII, 114

74 II, 95

75 I, 252

76 X, 4

77 बृहस्पति, I, 28-30

78 मै आ.स.इ., सं 66, पृ 53 गुप्त राजाओं की मुहरों को तो आसानी से पहचाना जा सकता है, किंतु इन मुहरों को छोड़कर गुप्तकाल और गुप्तोत्तरकाल की नालंदा से प्राप्त सभी मुहरों को मे., आ., स इ (स 66) में बिना सोचे-समझे एक साथ मिला दिया गया है. पुरालिपिशास्त्र के आधार पर दोनों कालों की मुहरों को एक दूसरे से अलग किया जा सकता है

79 बृहस्पति, I 28-30

80 श्लोक 82

81 ए इ, XXX, 163-181, ज इ सो. हि ऑ, ii, 281-93

82 ए इ, XXX, स 36, पंक्ति 6.

83 से इ, III, स 62, पंक्तियां 26-29

84 XVII, 66

85 कॉ इ इ, iii, स 41, पंक्ति 8, से इ, III, स 62, पंक्ति 29

86 रा श शर्मा, "पॉलिटिको-लीगल ऐस्पेक्ट ऑफ दि कास्ट सिस्टम", ज बि रि. सो., XXXIX, 325

87 अभ्यन्तर सिद्धिका, कॉ इ इ, iv, स 31, पंक्ति 41

88 कॉ इ इ, iv, 154 पा टि 1

89 वही

90 वही, iii, 189-90 पा टि 4

91 ए इ, स 16, पंक्तियां 1-9, यह स्पष्ट नहीं है कि दाता स्वयं वह व्यापारी था या कोई और

92 'उचितया ब्रह्मदेय-भुक्त्या भुञ्जत कृषत कृषापयतश्च.' वही, पंक्तियां 6-7

93 ज ए सो ब., V (1909), 164, ए इ, X, 12

94 ए इ, xiii, स 8, पंक्ति 3 इस अनुदानपत्र की शब्दावली वही है जो उत्तर बंगाल के अनुदानपत्रों की है, लेकिन ग्रहीता स्थानीय था और दाता भी स्थानीय ही प्रतीत होता है, क्योंकि उसने अपने को मात्र विषयपति छत्रमह कहा है, जिससे यह प्रकट होता है कि ग्रहीता के इलाके में वह भली-भांति परिचित है

95 वही, X, स 12, पंक्ति 6

96 *कॉ इ इं., iii, सं 55*

97 वही, पंक्तियां 39-43

98 VII, 115-20

99 व्यवहारमयूख (अनु पी वी काणे और एस जी पटवर्धन), पृ 25-7 में उद्धृत
100 कॉ इ इ., iii, स 27
101 वही, पंक्तिया 5-11
102. वही, पंक्तिया 11-14
103 वही, स 28, पंक्तिया 1-17
104 वही, पंक्तिया 9-10
105 वही, पंक्तिया 12-13
106 वही, पंक्तिया 13-16
107 वही, स 29, पंक्तिया 1-12
108 वही, स 31, पंक्तिया 1-10
109 वही, सं 23, पंक्तिया 18-20, 26, पंक्तिया 22-23
110 वही, iii, स. 26 पंक्तिया 23-23
111. से इ, III, स 46, पंक्तिया 3-4
112. वही, पृ 360, पा टि. 9
113 LI 22 24
114 अ शा, I, 6, पी इ, II, पंक्ति 5
115 मनु (सै बु ई), VIII, 286-9, याज्ञ, पंक्तिया 152-53
116 आर बी पाडे, हिस्टोरिकल ऐंड लिटरेरी इंस्क्रिप्शस, स 29, पंक्ति 31
117 इन दृष्टातों का सकलन एल गोपाल ने ज रा ए सो, भाग 1 और 2, अप्रैल, 1963 में प्रकाशित अपने निबध 'सामत—इट्स वैरीग सिग्नीफिकेंस इन एंशिएंट इंडिया' में किया है
118 कॉ इ इ, iii, स 49, पंक्ति 4
119. आर जी बसाक, दि हिस्ट्री ऑफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया, पृ 105
120. से इ, III, स 54, श्लोक 5
121. कॉ. इ. इ., iv, भूमिका, पृ. (Lxi.

19. प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था के विभिन्न चरण (वैदिक तथा वैदिकोत्तर)

ऋग्वैदिक अवस्था : जनजातीय सैनिक लोकतंत्र

जिन लोगो ने ऋग्वैदिककाल के राजनीतिक संगठन का विकास किया, उनके भौतिक एव सामाजिक जीवन के सदर्भ से अलग रखकर उस सगठन को नहीं समझा जा सकता। दु ख की बात है कि भारत से आर्यों के इतिहास की जानकारी प्राप्त करने के जितने भी पुरातात्विक प्रयत्न हुए हैं, सब निष्फल रहे हैं, और ऐसा कोई अवशेष हमारे हाथ नही आया है जिसे निश्चयपूर्वक ऋग्वैदिक लोगों से सबंधित बताया जा सके। पिछले चालीस वर्षों से चल रहे श्रमसाध्य उत्खननों के बावजूद भारत के प्राचीनतम आर्यों के भौतिक जीवन की रूपरेखा तैयार करने का मुख्य साधन आज भी साहित्य ही है।

यदि हम 'ऋग्वेद' के साक्ष्यों का भरोसा करके चले तो कहना होगा कि आर्यों और हडप्पा-सभ्यता के निर्माताओं अथवा आर्यों के अन्य पूर्ववर्ती मानव-समुदायों के बीच मुख्य भौतिक अतर यह था कि नवागतुओं के पास घोडे और रथ थे। जिनके पास घोडो द्वारा खीचे जानेवाले रथ थे और जो इन रथों पर आरूढ़ होकर लडते थे, वे स्पष्ट ही उस समाज के श्रीमत वर्ग के लोग थे। यही चीज हमें पश्चिम एशिया में मितानियों और हिकसस लोगो में देखने को मिलती है। दूसरी ओर घोडों पर चढ़कर लडनेवाले साधारण सैनिक समाज के सामान्य जन थे।

वैदिक काल के सामाजिक संगठन मे हम रथ निर्माताओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका पाते हैं, लेकिन रथ किस चीज के बने होते थे, इसकी जानकारी हमें नही है। यदि उनमे किसी धातु का उपयोग होता भी रहा हो तो अब तक उसका पता नही चल पाया है।

ऋग्वैदिक लोगो को अयस् नामक किसी धातु का ज्ञान था, लेकिन वह ताबा था या कासा, यह बताना कठिन है। ऐसा समझा जाता है कि वे कासे का उपयोग करते थे, और लगभग 1200 ई. पू. से फारस में इस धातु के व्यापक उपयोग को देखते

हुए यह अनुमान निराधार नहीं प्रतीत होता। किंतु सप्तसिंधु क्षेत्र में प्राप्त मात्र एक दो चीजें ही ऋग्वैदिक काल की मानी जा सकती हैं, और इसलिए उनके आधार पर ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उस काल में कांसे का व्यापक उपयोग होता होगा। चूंकि अयस् का रंग लालछौंह बताया गया है, इसलिए हो सकता है कि यह धातु तांबा रही हो। ऐसा लगता है कि उनके तीर तांबे (अयोमुखम्) के बने होते थे, और यद्यपि उनके पास घोड़े थे, किंतु उनके जिन औजारों और हथियारों की जानकारी हमें मिलती है, वे ऐसे नहीं थे जिनके सहारे वे बड़े साम्राज्यों की रचना कर सकते थे, जिसमें उन्हें विकसित राजनीतिक संगठन के निर्माण की आवश्यकता पड़ती।

ऋग्वैदिक लोग अर्ध खानाबदोश थे और आर्थिक दृष्टि से वे मुख्यतः पशुपालन की अवस्था में थे। उन्हें लोहे का ज्ञान नहीं था और इसलिए हल से बहुत जोत-गोड़कर की जानेवाली खेती वे कम करते थे। कृषि की अपेक्षा पशुपालन जीविका का अधिक महत्त्वपूर्ण साधन था और मवेशी और बैल उनकी सबसे मूल्यवान संपत्ति थे। सामाजिक तथा सैनिक संगठन पर पशुपालन का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, एक गोष्ठ (गुहाल) में रहनेवाले लोग एक गोत्र के हो गए। ऋग्वैदिक काल में गोत्र शब्द का अर्थ एक ही पूर्वज के वंशज नहीं होता था। फिर, चूंकि गोधन जनजातीय युद्धों का मुख्य कारण हुआ करता था, इसलिए युद्ध के पर्याय के रूप में गविष्टि—अर्थात गाय की खोज—शब्द का चलन हुआ।

चूंकि वे अर्ध खानाबदोशी की व्यवस्था में थे और गोधन के लिए बराबर आपस में लड़ते रहते थे, इसलिए उन्हें सदा अपने स्थान बदलते रहने पड़ते थे। यह चीज स्वभावतः उनके द्वारा स्थिर और स्थायी राज्यों के निर्माण में बाधक थी और इसी कारण से उनके सामाजिक संबंधों में कठोरता और वर्ग विभाजन नहीं आ पाया। इन परिस्थितियों में छोटे-छोटे जनजातीय मंडलों (प्रिंसिपलिटी) का अस्तित्व कायम होना स्वाभाविक था।

ऋग्वैदिक लोगों का सामाजिक संगठन जनजातीय अवस्था को पार नहीं कर पाया था। राजपद सामाजिक संगठन का आधार था। जनजातीय जीवन की प्रमुखता का संकेत इस बात से मिलता है कि 'ऋग्वेद' में जन और विश् शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। जन शब्द इसमें 275 बार आया है और विश् 170 बार पांचजनों के अर्थ में हमें पंचजनाः शब्द का उल्लेख भी मिलता है। वैदिक जन सबसे ऊंची सामाजिक इकाई था और यह रोम के समाज के 'जेंस' और यूनानी समाज के 'जेनस' का भारतीय प्रतिरूप था।

जन विशों में विभक्त होता था। जन पूरे समुदाय का द्योतक था और विश् गोत्र का। भारोपीय भाषाओं में हमें इनके समांतर शब्द नहीं मिलते। वैदिक विश्

और रोम के समाज के 'ट्राइबस' तथा 'फिलई' में कोई साम्य है अथवा नही, हम नही कह सकते। लेकिन इसमें सदेह नही कि होमरकालीन यूनान प्राचीन जर्मनी के लड़ाकू दलों की तरह विश् भी कुटुबी जनों की लड़ाकू टुकडी था।

कुछ विद्वानों की राय है कि विश् ग्रामो में विभक्त होता था, लेकिन इस विभाजन का व्यापक चलन नही था, क्योंकि ग्राम का उल्लेख 'ऋग्वेद' में केवल 13 स्थलो पर हुआ है। इस काल में ग्राम का प्रयोग सामान्यत: आज के गांव के अर्थ में नही, बल्कि ऐसे छोटे-छोटे जनजातीय लडाकू समूहों के अर्थ मे हुआ है जिनके सदस्यों को सग्राम के लिए एकजुट और सन्नद्ध किया जाता था।

सभव है, परिवार सबसे छोटी इकाई रहा हो, लेकिन यह कोई सुस्थित सस्था नही बन पाया था और निश्चय ही आज की तरह एकविवाही इकाई तो नही ही था। कुल शब्द का प्रयोग 'ऋग्वेद' में स्वतत्र रूप मे नही हुआ है। लेकिन कुलपा, या परिवार प्रधान के हिस्से के रूप में एक स्थल पर इसका प्रयोग अवश्य हुआ है। लेकिन कुलपा का वर्णन भी साधारण गृहस्थ के रूप में नही, बल्कि योद्धा के रूप में ही हुआ है। गृह की चर्चा ऋग्वेद में अनेक बार परिवार के अर्थ में आयी है। हमें इस बात की जानकारी नही है कि ऋग्वैदिक परिवार अपने सदस्यो की सख्या मे कितनी वृद्धि होने तक एक बना रहता था। लेकिन, बेशक, वह एक बडी पितृसत्तात्मक इकाई था, जिसमे तीन-तीन पीढ़ियों के लोग एक ही छत के नीचे रहते थे।

ऋग्वैदिक परिवार पितृसत्तात्मक था, इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नही है। 'ऋग्वेद' में प्रजा की कामना की गई है। प्रजा शब्द में यों तो पुत्र-पुत्री दोनों शामिल हैं, किंतु लोगों को युद्ध करनेवाले सुवीरों की कामना अधिक रहती थी। लेकिन ऋग्वैदिक समाज के पितृसत्तात्मक स्वरूप को बढ़ा-चढ़ाकर देखना गलत होगा। यदि इस ग्रथ में पिता शब्द का उल्लेख 335 स्थलो पर हुआ है तो माता का भी 234 स्थानो पर हुआ है। इसके अतिरिक्त, हमें अनेक देवियो का उल्लेख भी मिलता है, जिससे नारी का महत्त्व भासित होता है। ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि स्त्रियों को प्रेम सबंध रखने की पूरी छूट थी। वह अपने पति के साथ यज्ञ में भाग ले सकती थी, और कुछ स्त्रियों को तो वैदिक मत्रों की रचना करने का भी श्रेय दिया गया है। स्पष्ट ही, ऋग्वैदिक काल मे पितृ अधिकार इतना प्रबल नही हो पाया था कि वह मातृ अधिकार को पूरी तरह लील लेता, और यह चीज जनजातीय समाजो आदि के गठन में प्रतिबिंबित होती है।

ऋग्वैदिक काल मे वशानुगत पेशो के आधार पर या किसानो तथा कारीगरो के उत्पादन के अतिरिक्त अश को हडपकर लोगो द्वारा संचित की गई सपत्ति की बुनियाद पर खडे सामाजिक वर्गों का स्पष्ट उदय नही हो पाया था। एक परिवार के सदस्य अलग-अलग धधे करते थे। उदाहरण के लिए, एक परिवार में पिता

पुरोहित था, माता अन्न पीसती थी, और पुत्र वैद्य था, किंतु ये सब सुखपूर्वक एक साथ रहते थे। वर्ण शब्द का उल्लेख 'ऋग्वेद' में केवल 23 बार हुआ है, लेकिन इनमें इसका उल्लेख सर्वत्र सामाजिक वर्ग के अर्थ में ही नही हुआ है। यद्यपि योद्धा और पुरोहित जनजातीय भ्रातृत्व मे अलग होते जा रहे थे, तथापि सुस्पष्ट सामाजिक वर्गों के रूप मे चारों वर्णों का अस्तित्व कायम नहीं हो पाया था। 'ऋग्वेद' में ब्राह्मण शब्द का उल्लेख 15 बार, क्षत्रिय का 9 बार और वैश्य तथा शूद्र का एक-एक बार हुआ है। यद्यपि परवर्ती वैदिक साहित्य से राजन्यों का प्रभुत्व प्रतिभासित होता है, पर ऋग्वेद मे राजन्य शब्द एक ही बार आता है। स्वभावतः इस काल का राजनीतिक सगठन वर्ण पर आधारित भेदभाव से सामान्यतः मुक्त है।

ऋग्वैदिक समाज में जो कुछ भी असमानता पनप पाई, उसका कारण पराजित लोगो पर विजयी लोगो के आधिपत्य की स्थापना थी। विजेताओ ने बहुत से लोगो को दास बना लिया और उन्हें इसी स्थिति मे रखा। इनमें स्त्रियो की संख्या अधिक होती थी। वे दासी स्त्रियां पुरोहितों की सेवा के लिए अर्पित कर देते थे। लेकिन शायद विजेता लोग भी दो वर्गों में बटे हुए थे। एक मे रथो से सज्जित शासक समूह के लोग थे और दूसरे मे सामान्य जनजातीय बंधुजन, जो अपने श्रेष्ठजनों के अनुगामी थे। इस असमानता से जनजातीय सरदारो की शक्ति मे वृद्धि हुई और यह चीज यदा-कदा ऋग्वैदिक सभा आदि मे भी प्रतिबिंबित होती थी।

ऊपर हमने जिस भौतिक तथा सामाजिक जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत की है, उसके सहारे वैदिक लोग कोई ऐसा उन्नत राजनीतिक ढाचा विकसित नही कर सकते थे जिसे प्राचीन भारतीय या आधुनिक अर्थ मे राज्य कहा जा सके। सप्तसिंधु देश, जिसमें आधुनिक पजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्से शामिल थे, छोटे-छोटे जनजातीय मंडलों के अधिकार मे था। इन मडलो में से पांच को हम पंचजनाः के रूप मे जानते हैं। यद्यपि ऋग्वैदिक नरेशों के लिए राजन् शब्द का प्रयोग हुआ है, लेकिन ऋग्वैदिक राजत्व का स्वरूप इस प्रकार के राजतंत्र से मूलतः भिन्न था जिसका विकास उत्तर वैदिकयुग और उसके परवर्ती काल मे हुआ। वह कोई ऐसा क्षेत्रीय राजतंत्र नही था जिसमें क्षेत्र विशेष के छोटे-बडे, अमीर-गरीब सभी निवासी राजा के विषय में यह मानते हैं कि जिस देश मे वे रहते हैं, उस पर प्रयुक्त होनेवाली सत्ता का वह प्रतीक है। ऋग्वैदिक नरेश किसी क्षेत्र के लिए नहीं, बल्कि गौओं के लिए लडते हैं। क्षेत्र के पर्यायवाची शब्दो का इस ग्रथ मे विशेष प्रयोग नही हुआ है। यद्यपि जन शब्द का प्रयोग 275 बार हुआ है, किंतु जनपद का एक बार भी नही हुआ है। राज्य शब्द केवल एक बार आया है और राष्ट्र सिर्फ दस बार। 'ऋग्वेद' के सबसे बाद वाले अंश—अर्थात दसवे मंडल मे राजा से राष्ट्र की रक्षा करने को कहा गया है।[1] इससे प्रकट होता है कि राष्ट्र के अग के रूप में क्षेत्र की

परिकल्पना लोगों के मन में इस काल के अत मे आई। ग्राम शब्द 'ऋग्वेद' में 13 स्थलों पर आया है लेकिन गाव के अर्थ मे नहीं। मूलतः इसका अर्थ युद्ध के लिए एकत्र की गई जनजातीय इकाई था। यही कारण है कि जनजाति के सामूहिक चारागाह की देखरेख करनेवाला प्रजापति, जो गोहरण के लिए किए जानेवाले युद्ध में स्वभावत परिवार प्रधानों का नेतृत्व करता था, बाद में ग्रामणी के रूप में भी सामने आता है। ग्रामणी मूलतः गांव का नही, बल्कि ग्राम नामक जनजातीय इकाई का प्रधान होता था। उसे किसी ऐसे अधिकारी के रूप में नहीं देखा जा सकता जिसकी उपाधि से ऐसा सकेत मिलता हो कि वह किसी क्षेत्रीय प्रशासनिक इकाई से सबद्ध था। इस सबसे स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक सरदारों के मन में क्षेत्रीय राज्य की कोई कल्पना नही थी।

ऋग्वैदिक राजत्व मुख्यतः जनजातीय सस्था था। राजा या सरदार का संबंध बार-बार जनजाति से बतलाया गया है। बुनियादी तौर पर वह जन का शासक है और इसलिए उसे जन का रक्षक—गोप जनस्य या गोपति जनस्य—कहा गया है। गोप या गोपति शब्द से यह ध्वनित होता है कि जो व्यक्ति पहले गौओं के झुंडों का प्रधान था, वही धीरे-धीरे जन का प्रधान बन गया।

कसु के साथ चैद्य, दैववात के साथ सृंजय तथा उशीनरों की रानी के साथ उशीनरानि विशेषण जोडे जाने से भी जनजातीय स्वरूप का संकेत मिलता है।[2] गरज यह कि राजा या रानी की पहचान उनकी जनजाति के नाम से की जाती थी।

वैदिक राजा और उसके भाईबदों के बीच बराबरी का रिश्ता होता था। राजा की वशानुगत स्थिति विवाद से परे नही थी। कई अवतरणों से ध्वनित होता है कि राजा अपने पद के लिए जनसाधारण का मुखापेक्षी था। 'ऋग्वेद' के दसवें मंडल में एक उपमा इस प्रकार है—'जैसे प्रजा अपना राजा चुनती है।'[3] उसी मंडल के अभिषेक मत्र से सपूर्ण जनजाति (विशाः) द्वारा व्यक्ति विशेष के राजा के रूप में स्वीकृत किए जाने का सकेत मिलता है।[4] जनजाति के सदस्यों द्वारा राजा के चुनाव के सबसे अधिक उल्लेख 'अथर्ववेद' मे देखने को मिलते हैं,[5] लेकिन स्पष्ट है कि यह चलन बहुत पहले आरभ हो चुका होगा। इस मत्र से जिस औपचारिक स्वीकृति की ध्वनि निकलती है, उससे प्रकट होता है कि पूर्ववर्ती अवस्था में जनजाति अपने निर्वाचन अधिकार का प्रयोग करती थी।

दूसरी ओर, कुछ उल्लेखो से प्रकट होता है कि राजपद कुछ विशेष परिवारों के लोगो को ही प्राप्त होता था।[6] त्रसदस्यु को राजपद अथवा जनजाति का प्रमुखत्व अपने पितामह से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था, और उसका पिता शत्रुओं द्वारा किए गए आक्रमण में अपना सिंहासन खो बैठा था। सुदास के परिवार ने तीन पीढ़ियों तक राजपद का उपयोग किया। इस प्रकार जो वास्तविक उदाहरण मिलते हैं, उनसे भी यह प्रकट नही हो पाया था कि कोई परिवार तीन पीढ़ियों से अधिक

काल तक राजपद का उपभोग कर सका। स्पष्ट है कि प्राचीनतम काल में यह सिद्धांत सुप्रतिष्ठित नहीं हो पाया था कि ज्येष्ठ पुत्र पिता का उत्तराधिकारी है।[7] होमरकालीन यूनान के 'जेनस' में भी ऐसी स्थिति थी। जाहिर है कि ऋग्वैदिक काल में ज्येष्ठ-पुत्राधिकार सुपरिभाषित नहीं हो पाया था, और यदि यह स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं हो पाया था तो उसका कोई वास्तविक महत्त्व भी नहीं था।

सुप्रतिष्ठित वंशानुगत उत्तराधिकार के अभाव मे राजा या सरदार का अधिक शक्तिशाली हो पाना कठिन था। सभा और समिति, जिनका वर्णन हम अध्याय सात में कर चुके हैं, तथा ऐसी दूसरी जनजातीय संस्थाएं राजा के अधिकार को काफी मर्यादित कर देती थी। राजा पर पुरोहित की सत्ता और प्रतिष्ठा का भी अंकुश रहता था। युद्धक्षेत्र में पुरोहित राजा के साथ रहता था और 'ऋग्वेद' के कई अवतरणों में राजा को ब्राह्मण या पुरोहित का विशेष ध्यान रखने और उसकी रक्षा करने की सलाह दी गई है, क्योंकि—इन अवतरणों के अनुसार—ऐसा करने में ही उसका सर्वतोमुखी कल्याण निहित है और ऐसा करके ही वह अपने शत्रुओं तथा कुटुंबियों की श्रीसंपत्ति का स्वामी बन सकता है। लेकिन इन कोरी शुभेच्छाओं से आवश्यक तौर पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि राजा पुरोहितो के समर्थन पर आश्रित था। वास्तव में पुरोहितों के प्रभुत्व का काल बाद में आया।

लगातार होती रहनेवाली लडाइयो के कारण जनजातीय सरदारों की शक्ति की अभिवृद्धि होती रहती थी। इन लडाइयों में पराजित लोगों को दास बनाकर वह उनसे सेवा लेता था। लडाइयों में उसे लूट का जो माल हाथ लगता था, उसमे से वह पुरोहितों को तरह-तरह के भेट उपहार—जैसे गायें, घोड़े, सोने की सिलें और सुंदर वस्त्राभरणों से सज्जित दासियां—देता था। बदले में पुरोहित लोग उसकी दानस्तुति करते थे, अर्थात नई नई विधियो से उसका अभिषेक करते थे और उसकी प्रशंसा में ऋचाएं बनाते थे। इस सबसे राजप्रतिष्ठा की अभिवृद्धि होती थी और विजित लोगों तथा जनजातीय बंधु बांधवों के बीच राजा के पराक्रम प्रभुता के नए-नए किस्से प्रचारित होते थे।

संपत्ति प्राप्त होने से जनजातीय सरदार आम लोगों की अपेक्षा अच्छे ढंग से रह सकता था। शायद वह बडे मकान मे निवास करता था, लेकिन साहित्यिक स्रोतों मे उसके आवास के जो भव्य वर्णन मिलते हैं, उनके बावजूद ऐसा मानने का कोई आधार दिखाई नही देता कि इस काल मे ऐसे भव्य भवन बनते होगे। वास्तव में इस प्रकार के प्रासादों के निर्माण की कल्पना हम बहुत आगे चलकर मौर्यकाल के संदर्भ में ही कर सकते हैं, जब लगभग 2000 वर्षों के अतराल के बाद उत्तरी भारत के मैदानी इलाकों में पकी ईंटों का उपयोग काफी बड़े पैमाने पर होने लगा।

ऋग्वैदिक लोगों के पास जो साधन और शिल्पज्ञान था, उसके सहारे वे कोई बड़ा प्रशासन तंत्र कायम नहीं कर सकते थे। वे मुख्यतः पशुपालक समुदायों के

लोग थे और उनकी खेतीबाड़ी इतनी अविकसित अवस्था में थी कि उसकी पैदावार के बल पर बहुत से राज्य कर्मचारी नहीं रखे जा सकते थे। राजा तथा उसके कर्मचारियों के भरणपोषण का एकमात्र साधन बलि के रूप में प्राप्त होनेवाला उपज का स्वल्प अतिरिक्त अंश था। 'ऋग्वेद' में राजा को दी जानेवाली भेंट या देवताओं को अर्पित किए जाने वाले चढ़ावे के अर्थ में 'बलि शब्द का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है।[8] भेंट के अर्थ में यह शब्द समस्त पद 'बलिहृत' के अंग के रूप में आया है। 'बलिहृत' का प्रयोग राजा नहुष के नाम के साथ 'ऋग्वेद' के प्रारंभिक अंश में और जनजातियों के साथ उसके सबसे बाद वाले अंश में हुआ।[9] भेंट जिस के रूप में शायद विजित लोगों से और राजा के भाईबंदों से भी ली जाती थी। युद्ध में पराजित शत्रु जनजातियों को बलि या किसी न किसी प्रकार की भेंट देने पर विवश किया जाता था। इस भेंट के स्वरूप को देखते हुए मानना पड़ेगा कि ये संबंधित लोगों को अनिवार्यतः देनी पड़ती होगी, लेकिन इस तरह की भेंट नियमित रूप से दी जाती होगी, ऐसा दिखानेवाला कोई साक्ष्य हमें उपलब्ध नहीं है। संभव है, अपने सरदारों के नेतृत्व में विजय प्राप्त करनेवाली जनजातियों के सदस्य उन सरदारों को कृतज्ञतास्वरूप स्वेच्छा से कुछ भेंट-उपहार देते हों, लेकिन न ऐसे भेंट उपहारों की मात्रा पहले से तय की जाती थी, न उनकी नियमित वसूली होती थी और न वे खेती की उपज का कोई निश्चित अंश होते थे। 'ऋग्वेद' में करों का संग्रह करने वाले किसी अधिकारी का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि कर संग्रह राज्य का महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। संक्षेप में, ऋग्वैदिक समाज को कर प्रणाली का ज्ञान नहीं था।

इसी प्रकार, यद्यपि सेनानी नामक पदाधिकारी का उल्लेख हमें मिलता है, लेकिन जिसका खर्च राजा द्वारा वसूल किए जानेवाले करों से चलता हो, ऐसी स्थायी सेना के अस्तित्व का कोई प्रमाण हमें नहीं मिलता। 'ऋग्वेद' में सेना शब्द का उल्लेख बीस बार हुआ है, लेकिन लगता है, यह जरूरत पड़ने पर जनजाति के साधारण सदस्यों में से खड़ी कर ली जानेवाली सेना थी। वैदिक सभाएं जिनमें जनजाति के सदस्य उपस्थित हुआ करते थे, जिन कार्यों का संपादन करती थीं उनमें सैनिक कार्यों का बड़ा महत्त्व था। स्पष्ट है कि जनजातीय लोग सामान्यतः हथियारबंद रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें लड़ाई करने के लिए एकत्र कर लिया जाता था। और फिर हथियार भी तो तीरधनुष होते थे जिन्हें रखना आसान था। जिन लोगों के पास रथ और कांसे के हथियार होते थे, वे कुछ अधिक अच्छी तरह शस्त्रसज्जित रहते थे; शेष सब समान थे। अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण कार्यों में लगे कुछ लोग भी—जैसे गोचर भूमि की देख-रेख करनेवाला व्रजपति और परिवार के मुखिया का दायित्व संभालनेवाला कुलपा—सैनिक अधिकारियों के रूप में सामने आते हैं। युद्ध में व्रजपति कुलपाओं का नेतृत्व करता था। ग्रामणी भी ऐसे ही कार्य संपादित करता था। इसलिए सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए

राज्य के पास कोई स्थायी सैनिक अधिकारी नही होता था। पुरपति, अर्थात मिट्टी के बने किले के नायक, पर शायद प्रतिरक्षा का कुछ स्थायी दायित्व होता होगा; अन्यथा इस काल का सैनिक सगठन सभवत: काफी सरल प्रतीत होता है।

निजी संपत्ति की सुरक्षा के लिए कुछ पुलिस अधिकारी रखना आवश्यक था। दूसरो की जमीन पर जबरदस्ती दखल जमाने जैसे अपराध का कोई उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन चोरी, सेधमारी, बटमारी, जुए मे बेईमानी और खासकर गोहरण के जिक्र बहुत मिलते हैं। राजा लोगो पर नजर रखने के लिए गुप्तचरो से काम लेता था, जो 'स्पसु' कहे जाते थे। उग्र[10] और जीवगृभ[11] नामक अधिकारियों का काम शायद अपराधियों पर नियंत्रण रखना था, और मध्यमसी विवादों में मध्यस्थ का काम करने वाले अधिकारी का काम करता था।

लेकिन सजाएं उतनी कड़ी नही होती थी जितनी परवर्ती काल में होने लगीं। मनुष्य की हत्या करने पर क्षतिपूर्ति के रूप में 100 गाएं देनी पड़ती थी। चोरी के मामलो में दिए जाने वाले दंड मे भी जिसकी क्षति होती थी, उस व्यक्ति को संतुष्ट करने के सिद्धांत से काम लिया जाता था। वेदोत्तर काल में चोरी की सजा के तौर पर मृत्युदंड तक दिया जा सकता था, लेकिन ऋग्वैदिक काल में निजी संपत्ति को इतना अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं हो पाया था कि उसके संबंध में किए गए अपराध का दड इतना कठोर होता। संक्षेप में, इस काल में दंड व्यवस्था उतनी सुगठित और कठोर नहीं थी।

जिन्हे सिविल अफसर कहा जा सकता है, ऐसे अधिकारियों की संख्या विशेष नही थी। लगभग आधे दर्जन राज्याधिकारियो का उल्लेख हमें मिलता है—जैसे महिषी (शक्तिशालिनी),[12] अर्थात् पटरानी; पुरोहित; कोषाध्यक्ष; रथी, जो मूलत. राजकीय वस्तुओं और राजकृपा का वितरण करता था, तक्षन् (बढ़ई, जिसका औजार कुल्हाडी होता था);[13] और दूत[14]। इन सबका उल्लेख उत्तर वैदिक काल के रत्निनों की सूची मे हुआ है। इस सूची मे ऋग्वैदिक कालीन सेनानी भी शामिल है, जो शायद कुछ दीवानी कामकाज भी करता था। ऋग्वैदिक राज्य में रथों के महत्त्व के कारण 'ऋग्वेद' के सार भाग में भी रथी को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है। लेकिन कुल मिलाकर इस काल मे भी हमें एक ऐसे अपरिष्कृत तंत्र की झांकी अवश्य मिलती है जो शासन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता था। इस काल में हमें किसी विधिसंहिता की कोई जानकारी नही मिलती। ऐसी विधियों की रचना और धर्मशास्त्रों में उनका समावेश वेदोत्तर काल से होने लगा। इसी प्रकार इस युग में हम किसी न्याय प्रशासक को भी न्याय व्यवस्था करते नहीं देखते। ऋत् तथा व्रत की चर्चा बहुत मिलती है, लेकिन ऋग्वैदिक काल के किसी भी सरदार ने पारंपरिक कानूनों का वर्चस्व समाप्त करनेवाली कोई दीवानी विधि संहिता कभी लागू नही की। चूंकि जनजातीय सभा संगठन पूरी तत्परता से काम

करते थे और सभी जनजातीय मामलों की देखरेख करते थे, इसलिए राजा के करने के लिए कुछ विशेष रह नहीं जाता था। और इसलिए राज्य कर्मचारियों की सख्या बहुत कम थी।

हम पहले देख चुके हैं कि 'सभा', 'समिति', गण तथा विदथ—जैसी जनजातीय सस्थाएं पूर्व वैदिक जनों के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। सभा और समिति को तो निश्चित तौर पर कतिपय राजनीतिक कार्य सपादित करने पड़ते थे और राजा उनके सहयोग तथा समर्थन के बिना शासन नहीं चला सकता था। गण का भी कुछ राजनीतिक महत्त्व अवश्य था, लेकिन विदथ की राजनीतिक भूमिका निश्चयपूर्वक नहीं बताई जा सकती। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि ये जनजातीय संस्थाएं एक प्रकार का प्रत्यक्ष लोकतंत्र चलाती थी। इन सस्थाओ के सदस्य इनकी बैठकों में भाषण करते थे और सभी बातों का निर्णय सर्वसम्मति से करते थे। उनके विचारविमर्श का एक मुख्य विषय युद्ध का सफल सचालन होता था। स्पष्ट ही, हर सदस्य योद्धा होता था। हर योद्धा को अपने आयुध आप जुटाने होते थे और लड़ाई मे लूटा गया माल उसकी जीविका का साधन होता था। लड़ाई करना स्पष्ट ही जनजातीय सस्थाओं का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था, और ग्राम, ग्रामणी, सेनानी आदि अन्य ऋग्वैदिक सस्थाओं से भी उसका यही पक्ष उजागर होता है।

'ऋग्वेद' के अध्ययन से जिस राजनीतिक सगठन का आभास मिलता है, वह इतना विकसित नहीं जान पड़ता कि उसे राज्य कहा जा सके। अधिक से अधिक उसे जनजातीय सरदारी माना जा सकता है, जो राजत्व की गरिमा से विहीन था, जिसका कोई सुदृढ़ क्षेत्रीय आधार नहीं था, और जो किसी न किसी प्रकार की कर-प्रणाली, स्थायी सेना, स्थायी अधिकारतत्र आदि उन तत्त्वों का विकास करने को प्रयत्नशील था जिन्हे प्राचीन भारतीय और आधुनिक दोनो दृष्टियों से राज्य के आवश्यक अग माना गया है। सरदार की सत्ता का आधार सभा समिति जैसी उन गोत्रीय सस्थाओ का समर्थन था जिनके सैनिक कार्य और दायित्व हमारा ध्यान बरबस आकृष्ट करते हैं। ऋग्वैदिक समाज के पास आदिम साधारण हथियार थे और उसकी कोई स्थायी सेना भी नहीं थी, तथापि उसका स्वरूप मुख्यतः सैनिक था। पशुपालन के अतिरिक्त जनजातियो के सदस्य युद्ध मे व्यस्त रहते थे।

उत्तर वैदिक अवस्था : वर्ग विभाजित समाज तथा प्रादेशिक शासन में संक्रमण

उत्तर वैदिककाल के समाज का भौतिक आधार ऋग्वैदिक समाज के भौतिक आधार से कुछ दृष्टियों से सर्वथा भिन्न था। अब आर्यों के क्रियाकलाप का क्षेत्र

पश्चिमी उत्तर प्रदेश था। इनके पहले इस क्षेत्र मे तावे का उपयोग करनेवाले लोग रहते थे, जिनके औजारो और हथियारो के 18 सग्रह यहां मिले हैं। इन औजारो और हथियारो को 1700 ई पू. से 1000 ई. पू. का माना गया है। इन लोगो को यहां से भगाकर खुद इस इलाके मे बस जाने मे आर्यों द्वारा काम मे लाए जानेवाले लोहे के औजार और हथियार उनके लिए बहुत सहायक हुए। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एटा जिले के अतरजीखेडा नामक स्थान में ऐसे औजार और हथियार बडी तादाद में मिले हैं। यो तो इन्हें 1000 ई. पू. के आसपास का माना गया है, लेकिन इसमे कोई सदेह नही कि ये 800 ई. पू. से बाद के नही हैं। कुरु-पचाल देश या पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे रचित उत्तर वैदिक संहिताओं में लोहे के लिए श्याम अयस् शब्द का प्रयोग हुआ है। लौह शिल्प के विकास के फलस्वरूप आर्यों का घुमक्कड़ और पशुपालक जीवन प्रायःसमाप्त हो गया और इस शिल्प की बदौलत वैदिककाल के अत तक बिहार के विदेह क्षेत्र तक उनका प्रसार संभव हो सका। इसके कारण पश्चिम उत्तर प्रदेश मे कृषि को सुस्थिर आधार प्राप्त हुआ, और शासको को कृषि-उत्पादन का अतिरिक्त भाग नियमित रूप से मिलने लगा जिससे वे क्षेत्रविशेष से बध गए।

अतरंजीखेड़ा के लोहे के उपकरणो के साथ-साथ पश्चिमी उत्तर प्रदेश, और पंजाब, दिल्ली क्षेत्र तथा राजस्थान के सीमावर्ती हिस्सो मे लगभग 700 स्थानों मे अलग से भी रंगे हुए भूरे बरतनों के टुकडे मिले हैं, जिससे प्रकट होता है कि 1000-500 ई. पू. के दौरान यह क्षेत्र स्थायी बाशिंदो से आबाद था।

उत्तर वैदिककाल मे छोटे-छोटे समुदायो के आपस में मिलने से बड़ी-बडी इकाइयां बन गईं। ऋग्वैदिक काल के क्रिवि तथा पुरु लोगो के आपस में मिल जाने से कुरु जन का निर्माण हुआ। यह जन आगे चलकर पंचालों से जुड गया। इन दोनों ने मिलकर पूरे पश्चिमी उत्तर प्रदेश पर कब्जा कर लिया। अब शासकों को अनिश्चित भेंट-नजराने पर निर्भर नही रहना पडता था, बल्कि शायद उन्हे कृषि उत्पादन का एक निश्चित अंश प्राप्त होता था। नियमित आय होने से वे बहुत सारे पुरोहितों को राज्य की सेवा में लगा सकते थे। इन पुरोहितो ने कर्मकांडो का विकास किया, और वास्तव में उत्तर वैदिक राज्यव्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करने का हमारा एकमात्र साधन-स्रोत ये कार्मकांड ही हैं।

निश्चित क्षेत्रों मे बस जाने पर वैदिक जन चार वर्णों मे भिवक्त हो गए। ब्राह्मणों को, जो मूलतः पुरोहितों के 16 वर्गों मे से एक के सदस्य थे, शीर्षस्थ स्थान प्राप्त हुआ, और उन्होंने जिस वैदिक कर्मकाड साहित्य की रचना की उसमें अपने को सामाजिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार के विशेषाधिकारो का पात्र बतलाया। शूद्रो मे आर्य और प्राक्-आर्य लोग भी शामिल थे और इनका स्थान बहुत अनिश्चित था, जिसका प्रतिबिंब समाज और राजनीति दोनो मे देखने को

मिलता है। क्षत्रिय शासक का काम करते थे और वैश्य मुख्य करदाता थे। राजनीति पर वर्णभेद तथा ब्राह्मणो के प्रभाव की झाकी पहलेपहल उत्तर वैदिककाल में ही मिलती है।

परिवार अधिकाधिक पितृसत्तात्मक होता गया और विवाह पर पितृपक्ष से गोत्रीय प्रतिबंध लगने लगे। मातृ अधिकार की नीव उत्तरोत्तर कमजोर पड़ती गई और राजाओं में बहुपत्नीवाद का चलन आरंभ हुआ। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में राजा हरिश्चद्र की सौ पत्नियों का उल्लेख है। नए पारिवारिक संबंधों का प्रभाव सार्वजनिक सस्थाओं तथा राज्य के अंगों के गठन में देखा जा सकता है।

इस काल में राजत्व का स्वरूप बदल गया। उत्तर वैदिकसाहित्य में वर्णित कर्मकांडों से राजत्व के जनजातीय तथा प्रादेशिक पहलुओं के अंतर्द्वंद्व की स्पष्ट प्रतिध्वनि मिलती है। प्रदेश को परिवर्तनशील माना जाता था, और इसलिए राजा को देवी-देवताओं के समक्ष उसके अपने नाम, माता-पिता के नाम तथा गोत्र के नाम से प्रस्तुत किया जाता था। रथ-धावन, गोहरण तथा द्यूत-क्रीडा जैसे अनुष्ठानों का उद्देश्य अपने गोत्र जनों की तुलना में राजा की श्रेष्ठता दिखाना है। राजा की अध्यक्षता में काम करनेवाली पंचालों की परिषद का नाम किसी प्रदेश के नाम पर नहीं बल्कि उस जन के नाम पर रखा गया है।

लेकिन प्रादेशिक तत्व का जोर क्रमशः बढ़ता गया। 'अथर्ववेद' के निर्वाचनगान में ऐसी कामना की गई है कि राष्ट्र या प्रदेश राजा के अधिकार में रहे और वरुण तथा देवता बृहस्पति, इंद्र एव अग्नि उसे दृढ़ता प्रदान करें।[15] परवर्ती संहिताओं में दो वर्ष तक चलने वाले राजसूय नामक अभिषेक यज्ञ का वर्णन हुआ है। स्पष्ट है कि यह यज्ञ करने के लिए कोई ऐसा निश्चित स्थान आवश्यक था जहा लोग स्थायी रूप से रहें। कुरु-पंचाल देश में जहां राजा का निवास था उस स्थान को आसदीवत या राजधानी कहा जाने लगा। रत्नहवींषि संस्कार के क्रम में राजा को स्थायी आवासों में रहनेवाले गण्यमान्य व्यक्तियों के पास जाना पड़ता था। कई अभिषेक मत्रों से भासित होता है कि राजा को अपनी प्रादेशिक स्थिति का भान था। 'यजुर्वेद' के एक आरंभिक अंश 'तैत्तिरीय संहिता' के अनुसार राजा को 'इस विश् (जनजाति) में', 'इस राष्ट्र (राज्य) मे'[16] उपस्थित किया जाता है, जिससे प्रकट होता है कि जनजाति और उस जनजाति का निवासक्षेत्र दोनों एक ही अर्थ के बोधक होते जा रहे थे। उसी संहिता में यह भी कहा गया है कि किसी संस्कार के आंशिक संपादन से राजा विश् को तो प्राप्त कर लेता है, लेकिन राष्ट्र को नहीं, और राष्ट्र की प्राप्ति उस संस्कार के संपूर्ण सपादन से ही संभव है।[17] उसके अतिरिक्त 'यजुर्वेद' के चार पाठों में उल्लिखित एक संस्कार से चारों दिग्भागों और ऊर्ध्वभाग पर भी राजा की प्रभुसत्ता का बोध होता है।[18]

सबसे बाद के वैदिक ग्रथों को देखने से राजत्व के प्रादेशिक स्वरूप में कोई

संदेह नहीं रह जाता। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में देश के विभिन्न भागो मे प्रचलित दस प्रकार के शासन का उल्लेख मिलता है।[19] इनमे से कुछ प्रकार के शासन उन अनार्य जनजातियों के बीच प्रचलित रहे होगे जो अब तक वैदिक प्रभाव से अछूते थे। यद्यपि इन शासन रूपों के लिए प्रयुक्त अधिकांश शब्दो को वैदिककाल के संदर्भ में ठीक-ठीक परिभाषित नही किया जा सकता, फिर भी 'एकराज' का अर्थ ऐसा राजा लगाया गया है जिसका राज्य एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक फैला हुआ था।[20] यह भी ध्यातव्य है कि 'शतपथ ब्राह्मण' मे राजा को राष्ट्रभृत या राज्य का भर्ता कहा गया है।[21]

लोगों के मानस मे प्रदेश का महत्व प्रतिष्ठित हो जाने का एक परिणाम यह हुआ कि उत्तर वैदिककाल के अंतिम चरण में उनमें जमीन पर स्वामित्व स्थापित करने और उसे संपत्ति मानने की वृत्ति जगी। अब राजा पुरोहितों के बीच सिर्फ लडाई में लूटी गई वस्तुएं—मुख्यत: गोधन तथा दासिया—ही वितरित नहीं करता था, अब वह अपने गोत्र की सहमति से भूमि का हिस्सा भी अनुदान में देने का दावा करने लगा।[22] यद्यपि इस काल मे सचमुच ऐसा अनुदान शायद ही कभी दिया गया हो, लेकिन यह राजत्व के नए स्वरूप को उद्घाटित करनेवाली एक चीज अवश्य है।

इस काल मे एक नए सामाजिक ढाचे का उदय हो रहा था और उसने स्वभावत: राजत्व को भी प्रभावित किया। राजा जिस प्रदेश पर शासन करता था उसमें बराबर सिर्फ उसी विश् के लोग नही रहते थे जिसका राजा सदस्य होता है। इसके विपरीत उसमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारो वर्णों के लोग रहते थे, जिनका उदय वैदिक जनजातियो के विघटन और अवैदिक जनो के वैदिक समाज मे शामिल किए जाने के परिणामस्वरूप हुआ था। इसलिए यह आवश्यक जान पडा कि अभिषेक सस्कारो के द्वारा राजा इन सामाजिक वर्गों का समर्थन प्राप्त करे।[23] स्पष्ट है कि राजा अब क्षत्रिय वर्ग का होता था और जन साधारण पर प्रभुत्व कायम करने के लिए उसके लिए आवश्यक केवल यह था कि वह पुरोहित वर्ग का समर्थन प्राप्त करे। राजा को ब्राह्मणो का रक्षक और जनसाधारण का भक्षक कहा जाता था।[24] कुछ कर्मकाडो में पुरोहितो की श्रेष्ठता पर जोर दिया गया है और कुछ में क्षत्रियो की प्रमुखता पर। लेकिन अत मे एक प्रकार के पारस्परिक समझौते में बंधकर दोनो प्रचलित व्यवस्था के रक्षक के रूप में सामने आते हैं। राजा को ब्राह्मण पुरोहित को यह वचन देना पडता है कि वह धर्म के अनुसार आचरण करेगा और धर्म की रक्षा करेगा, और 'शतपथ ब्राह्मण' मे कहा गया है कि राजा और श्रोत्रिय दोनों मिलकर धर्म की रक्षा करते हैं।[25]

यद्यपि अभिषेक संस्कारो मे राजा के निर्वाचन की मूल पद्धति का अनुसरण किया गया है, किंतु 'ऐतरेय ब्राह्मण' मे ऐसे मत्रों का विधान है जिनके द्वारा एक, दो

और तीन पीढ़ियों के लिए राजपद प्राप्त किया जा सकता है ।[26] 'शतपथ ब्राह्मण' का एक मत्र तो इसकी अवधि दस पीढ़ियो तक ले जाता है ।[27] हमें राजपुत्र शब्द का उल्लेख भी देखने को मिलता है, जिसका अर्थ कई प्रसंगो में राजा का पुत्र लगाया जा सकता है । एक ही परिवार के लोगों के कई पीढ़ियों तक शासन करने के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं । इस प्रकार इस काल में राजपद वंशानुगत हो गया था ।

इस काल मे एक और नई बात यह हुई कि राजा को दैवी तत्वों से युक्त किया जाने लगा । इस तरह का कोई साक्ष्य 'ऋग्वेद में' शायद ही कही मिले, लेकिन उत्तर वैदिककाल के अभिषेक सस्कारों में विभिन्न देवताओं का आवाहन किया गया है कि वे राजा को अपने-अपने गुणो से सपन्न करें । एक दो स्थलों पर राजा को देवता के रूप मे भी प्रस्तुत किया गया है ।

उत्तर वैदिक राज्यव्यवस्था का एक उल्लेखनीय पहलू राज्य के दो अगों अर्थात करप्रणाली और अधिकारितंत्र का विकास है । स्थायी कृषि तथा प्रादेशिक शासन के आरभ के परिणामस्वरूप स्पष्ट ही राज्य को उपज का काफी बडा अतिरिक्त हिस्सा जिसो मे सुलभ होने लगा । राजा के लिए प्रयुक्त 'विशमत्ता',[28] अर्थात जनसाधारण का भक्षक, शब्द से प्रकट होता है कि वह जनता से वसूल किए गए करों पर निर्वाह करता था । अनुष्ठानो से पता चलता है कि राजन्य और ब्राह्मण मिलकर विश् अर्थात जनजातीय किसानों को अपने वश मे लाने की चेष्टा करते थे । विश् और राजन्य तो एक ही जनजाति के होते थे पर ब्राह्मण के उदय का पता ठीक से नही चलता है । जो भी हो, राजन्य और ब्राह्मण जबरदस्ती विश् को अपने कब्जे मे लाने का यत्न करते थे ताकि वे उपज का हिस्सा कर और दान के रूप मे प्राप्त कर सके ।

नियमित करो के फलस्वरूप इस काल में प्रशासनिक अधिकारियों की सख्या में भी वृद्धि हुई । कम से कम 12 रत्निन् राज्याधिकारी जान पडते हैं । स्पष्ट ही इनका खर्च राज्य द्वारा वसूल किए गए करो से चलता था । अपराधों की रोकथाम से उनका सबध नही था, लेकिन् जनजातीय सस्थाओं से विरासत में मिले कई विध्यात्मक कार्य वे अवश्य करते थे । उदाहरण के लिए, वे धातुकर्म, रथनिर्माण, मास आपूर्ति, रथ सचालन आदि की देखरेख करते थे । ऐसे कार्यों के महत्त्व को उस समाज के भौतिक आधार को ध्यान मे रखकर अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है जिसके वे अंग थे । ये अधिकारी शायद राज परिचरवृंद के सदस्य थे और वे राजा की घर-गृहस्थी से अलग ऐसे कर्मचारी नही थे जिन्हे आज सरकारी नौकर कहा जाता है । इन उच्च पदाधिकारियों में पुरोहित भी शामिल था, जिसे कई सूचियो में शीर्षस्थ स्थान दिया गया है ।

उत्तर वैदिककाल के अधिकतर भाग में सेनानी कोई छोटा अधिकारी ही प्रतीत होता है । इससे लगता है कि स्थायी सेना का महत्त्व अब भी गौण ही था । लेकिन

चूंकि 'शतपथ ब्राह्मण' की रत्निन् सूची मे सेनानी को सबसे ऊचा स्थान दिया गया है, इसलिए लगता है कि वैदिककाल के अत मे सेना महत्त्वपूर्ण तत्व के रूप मे उभरी। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि अब रत्निन् सूची में रथ निर्माताओ और सारथियों को भी शामिल कर लिया गया। किंतु इस अवस्था मे भी सेना मे राज परिवार के दायाद कुटुबी ही हुआ करते थे। हम कुरुराज को 64 सतत सन्नद्ध योद्धाओं से घिरा देखते हैं और ये सारे योद्धा उसके पुत्र या पौत्र हैं।[29] लेकिन जब पंचाल राज एक धार्मिक संस्कार सपादित करता है, उस समय छः हजार तैंतीस कवचधारी योद्धा खड़े हो जाते हैं।[30] यद्यपि यह एक रूढ़ सख्या है और इसमे अतिरंजना की पूरी संभावना है, फिर भी यहा जितने सैनिको का उल्लेख हुआ है उनमे शायद ऐसे योद्धा भी शामिल रहे होंगे जो राजा के दायाद कुटुबी नही थे। इस अर्थ में उत्तर वैदिककाल से एक प्रकार की स्थायी सेना रखने की प्रथा का आरंभ होता है।

आंतरिक दंडव्यवस्था—उदाहरण के लिए पुलिस व्यवस्था—के विकास का कोई संकेत उत्तर वैदिक साहित्य से नही मिलता। शायद ऋग्वैदिक काल के पुलिस अधिकारी अब भी काम करते रहे। ब्राह्मणो को देश से निष्कासित करने, वैश्यों को निरस्त करने और शूद्रों को पीटने का राजा का दावा किसी दंड संगठन के बिना चरितार्थ नहीं हो सकता था। कुछ विद्वानो का विचार है कि स्थपति तथा शतपति के उल्लेखों से नियमित प्रांतीय शासन प्रणाली के आरभ का सकेत मिलता है।[31] लेकिन रत्निन् सूची में न इन अधिकारियों का कोई जिक्र है, और न अधिकृत का, जिसे राजा द्वारा नियुक्त ग्रामाधिकारी माना गया है।[32]

प्रादेशिक राज्यों के उदय के फलस्वरूप लोक संस्थाओं के लिए पहले की तरह काम करना कठिन हो गया। राज्य के विभिन्न भागों के लोगो के लिए एक स्थान पर आकर मिलना असुविधाजनक हो गया होगा। जिन लोगों के लिए शक्य था और जो राजधानी में रहते थे वही आसानी से एकत्र हो सकते थे। शासकों के सामने अवैदिक लोगो को स्थान देने की भी समस्या थी। इन सब बातो के फलस्वरूप 'सभा' तथा 'समिति' पर आभिजात्य का रंग चढ़ गया। अब ये संस्थाए विशुद्ध रूप से पितृसत्तात्मक बन गईं, क्योंकि इन बैठको मे स्त्रियों को स्थान देने का चलन मिट गया। लोकप्रिय सस्थाओ के कुछ काम नए राज्याधिकारियों के हाथों मे चले गए और इनके आकार तथा दायित्व, दोनो मे कमी आ गई।

संक्षेप में, यद्यपि राजा की शक्ति और अधिकारों तथा प्रशासनिक ढांचे की दृष्टि से ऋग्वैदिक राज्यव्यवस्था की तुलना मे उत्तर वैदिक राज्यव्यवस्था ने काफी विकास किया, तथापि अभी वह सप्तांग राज्यसिद्धांत की स्थिति तक नहीं पहुच पाई थी। वस्तुतः यह ऐसा सक्रमण काल था जब जनजातीय सगठन के स्थान पर धीरे-धीरे वर्ण तथा प्रदेश पर आधारित संगठन की रचना हो रही थी और वैदिक

काल के अंतिम चरण में यह प्रक्रिया पूर्णता की स्थिति के बहुत निकट पहुंच चुकी थी।

प्राक् मौर्य अवस्था : प्रादेशिक राजतंत्र और जनजातीय अल्पतंत्र

इस काल के लिए सामग्री के जो स्रोत उपलब्ध हैं उनका संबंध या तो पूर्वोत्तर अथवा पश्चिमोत्तर भारत से है। कुरु-पंचालों अर्थात पश्चिमी उत्तर प्रदेश ने उत्तर वैदिककाल की राजनीति में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, किंतु इस काल में हमारे सारे सामग्री-स्रोत उसके संबंध में मौन हैं। इससे प्रकट होता है कि बुद्धकाल में वह अपना पहला महत्त्व खो चुका था। जैसा कि राजघाट (बनारस) तथा चिरांद (छपरा) के उत्खननों से प्रमाणित होता है, पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार में इन दिनों लोहे का व्यापक उपयोग होता था। इसके फलस्वरूप बड़े-बड़े प्रादेशिक राज्यों की स्थापना हुई, जो सैनिक दृष्टि से भलीभांति सज्जित थे और जिनमें मुख्य भूमिका क्षत्रिय वर्ग ने निभाई। खेती के नए औजारों और उपकरणों के कारण अब किसान अपनी जरूरत से इतनी अधिक पैदावार कर सकते थे जिससे न केवल शासकवर्ग की, बल्कि अनेक शहरों की आवश्यकताओं की भी पूर्ति हो सकती थी। उत्खननों से प्रकट होता है कि राजगीर, वैशाली, राजघाट, चिरांद और कौशांबी छठी शताब्दी ई. पू. की शहरी बस्तियां थे, यद्यपि श्रावस्ती इससे बाद के काल का नगर था। इस प्रकार 500 ई.पू. के आसपास हम पूर्वोत्तर भारत में बड़े पैमाने पर शहरी जीवन की शुरुआत देखते हैं। इन शहरों के कारण प्रशासन की नई समस्याएं पैदा हुईं। इसके अलावा, इन भौतिक साधनों की सुलभता से उज्जैन, कोसल और मगध के विस्तार में सहायता मिली, और अब इन राज्यों में वैदिकेत्तर क्षेत्रों तथा लोगों का भी समावेश हुआ, जिससे इन राज्यों के निवासियों की एकरूपता में कमी आई।

सिक्कों का चलन पहलेपहल इसी काल में आरंभ हुआ। ये सिक्के तांबे या चांदी के बने होते थे। पांचवीं सदी ई. पू. के आसपास से आहत मुद्राओं का चलन निश्चित तौर पर प्रारंभ हो गया। इससे स्वभावतः आंतरिक व्यापार और लेनदेन की सुविधा बढ़ी। बाजारों में बिकने वाली वस्तुओं में उत्तरखंड में प्राप्त हुए काले पालिशदार बर्तनों का प्रमुख स्थान था। स्पष्ट ही समाज के उच्च वर्गों में इस तरह के बर्तनों के उपयोग का विशेष चलन था। व्यापार और उद्योग एक ओर तो राज्य की आय के अच्छे साधन थे और दूसरी ओर उनसे व्यापारियों के एक वर्ग का उदय हुआ जो सेट्ठि कहे जाते थे। समाज तथा राजनीति में इस वर्ग की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

जिन बड़े राज्यों का उदय हुआ उनकी प्रवृत्तियों का संचालन केंद्र उनमें स्थित नगर थे। इससे प्रादेशिकता का भाव सुदृढ़ हुआ। पाणिनि के एक अवतरण से

प्रकट होता है कि लोगों की निष्ठा जनपद या जिस प्रदेश के वे थे उसके प्रति होती थी। आगे चलकर कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में अधिकारियो की नियुक्ति के लिए जो योग्यताएं निर्धारित की गई उनमे से एक महत्त्वपूर्ण योग्यता 'जानपद'—संबंधित जनपद का निवासी—होना था।

नई भौतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण राज्य के सेना तथा करव्यवस्था जैसे अगों का तीव्र विकास हुआ। लेकिन इन परिस्थितियों ने पुरानी जनजातीय व्यवस्था के पक्ष में कुछ विफल प्रतिक्रियाओं को भी जन्म दिया, जिनकी परिणति यत्रतत्र गणतांत्रिक प्रयोगो के रूप मे हुई।

इस काल के अधिकाश राज्यो पर—जिनमे मगध तथा कोसल सबसे शक्तिशाली थे—क्षत्रिय वर्ग के वशानुगत राजाओ का शासन था। पाणिनि ने 'राजकृत्वा' (राजा बनानेवाला) शब्द का प्रयोग किया है, और कुछ जातक कथाओ में जनता द्वारा राजा तथा उसके पुरोहित के अपदस्थ और निष्कासित किए जाने का भी उल्लेख मिलता है, लेकिन राजा के निर्वाचन या उसकी पदच्युति के प्रसग विरल ही आते थे। राजा को सबसे उच्च सामाजिक दर्जा प्राप्त था और स्वयं उसकी संपत्ति की सुरक्षा की विशेष व्यवस्था थी। वह केवल बुद्ध जैसे कुछ धार्मिक नेताओं के आगे सर झुकाता था।

इस काल मे हमें कुछ छोटे बडे अधिकारियों की भी जानकारी मिलती है। प्रारंभिक पालि साहित्य में उच्चाधिकारियों को महामात्र कहा जाता था। महामात्र अधिकारियो का एक महत्त्वपूर्ण सवर्ग (काडर) था, जिसके सदस्य मंत्री, सेनानायक, न्यायाधीश, मुख्य लेखपाल (गणक), अंतःपुर प्रधान आदि विभिन्न प्रकार के पदों पर काम करते थे। यद्यपि आयुक्तक आदि पदनामों का उल्लेख विधिग्रंथों में नही मिलता, लेकिन सभव है कि वे धर्मसूत्र व्यवस्था वाले राज्यों में ऐसे ही कार्य संपादित करते रहे हों।

राजा के मंत्रणादाताओं या मंत्रियो का पद पहलेपहल इसी काल में देखने को मिलता है। मगध का वस्सकार और कोसल का दीर्घचारायण बडे सफल और प्रभावशाली मंत्री थे। ऐसा कोई साक्ष्य नही मिलता जिससे माना जा सके कि उच्च अधिकारी या मत्री राजा के गोत्र के होते थे। आरंभ से ही इन पदो पर पुरोहित समाज के लोग नियुक्त किए जाते थे।

मगध और कोसल दोनो जनपदो में गांवों के राजस्व न केवल प्रभावशाली ब्राह्मणों, बल्कि सेट्ठियो को भी अनुदान में दिए जाते थे। इसके लिए उत्तर वैदिककाल की तरह राजा को अपने गोत्र की सहमति नही लेनी पडती थी। लेकिन प्रशासनिक अधिकार, जो तीसरी या चौथी सदी से उत्तर भारत मे अनुदान मे दिए जाने लगे, अभी अनुदानभोगियो को प्रदान नही किए जाते थे।

देहाती क्षेत्रो के मामलो की व्यवस्था ग्रामप्रधान करता था। मूलतः जनजातीय

सैनिक टुकडी का नेतृत्व करनेवाले ग्रामणी को उत्तर वैदिककाल के ग्रथों में वैश्य ग्रामणी की सज्ञा दी गई। कालातर से जब जनजातीय सैनिक टुकडिया गांवों में बस गईं तो ग्रामणी स्वभावत· गाव का प्रधान बन गया। वास्तव में ग्राम प्रधान की अध्यक्षता मे ग्राम सगठन की शुरुआत इसी काल में होती है। इस प्रधान को गामभोजक, ग्रामणी या ग्रामिक, इन विभिन्न नामो से जाना जाता था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि बिबिसार ने एक बार 80,000 ग्रामिको को बुलाया था। यद्यपि यह अतिरजना की सभावनाओ से युक्त रूढ़ सख्या है, फिर भी इससे इस पद के व्यापक चलन तथा ग्रामप्रधान के महत्त्व पर प्रकाश पडता है। इससे प्रकट होता है कि उसका सबध सीधे राजा से होता था। स्पष्ट है कि ग्रामप्रधान का काम कर लगाना और वसूल करना और अपने क्षेत्र में शांति एवं व्यवस्था कायम रखना था, और गाव के लोग कभी-कभी अत्याचारी प्रधानों की अच्छी खबर भी लेते थे।

इस काल में राज्य की शक्ति मे जो अभिवृद्धि हुई, वह गैर सैनिक दायित्वों का निर्वाह करनेवाले अधिकारितत्र में उतनी अधिक प्रतिबिंबित नही होती है जितनी कि एक ठोस आधार पर स्थायी सेना के गठन में। सेना को उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व दिया जा रहा था, इसका प्रमाण उच्चाधिकारियों की सूची में सेनानायक को दिया गया महत्वपूर्ण स्थान है। सिकदर के आक्रमण के समय गगरिदई तथा प्रसाई के राजा—अर्थात मगध के नदराज—की सेना में 20,000 अश्वारोही, 20,000 पदाति, चार-चार घोडो से खीचे जानेवाले 2000 रथ तथा तीन से छ हजार तक हाथी थे। न केवल पूर्वोत्तर भारत में, बल्कि पश्चिमोत्तर भारत में भी जहा आर्यों ने पहलेपहल रथों का प्रयोग आरभ किया, इस युद्धयान का महत्त्व धीरे-धीरे कम होता जा रहा था।

मगध तथा पश्चिमोत्तर भारत के सैन्यसगठन मे सबसे प्रमुख अतर हाथियो के उपयोग के संबध में था। पश्चिमोत्तर भारत की सेना मे हाथियों का अनुपात बहुत कम होता था। जहा तक घुड़सवारो का सबध है, अस्सकेनस (स्वात तथा बूनर के कुछ भाग) के राजा के पास 20,000 अर्थात उतने ही अश्वारोही थे जितने कि मगधराज की सेना मे थे। इसलिए स्पष्ट है कि हाथियो की सख्या की अधिकता की दृष्टि से मगध की सैन्यशक्ति अधिक प्रबल थी।

मगध की सेना का सगठन कैसे किया गया था और उसका खर्च कैसे चलता था, यह जानने का हमारे पास कोई साधन नही है। स्पष्ट है कि इस विशाल स्थायी सेना का खर्च नदो के उस विपुल धन से चलता था जिसके लिए वे कथा कहानियों और अनुश्रुतियो मे विख्यात हैं। लेकिन जिस करप्रणाली से उन्होंने अपने कोष को इस तरह पुष्ट किया था उसकी जानकारी हमे नहीं है। निस्सदेह, राजस्व व्यवस्था अब सुदृढ़ आधार पर स्थापित हो चुकी थी। क्षत्रिय और ब्राह्मण कर देने के दायित्व से मुक्त थे और इसका सारा बोझ किसानों पर पडता था, जिनमे मुख्यतः वैश्य लोग

शामिल थे। गौतम के साक्ष्य के अनुसार देखें तो मानना होगा कि आरंभ में उपज का बारहवां हिस्सा राजा का अंश होता था, लेकिन बाद में यह छठे हिस्से पर आकर स्थिर हो गया। शूद्रों की श्रमशक्ति का उपयोग उच्च वर्ण के लोग एक प्रकार के कर के रूप में करते थे। करों की उगाही ग्रामप्रधान की सहायता से राजा के एजेंट करते थे। आहत सिक्कों के बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त होने से लगता है कि कर नकद और जिंस दोनों रूपों में चुकाए जाते थे। बौद्धग्रंथों से जान पड़ता है कि पूर्वोत्तर भारत में कर धान्य के रूप में चुकाया जाता था। किसानों से राजा के कामकाज के लिए बेगार भी ली जाती थी।

किसानों से उत्तर वैदिककाल से ही कर लिए जा रहे थे; पर अब कर व्यवस्था सुदृढ़ हो गई और नए करदाता भी सामने आए। ये थे कारीगर और व्यापारी। विधिग्रंथों के अनुसार कारीगरों को महीने में एक दिन राजा के लिए काम करना पड़ता था, और व्यापारियों को अपनी वस्तुओं की बिक्री पर शुल्क देना पड़ता था। इन शुल्कों की वसूली शुल्क अधिकारी करते थे, जिन्हें धर्मसूत्रों में शौल्किक और पालि ग्रंथों में शुल्काध्यक्ष कहा गया है। यह नई चीज शहरी अर्थव्यवस्था के कारण आयी।

भारतीय विधि एवं न्याय-प्रणाली का जन्म इसी काल में हुआ। समाज के सुस्पष्ट वर्गों अथवा वर्णों में विभाजित हो जाने से जो समस्याएं उपस्थित हुई थीं उनके निराकरण की दृष्टि से पुराना जनजातीय कानून अपर्याप्त पाया गया। इसलिए धर्मसूत्रों ने चारों में से प्रत्येक वर्ण के कर्तव्य निर्धारित कर दिए, और वर्णविभाजन को ही आधार बनाकर बहुत से सिविल (दीवानी) तथा आपराधिक दंडविधानों की रचना की। दीवानी कानून के अमल का दायित्व व्यावहारिक महामात्रों पर था और दंडविधान का राजा के एजेंटों पर। अपराधियों को आनन फानन सजा सुना दी जाती थी और ये सजाएं बड़ी कठोर होती थीं—जैसे कोड़े लगाना, शरीर का कोई अंग दाग देना, शिरोच्छेद कर देना, जीभ काट लेना, पसलियां तोड़ देना आदि। व्यक्ति तथा संपत्ति के विरुद्ध किए जानेवाले अपराधों की रोकथाम के लिए पुलिस संगठन और दंडाधिकरण (मजिस्ट्रेसी) कायम किया गया था; वह अपरिष्कृत और प्रारंभिक ढंग का जान पड़ता है। ग्रामप्रधान राजस्व की उगाही तथा आंतरिक सुरक्षा, दोनों दायित्वों का निर्वाह करते थे।

लेकिन इस नई व्यवस्था ने पुराने पारिवारिक तथा जनजातीय कानून को सर्वथा समाप्त नहीं किया, यद्यपि कई दृष्टियों से इसके सामने उसका महत्त्व सर्वथा गौण हो गया। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणीय समाज व्यवस्था तथा राजतंत्री शासन-परिधि में जिन अवैदिक जनजातीय समुदायों तथा क्षेत्रों को शामिल किया गया उनके विषय में एक ओर तो फर्जी तौर पर यह बताया गया कि वे मूलतः ब्राह्मण-परंपरा वाले समाज के ही अंग हैं और दूसरी ओर उन्हें अपने समाज का

नियमन अपने उन पुराने रीतिरिवाजों के अनुसार करने की छूट दी गई जिनमें से कुछ 'बौधायन धर्मसूत्र' मे उद्धृत किए गए हैं। उनके अधिकारों की इस स्वीकृति ने सघों के रूप मे सगठित विभिन्न पेशों के शहरी लोगों के सदर्भ में पूर्वोदाहरण का काम किया। इन सघों का स्वरूप यद्यपि जनजातीय समुदायों से भिन्न था, तथापि उन्हें अपने कानूनों और रीतिरिवाजों का अनुसरण करने की छूट दी गई।

इस काल मे शहरी क्षेत्रों के प्रशासन में इन संघों का कोई हाथ था या नही, यह बताना असभव है। जातकों में जो साक्ष्य मिलते हैं, संभव है, उनका संबध परवर्ती काल की वस्तुस्थिति से रहा हो। निकायों तथा 'विनयपिटक'-जैसे प्रारंभिक पालि ग्रंथों में इस विषय का बहुत कम उल्लेख मिलता है। यद्यपि पाचवी सदी ई. पू. से शहरों का उदय काफी तेजी से होने लगा था, किंतु मौर्य काल से पूर्व उनके प्रशासन का चित्र प्रस्तुत करने का हमें कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

इस काल के राजतत्रों को 'सभा' और 'समिति' की सहायता सुलभ नही रह गई थी। वैदिकोत्तर काल में लोकप्रिय सस्थाओं के विलय के सबंध में दो शब्द कहना आवश्यक है। ये सस्थाएं तत्वतः जनजातीय थी, इसलिए जब जनजातीय वर्णों में विघटित होकर अपनी पहचान खो बैठीं तो इन सस्थाओं का भी ह्रास हुआ और अंत में ये मिट गई। यह प्रक्रिया वैदिककाल के अंतिम चरण से ही, जब ये संस्थाएं पतनोन्मुख हो चली थी, आरभ हो गई। अब उनका स्थान वर्ण सगठनों ने ले लिया। धर्मशास्त्रकारों ने संगठनो के कानूनों और रीतिरिवाजों को अपने ग्रथों में स्थान दिया, यद्यपि इनकी प्रवृत्तिया सामाजिक विषयों तक ही सीमित थीं। जैसा कि पाचवीं सदी ई पू में एथेंस में क्लाइनीज ने किया, उस तरह भारत में जनजातीय सभाओं को प्रादेशिक आधार प्रदान करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। लोकप्रिय संस्थाए वैदिककाल की तरह के छोटे राज्यों में ही सफल हो सकती थीं। कोसल और मगध जैसे बडे राज्यों के उदय तथा संचार की कठिनाई के कारण इन सभाओं की नियमित बैठक असंभव हो गई। ये सभाएं जनजातीय थी, इसलिए ये नए राज्यों में बसनेवाले वैदिकेतर जनों को अपने में खपा नहीं सकीं। इसलिए बदली हुई परिस्थितिया पुरानी राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूल नहीं थीं। फलतः यद्यपि हम उत्तर वैदिककाल में पंचालों की 'समिति' का उल्लेख देखते हैं, किंतु उनके उत्तराधिकारियों की ऐसी किसी लोकप्रिय सस्था का कोई जिक्र नहीं देखने को मिलता। उनके स्थान पर धर्मसूत्रों ने परिषद् नामक एक नए और बहुत छोटे निकाय की व्यवस्था की, जिसके सदस्य केवल ब्राह्मण ही हो सकते थे। सभाएं थीं अवश्य, लेकिन शाक्यों, लिच्छवियों आदि के अपेक्षाकृत छोटे गणराज्यों में।

गणतांत्रिक प्रयोग प्राक् मौर्य राज्यव्यवस्था की खास विशेषता है। गणतंत्रों का उदय या तो सिंधु घाटी में या हिमालय की तराई में उत्तर प्रदेश तथा बिहार में हुआ। सभव है, सिंधु घाटी के गणतंत्र वैदिक जनजातियों के अवशेष रहे हों,

यद्यपि लगता है, कहीं-कहीं जनजातीय व्यवस्था और गणतंत्र काल के बीच कुछ काल तक राजतंत्र का भी दौर चला। हिमालय की तराईवाले गणतंत्र, संभव है, उत्तर प्रदेश तथा बिहार के राजतंत्रों से टूटकर अलग हुए राज्यों में कायम हुए हों। हो सकता है, उनके अलग होने के पीछे उस पुरानी जनजातीय समानता की प्रेरणा रही हो जो राजा को विशेष महत्त्व देने को तैयार नहीं थी।

सभी गणतंत्रों में सत्ता कुछ थोडे से जनजातीय अगुओं के हाथों में थी, अर्थात उनमे अल्पतत्र (ओलीगार्की) का शासन था। इस शासक वर्ग में वर्णतत्वों का समावेश हो गया था। शाक्यों तथा लिच्छिवियों के गणतत्रों में शासक वर्ग का एक गोत्र और एक ही वर्ण था। इसमें सदेह है कि इन गणतांत्रिक सभाओं में ब्राह्मण भी बैठते थे। लेकिन मौर्योत्तर काल मे मालवों तथा क्षुद्रकों के गणतंत्रों में ब्राह्मणों को भी नागरिकता प्राप्त थी, किंतु गुलाम तथा भाड़े के श्रमिक उससे वंचित थे। सिकंदर के साथियों ने बिआस तट पर एक ऐसा राज्य देखा जिसके सदस्य वही लोग होते थे जो राज्य को कम से कम एक हाथी दे सकते थे। इसे सिंधु घाटी में अल्पतंत्र का विशिष्टतम उदाहरण माना जा सकता है।

शाक्यो तथा लिच्छिवियों का प्रशासनिक यत्र सरल और अपरिष्कृत था। उसमें राजा, उपराजा, सेनापति और भांडागारिक, यही अधिकारी होते थे। पांचवीं सदी ई. की एक रचना मे एक ही मुकदमे की सुनवाई करनेवाले एक के ऊपर एक सात न्यायालयो का उल्लेख हुआ है। यह उल्लेख इतना अधिक परवर्ती और इतना आदर्शभूत है कि इसे मौर्यपूर्व काल पर घटाना अनुचित होगा।

गणतंत्रों और राजतंत्रों में अनेक अंतर थे। मगध तथा कोसल मे राजा अपने को किसानों से राजस्व प्राप्त करने का एकमात्र अधिकारी मानता था, लेकिन गणतंत्रों में यह दावा जनजातीय अल्पतंत्र का प्रत्येक सदस्य करता था। 7707 लिच्छवि राजाओं में से प्रत्येक अपने को राजस्व का अधिकारी मानता था। राजस्व एकत्र करने के लिए प्रत्येक का अपना एक भंडार होता था। एक जातक के अनुसार चेत राज्य की राजधानी के 60,000 खत्तियों के साथ भी शायद यही बात रही हो। इनमें से प्रत्येक खत्तिय राजा कहलाता था।[33] इसी तरह, राजतंत्र मे राजा की अपनी नियमित और स्थायी सेना होती थी, जिसमें वह अपनी राज्य सीमा के अंतर्गत स्थित सशस्त्र प्रतिद्वंद्वियों या स्पर्धियों को स्थान नही देता था; लेकिन जनजातीय अल्पतंत्र के प्रत्येक राजा के पास एक छोटी सी सेना होती थी जो उसके सेनापति के अधीन काम करती थी, अथवा प्रत्येक के पास कुछ हाथी होते थे। हर राजा अपनी इस स्थिति से प्रसन्न था और ऐसे सभी राजाओं में आपस में एक स्वस्थ प्रतियोगिता का भाव होता था। प्रारंभिक गणतंत्रों में ब्राह्मणों के लिए कोई स्थान नहीं था, और न ब्राह्मणों ने ही अपने विधिग्रंथों में उन्हें कोई मान्यता दी। और दोनों तंत्रों के बीच एक बड़ा अंतर यह था कि जहां गणतंत्रों में सभाएं बखूबी अपना

काम कर रही थी, नए राजतन्त्रों में उनका ह्रास और लोप हो चुका था।

मौर्यकाल से गणतांत्रिक परंपरा कमजोर पड़ने लगी। प्राक् मौर्यकाल में भी राजतांत्रिक व्यवस्था गणतन्त्र की अपेक्षा बहुत प्रबल थी। इस काल का महत्त्व उत्तर प्रदेश तथा बिहार के बड़े-बड़े प्रादेशिक राज्यों की नई सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए सैनिक, राजस्विक तथा न्यायिक अंगों के विकास में निहित था।

सदर्भ और टिप्पणिया

1 ऋग्वेद, X, 173, 1 और 2
2 बधोपाध्याय, डेवलपमेंट ऑफ हिंदू पालिटी ऐंड पॉलिटिकल थियरीज, पृ 85, पा टि
3 X, 124 8
4 विशस्त्वा सर्वा वाछतु, X.173 और आगे.
5. का प्र जायसवाल, हिंदू पॉलिटी, अध्याय XXIII, और बधोपाध्याय, पूर्वोद्धृत ग्रथ, पृ 88-91 में उद्धृत
6 बधोपाध्याय, पूर्वोद्धृत ग्रथ, पृ 85
7 वही, पृ 86
8 I 70 9, V,1 10
9 VII, 6 5, X, 173 6
10 ऋग्वेद, VII, 38 6 2, X, 97.11
11 वही, X, 97, 22
12 ऋग्वेद V, 37.3
13 VI, 1, 297
14 वही, 371
15 VI, 88 2
16 I, 8 12
17 II, 3 1,
18 वा स, X, 10-14, तै स, I.8 13, का स, XV, 7, मै स, II, 6-10
19 VIII, 12 और 13
20 ऐ ब्रा, VIII, 15
21 IX, 4, 1.1
22 श ब्रा, VII, 1 1 4
23 वा स, X, 10-14, का स, XV 7
24 इसके लिए 'विशमत्ता' और 'ब्राह्मणानाम् गोप्ता' या 'ब्रह्मो गोप्ता' शब्दों का प्रयोग हुआ है ऐ ब्रा VIII, 17
25 V.4 4 5
26 VIII, 7
27. श ब्रा XII 9 3 1 और 3

28. ऐ. ब्रा VIII, 17
29 ऐ ब्रा, III, 48 (वृद्धद्युम्न के पुत्र और पौत्र)
30. श ब्रा., XIII, 5 4 16
31. एच सी राय चौधरी, ऐन एडवान्स्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, I (1958), 44
32. उपर्युक्त पुस्तक, पृ 45 में उद्धृत प्रश्न उपनिषद्
33. जातक, VI 513-17, मिलाइए वा श अग्रवाल, 'दि जनपद ऐंड दि ग्रीक सिटीस्टेट', इं. हि क्वा, XXX, 46

20. प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था के विभिन्न चरण

मौर्यकालीन अवस्था : केंद्रीकृत नौकरशाही का काल

मौर्यकालीन पुरातत्व से प्रकट होता है कि इस युग मे उत्तर भारत मे नगरों का विकास काफी बडे पैमाने पर हुआ। उत्तराखड मे पाए जानेवाले पालिशदार भाडो (नॉर्थ ब्लैक पालिश्ड वेयर) तथा आहत मुद्राओ की बहुलता वाली अधिकाश शहरी बस्तियां इसी युग की हैं। वस्तुत: मौर्यकाल आहत मुद्राओं के इतिहास का चरमोत्कर्ष युग था। प्राचीन भारत की किसी भी मुद्रा शृखला की उतनी अधिक राशियां प्राप्त नही हुई हैं जितनी की आहत मुद्रा शृखला की। यद्यपि ये मुद्राए लगभग 500 ई. पू. से प्राय: 100 ई. पू. के बीच की हैं, किंतु इनमे से अधिकाश को मौर्यकालीन माना जा सकता है। इससे स्वभावत: व्यापार और उद्योग को बहुत उत्तेजन मिला। फलत: एक ओर यदि उद्योग-व्यापार की समस्याओं का समाधान मौर्य राज्य का मुख्य दायित्व बन गया तो दूसरी ओर इनके कारण सरकार के लिए अपने कर्मचारियों को नकद वेतन देना भी सभव हुआ। मौर्य बस्तियो मे पकी ईंटों का काफी प्रयोग किया गया दीखता है। पश्चिमोत्तर भारत में तो पकी ईंटें हड़प्पा सभ्यता के काल से ही काम में लाई जा रही थी, लेकिन पूर्वोत्तर भारत मे ये मौर्यकाल से पहले देखने को नही मिलती।[1] स्पष्ट ही यह नई निर्माण सामग्री दूर-दूर तक शहरी बस्तियां बसाने में बहुत सहायक सिद्ध हुई और इसने उन बस्तियों को स्थायित्व भी प्रदान किया। उत्खननों में प्राप्त लोहे के फालों, हँसियों तथा अन्य उपकरणों से उच्च शिल्पज्ञान का परिचय मिलता है। इस ज्ञान का उपयोग ऐसे विशाल पालिशदार स्तंभ खडे करने के लिए किया गया जो पत्थर या धातु के एक ही खंड से बनाए जाते थे और जिन्हें खडा रखने के लिए किसी और सहारे की जरूरत नहीं होती थी। कौटिल्य ने परती जमीन आबाद करने, व्यापार के नए मार्ग खोलने और व्यापार तथा उद्योग के नियंत्रण की बात कही है। मेगास्थनीज भी इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि मौर्य राज्य कृषि, सिंचाई तथा राजधानी की आर्थिक प्रवृत्तियो के नियमन में रुचि लेता था। अशोक के अभिलेखों से लगता है

कि स्तभ गढ़ने, उन पर रोगन करने तथा उन्हे उचित स्थान पर ले जाने के काम में पूरे देश मे राज- मिस्त्रियो, कारीगरो और श्रमिकों को बडे पैमाने पर नियोजित किया जाता था। गरज यह कि कारण चाहे जो भी हो, सरकार की व्यापक आर्थिक प्रवृत्तियो के सबध मे सदेह की कोई गुजाइश नही है। स्वभावत: इन प्रवृत्तियों का प्रभाव प्रशासन पर पडा। राज्य को बहुत बडी सख्या मे छोटे-बडे अधिकारी नियुक्त करने पडे।

मौर्य राजनीतिक इतिहास का सबसे बडा तथ्य मगध साम्राज्य की स्थापना था, जिसमें सुदूर दक्षिण को छोडकर सपूर्ण भारत शामिल था। यह साम्राज्य तलवार के जोर से स्थापित किया गया था और इसकी रक्षा भी तलवार के जोर से ही हो सकती थी। बाह्य सुरक्षा तथा आतरिक शांति दोनो के लिए प्रबल सैन्यशक्ति आवश्यक थी। सभव है, आतरिक शांति को ऊपर से पुराने राजवश के समर्थको से और नीचे से शहरी आबादी के नए तत्वो से खतरा रहा हो। साथ ही कृषको से भी राज्य को डर बना रहता था क्योंकि प्रकृति कोप की चर्चा सुनी जाती है। साम्राज्य के अंदर और उसकी सीमा पर रहनेवाले जनजातीय लोग बराबर परेशानी का कारण बने रहते थे। इस सबके लिए विशाल स्थायी सेना और चुस्त दडव्यवस्था की आवश्यकता थी, और उधर इस सेना तथा दडव्यवस्था के सचालको पर होने वाले खर्च के लिए धन जुटाने के निमित्त राजस्व के नए स्रोतो की खोज करना जरूरी था।

मौर्य राज्य के स्वरूप पर विचार करते हुए जो बात बरबस हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, वह है राजा को दिया गया अत्यत उच्च और महत्त्वपूर्ण स्थान। कौटिल्य के अनुसार राज-आदेश धर्म सहित सत्ता के अन्य सभी स्रोतो से ऊपर है। यद्यपि उनका कहना है कि यह आदेश धर्म के अनुसार होना चाहिए, क्योंकि राजा धर्मप्रवर्तक है; किंतु स्पष्ट है कि धर्म की व्याख्या करने, बल्कि उसे लागू करने के क्रम में भी, वह अपनी इच्छानुसार धर्म मे परिवर्तन कर सकता है। कौटिल्य के विधान के अधीन राजा को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार धर्म की व्याख्या करने की छूट होगी। यदि कौटिल्य के इस विधान को एक आदर्श स्थिति का वर्णन मात्र मान लिया जाए तो भी अशोक के अभिलेख राज्यादेशो के सर्वव्यापी स्वरूप के स्पष्ट प्रमाण हैं। जनता का सामाजिक तथा धार्मिक जीवन तक इन आदेशो से अछूता नही रहा है।

व्यापक नौकरशाही के कारण कोई भी चीज राज्य की पहुंच के बाहर नही रह गई थी। फलतः उसने जीवन के हर क्षेत्र पर अपना नियत्रण करने का प्रयत्न किया। यदि हम कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के साक्ष्य को स्वीकार करके चले तो पाएंगे कि एक विशाल और जटिल नौकरशाही की स्थापना मौर्य शासन की

उल्लेखनीय विशेषता थी । एक स्थल पर कौटिल्य ने अठारह तीर्थों का उल्लेख किया है । शायद ये अठारह तीर्थ ही महामात्र या उच्चाधिकारी कहे गए हैं ।[2] यद्यपि 'अर्थशास्त्र' मे महामात्र शब्द का प्रयोग बहुत कम स्थलों पर हुआ है और उस ग्रंथ में इस शब्द का वास्तविक प्रतिरूप अमात्य है, किंतु अशोक के अभिलेखों का यह एक सुपरिचित शब्द है । कुछ प्रकार के महामात्रो का उल्लेख 'विनय पिटक' में भी हुआ है, लेकिन अशोक के अधीन इनकी सख्या काफी बढ़ गई । उसके साम्राज्य के हर बडे नगर और प्रत्येक जिले मे एक महामात्र होता था । उन्हें शहरी, देहाती और सीमावर्ती तीनों प्रकार के क्षेत्रों का प्रशासन संभालने का काम दिया जाता था । लेकिन उनका सबसे महत्त्वपूर्ण काम धर्ममहामात्रो के रूप मे था । इस हैसियत से वे अशोक द्वारा निर्दिष्ट सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को लागू करते थे ।

अठारह तीर्थों के अतिरिक्त कौटिल्य ने सत्ताईस अध्यक्षो की भी व्यवस्था की है । इनका सबध मुख्यतः आर्थिक क्रियाकलाप तथा कुछ सैनिक कर्तव्यो के निर्वाह से है, यद्यपि सामाजिक दायित्वो से भी इन्हे सर्वथा अलग नही रखा गया है । इस सूची में उल्लिखित अधिकारियों तथा जिनका जिक्र तीर्थों की सूची मे हुआ है उनके बीच कोई समानता नही है । इससे प्रकट होता है कि यहा दो अलग-अलग परपराओं का समाहार किया गया है । दूसरी सभावना यह है कि तीर्थ उच्चतर अधिकारी हैं और उनमे अध्यक्ष लोग भी शामिल नही हैं, क्योंकि वेतन सूची में अधिकाश तीर्थों का उल्लेख मिलता है, लेकिन अध्यक्षों में से बहुत कम का । इसके अतिरिक्त हम गोप, स्थानिक, धर्मस्थ, नागरक आदि अनेक अन्य अधिकारियो का उल्लेख भी देखते हैं । उपर्युक्त तीनो सूचियो में से किसी मे भी इनका जिक्र नही मिलता, लेकिन इन्हे काफी महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपे गए हैं । 'अर्थशास्त्र' की सूचिया अधिकारियो की वास्तविक स्थिति को कहा तक प्रतिबिंबित करती हैं, यह कहना कठिन है । लेकिन इसमे कोई सदेह नही कि विभिन्न सूचिया अधिकारियों की सख्या में वृद्धि करने की प्रवृत्ति का सकेत देती हैं । मोटे तौर पर इसकी पुष्टि मेगास्थनीज के विवरण और अशोक के अभिलेखों से भी होती है । मेगास्थनीज ने अनेक दडाधिकारियो (मैजिस्ट्रेट) का उल्लेख किया है और अशोक के अभिलेखों मे एक दर्जन श्रेणियो के अधिकारियों का जिक्र हुआ है ।

यद्यपि मेगास्थनीज के विवरण तथा अशोक के अभिलेखों मे नियुक्ति के नियमो के बारे मे कुछ नही कहा गया है, किंतु कौटिल्य ने अमात्य कहे जानेवाले उच्चाधिकारियो के सवर्ग (काडर) के लिए कुछ योग्यताओं का विधान अवश्य किया है । उसका विशेष जोर आभिजात्य पर है । इसी सवर्ग में से समाहर्ता, सन्निधाता और धर्मस्थ की नियुक्ति करने की व्यवस्था की गई है । किंतु इस संवर्ग के सदस्य भी कुछ परीक्षाओ मे उत्तीर्ण होने पर ही इन पदो पर नियुक्त किए जा

सकते थे । इस प्रकार यद्यपि किसी प्रकार की प्रतियोगिता परीक्षा की व्यवस्था नहीं की गई है, तथापि, नियुक्ति के नियमो से किसी न किसी प्रकार के नौकरशाही संगठन का संकेत अवश्य मिलता है ।

यह नौकरशाही पूरी तरह से श्रेणीबद्ध थी, इसका आभास विभिन्न श्रेणियों के अधिकारियो के वेतनमानों से मिलता है । मंत्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज जैसे उच्चतम पदाधिकारियो का वेतन निर्धारित करने मे बडी उदारता बरती गई है । कुछ अधिकारियो को तो 48,000 पण तक वेतन देने की व्यवस्था है, जबकि एक पण मे 3/4 तोला चादी होती थी ।[3] इसके विपरीत, 'भृत्यभरणीयम्' प्रकरण (V 3) मे दी गई वेतनो की समेकित सूची मे निम्नतम कर्मचारियो को 60 पण देने की सिफारिश की गई है । लेकिन अन्य स्थलो में तो उन्हे इससे भी तुच्छ राशि—मात्र 10 या 20 पण—देने की अनुशसा की गई है । इस प्रकार 1 4800 का अनुपात बैठता है, जिससे उच्चतम और निम्नतम सरकारी कर्मचारियो मे भारी अतर का सकेत मिलता है । हमारे प्रयोजन के लिए इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस वेतन सूची से पिरामिडनुमा नौकरशाही ढांचे का आभास मिलता है । कुल मिलाकर मौर्यों ने एक अद्वितीय अधिकारितत्र की रचना की, जो किसी ऐसे विशाल साम्राज्य में ही सभव था जिसे इस तत्र का खर्च चलाने के लिए उपज का काफी बडा अतिरिक्त अश नकद या जिसो मे प्राप्त होता रहा हो । आधुनिक दृष्टि से इसे शायद उचित न माना जाए, लेकिन यह कोई निजी सुविधाओ के लिए रखे गए सेवको का समुदाय नही था, क्योंकि यह राजा की गृहस्थी का अंग नही था ।

नौकरशाही सबकुछ राजशक्ति की पहुंच के अंदर ले आई, लेकिन इस शक्ति को वास्तविक ओज राज्य की दडशक्ति के अभूतपूर्व विकास के फलस्वरूप प्राप्त हुआ । जस्टिन के अनुसार, चद्रगुप्त मौर्य के पास 6,00,000 सैनिक थे, अर्थात उसकी सेना नदो की पदाति सेना की तुलना में तिगुनी थी । पदाति, अश्वारोही, रथसेना तथा हस्तिसेना इन चार सामान्य अगों की शक्ति की अभिवृद्धि दो और नए अग, नौसेना तथा परिवहन और रसद, करते थे । मौर्य सेना मे इन नए अंगो के जोडे जाने का सकेत मेगास्थनीज और कौटिल्य से मिलता है । शस्त्रास्त्रों का निर्माण करनेवाले शिल्पियो पर राजकीय एकाधिकार के फलस्वरूप राज्य का खड्गबल और भी अपराजेय हो गया था ।

सभव है, आतरिक विद्रोहो को दबाने के लिए कभी-कभी सेना का उपयोग भी किया जाता रहा हो, लेकिन यदि हम 'अर्थशास्त्र' के साक्ष्य के अनुसार देखें तो स्वीकार करना होगा कि पुलिस तथा दडप्रशासन की कार्यकुशल प्रणाली का विकास सबसे पहले मौर्यों ने ही किया । इस प्रणाली के आधार का काम विस्तृत गुप्तचर व्यवस्था करती थी । शहरी परिवेश मे सामान्यत: जिस प्रकार के आर्थिक अपराध होते हैं, वैसे बहुत से अपराधो के निवारण के लिए कटकशोधन का सगठन

किया गया था। इस सगठन की बहुत-सी व्यवस्थाओं का उद्देश्य मापतोल के गलत पैमानो का इस्तेमाल करनेवाले और ऊची कीमतें वसूल करनेवाले कारीगरों तथा व्यापारियो के क्रियाकलाप पर अकुश रखना था। दंडव्यवस्था का संगठन कौटिल्य की कृति की एक बहुत बडी विशेषता है। इस पर कोई बाहरी प्रभाव नही दिखाई देता। स्पष्ट ही, यह विशुद्ध भारतीय प्रतिभा की देन थी। यही बात लोगों की अपराधिक तथा सरदार विरोधी प्रवृत्तियो पर नजर रखने और उनकी सूचना देने का काम करनेवाले गुप्तचरों के साथ भी लागू होती है।

लेकिन जिन अधिकारियो को दडविधान के प्रशासन तथा अपराधो की जाच का दायित्व सौंपा गया था, वे आधुनिक अर्थों में विशुद्ध रूप से पुलिस अधिकारी नही थे। पुलिस तथा मजिस्ट्रेट दोनो के दायित्व निभाने वाले आधुनिक अधिकारी से सबसे अधिक साम्य हमे प्रदेष्टा में देखने को मिलता है, लेकिन इसके सिर भी कुछ राजस्विक जिम्मेदारिया थी। दूसरी ओर मुख्यत. राजस्विक कार्यों से संबंधित समाहर्ता, स्थानिक तथा गोप को किसी हद तक पुलिस और दडाधिकारी से जुडे कर्तव्य भी पूरे करने पडते थे।

राज्य की बढ़ती हुई आर्थिक गतिविधियो और शहरी बस्तियों की आवश्यकताओं के फलस्वरूप नगर प्रशासनतत्र का निर्माण हुआ। यह ऐसी चीज थी जिसके विषय मे पूर्व मौर्य काल मे कुछ खास सुनने को नही मिलता। मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र के नगर प्रशासन का जो वर्णन किया है उससे स्पष्ट झलकता है कि सरकार को सफाई, विदेशियो की देखरेख, जीवन-मृत्यु का पजीयन आदि शहरी समस्याओं की चिंता रहती थी। इन बातों पर कौटिल्य ने भी विचार किया है। उन्होने नगर प्रशासन मे स्थानीय लोगों के सहयोग का कोई सकेत नही दिया है। इसके विपरीत वह यह व्यवस्था ऊपर से लादता है। नागरिकों के कर्तव्य उन्होंने विस्तार से बताए हैं। शायद कौटिल्य का 'नागरक' ही अशोक के अभिलेखो का 'नगरव्यावहारिक' है। शान्ति एव व्यवस्था कायम रखना और सफाई की व्यवस्था की देखरेख करना नागरक के कर्तव्य बताए गए हैं। मकान बनाने में लकडी का उपयोग बहुत अधिक होता था, जिसके अवशेष कुम्रहार (पटना) के मौर्य ठिकाने मे प्राप्त हुए हैं। लकडी के इस व्यापक उपयोग के कारण नागरक का एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य इस बात का ध्यान रखना था कि आग न लगने पाए।

नगर कई हलको में बटा हुआ था, जिनकी देखरेख की जिम्मेदारी नागरक के नीचे काम करनेवाले स्थानिक और गोप नामक अधिकारियों पर थी। ये लोग अपने-अपने हलको के घरो आदि का विवरण रखते थे। इन दो अधिकारियों का उल्लेख सर्वप्रथम ग्रामीण राजस्वव्यवस्था के सदर्भ में हुआ है। ग्रामीण प्रशासनव्यवस्था को शहरी क्षेत्रो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उन पर भी

लागू किया गया । केवल नागरक ही ऐसा अधिकारी था जिसका संबंध सिर्फ शहरी प्रशासन से था ।

जैसा कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से देखा जा सकता है, मौर्यों के ग्राम-प्रशासन का मुख्य प्रयोजन राजस्व का ठीक निर्धारण और वसूली था । जनपद का प्रधान अधिकारी समाहर्ता प्रमुख रूप से राजस्व निर्धारण के लिए उत्तरदायी था । इस काम में उसकी सहायता स्थानीय और गोप करते थे, जो राजस्व-निर्धारण के लिए विस्तृत आकडे एकत्र करते थे । ये अधिकारी केवल राजस्व का निर्धारण और वसूली ही नही करते थे, बल्कि अपने-अपने क्षेत्रो मे शांति एव व्यवस्था भी कायम रखते थे । इनमें हम प्रदेप्टा को शामिल कर ले तो देखेगे कि यही कुछ अधिकारी राजस्व, पुलिस तथा दड तीनो विभागो से सबंधित सभी सरकारी कामकाज किया करते थे ।

अपने सीमावर्ती प्रदेशो के प्रशासन तथा जनजातीय लोगो से अपने व्यवहार मे अशोक ने नरमी के तत्वो का समावेश किया । अतमहामात्रो से कहा गया कि वे सीमावर्ती लोगो को समझा-बुझाकर धर्म के अनुसार आचरण करने, राजा तथा गुरुजनों की आज्ञा मानने जैसे सामाजिक नियमो का पालन करने और हिंसा से विमुख रहने को राजी करें । लेकिन यदि वे समझाने-बुझाने से उन नियमों का पालन न करें तो उन्हें दड भय भी दिखाना था । अपने कदहार अभिलेखों मे अशोक ने यह दावा किया है कि लोगों के बीच उसकी यह नीति सचमुच सफल रही ।

प्राचीन भारत में कर प्रणाली के विकास की दृष्टि से मौर्यकाल का युगांतरकारी महत्त्व है । कौटिल्य ने ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रो के किसानो एव कारीगरों तथा व्यापारियो से वसूल किए जानेवाले अनेक नए करों का उल्लेख किया है । स्वभावतः ऐसी कर प्रणाली कराधान, करो की वसूली तथा वसूल की गई जिंसों को रखने के लिए एक बडे और कार्यकुशल तंत्र की अपेक्षा रखती थी । मौर्य राजस्वव्यवस्था की विशेषता यह है कि वसूल किए गए करो की जिंसो को रखने और राशियो को जमा कराने की अपेक्षा कराधान को अधिक महत्त्व दिया गया है । राज्य को राजकोष तथा राजभडार के मुख्य अधिकारी सन्निधाता से होनेवाली हानि की अपेक्षा कराधान व्यवस्था के मुख्य अधिकारी समाहर्ता से होनेवाली हानि को अधिक गंभीर माना गया है । सच तो यह है कि कराधानतंत्र की व्यवस्था सर्वप्रथम मौर्यकाल में ही देखने को मिलती है ।

'अर्थशास्त्र' में करो और शुल्को की काफी बडी सूची दी गई है । यदि ये सारे कर-महसूल वसूल किए जाते रहे हो तो निस्सदेह करदाताओ पर बहुत अधिक बोझ रहा होगा । लेकिन इतने सारे करो को भी राज्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त नही माना जाता था, क्योंकि राजकोष को विशाल सैनिक तथा नौकरशाही संगठन का खर्च चलाना पडता था । इसलिए राजकोष को इन करो के

अलावा अन्य उपायों से भी भरा जाता था—जैसे राज्य की देखरेख में परती जमीन आबाद करवाई जाती थी, खनिज पदार्थ निकाले जाते थे, स्वर्णकारों और शराब की दुकानें चलाई जाती थी तथा बुनाई का काम करवाया जाता था।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि मौर्य शासन अत्यत-केंद्रीकृत था। इस काल मे गांवों की परिषदें आदि किस तरह काम करती थी, यह जानकारी देनेवाला कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य हमें उपलब्ध नही है। हा, कारीगरों और व्यापारियो के सघों को किंचित स्वायत्तता प्राप्त थी और सभव है, पाटलिपुत्र के प्रशासन में स्थानीय लोगो का भी कुछ सहयोग लिया जाता रहा हो। सत्ता के उपयोग में अशोक शायद परिषद् की सलाह लिया करता था और उसके प्रातीय शासक भी ऐसा ही करते थे। लेकिन इससे कोई विशेष विकेंद्रीकरण नहीं हो पाया। किंतु 'अर्थशास्त्र' विकेंद्रीकरण के कुछ लक्षणों को भासित करता है। उदाहरण के लिए, नई बस्तियों में ऋत्विकों, आचार्यों, पुरोहित तथा अन्य विद्वान ब्राह्मणों एव अधीक्षकों तथा निम्न श्रेणी के कुछ ग्राम कर्मचारियों को करमुक्त जमीन देने का विधान किया गया है।[4] लेकिन, ऐसी अनुदान भूमि को बेचा नही जा सकता था[5] और किसी भी अधिकारी को पूरा गाव देने की अनुशंसा कही नही की गई है।[6] इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र' में परिहारों, अर्थात् अनुदत्त गावो में किसानों आदि को विभिन्न प्रकार के राजस्वो से दी गई छूटों के संबध मे जो विशद व्यवस्था की गई है, उसका उद्देश्य ईस्वी सन की प्रारंभिक सदियों मे सातवाहनों तथा पल्लवो के अधीन प्रदान किए गए परिहारों से सर्वथा भिन्न है। जहा इन परिहारों का प्रयोजन धार्मिक ग्रहीताओ को पुरस्कृत करना था, 'अर्थशास्त्र' में विहित परिहारों का उद्देश्य राजकोष की अभिवृद्धि है। किंतु, एक चीज ने मौर्य साम्राज्य के उत्तरार्ध में विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति को अवश्य उत्तेजन दिया। तात्पर्य अशोक द्वारा राजुकों को दिए गए विस्तृत न्यायिक तथा कार्यपालिका सबंधी अधिकारों से है। इन अधिकारियों की सत्ता सैकडों हजारो लोगों पर होती थी।

मौर्य राज्यव्यवस्था मे विकेंद्रीकरण के तत्वों का स्थान गौण है। हमारे सभी अध्ययन स्रोत केंद्रीकृत नौकरशाही नियत्रण का स्पष्ट सकेत देते हैं। इस राज्यव्यवस्था की यह विशेषता मौर्यों के विशाल साम्राज्य तथा बढ़ती हुई आर्थिक प्रवृत्तियों से भी मेल खाती है। सुगठित पुलिस तथा सैनिक सगठन और राजस्विक तत्र के साथ मिलकर केंद्रीकरण की इस प्रवृत्ति ने राजसत्ता को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की, जिसकी अभिव्यक्ति 'शासन' मे हुई। कौटिल्य ने राजा को कोष तथा सेना की शक्ति को अपने हाथों में रखने का निर्देश दिया है।[7] चूंकि ये दोनों महत्त्वपूर्ण अग मौर्यकाल में सुस्थापित अवस्था में दिखाई देते हैं, इसलिए जान पडता है कि उनसे राजा को, जो उन पर अपना नियत्रण रखता था, काफी शक्ति प्राप्त हुई होगी।

ऐसा कहा गया है कि मौर्य राज्यव्यवस्था आकीमेनिड और टॉलेमी के नमूने पर आधारित थी। अशोक के स्थापत्य और अभिलेखों मे जो विदेशी तत्व दिखाई देते हैं, उनको देखते हुए और फिर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर फारसी शासन को ध्यान मे रखते हुए भारतीय शासनप्रणाली पर आकीमेनिड प्रभाव की बात करना विशुद्ध कल्पनाप्रसूत नही प्रतीत होता। लेकिन ऐसा मानना सही नही होगा कि 'अर्थशास्त्र' मे जिस सर्वसत्तासपन्न आतरिक शासन की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, वह ज्यो की त्यो किसी विदेशी राजनीतिक चिंतनधारा से उधार ले ली गई है। वास्तव में यह पूर्व मौर्यकाल मे दृष्टिगोचर होनेवाली शक्तियो और प्रक्रियाओ की चरमपरिणति थी। यदि प्रेरणा बाहर से मिली हो तब भी परिवर्तन आतरिक शक्तियो के कारण ही हुआ। पूर्व मौर्यकालीन धर्मसूत्रकार आपस्तंब राजा को राजधानी स्थापित करने की सलाह देते हैं और वसिष्ठ राजा से अन्त:पुर की देखरेख करनेवाले अधिकारी नियुक्त करने को कहते हैं। यह हमे कौटिल्य द्वारा अनुशंसित नई बस्तिया बसाने की नीति तथा स्त्री-अध्यक्ष की नियुक्ति का स्मरण कराता है।

जातको मे राजा को अनावृष्टि, कन्या के लिए वर के अभाव तथा किसान के बैलो पर आए दु:ख विपत्ति के लिए भी जिम्मेदार बताया गया है। स्पष्ट ही इन चीजो पर राजा का कोई बस नही था, लेकिन समाज के प्रधान के रूप मे इन सारे कार्यों से, जो किसी समय जनजातीय सरदार के दायित्व माने जाते थे, उसका सबंध जुडा हुआ था। कौटिल्य ने विभिन्न क्रियाकलापो पर जिस राजनियंत्रण की अनुशंसा की है, वह इस जनजातीय स्थिति से बहुत भिन्न नही थी।

राजशक्ति को इतना ऊंचा स्थान दिए जाने का मुख्य कारण पूर्व मौर्यकाल में क्षत्रियो का बढ़ता हुआ महत्त्व था। उनका प्रभाव केवल धर्म और समाज पर ही नही, राजनीति पर भी प्रकट हुआ। मगध ने अपनी श्रीवृद्धि की जिस नीति का सतत पालन किया, उसके फलस्वरूप क्षत्रियो के शौर्य की अभिवृद्धि हुई और वे समाज मे सबसे आगे आ गए। इस नई परिस्थिति को हम कौटिल्य तथा अशोक, दोनो को स्वीकार करते देखते हैं। हम दोनो को राजनीति, धर्म तथा समाज मे ब्राह्मणो के प्रभाव की नीव को कमजोर करते पाते हैं। चूकि पुरोहितो की सत्ता राजसत्ता पर एकमात्र महत्त्वपूर्ण अकुश का काम करती थी, इसलिए जिस हद तक उसकी शक्ति कम होती गई, उसी हद तक राजा की सत्ता बढती गई।

मौर्योत्तर अवस्था : राजस्व मे देवत्व का समावेश तथा विकेंद्रीकरण

व्यापार तथा कृषि के नए क्षेत्रो का उन्मेष करने मे मौर्यों ने जो पहल की थी, उसके नतीजे मौर्योत्तर काल मे दिखाई देने लगे। मौर्य शासन का वास्तविक महत्त्व दकन तथा ब्राह्मण प्रभाव से मुक्त अन्य सीमावर्ती क्षेत्रो मे मुद्रा, उत्तर भारतीय काले रोगनदार बर्तनो तथा लौह कौशल के ज्ञान के प्रसार मे निहित था। इससे दकन मे

बहुत बडी सख्या में नगरो के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ । उत्खनन और अभिलेख इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं । लोग रागे, पोटिन और चादी के सिक्कों का इस्तेमाल करते थे, जो बहुत बडी सख्या में मिले हैं । इससे आतरिक सौदो और मध्य एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा रोम के साथ विदेश व्यापार को उत्तेजन मिला । विध्य के दक्षिण में रोम की स्वर्ण मुद्राओं की विपुल राशिया प्राप्त हुई हैं । उत्तर भारत में हमें कुषाणो की स्वर्णमुद्राए देखने को मिलती हैं, और साधारण सौदो की दृष्टि से इससे भी बडी बात यह है कि उनके बहुत से ताबे के सिक्के भी मिले हैं । स्वभावत प्राचीन भारत के—और विशेषकर दकन के—कारीगरो और व्यापारियो के जितने सघों के नाम इस काल के अभिलेखो में देखने को मिलते हैं उतने के न पूर्ववर्ती काल मे मिलते हैं और न परवर्ती काल मे । शक-सातवाहन राज्यव्यवस्था पर इस सबकी स्पष्ट छाप दिखाई देती है ।

मौर्योत्तर काल के सामाजिक तथा धार्मिक परिवेश की भी उपेक्षा नही की जा सकती । जान पडता है, शुग, काण्व तथा सातवाहन, इन देशी राजवंशों ने इस काल में ब्राह्मणवाद के उत्कर्ष के लिए कुछ भी उठा नही रखा, यद्यपि दकन के कारीगरो और व्यापारियों तथा कुछ भारतीय-यूनानी और कुषाण जैसे विदेशी मूल के राजवशों को बौद्धधर्म अधिक प्रिय था । भूमि अनुदान ब्राह्मणों तथा बौद्धो, दोनो को देने थे, ताकि उनका भरण-पोषण होता रहे । राजा को दैवी गुणों से विभूषित बताकर ब्राह्मणो ने सीथियनो द्वारा भारत में लाए गए देवत्वविषयक मान्यताओं के अकुरित होने के लिए मिट्टी तैयार कर दी । उन्होने देशी मूल के राजाओं को प्रारंभिक विधिग्रथों मे प्रतिपादित सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के प्रबल पक्षधर और रक्षक भी बना दिया । इसके अतिरिक्त, उन्होने 'मनुस्मृति' को अंतिम रूप प्रदान किया । इस ग्रंथ ने न केवल उनके लिए मैग्ना कार्टा का काम किया, वरन उसने जातिप्रथा को भी उत्तेजन दिया । मनु के अनुसार, मिश्रित वर्णों की संख्या लगभग साठ, अर्थात मौर्यकाल की तुलना में प्राय पांच गुनी थी । चूंकि जाति मे उसके सदस्यो का बहुत बडा प्रवृत्तिक्षेत्र समाहित था और जाति ही उस क्षेत्र का नियमन करती थी, इसलिए अतर्जातीय झगडे मिटाने या जिन अपराधों की ओर जाति ध्यान नही दे सकती, ऐसे अपराधो का शमन करने के अतिरिक्त सरकार के पास बहुत कम काम रह जाता था ।

मौर्य साम्राज्य के पतन के फलस्वरूप राजस्थान तथा पंजाब मे कुछ गणतत्रों का पुनरोदय हुआ, किंतु उनके सिक्कों से प्रकट होता है कि उनमे राजतत्रात्मक प्रवृत्ति उत्तरोत्तर प्रबल होती जा रही थी । तत्वत यह छोटे-छोटे राजतत्रों या सरदारी शासनो का युग था । केवल सातवाहनो और कुषाणों के ही बडे राज्य थे और छोटे राजाओ के साथ उन्होने सामंती संबंध स्थापित किए थे । सातवाहन राजे बनावटी ब्राह्मण थे और उनका शासन दकन तथा दक्षिण भारत के ऐसे सरदारों

पर था जो या तो ब्राह्मण संस्कृति मे आशिक रूप से ही रग पाए थे या उससे सर्वथा अछूते थे। इसलिए सामती संबंधों की स्थापना सातवाहनों के लिए एक आवश्यकता थी। मध्य एशिया से आनेवाले सीथियनो के लिए यह और भी स्वाभाविक था। इसलिए महारठी इक्ष्वाकु आदि बहुत से शासक सातवाहनों के सामत थे, और बाद मे अपने प्रभु की श्रीसमृद्धि के अवशेष पर उन्होंने स्वतत्र राज्य कायम किए। कुषाण राजाओ की उपाधियो से अनेक छोटे-छोटे राजाओं तथा षाहियो के अस्तित्व का सकेत मिलता है। ये छोटे राजा और षाहि सर्वोच्च सत्ताधारी की अधीनता स्वीकार करते थे, तथा उन्हें कर और सैनिक सहायता देते थे। स्पष्ट ही, देश के जितने बडे हिस्से पर मौर्य सम्राट अपना प्रत्यक्ष नियत्रण रखते थे, उतने बडे हिस्से पर सातवाहनो और कुषाणो का सीधा नियंत्रण नहीं था।

विकेंद्रीकरण को बढ़ावा देनेवाली दूसरी बात थी बौद्ध तथा ब्राह्मण अनुदानभोगियों को दिए गए राजस्विक अधिकार। यह बात विशेष रूप से दकन के सातवाहन शासन पर लागू होती थी, क्योंकि 'अक्षयनीवि'—अर्थात अक्षय निधि—शब्द का प्रयोग यद्यपि कुषाण अभिलेखो मे हुआ है, किंतु इस प्रकार के अधिकारो के साथ दिए गए अनुदान हमे गुप्तकाल से पहले देखने को नही मिलते। धार्मिक प्रयोजनो के लिए अनुदत्त भूमिखडो या गावो को कई प्रकार के परिहार प्रदान किए जाते थे, अर्थात उन क्षेत्रो को कई तरह की रियायते दी जाती थी, जिनमें राजा के अभिकर्ताओं, चाटों तथा भटों के प्रवेश का वर्जन भी शामिल था। इस हद तक ग्रहीताओ को गांवो के मामलो का अपने ढंग से प्रबंध करने तथा शाति एवं व्यवस्था कायम रखने की पूरी स्वतंत्रता रहती थी। ग्रामीण क्षेत्रों में यदि वे अर्ध स्वतत्र इकाइयो के रूप में काम करते थे, तो साथ ही ग्रामीण लोगो को सामाजिक नियमो का अनुसरण करने तथा अब किसी हद तक दैवी गुणो से विभूषित राजा की आज्ञा का पालन करने की आवश्यकता भी समझाते थे।

मौर्योत्तर राज्यव्यवस्था की एक उल्लेखनीय बात यह है कि दूसरी तथा पहली शताब्दी ई पू मे उत्तर भारत मे कम से कम एक दर्जन ऐसे नगर थे जो लगभग स्वशासी संगठनो की तरह काम करते थे। इन नगरों के व्यापारियों के संघ सिक्के (हालांकि तांबे के ही) जारी करते थे, जो सामान्यतः प्रभुसत्ता सपन्न व्यक्ति या सस्था ही कर सकती है। भारतीय-यूनानी युग से पहले के पाच सिक्कों में निगम शब्द का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इनमे से चार में तक्षशिला के विभिन्न क्षेत्रो के नामों का जिक्र है,[8] और पंचनिगम शब्द का उल्लेख तक्षशिला से प्राप्त छठे सिक्के[9] में हुआ है। यह स्पष्ट है कि तक्षशिला पर यूनानियो के कब्जा करने के ठीक पहले उसका शासन या तो कारीगरों और व्यापारियो का एक ही निगम चलाता था या कोई ऐसी संयुक्त सस्था जिसमे पाच निगम शामिल थे। यह चलन कौशाबी मे भी था, क्योंकि इसके एक सिक्के मे इसे निगम कहा गया है।[10] गंधिको—जिसका

शब्दार्थ गधविक्रेता किंतु वास्तविक अर्थ व्यापारी है—के सघ के सिक्के कौशांबी के इर्दगिर्द के क्षेत्र मे भी पाए गए हैं।[11] त्रिपुरी, माहिष्मती, विदिशा, एरन, भगिला, माध्यमिका, वेमक, वाराणसी आदि नगरो के नामों का भी उल्लेख उनकी ताम्रमुद्राओं मे हुआ है। इससे इनमे से प्रत्येक नगर का नैगमिक अस्तित्व प्रमाणित होता है, किंतु यह स्पष्ट नही है कि उनका शासन कैसे चलाया जाता था। यद्यपि उनके सिक्को मे निगम शब्द कही नही आया है, लेकिन जान पडता है, मौर्य साम्राज्य के विघटन के बाद तथा शकों और कुषाणो के अभ्युत्थान के पूर्व स्वायत्तता प्राप्त इकाइयो के रूप मे इन नगरों का उदय हुआ। प्रारंभिक भारतीय इतिहास के किसी भी चरण में हम नगरों या उनके सघों को, मौर्योत्तरकालीन उत्तरी तथा मध्य भारत की तरह, सिक्के जारी करते नही देखते।

ईस्वी सन की प्रथम दो शताब्दियो के दौरान जब सातवाहनो तथा कुषाणो ने अपने राज्य स्थापित कर लिए तब इन नगरो का स्वायत्त समाप्त हो गया, किंतु उनके नागरिक जीवन का ओज तब भी कायम रहा। दकन के शहरों मे शासको को व्यापारियों के निगमो का—जिन्हे निगमसभा कहा जाता था—खयाल रखना पडता था और इसी तरह कुषाण राज्यप्रदेशों मे कारीगरो के सघो का ध्यान रखकर चलना पड़ता था। अभिलेखो से ज्ञात होता है कि उत्तरी तथा पश्चिमी भारत में ये सघ अनुदानो की सपत्ति की देखरेख और प्रबध करते थे—विशेष रूप से पश्चिमी भारत मे यह बडे पैमाने पर किया जाता था। नगर के प्रशासन में व्यापारियो के भाग लेने के स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध नही हैं। लेकिन यदि उन्हे राजाओं द्वारा दिए गए बडे-बडे अनुदानो का प्रबध करने मे समर्थ माना जाता था तो कोई कारण नही कि उन्हे नगर प्रशासन के दायित्व नही सौंपे जाते होंगे। बहुत से व्यापारियों को हम अपने नामो के अभिन्न अग के रूप मे अपने-अपने नगरों के नामो का उल्लेख गर्वपूर्वक करते देखते हैं। इससे उच्च स्तर की नागरिक भावना का प्रमाण मिलता है, जिसका उदय उनमे शायद इसलिए हुआ होगा कि अपने नगरो के प्रशासन मे उनका भी हाथ होता था। इस प्रकार जहा मौर्य नगर प्रशासन ऊपर से थोपी गई व्यवस्था थी, मौर्योत्तर नगर प्रशासन का ढाचा नीचे से विकसित हुआ जान पडता है। जो भी हो, सघ के आतरिक मामलो की व्यवस्था उसके अपने रीतिरिवाजो तथा कानूनों के अनुसार की जाती थी, यद्यपि राज्य ने उन्हे कोई विशेष सनद नही दी थी। ऐसी सनदे वास्तव मे छठी शताब्दी से दी जाने लगी।

कई बातों मे पुरानी केंद्रीकृत शासन प्रणाली कायम रही, बल्कि नए तत्वो के समावेश से उसमे और मजबूती आई। राज्य को आहारों में विभक्त करके उन्हें राजकीय अधिकारियो की देखरेख मे रखने की जो प्रणाली अशोक ने आरभ की थी, वह सातवाहनो के अधीन कायम रही, अतर केवल इतना था कि अब उन अधिकारियो को महामात्र के बदले अमात्य कहा जाता था। 'सभापर्व' के एक

अवतरण से इन पदों के वंशानुगत होने का सकेत मिलता है।[12] कुषाण शासनव्यवस्था में अमात्यों का जिक्र नहीं मिलता, यद्यपि पश्चिमी भारत के शक शासक अमात्य रखते थे, जो उनके परामर्शदाता (मति सचिव) के रूप में भी काम करते थे और प्रशासक (कर्म सचिव) की हैसियत से भी। कुषाण राज्य में उनका समांतर अधिकारी दडनायक था, जिसके सैनिक दायित्व गैर सैनिक दायित्वों से कहीं अधिक मत्त्वपूर्ण थे।

भारत-यूनानियों तथा उनके विदेशी उत्तराधिकारियों द्वारा शासित क्षेत्रों में मौर्य शासन व्यवस्था के चिह्न दिखाई नही देते। शकों तथा पार्थियनों ने सयुक्त शासन का चलन आरभ किया, जिसमें युवराज सत्ता के उपभोग में राजा का बराबरी का सहभागी होता था। शक और कुषाण लोग पार्थियनों के माध्यम से अखामनी राजवंश की क्षत्रपीय प्रणाली भी इस देश में ले आए। कुषाणो ने प्रांतों में द्वैध शासकत्व की विचित्र प्रणाली का भी प्रचलन किया। यह केंद्रीय शासन में प्रचलित एक पुरानी रीति का प्रतिबिंब थी। कुषाण राज्य में ग्राम-प्रशासन पहले की ही तरह राजा द्वारा नियुक्त ग्रामिक या ग्रामस्वामी चलाता रहा। स्पष्ट ही ग्रामप्रधान पुलिस तथा राजस्व व्यवस्था से संबंधित कामकाज की देखरेख भी पूर्ववत करता रहा।

लगता है, मौर्योत्तर काल मे कर प्रणाली पहले की अपेक्षा सरल हो गई। कौटिल्य द्वारा उल्लिखित बहुत से करों तथा राजस्व अधिकारों का जिक्र मौर्योत्तर अभिलेखों में नही मिलता। पश्चिमी भारत तथा दकन के अभिलेखो में बलि, भाग, भोग तथा कर इन चार राजकीय शुल्कों का उल्लेख मिलता है, लेकिन पैदावार के मुकाबले उनका अनुपात क्या था, यह स्पप्ट नहीं है। पश्चिमी भारत के शक राज्य मे प्रणय नामक आपात कर तथा विष्टि नामक बेगार प्रचलित जान पड़ते हैं। विष्टि दासों तथा स्वतत्र मजदूरो दोनों से ली जाती थी, जबकि कौटिल्य ने केवल स्वतंत्र मजदूरों से ही विष्टि लेने का विधान किया है। सिक्कों की बहुलता से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि शकों तथा सातवाहनो दोनों के राज्यो में नकद कर लगाए तथा वसूल किए जाते थे।

राजस्व प्रणाली में एक महत्त्वपूर्ण नई बात का सकेत मनु तथा 'शांतिपर्व' से मिलता है। उन्होंने दाशमिक प्रणाली पर राजस्विक इकाइयों के गठन की अनुशंसा की है। सबसे बड़ी इकाई हजार गावों की होती थी और उसका प्रधान सहस्रपति होता था। सहस्रपति और राष्ट्रीय मे शायद कोई अंतर नहीं था।[13] राष्ट्रीय को जिंसों और नकद दोनों रूपों में—लेकिन प्रत्यक्ष रूप से राजा द्वारा नहीं, बल्कि उसे सौंपे गए नगर के राजस्व मे से वेतन देने की सिफारिश की गई है।[14] इस प्रकार दाशमिक इकाइयों में राजस्व वसूल करने के लिए जिम्मेदार अधिकारियों को वेतन स्वरूप, प्रसंग के अनुसार, किसी भूखंड, गांव अथवा नगर का राजस्व,

अपने पास रखने की अनुमति दी गई है । यहा देखते हैं कि मौर्यों की नकद वेतन देने की प्रणाली के स्थान पर राजस्व अधिकारियो को उन्हें सौंपे क्षेत्रों की आय में से ही अशत. जिसो के रूप मे वेतन देने की रीति चलाई गई । इसे सामंतवादी प्रथा माना जा सकता है ।

सातवाहनो और कुषाणों की सैनिक शक्ति के बारे में हमें कोई जानकारी नही है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी शक्ति का आधार घुड़सवार सेना थी, और उस काल की मूर्तियो से प्रकट होता है कि घुड़सवार सैनिक रकाब का उपयोग करते थे । सातवाहन और कुषाण, दोनो राज्यो में शासन का सैन्यीकरण इस काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना प्रतीत होती है । आहार का प्रधान शासक महासेनापति होता था और गाव का गौल्मिक । इसी प्रकार कुषाणों के अधीन दडनायक तथा महादडनायक नामक अर्धसैनिक अधिकारी प्रशासन की स्थानीय इकाइयों की देखरेख करते थे । कुषाण विदेशी थे, इसलिए उनके शासन के सैन्यीकरण के औचित्य को आसानी से समझा जा सकता है । सातवाहनों के राज्य मे यह प्रणाली शायद नव विजित प्रदेशो मे प्रचलित थी ।

एक अर्थ मे मौर्योत्तर काल मे राजत्व का धार्मिक पक्ष कुछ क्षीण हुआ, क्योंकि जहा उत्तर वैदिककाल से लेकर मौर्यकाल तक के समस्त साहित्य में पुरोहित अत्यत उच्च पदाधिकारी के रूप मे सामने आता है, अब न तो सातवाहनों और न कुषाणों के अभिलेखों मे और न गुप्तो के ही अभिलेखो में उसका कोई उल्लेख देखने को मिलता है ।[15] ऐसी दलील दी जाती है कि वैदिक यज्ञो के लोप के साथ पुरोहित अपना स्थान ही खो बैठा । लेकिन सातवाहनो के अधीन यज्ञों का चलन फिर से आरभ होने पर भी पुरोहित को कोई राजनीतिक महत्त्व प्राप्त नही हो सका । हो सकता है, सातवाहन अपना पौरोहित्य आप करते रहे हो । लेकिन कुषाण तथा गुप्त राज्यव्यवस्था में भी पुरोहित का अस्तित्व नही था, हालांकि उसके सबधो में यह नही कहा जा सकता है कि वे भी अपना पौरोहित्य आप करते थे । निष्कर्ष यही निकलता है कि इस अर्थ मे राजनीति पर धर्म का प्रभाव कम हो गया था । लेकिन राजा को दैवी गुणों से सपन्न बताए जाने का जो चलन प्रारभ हुआ उसने पुरोहित के पद एव प्रभाव मे हुए ह्रास को बहुत कुछ दूर कर दिया ।

इस काल की एक खास विशेषता राजत्व के दैवी पक्ष पर जोर दिया जाना है । पहले राजाओ से देवताओ की तुलना की जाती थी । अब बात उलटी दिशा में चल पडी थी और राजाओ की ही तुलना देवताओ से की जाने लगी । यह हमें उस अभिलेख में देखने को मिलता है जिसमे पराक्रम आदि की दृष्टि से सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि की तुलना कई देवताओ से की गई है । लेकिन एक विशेष उल्लेखनीय चीज कुषाण राजाओ में देखने को मिलती है । उन्हें देवपुत्र कहा गया है । अशोक को देवानांप्रिय, अर्थात देवताओं का प्रिय कहा गया है, लेकिन कुषाण

राजाओं ने ऐसी उपाधि धारण की जिसका चलन सिर्फ चीनियों और रोमवालों के बीच ही था। उन्होने देवकुलो की स्थापना, अर्थात मृत राजाओं को मंदिरो मे देवताओ की तरह प्रतिष्ठित करने का चलन भी आरभ किया। जहां मिस्र स्थित यूनानी राजाओ ने स्थानीय प्रभाव के कारण सम्राट पूजा की प्रथा अपनाई थी, कुषाण शासकों ने इसे विदेशी प्रभाव के कारण भारत मे दाखिल किया। भारत की मिट्टी मे इन प्रथाओ का कोई आधार नही था, इसलिए इनमें से कोई भी कुषाण शासन के बाद कायम नही रही। इसके विपरीत राजा के साथ ईश्वर की तुलना की जो सातवाहन प्रथा थी, उसके अस्तित्व के प्रमाण गुप्त अभिलेखों में भी मिलते हैं, जिनमें गुप्त राजाओ को विभिन्न देवताओ के गुणों से विभूषित बताया गया है।

जहां तक स्वदेशी पहलू का सबध है, सिक्को से प्रकट होता है कि कुछ जनजातीय गणतांत्रिक राज्यो मे अलग-अलग देवताओ को राज्य का प्रधान मानने का चलन आरभ हुआ। उन राज्यो के सिक्के इन्हीं देवताओं के नाम से जारी किए गए हैं। कुनिदों और औदंबरो ने अपने देवताओ की ओर से जारी किए।[16] इसका एक विशिष्ट उदाहरण यौधेयो का गणतत्र है। यौधेय लोग अपने देवता ब्रह्मण्य के नाम पर शासन करते थे।[17] भीटा से प्राप्त एक मुहर से भी इस प्रथा के चलन की पुष्टि होती है, क्योंकि उसमें देवता महासेन को एक राज्य प्रदान करने के सकल्प का उल्लेख है।[18] इस सबसे लगता है कि उत्तर भारत के कुछ मौर्योत्तर गणतंत्रों तथा राजतत्रो मे शासक देवता के प्रतिनिधियो के रूप मे राजकाज चलाते थे। यह हमें मध्यकालीन दकन मे प्रचलित ऐसी ही प्रथा का स्मरण कराता है, क्योंकि वहां कुछ राजे अपने-अपने देवताओ के पट्टेदारो के रूप मे शासन करते थे। लेकिन मिस्र के पुरोहित प्रधान तथा धर्मतांत्रिक शासन के विपरीत इन राज्यों के मुख्य देवताओं की इच्छाओं की व्याख्या शायद नही की जाती थी। संभवत शासक सरक्षक देवताओं को अपने राज्य औपचारिक रूप से ही अर्पित करते थे, और फिर औपचारिक रीति से अपने राज्य उसी तरह वापस पा लेते थे जिस तरह कोई भक्त अपने आराध्य देवता को अर्पित नैवेद्य अपने उपयोग के लिए प्रसाद के रूप में वापस पा लेता है। इस प्रथा से अधिक से अधिक इतना ही प्रकट होता है कि राजा या शासक वर्ग राज्य को संपत्ति की कोटि मे ही आनेवाली वस्तु मानता था।

पांचवी शताब्दी ई. पू के आसपास से समाजव्यवस्था को कायम रखने के लिए प्रायश्चितो के रूप में धर्मादेशो का सहारा लिया जाने लगा। ध्यातव्य है कि 'मनुस्मृति' मे इनकी सख्या बहुत बढ़ गई है। उसमे प्रायश्चित धर्म पर 267 श्लोक दिए गए हैं। उसमें जिन विषयों के लिए प्रायश्चित्त सुझाए गए हैं वे बड़े व्यापक हैं। जिन पापो के लिए प्रायश्चित्त सुझाए गए हैं, उनमें न केवल हत्या तथा दुर्वचन जैसे अपराध शामिल हैं, बल्कि वर्णनियमो के उल्लंघन जैसे अपराध भी आ जाते हैं, जिनको आधुनिक कानून कोई महत्त्व नही देता। इन प्रायश्चित्तों को

कार्यान्वित करवाने वाले शायद ब्राह्मण थे, जो समाज के मानस मे इनका महत्त्व प्रतिष्ठित करने का काम करते थे। मौर्योत्तर काल से राजनीति तथा समाज के क्षेत्र मे ब्राह्मणो की प्रवृत्तियो की जो प्रबलता देखने को मिलती है उसका कारण शायद इन प्रायश्चित्तो के कार्यान्वयन से सबंधित उनकी भूमिका ही थी। शायद वे अपराधियो द्वारा प्रदान किया गया दानदक्षिणा प्राप्त करते थे और उनसे आवश्यक प्रायश्चित्त करवाते थे। इस तरह ग्रामीण समाज मे कानून तथा व्यवस्था कायम रखने में प्रायश्चित्तो की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

राजा का दैवीकरण, सिविल प्रशासन का सैन्यीकरण, प्रांतीय शासन को सुचारू रूप से चलाने के प्रयत्न, करो की उगाही तथा राजकीय एजेंटों के माध्यम से बेगार का व्यवस्थापन—इन तमाम चीजो ने पुरानी केंद्रीकृत पद्धति को कायम रखने मे सहायता दी। लेकिन इन चीजो की व्यवस्था करने के लिए पहले की अपेक्षा कम अधिकारी रखे जाते थे—उतने तो नही ही जितने मौर्यकाल में रखे जाते थे। चूंकि राज्य छोटे थे और करों की सख्या कम थी, इसलिए किसी बडे प्रशासन तत्र का खर्च चलाना सभव नही था। अधिकाश आर्थिक गतिविधियां अब कारीगरों तथा व्यापारियो के सघो या अलग-अलग व्यक्तियों के हाथो मे आ गई थी। अतः मौर्य साम्राज्य मे इस तरह के कामकाज की देखरेख के लिए जो बहुत से अधिकारी रखे जाते थे, उनकी आवश्यकता अब नही रह गई थी। इसके अतिरिक्त प्रशासन के बहुत से दायित्वों का निर्वाह शहरी क्षेत्रों मे सघ तथा ग्रामीण क्षेत्रो मे धार्मिक अनुदानभोगी करते थे। ये अनुदानभोगी जनता को वर्णाश्रम धर्म के नियम तथा अहिंसा की भी शिक्षा देते थे, जिससे समाज मे शांति और स्थायित्व कायम हुआ। कुल मिलाकर शक-सातवाहन राज्यव्यवस्था मे हमे विकेंद्रीकरण के बहुत से तत्व देखने को मिलते हैं। इस सबसे स्वभावत. गुप्त राज्यव्यवस्था की सामंतवादी प्रवृत्तियो का मार्ग प्रस्तुत हुआ।

गुप्तकालीन अवस्था : आद्य सामंती राज्यव्यवस्था

यद्यपि गुप्तकाल मे विदेश व्यापार का ह्रास हुआ, तथापि मध्य भारत, दकन तथा दक्षिण भारत के दुर्गम तथा परती क्षेत्रो में उद्यमी ब्राह्मणो को दिए गए भूमि अनुदानो के फलस्वरूप इस युग मे आर्थिक क्रियाकलापो का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। निजी भूसपत्ति के अधिकार मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इस नए सपत्ति अधिकार को विधि-पुस्तकों में मान्यता प्रदान की गई, और स्वर्णमुद्राओं से जमीन की वास्तविक खरीद बिक्री के जो दृष्टांत मिलते हैं, उनसे इस बात में कोई सदेह नही रह जाता कि यह अधिकार भली-भांति प्रतिष्ठित हो चुका था। शासक वर्ग की आर्थिक समृद्धि का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि प्राचीन भारत

में जितनी स्वर्णमुद्राएं गुप्त राजाओं की मिली हैं, उतनी अन्य किसी राजवंश की नहीं। स्वर्णमुद्राओं के चलन से व्यापारियों और सपन्न कारीगरों की समृद्धि और वृद्धि हुई। स्वर्णमुद्राओं में दिए गए अनुदान कभी-कभी तो इन संघों में ही जमा करवा दिए जाते थे। गुप्तकाल की आर्थिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था में ये संघ पूर्ववत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे।

गुप्तकाल के राजनीतिक संगठन का सपूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए हमें इस बात का ध्यान बराबर रखना होगा कि इस युग में देश के एक छोर से दूसरे छोर तक अनेक छोटे-छोटे राजवंशों का अस्तित्व कायम था। हरिषेण के विवरण में अतिशयोक्तियों के लिए गुजाइश रखते हुए भी यह मानना होगा कि इनमे से कुछ को समुद्रगुप्त ने अपने अधीन कर लिया और पश्चिमी भारत को तो द्वितीय चंद्रगुप्त ने निश्चय ही जीत लिया। दूरस्थ क्षेत्रों की विजय के परिणामस्वरूप किसी न किसी प्रकार की सामंतवादी व्यवस्था का विकास करना आवश्यक हो गया।

मौर्यों के विपरीत गुप्त राजाओं ने परमेश्वर, महाराजाधिराज, परमभट्टारक आदि आडंबरयुक्त उपाधियां धारण कीं, जिनसे उनके साम्राज्य में छोटे छोटे राजाओं के अस्तित्व का संकेत मिलता है। यद्यपि राजपद वशानुगत था, किंतु सिंहासन का उत्तराधिकारी श्रेष्ठ पुत्र ही होगा ऐसी कोई सुदृढ़ प्रथा कायम नही थी, जिस कारण राजा की सत्ता कुछ हद तक परिसीमित थी। नारद ने कौटिल्य के इस सिद्धांत को दोहराया है कि राजशासन कानून के अन्य तमाम स्रोतों से ऊपर है, लेकिन गुप्त राजा को अपने मंत्रियो, सामंतों और सबसे बढ़कर, ब्राह्मणों का ख्याल रखकर चलना होता था। 'नारद स्मृति' मे ब्राह्मणो ने अपने को तरह-तरह के विशेषाधिकारों का दावेदार बतलाया है और इसमे कोई संदेह नहीं कि स्मृतियों में संगृहित विधियों के वे मुख्य अभिरक्षक और व्याख्याता थे। यद्यपि गुप्तकालीन अभिलेखों आदि में उच्चाधिकारी के रूप में पुरोहित का उल्लेख नहीं मिलता, किंतु उदारतापूर्ण अनुदानों के प्रतिदानस्वरूप उन कृतज्ञ ब्राह्मणों ने, जिन्होंने स्पष्ट ही गुप्त अभिलेखों की रचना की, गुप्त राजाओं की तुलना विभिन्न देवताओं से की, और इस प्रकार सातवाहनो की परंपरा को अक्षुण्ण बनाए रखा तथा उसका प्रसार उत्तर भारत में किया।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय के भव्य विवरणों के बावजूद हमें गुप्त राजाओं के सैन्यसंगठन की विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। जिस तरह क्लासिकी लेखकों ने नंदों तथा मौर्यों की सेनाओ के संख्याबल के संबंध में जानकारी दी है, उस तरह फहियान ने गुप्तों की सेना की संख्या के संबंध में कुछ नहीं कहा है। लेकिन स्पष्ट ही गुप्तों की सेना में एक बहुत बड़ा अनुपात अधीनस्थ राजाओं द्वारा सुलभ कराए गए सैनिको का था। रथों का पुराना महत्व तिरोहित हो चुका था और अश्वारोही

सैनिकों का महत्व बहुत बढ़ गया था, तथा अश्वधनुर्विद्या ने सैन्य कौशल में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। लेकिन घोडों और हाथियों पर राज्य का एकाधिकार नही रह गया था। अब शक्तिशाली लोग निजी तौर पर भी हाथी-घोडे रखने लगे थे।

गुप्त अभिलेखों में उल्लिखित करो की सख्या उतनी नही है जितनी कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में देखने को मिलती है। लेकिन इस काल में भूमिकरो की संख्या बढ़ी, और वाणिज्य-व्यापार संबंधी करों की सख्या मे कमी आई। इस काल के दो प्रमुख भूमिकर उद्रग और उपरिकर थे। लेकिन इन करो मे किसान को अपनी उपज का कितना हिस्सा देना पडता था, यह मालूम नहीं है। जान पडता है, सपन्न किसान नकद कर देते थे—अधिकतर सोने के रूप में, जिसे हिरण्य कहा जाता था। मध्य तथा पश्चिमी भारत में शासक किसानों से विष्टि या बेगार भी लेते थे। इसके अतिरिक्त, मध्य भारत के जो क्षेत्र वाकाटकों तथा अन्य शासकों के अधीन थे, उनमें किसानों को ग्रामीण इलाकों में काम करनेवाले राजकीय अधिकारियो तथा परिचरो के खाने-खर्चे तथा आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था करनी पडती थी, जिसके लिए वे उन्हें पशु, खाद्यान्न, उपस्कर आदि भी देते थे।

यद्यपि भूमि अनुदान पत्रो मे कई अधिकारियो का उल्लेख देखने को मिलता है, किंतु राजस्विक तथा आर्थिक क्रियाकलापों से सबंधित अधिकारियों की संख्या निस्सदेह उतनी नही थी जितनी मौर्य काल मे थी। गुप्त नौकरशाही उतनी विशाल और सुसंगठित नही थी जितनी मौर्य नौकरशाही थी। जिस संवर्ग से बड़े-बडे अधिकारी चुने जाते थे, वह कुमारामात्यों का संवर्ग था, जिसे मौर्यकालीन महामात्रों तथा सातवाहन युगीन अमात्यों के सवर्गों का समातर माना जा सकता है। साम्राज्य के केंद्रीय प्रदेशों मे अधिकाश अधिकारियों की नियुक्ति स्वय राजा करता था और शायद उन्हें नकद वेतन दिया जाता था। चूंकि गुप्त राजे स्वयं वैश्य थे, इसलिए उच्चाधिकारियो का चयन ऊपर के दोनों वर्णों तक ही सीमित नहीं था। लेकिन अब एक ही व्यक्ति अनेक पदो पर आसीन होने लगे और कई पद वंशानुगत हो गए। इससे स्वभावतः प्रशासन तत्र पर राजा का नियंत्रण ढीला पडा।

अभिलेखों से सुव्यवस्थित प्रातीय तथा स्थानीय प्रशासन का कुछ बोध सबसे पहले गुप्तकाल में ही होता है। साम्राज्य भुक्तियों में बटा हुआ था और प्रत्येक भुक्ति उपरिक नामक अधिकारी के अधीन होती थी। बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा मध्यप्रदेश में ऐसी कम से कम आधी दर्जन भुक्तियों की जानकारी हमें है। भुक्ति *विषयों* में विभक्त होती थी, और *विषय* का शासन *विषयपति* सभालता था। पूर्वी भारत में विषय वीथियों में तथा वीथी गावों में विभक्त होती थी। लेकिन यह पद्धति मुख्यतः उन क्षेत्रों में लागू थी जिन पर गुप्त राजाओं का प्रत्यक्ष शासन

था। अन्यत्र अन्य प्रकार की राजस्विक तथा प्रशासनिक इकाइया थीं—जैसे देश, मडल, भोग आदि। ऐसी इकाइयां खासतौर से मध्य तथा पश्चिमी भारत में थी।

गुप्तकाल में ग्राम प्रशासन में अनेक नए आयाम जुड़ गए। मौर्यकाल में गोप नामक राज्य कर्मचारी गांव की व्यवस्था की देखरेख बड़ी सजगता से करता था। अब राज्य की ओर से ऐसा कुछ नहीं किया जाता था और न गृहस्थियों का पंजीयन ही होता था। गांव के मामलो का प्रबंध महत्तरों अर्थात बडे बुजुर्गों की सहायता से ग्रामप्रधान करता था। कभी-कभी विषय के प्रशासन में भी महत्तरों का सहयोग लिया जाता था। गुप्त अभिलेखों से यह भी प्रकट होता है कि गांव या वीथी कहे जाने वाले कस्बों के प्रशासन में प्रमुख स्थानीय लोगों का भी हाथ रहता था। उनकी अनुमति के बिना जमीन का कोई सौदा नहीं किया जा सकता था और संभव है अन्य महत्वपूर्ण मामलों में भी इसी रीति का अनुगमन किया जाता रहा हो। इस प्रकार जहां मौर्यकाल में गांव की व्यवस्था ऊपर से की जाती थी, जान पड़ता है, गुप्तकाल में नीचे से की जाती थी।

उत्तर भारत के शहरी प्रशासन की वह पुरानी व्यवस्था, जिसमें अनेक नगरों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम था, समाप्त हो चुकी थी, किंतु पेशेवर लोगों के संगठित समूहों को काफी स्वायत्तता प्राप्त थी। मौर्योत्तर काल में ऐसे समूह अपने सिक्के जारी करते थे, किंतु अब अपनी सत्ता को लागू करने के लिए वे सिर्फ अपनी मुहरें जारी करते थे। वैशाली में प्राप्त मुहरों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि एक ही निगमित संस्था में कारीगर, व्यापारी और साहूकार, तीनों काम करते थे, और निगम के रूप में स्पष्ट ही वे शहर के मामलों का प्रबंध भी करते थे। किंतु कारीगरों तथा साहूकारों के अलग-अलग निगम भी थे। इनके अतिरिक्त भीटा तथा वैशाली में हमें कारीगरों, व्यापारियों आदि के और भी बहुत संघों का जिक्र देखने को मिलता है। मंदसोर के रेशम बुनकरों के संघ तथा इंदौर (बुलंदशहर) के तैलकों के संघ का उल्लेख गुप्त अभिलेखों में बार-बार हुआ है। पेशों के आधार पर बने संघ पारिवारिक संगठन से भिन्न होते थे, और जैसा कि मंदसौर के रेशम बुनकरों के संघ से अनुमान लगाया जा सकता है, उनमें काफी गतिशीलता होती थी। ये संघ अपनी रीति-परंपराओं से मार्गदर्शन ग्रहण करते थे और इनके अधिकारी उन रीति परंपराओं का पालन करते थे। राज्य इनके मामले में कोई दखल नहीं देता था। यद्यपि ऐसे संघों का उल्लेख प्राकगुप्तकालीन विधिग्रंथों में भी मिलता है, किंतु उनके कार्य तथा व्यवसाय में साझेदारी से संबंधित सबसे विस्तृत नियमों का विधान गुप्तकालीन स्मृतियों ने किया है। वास्तव में अब निगमित संस्थाएँ इतनी महत्वपूर्ण हो गई थीं कि उनकी ओर विधिवेत्ताओं का भी ध्यान बरबस आकृष्ट हुआ, और उन्होने ऐसा विधान किया कि राजा न केवल उनके कानूनों और रीति-रिवाजों का सम्मान करे, बल्कि उन पर अमल भी करवाए। यदि संघ के

सदस्य ठीक आचरण न करें तो उसके प्रबंधक स्वभावतः राज्य की दंड शक्ति का सहारा ले सकते थे। व्यापारियों के सघ किस प्रकार तरह तरह की रियायतों का उपयोग करते थे और कारीगरों पर नियन्त्रण रखते थे, इसका एक ठोस उदाहरण 592 ईस्वी मे जारी किए गए विष्णुषेन के अनुदानपत्र मे मिलता है।[19] इसलिए जान पडता है कि गुप्तकाल में सघ अपने सदस्यों के मामलों की देखरेख करने के साथ-साथ अपने-अपने शहरों की भी व्यवस्था करते थे। फलतः राज्य शहरों के प्रशासन के दायित्व से अंशतः मुक्त था, और अभिलेखों से ऐसे किसी राज्याधिकारी का जिक्र नही मिलता जिसके बारे मे कहा जा सके कि वह विशेष रूप से नगर प्रशासन के लिए नियुक्त था।

न्यायव्यवस्था मे भी निगमित संस्थाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। विधि संहिताओं मे एक के ऊपर एक ऐसे तीन न्यायालयों की व्यवस्था है। इन तीनो के बाद ही किसी मामले मे राजा के पास अपील की जा सकती थी। वे किन कानूनो के अनुसार न्याय करते थे, इसकी जानकारी हमें नही है। किंतु सामान्यतः प्रचलित न्यायप्रणाली उन ब्राह्मण विधि निर्माताओ की कृति थी जिन्होंने गुप्तकाल मे विधि ग्रंथों का एक अच्छा खासा सग्रह प्रस्तुत किया। कई दृष्टियो से न्यायप्रणाली में उल्लेखनीय प्रगति हुई। एक तो भूसपत्ति के विभाजन का चलन आरभ होने के कारण 'याज्ञवल्क्य' स्मृति' में उत्तराधिकार कानून का विस्तृत विवेचन किया गया। दूसरे, नारद तथा बृहस्पति ने दो प्रकार के कानूनो के बीच भेद की रेखा खींची। उन्होंने चौदह प्रकरणों में संपत्ति संबंधी कानूनों का विवेचन किया और चार मे हिंसामूलक विधियों का। तीसरे, नारद, बृहस्पति तथा कात्यायन की स्मृतियों में न्यायालयो के गठन, न्यायप्रक्रिया तथा साक्ष्य संबधी नियमों पर विस्तार से विचार किया गया। स्मृतिकारों का मत सामान्यतया यह है कि न्यायाधीश तथा परामर्शदाता की नियुक्ति में ब्राह्मणों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। यदि ब्राह्मणो मे ऐसे व्यक्ति न मिलें तो उनसे नीचे के दो वर्णों के लोगों को नियुक्त किया जा सकता है, किंतु शूद्रों को कदापि नही। स्मृतियों में जिन न्यायाधिकारियों या न्यायालयों का उल्लेख है, उनकी पुष्टि अभिलेखों से नही होती। दूसरी ओर जिस एकमात्र न्यायाधिकारी—विनयस्थिति स्थापक—का उल्लेख वैशाली की एक मुहर मे हुआ है, उसका कोई जिक्र इस काल की स्मृतियों में नही मिलता। गुप्तकालीन स्मृतियों में वर्णित न्यायप्रक्रिया में अभियुक्त का अपराध सिद्ध करने के लिए अनेक परीक्षाओं का विधान किया गया है। इस काल में उनकी संख्या लगभग दुगुनी हो गई है, जिसमे दैवी विधान में बढ़ते हुए विश्वास का सकेत मिलता है। स्पष्ट ही लोगों में यह विश्वास ब्राह्मणो ने उत्पन्न किया होगा। संभव है, इन कठिन परीक्षाओं के भय से अभियुक्त अपना अपराध स्वीकार कर लेता होगा, जिससे न्याय करने में सहायता मिलती होगी।

यद्यपि उत्तर बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश का शासन सीधे गुप्त राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी चलाते थे, लेकिन साम्राज्य के अधिकतर हिस्से पर परिव्राजक तथा उच्छकल्प राजाओं तथा समुद्रगुप्त द्वारा पराजित अन्य बहुत से सामंत राजाओं का शासन चलता था। इन सामत राजाओ के राज्य स्पष्ट ही साम्राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रों मे पड़ते थे, और ये लोग तीन तरह से सम्राट के प्रति अपने कर्तव्य निभाते थे।ये स्वयं सम्राट के दरबार मे उपस्थित होकर उसके प्रति अपनी श्रद्धाभक्ति प्रकट करते थे, उसे अधीनतासूचक कर देते थे, और विवाह में अपनी कन्याएं भेंट करते थे। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे इन तीनों प्रथाओं का उल्लेख है। किंतु इसके अतिरिक्त सामतगण स्पष्ट ही अपने प्रभु को सैनिक भी देते थे और बदले मे युद्ध के समय प्रभु इसकी रक्षा किया करता था। वलभी के मैत्रक, थानेश्वर के वर्धन, कन्नौज के मौखरि, मगध के परवर्ती गुप्तशासक, बगाल के चंद्र आदि गुप्तों के प्रमुख सामत थे और बाद मे जब गुप्त साम्राज्य का विघटन हुआ तब इनका उदय स्वतंत्र शक्तिशाली राज्यो के रूप मे हुआ।

गुप्त साम्राज्य की दूसरी महत्वपूर्ण सामंती प्रवृत्ति पुरोहितों तथा मंदिरों को दी गई राजस्विक और प्रशासनिक रियायतें थी। यह चलन दकन में सातवाहनों के राज्य से आरंभ हुआ और मध्य भारत में गुप्तों के सामतों के अधीनस्थ क्षेत्रों तथा वाकाटकों के राज्य में इसने व्यापक रूप धारण कर लिया, यद्यपि स्वयं गुप्त राजाओ ने बहुत कम भूमि अनुदान दिए। नई राजस्विक रियायतों में नमक तथा खानों का हस्तांतरण भी शामिल था, यद्यपि पहले इन दोनो चीजों पर राजा का एकाधिकार होता था और ये प्रभुसत्ता की स्पष्ट प्रतीक मानी जाती थीं। धार्मिक ग्रहीताओं को ग्राम अनुदान सदा के लिए दिए गए, और उन्हे उन सभी करों की उगाही का अधिकार दिया गया जो पहले दाता वसूल करता था; साथ ही वे दाता को उन करो मे से कुछ भी देने के दायित्व से मुक्त रखे गए। गुप्तकालीन भूमि अनुदानों की विशेषता यह थी कि ग्रहीताओ को अनेक प्रशासनिक विशेषाधिकार भी प्रदान किए गए। उनके क्षेत्रों में राजकीय चाटों, भटो आदि का प्रवेश वर्जित था। यही बात हमे सातवाहन अनुदानों मे भी देखने को मिलती है। लेकिन नई बात यह हुई कि अब उन्हें दशों अपराधों के लिए दोषी लोगों को दंडित करने का अधिकार भी प्रदान किया गया। दूसरे शब्दो में, मजिस्ट्रेट तथा पुलिस के अधिकार भी उन्हें दे दिए गए। इसके अतिरिक्त, अनुदानों के फलस्वरूप जो ग्रामीण जन *ग्रहीताओं के अधिकार क्षेत्र में आए उन्हें राजा ने ऐसा निर्देश दिया कि वे अपने नए* स्वामियो की आज्ञा का अनुगमन करे और उनके आदेशों का पालन करें।

पुरोहितो तथा मंदिरों को प्रत्यक्षतः धार्मिक और आध्यात्मिक प्रयोजनों से भूमि अनुदान दिए गए। केवल एक ऐसा उदाहरण मिलता है जब ब्राह्मणो को इस शर्त के साथ भूमि अनुदान दिया गया कि वे राज्य का कोई अपकार न करें और

सद्व्यवहार कायम रखें, किंतु व्यवहारतः अनुदत्त क्षेत्रों के प्रशासन का दायित्व केवल ग्रहीताओं पर होता था। वे ग्रामीण समुदायों को वर्ण धर्म के पालन की शिक्षा देते थे, उनके लिए प्रायश्चितों का विधान करते थे और अपने राजकुलोत्पन्न दाताओं को उनके समक्ष दैवी गुणों से संपन्न व्यक्तियों के रूप में प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार उन्होंने लोगों पर एक स्वस्थ प्रभाव डाला, जो समाज में स्थायित्व लाने की दृष्टि से बहुत फलप्रद सिद्ध हुआ।

यह स्पष्ट नहीं है कि गुप्तकाल में राज्याधिकारियों को वेतन स्वरूप भूमि अनुदान दिए जाते थे या नहीं। स्वर्णमुद्राओं की प्रचुरता से इस बात का संकेत मिलता है कि उच्चाधिकारियों को नकद वेतन दिया जाता था। लेकिन इस काल के स्मृतिकारों ने स्पष्ट विधान किया है कि राजस्व अधिकारियों के वेतन स्वरूप भूमि अनुदान दिए जाएं और इसी प्रकार से राज्याधिकारियों को भी पुरस्कृत किया जाए। मध्य भारत में प्राप्त अभिलेखों से प्रकट होता है कि मंदिरों को अनुदत्त भूमि की व्यवस्था का भार दिविरों और व्यापारियों को सौंपा जाता था, और कभी-कभी आदिम जनसमुदायों के सरदारों के भरण-पोषण के लिए भी भूमि अनुदान दिए जाते थे।

चूंकि साम्राज्य के बहुत-से प्रशासनिक मामलों की व्यवस्था सामंत तथा अनुदानभोगी लोग करते थे, इसलिए गुप्त राजाओं को उतने अधिकारियों की जरूरत नहीं थी जितने की मौर्यों को थी। इसके अतिरिक्त राज्य आर्थिक मामलों में कोई विशेष दखल नहीं देता था। इससे भी उतने अधिक अधिकारियों की आवश्यकता नहीं रह गई थी। फिर, जितनी बड़ी सेना मौर्यों की थी, उतनी बड़ी स्थायी सेना की भी जरूरत गुप्तों को नहीं थी। मौर्यकाल के विपरीत हम कारीगरों, व्यापारियों और महत्तरों को ग्रामीण तथा शहरी प्रशासन में हाथ बटाते देखते हैं। इससे भी विशाल प्रशासनिक कर्मचारीवृंद रखने की आवश्यकता बहुत कम हो गई। गांवों ने बहुत अधिक सत्ता प्राप्त कर ली, जिससे केंद्र के करने के लिए बहुत कम बच गया। इसलिए गुप्तों को मौर्यों जितनी बड़ी नौकरशाही की न जरूरत थी और न उन्होंने ऐसी नौकरशाही खड़ी ही की, और गुप्त राजाओं की प्रबल सैन्यशक्ति के बावजूद गुप्तकाल में जो संस्थागत तत्व विकेंद्रीकरण की दिशा में काम कर रहे थे, वे इस तरह के प्राग्गुप्तकालीन तत्वों से कहीं अधिक प्रबल थे। इस काल में कई दृष्टियों से सामंती व्यवस्था का सूत्रपात हुआ जो पूर्व मध्यकाल की राजनीति की सबसे प्रमुख विशेषता के रूप में सामने आई।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 लेकिन ऐसी ईंटें कौशाबी में भी मिली हैं
2 अ शा , I 13.
3 आर पी कागले, दि कौटिल्य अर्थशास्त्र, III, 208
4. अ शा , II, I
5. वही.
6. वही, V, 3
7 अ शा , VIII, 2
8 जोहन एलेन, 'कैटलाग ऑफ दि क्वाइस आफ एँशिएट इंडिया', पृ XXVII, 214-16
9 वही, पृ 216
10 के डी वाजपेयी, 'अथॉरिटी ऑफ मिंटिंग क्वाइस इन एँशिएट इंडिया', ज न्यु सो इ , XXV 1963, 20.
11 वही, 19
12. 5 33.
13. शा प , 88, 8 9.
14. वही मिलाइए बी.पी राय, 'पॉलिटिकल आइडियाज ऐंड इस्टीट्यूशस इन दि महाभारत' (पी-एच डी शोध प्रबध, पटना विश्वविद्यालय), पृ 487.
15 लेकिन ग्यारहवी तथा बारहवीं सदियों के गाहडवाल अभिलेखों में पुरोहित का उल्लेख मिलता है, जिसका कारण ढूढा जाना चाहिए
16. परमेश्वरीलाल गुप्त, 'बैयरिंग्स ऑफ दि न्युमिस्मेटिक्स ऑन दि हिस्ट्री ऑफ दि ट्राइबल रिपब्लिक्स इन एँशिएट इंडिया', इ हि. क्वा XXVII, 204-07.
17 वही, 207
18. वही, पा टि 51 ए
19. उपरिवत् पृ 253

21. सारांश और उपसंहार

प्रस्तुत पुस्तक में विशुद्ध रूप में राजनीतिक विचारों से संबंधित अध्यायों को अपेक्षाकृत कम स्थान दिया गया है, पर यह उनके महत्व का कोई मानदंड नहीं है। सप्तांग राज्य जैसे कुछेक विचारों में काफी संगति और क्रमबद्धता है, जिनके कारण उन्हें सिद्धांत की कोटि में रखना उचित होगा। वास्तव में, राज्य-विषयक अन्य प्राचीन धारणाओं को ध्यान मे रखते हुए सप्तांग राज्यसिद्धांत को राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय विचारकों का अद्वितीय योगदान समझना चाहिए। इसमें न केवल सिद्धांत और व्यवहार का उचित सम्मिश्रण है वरन् राज्य-विषयक आधुनिक परिभाषा के कतिपय सामान्य तत्व भी विद्यमान हैं।

जहां तक राज्योत्पत्ति-विषयक सिद्धांतों की बात है, प्राचीन भारतीय ग्रंथों मे वर्णित अनुबंध सिद्धांत पाश्चात्य दृष्टिकोण से बडा ही आकर्षक दीख पडता है। इस सिद्धांत का विकासक्रम हजार वर्षों से अधिक काल तक जारी रहा। इस दौरान यह अनेक अवस्थाओ से गुजरा और हर अवस्था के साथ अनुबंध करनेवाले दोनों पक्षों के दायित्वों का विस्तार होता गया, किंतु इसमें संदेह नही कि विशेषरूप से शासितों के ही विभिन्न कर देने के दायित्व की वृद्धि हुई। इस प्रकार प्राचीन भारतीय अनुबंध सिद्धांत की मंशा जनता की नहीं, वरन् राजा की शक्ति और अधिकारों पर जोर देना था। भारतीय राजनीतिक चिंतनधारा के अनुसार, परिवार, संपत्ति तथा वर्णव्यवस्था की रक्षा के विचार ने राज्य की उत्पत्ति में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्राकृतिक अवस्था, दंडशक्ति को जन्म देनेवाली परिस्थितियों, राज्यविहीन समाज में विद्यमान स्थिति, राजा के मुख्य कर्तव्यों से संबंधित अवधारणा आदि के जो आनुश्रुतिक वृत्तांत मिलते हैं, वे सब इसी निष्कर्ष पर ले जाते हैं।

'ऋग्वेद' मे राज्य के बारे में सैद्धांतिक विवेचन नही है। उत्तर वैदिक ग्रंथो में कुछ क्षत्रिय राजाओं ने आत्मा-परमात्मा के संबंधों के स्वरूप पर चिंतन प्रस्तुत किया है। लेकिन उन्होंने राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में कोई योगदान नही दिया। वैदिककाल, खासकर इसका पूर्व भाग, मुख्यतः ऐसी सामुदायिक संस्थाओं का काल था जिन्हें आधुनिक अर्थ मे राजनीतिक नही माना जा सकता। गण, विदथ, सभा, समिति और परिषद जैसी संस्थाओ का स्वरूप मुख्यतः जनजातीय था। इनमें से

विदथ भारतीय आर्यों के बीच सर्वाधिक पुरानी संस्था प्रतीत होता है, जिसमें प्राक्-ऋग्वैदिक काल की स्मृतियां भी शेष दिखाई देती हैं। इसमे महिलाओं की उपस्थिति इस प्रचलित विचारधारा को खंडित करती है कि आर्यों का समाज शुरू मे ही पितृतंत्रात्मक था। किंतु परिषद मे महिलाओं की सदस्यता शायद आर्य पूर्व विशेषता थी। वैदिक गणो में यह बात स्पष्ट दिखाई नहीं देती, हालांकि महाकाव्यो और पुराणो के कतिपय उल्लेखों से ऐसा संकेत मिलता है कि इस संस्था से महिलाएं संबद्ध थीं। गण उतनी पुरानी संस्था नही था जितना कि विदथ, लेकिन विदथ की ही तरह गण में भी युद्ध में लूटी गई वस्तुओं और अन्य प्रकार की संपत्ति पर संपूर्ण समुदाय का हक माना जाता था और गण के सदस्य ऐसी संपत्ति आपस में बांट लेते थे। गण का महत्व इस बात में निहित है कि इसने बुद्धकाल में यत्रतत्र राजतांत्रिक शासन व्यवस्था को समाप्त करके अपना वर्चस्व स्थापित करनेवाले अल्पतांत्रिक राज्यों के समक्ष गणतांत्रिक शासनपद्धति का आदर्श प्रस्तुत किया। इन वैदिक सभाओं के अन्य कार्यों में से, जिनसे कि उनका आदिम सामुदायिक स्वरूप प्रकट होता है, शुद्ध राजनीतिक कार्यों को अलग करना अत्यंत कठिन है। सभा और समिति में राजनीतिक कार्यों का अधिक निखार है, हालाकि इन संस्थाओं को किसी काल और क्षेत्रविशेष से जोडना कठिन है। वैदिक सभाएं मुख्यतः स्थानीय संस्थाएं थीं, जिनमें स्थानीय समस्याओ का निबटारा होता था। इन्हे सभी वैदिक लोगो को अपने में समाविष्ट कर लेनेवाली किसी राष्ट्रीय सभा के रूप में देखना दूर की कौडी जोडने जैसा होगा।

पूर्व वैदिक सभाओं से अत्यत प्रारंभिक और अपरिष्कृत प्रशासनिक संगठन का संकेत मिलता है। लेकिन उत्तर वैदिककाल के रत्नहवींषि संस्कार से काफी विकसित प्रशासनिक तंत्र का आभास होता है। इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता करों का संग्रह करनेवाले अधिकारी की नियुक्ति है। उस समय की जनजातीय अवस्था में ये कर शायद स्वैच्छिक रहे होंगे। ब्राह्मण और राजा का महत्व बढ़ने से जनजातीय व्यवस्था को और भी आघात पहुंचा। इन्हे रत्नियों की सूची मे उच्चतर स्थान दिया गया है। किंतु चूंकि रत्नियों के समूह का स्वरूप मुख्यतः सैनिक था और वह प्रारंभिक भारोपीय समुदायो में प्रचलित बारह सदस्यीय परिषद् से मेल खाता था, इसलिए माना जाएगा कि उसमें आदिम समाज की कुछ विशेषताएं कायम रहीं। गोहरण, अक्षक्रीडा, रथदौड आदि कर्मकांड उत्तर वैदिक *राज्यव्यवस्था मे उपस्थित जनजातीय विशेषताओं को प्रतिबिंबित करते हैं।* विभिन्न अभिषेक समारोह मूलतः या तो जनजाति के सरदार पद के प्रत्याशी व्यक्ति की योग्यता को परखने के अलग-अलग तरीके थे या याजक के जीवन की एक नवीन अवस्था का संकेत देनेवाले दीक्षा संस्कार थे। लेकिन अब इनका रूप ही रूप रह गया था और सारे तत्व चुक गए थे। व्यवहारतः उत्तर वैदिक-

राज्यव्यवस्था ने काफी हद तक प्रादेशिक और वर्गप्रधान रूप ले लिया था।

वैदिकोत्तर काल में छठी सदी ई. पू. के आसपास से जनजातीय तत्वों पर वर्ण या सामाजिक वर्गव्यवस्था हावी होने लगी और यह कानून तथा राजनीति के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप मे सामने आई। राजा, मन्त्री या उच्चाधिकारी, परिषद्, पौर, जानपद, सेना आदि राज्य के विभिन्न अग स्पष्ट ही वर्ण-भावना से प्रभावित होने लगे। धर्मशास्त्र विधियो के उद्भव तथा विकास को भी वर्णव्यवस्था ने काफी प्रभावित किया और दीवानी तथा फौजदारी कानूनों में वर्णभेद का पूरा खयाल रखा गया. दोनो उच्चतर वर्णों के बीच सहयोग तथा एकता की आवश्यकता पर जोर दिया गया, यद्यपि वास्तविक राजनीति में कभी क्षत्रियों की प्रमुखता रही तो कभी ब्राह्मणो की प्रधानता। सामाजिक वर्ग के रूप मे वैश्यों या शूद्रों को राजनीति में कभी भी प्रमुख स्थान प्राप्त नही हुआ।

प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था के इतिहास की प्रमुख अवस्थाओ को पहचाना जा सकता है। पहली अवस्था जनजातीय सैनिक प्रजातंत्र की अवस्था थी, जिसमें जनजातीय सभाएं मुख्यतः युद्धकर्म मे व्यस्त रहती थी। इन सभाओ में महिलाओं का भी स्थान था। 'ऋग्वेद' का काल प्रधानतः सभाओं का काल था। दूसरी अवस्था वर्ण नामक समाजव्यवस्था के उदय के फलस्वरूप जनजातीय राज्यव्यवस्था के विघटन का काल है। इसमें किसी समय की यायावर जनजातियों ने निश्चित भूभाग में रहना शुरू किया, जिससे राजतत्र, कर प्रणाली और अधिकारितत्र विकसित हुए। तीसरी अवस्था मे कोसल और मगध के विशाल प्रादेशिक राजतत्रों तथा पश्चिमोत्तर भारत और हिमालय की तलहटी में जनजातीय अल्पतत्रों का उदय हुआ। इस काल मे हमें पहली बार विशाल स्थायी सेना और भूराजस्व की वसूली करनेवाला सुसंगठित तत्र दृष्टिगोचर होता है। लेकिन अभी राजा तथा प्रजा के बीच आनेवाला मध्यवर्ती भूस्वामिवर्ग बहुत छोटा था और उसे प्रशासनिक छूट भी नही मिली थी। चौथी अवस्था मौर्य काल में आती है। यह राज्य के बढ़ते हुए आर्थिक क्रियाकलापों पर आधारित केंद्रीकृत शासन का युग था, और इस केंद्रीकरण को सभव बनाया था एक विशाल और चुस्त नौकरशाही ने। राजा को प्राय. सर्वसत्तासंपन्न मानने के सिद्धांत के आधार पर जीवन के सभी क्षेत्रो पर राज्य के नियंत्रण का औचित्य ठहराया गया। इस काल में बडी चतुराई से धर्म का उपयोग राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया गया। कौटिल्य ब्राह्मण समाजव्यवस्था का समर्थन करते हैं और उस व्यवस्था से अलग खडे होनेवाले सप्रदायों का विरोध करते हैं। इसलिए उनके द्वारा अनुशंसित राजनीति को धर्मनिरपेक्ष नही कहा जा सकता। लेकिन जहां कही विजयेच्छु राजा से ब्राह्मणवादी विचारों का विरोध होता है, वहा उनकी अवहेलना करने में कौटिल्य कोई सकोच नही करते। हम कौटिल्य को बडे साहस के साथ विचारपूर्वक

प्रजा के अंधविश्वासों का उपयोग उसे राज्य के प्रति निष्ठावान बनाने के लिए करते देखते हैं । लेकिन राजा को वास्तव मे दैवी रूप देने का कोई प्रयत्न उनके ग्रंथ में दिखाई नहीं देता ।

पांचवीं अवस्था की विशेषता विकेंद्रित प्रशासन की स्थापना की क्रमिक प्रक्रिया है । इस काल में दकन तथा उत्तर भारत में भी नगरों, सामंतों तथा सैनिक तत्वो का जोर खूब बढ़ा । विकेद्रीकरण की यह प्रवृत्ति राजा के देवत्व पर जोर दिए जाने से किसी हद तक प्रतिसंतुलित हुई । कुषाण राजाओं ने विधिवत देवपुत्र की उपाधि धारण की और मृत राजा की पूजा का चलन प्रारभ किया । सातवाहन राजाओं की तुलना महाकाव्यों मे वर्णित उन वीर चरितों से की गई जो देवताओं के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुके थे । अंतिम अवस्था, अर्थात गुप्त शासनकाल को आद्य सामती राज्यव्यवस्था कहा जा सकता है । अब भूमि-अनुदान राजनीतिक ढाचे की रचना मे एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे । गुप्तों के सामंतों द्वारा दिए गए भूमि-अनुदानों मे पुरोहित वर्ग के अनुदानभोगियों को राजस्विक तथा प्रशासनिक अधिकार भी प्रदान किए गए । गैर सैनिक अधिकारियों को राज्य की सेवा के प्रतिदान-स्वरूप भूमि-अनुदान दिए जाते थे या नही, यह कहना कठिन है । यूरोप के राजनीतिक सामंतवाद की मुख्य विशेषता सैनिक सेवा के एवज मे भूमि-अनुदान देना था, लेकिन भारत में गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तरकाल में ऐसे अनुदान का कोई उदाहरण नही मिलता । इसके विपरीत, ईस्वी सन की पहली सदी से प्रशासन के विकेद्रीकरण को जिस चीज ने बढ़ावा दिया वह थी जाति एवं पेशों पर आधारित शिल्पियो एवं व्यापारियो के सघो तथा गांवों के प्रधानों और महत्तरों की शक्ति मे अच्छी खासी वृद्धि ।

प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट हो गया होगा कि प्राचीन भारत में राज्यव्यवस्था तथा राजनीतिक विचारों को जो भी स्वरूप मिला, वह किसी एक तत्व के कारण नही । वैदिककाल मे जनजातीय व्यवस्था एक महत्वपूर्ण तत्व जान पडती है, लेकिन वैद्रिकोत्तर काल मे मुख्य प्रेरणा सामाजिक वर्गों तथा क्षेत्रीय राज्यों की रही । मौर्यों ने जिस प्रशासनतंत्र की रचना की वह राज्य की आर्थिक प्रवृत्तियो एवं गतिविधियों तथा विशाल साम्राज्य की आवश्यकताओं से उद्‌भूत हुआ था । यदि राज्य-व्यवस्था पर व्यापार का प्रभाव मौर्योत्तर काल मे पडा तो भूमि अनुदानों ने गुप्तकालीन राज्यसंगठन को प्रभावित किया । मौर्योत्तर राज्यव्यवस्था में कुछ विदेशी तत्व भी प्रकट हुए, लेकिन कुल मिलाकर विकासक्रम का रूप विशुद्ध भारतीय था । धर्म का प्रभाव तो पूरे अध्ययन काल मे दिखाई देता है, लेकिन धार्मिक ग्रंथों से भी जिन विचारों और संस्थाओ की जानकारी मिलती है, वे बदलती हुई सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि को प्रतिबिंबित करते हैं ।

परिशिष्ट : 1

प्राच्य निरंकुशवाद का सामाजिक-आर्थिक आधार

यूरोप की विचारधारा मे प्राच्य निरंकुशवाद सबधी सिद्धात का आभास यूनानी चितक प्लेटो और अरस्तु के लेखन मे मिलता है। किंतु इस विचार को उन वाणिज्यिक और प्रथम पीढ़ी के औद्योगिक देशो ने लोकप्रिय बनाया जिन्होने भारत और एशिया के अन्य देशो में अपने उपनिवेश कायम कर लिए थे। एडम स्मिथ, मान्टेस्क्यू, रिचर्ड जोन्स और हेगेल आदि अन्य लेखको ने इस विचार का प्रतिपादन किया। उन्होंने प्राच्य निरंकुशवाद के सिद्धात का प्रतिपादन करने के साथ-साथ पूर्वी विश्व की अपरिवर्तनशीलता की चर्चा की। मान्टेस्क्यू की धारणा के अनुसार पूर्वी देशो के विधि-विधान, रीति-रिवाज और आचार-विचार अपरिवर्तनीय थे।[1] हेगेल के विचार मे हिंदू जाति सदा से अपरिवर्तनशील[2] और अधविश्वास से ग्रस्त थी, तथा भारत और चीन, दोनो ही देश, गतिशून्य थे। प्राच्य निरंकुशवाद के साथ-साथ पूर्वी विश्व की गतिहीनता सबधी विचार ने उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध और बीसवी सदी के पूर्वार्ध में न केवल पश्चिमी प्राच्यविदो को प्रभावित किया वरन् कार्ल मार्क्स और एगेल्स जैसे वैज्ञानिक चितको पर भी असर डाला। पहले मार्क्स और एगेल्स ने अपने फुटकर लेखो मे प्राच्य निरंकुशवाद के विभिन्न पक्षो की चर्चा की और फिर उन्हे एशियाई उत्पादन प्रणाली से सबद्ध कर प्राच्य निरंकुशवाद की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। यह सोचना गलत होगा कि दोनो विचारको ने एशियाई उत्पादन प्रणाली के सबध मे कोई सुविचारित मत प्रस्तुत किया क्योकि वे एशियाई उत्पादन-प्रणाली के विभिन्न पक्षों के विषय मे उनके विचार बदलते रहे। उनके अनुसार सिचाई, भूमि मे निजी स्वामित्व का अभाव, गावो की आत्मनिर्भरता और नगरो के अभाव आदि एशियाई उत्पादन प्रणाली के अंग थे। पर प्रत्येक अग और अगों के सापेक्ष महत्त्व के बारे में उनके विचार बदलते रहे। प्राच्य निरकुशवाद इन अगों पर आधारित माना जाता था। इसलिए इस समस्या के अध्ययन मे इन अगो के अलग-अलग विश्लेषण की आवश्यकता

है, और फिर देखना है कि प्राचीन भारत मे उनकी प्रासंगिकता किस अश तक है।

ऐसे प्राचीन भारत के राजतंत्र पर शोध करनेवाले भारतीय विद्वानो ने साक्ष्यों के आधार पर प्रमाणित किया है कि प्राचीन काल में राजत्व पद पर प्रतिबंध थे और राजा सामान्यतः मनमानी नही कर सकता था। पश्चिमी प्राच्यविदों ने प्राचीन भारतीय राजा के निरकुश होने का जो सिद्धात चलाया था, उसका खंडन काशीप्रसाद जायसवाल और उपेद्रनाथ घोषाल सरीखे विद्वानो ने अपनी पुस्तकों मे किया। पर प्राच्य निरकुशवाद एशियाई उत्पादन प्रणाली पर आधारित है, इस सिद्धात की परीक्षा उन्होने नही की है।

अठारहवी सदी मे मान्टेस्क्यू ने प्राच्य निरंकुशवाद की भौगोलिक और परिवेशीय व्याख्या प्रस्तुत की। मान्टेस्क्यू के शब्दो में : 'एशिया में सदा ही बड़े साम्राज्य रहे हैं, यूरोप में ऐसे साम्राज्य कभी स्थायी नही हो सकते थे। एशिया में अपेक्षाकृत बडे मैदान हैं, पर्वतों और सागरो ने उसे बडे-बड़े भू खडो में विभाजित किया है· अतः एशिया में सत्ता सदा ही निरकुश रहेगी; क्योंकि यदि उनको कठोर दासता मे नही रखा गया तो वे ऐसा विभाजन करेंगे जो देश के स्वरूप से असगत होगा।'[5] निरकुशवाद का यह भौगोलिक आधार भारत पर लागू नही हो सकता। मिस्र की भाति भारत का भूखंड केवल एक नदी की देन नहीं है। उद्योगीकरण से पूर्व भारत में भौगोलिक दृष्टि से अनेक जीवनक्षम इकाइया निर्मित हो सकती थीं। भारत का इतिहास ऐसी प्रक्रिया का साक्षी है। यदि अनेक इकाइयां हों तो वे एक-दूसरे को नियत्रण में रख सकती हैं। मान्टेस्क्यू ने अपने प्राच्य निरकुशवाद के सिद्धांत के समर्थन मे भारत के विधि-विधानों, रीति-रिवाजो और धर्म के अपरिवर्तनीय स्वरूप पर बल दिया है। उसका कहना है कि भारतीय लोग सहज ही सभी प्रकार के विचारो को ग्रहण कर लेते हैं,[6] और एक बार कोई विचार ग्रहण करने पर उसका परित्याग करना सरल नहीं होता। विधि-विधानो, व्यवहार और रीति-रिवाजों मे किसी प्रकार का परिवर्तन न होने का कारण यही है कि भारतीय शारीरिक और बौद्धिक दृष्टि से आलसी हैं और स्वभाव से निष्क्रिय हैं।[7] यह भी कहा गया है कि निष्क्रियता का कारण जलवायु की अत्यधिक उष्णता है जो शरीर की समस्त शक्ति और स्फूर्ति का विनाश कर देती है।[8] भारतीयों की निष्क्रियता और दब्बूपन की मान्टेस्क्यू द्वारा की गई परिवेशीय व्याख्या की और अधिक चर्चा करना निरर्थक होगा।

तथापि, एक अन्य व्याख्या अधिक ध्यान देने योग्य है जो परिवेशीय होने के साथ-साथ समाजशास्त्रीय भी है। कभी-कभी शुष्क क्षेत्रों में सिंचाई की आवश्यकता को ही प्राच्य निरंकुशवाद का मुख्य कारण माना जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि सिंचाई की सुविधाओ को विकसित करना व्यक्तिगत रूप से परिवारों अथवा स्थानीय प्राधिकरणों के वश की बात नहीं है: यह काम केवल

शक्तिशाली केंद्रीय सत्ता ही कर सकती है।[9] इस तर्क को द्रविक निरंकुशवाद (hydraulic despotism) के सिद्धात मे विकसित किया गया है। सिचाई व्यवस्था के रखरखाव के लिए अनेक अधिकारियों की आवश्यकता होती है। फलत, अफसरशाही एशियाई उत्पादन प्रणाली अथवा प्राच्य निरंकुशवाद का महत्त्वपूर्ण अग मानी जाती है। मध्यकालीन भारत पर सिचाई संबंधी सिद्धांत लागू किए जाने का विरोध करना उपयुक्त ही है।[10] जिन भूविज्ञानियों और पुरातत्ववेत्ताओं ने गैर-भारतीय परिवेश में इस विषय का अध्ययन किया है उन्होने सैद्धातिक रूप से भी यह स्वीकार नही किया है कि केंद्रीयकरण और निरकुशवाद का एकमात्र कारण सिचाई की आवश्यकता है।[11] इसी को देखते हुए इस सिद्धात का कुछ ही समय पूर्व तक समर्थन करनेवाले कुछ चितकों ने अपने मत को परिवर्तित कर सिचाई को केंद्रीयकरण का एकमात्र कारण न मानकर अनेक कारणो मे से एक माना है।[12]

भारतीय उप-महाद्वीप का केवल उत्तर-पश्चिमी भाग ही शुष्क है, जबकि अधिकाश भाग मे पर्याप्त वर्षा होती है। इस भाग मे प्राचीन काल में वर्षा और भी अधिक होती रही होगी क्योंकि उस समय वन कटाई का काम इतने बडे पैमाने पर नही होता था। यद्यपि सिंचाई की आवश्यकता तब भी पडती थी, किंतु उसका प्रबंध सामुदायिक, प्रातीय तथा केंद्रीय स्तर पर हो सकता था जैसा कि मौर्यकालीन शासन मे पाया जाता है। ऐसा कोई प्रमाण नही है कि सिचाई की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अफसरशाही का आकार विस्तृत हुआ हो। कौटिल्य ने लगभग 30 विभागाध्यक्षो और अठारह उच्च अधिकारियों का उल्लेख किया है जो विभिन्न आर्थिक और प्रशासनिक गतिविधियो की देखभाल करते थे। किंतु सिचाई की व्यवस्था के लिए किसी अधिकारी के रखे जाने का उल्लेख नही है; ऐसे अर्थशास्त्र सिंचाई सबधी करो और नियमों का उल्लेख है। मौर्य शासनकाल, गुप्त शासनकाल और रुद्रदामन् के शासनकाल मे राज्यपालों ने काठियावाड में सुदर्शन जलाशय के तटबध की मरम्मत का काम करवाया। इस तथ्य से यही प्रकट होता है कि सिचाई व्यवस्था की जिम्मेवारी प्रातीय शासन पर थी। परिवारो द्वारा और सामुदायिक प्रयत्नो द्वारा सिंचाई व्यवस्था का निर्माण कार्य किए जाने के भी उदाहरण कम नही हैं।[13]

रिचर्ड जोन्स (1830-31) ने यह मत व्यक्त किया कि प्राचीन काल से ही नरेश को भूमि के स्वामित्व का अधिकार प्राप्त था[14] और उसके अधीनस्थ किसानों (रैयत) के सभी अधिकार या तो लगातार युद्धों के कारण घटते रहते थे या नरेश के नियत्रण मे होते थे जो कि सबसे शक्तिशाली व्यक्ति होता था।[15] जोन्स ने यह तर्क कोलब्रुक की डाइजेस्ट ऑफ हिंदू लॉ नामक रचना के आधार पर प्रस्तुत किया जिसमें नरेश के भूमि स्वामित्व के अधिकार को युद्ध में विजय के आधार पर

प्रतिपादित किया गया था। नरेश भूमि का एकमात्र स्वामी होता था। अतः सभी को अपनी जीविका के लिए नरेश पर निर्भर रहना पड़ता था। यही कारण था कि एशियाई निरंकुशवादी व्यवस्था, जिसमें कोई मध्यम तथा स्वतत्र वर्ग नहीं था, स्थायी हो सकी।[16] कार्ल मार्क्स ने भी इसी सूत्र को पकड़ा। आरंभ में उसने बर्नियर के इस मत को स्वीकार किया कि भारत में समस्त भूमि का स्वामी नरेश होता था। मार्क्स के अनुसार एशियाई व्यवस्था को समझने के लिए यह जानना आवश्यक था कि वहां भूमि का निजी स्वामित्व नहीं था।[17] बाद में उसने भूमि के सामुदायिक स्वामित्व की बात कही और संभवतः अंत में इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि भूमि के स्वामित्व का प्रश्न इतना सरल नहीं था। यह पूर्णतः स्पष्ट किया जा चुका है कि मार्क्स ने भारत में भूमि की तीन प्रकार की पट्टेदारी होना स्वीकार किया : (1) सामुदायिक स्वामित्व, जो कि पट्टेदारी का 'मूल स्वरूप' था और भारत के कुछ गावों मे जीवित रह गया था; (2) 'कृष्णा से दक्षिण के क्षेत्र में,' जो ब्रिटिश शासन के अधीन नही आया था, भूमि का निजी स्वामित्व; और (3) अवध जैसे क्षेत्र में भूमि का सामती सपत्ति के रूप में स्वामित्व जो केंद्रीय शासन की दुर्बलता के कारण सामंती जमीदारी के रूप मे विकसित हो गया था।[18] इनमे से प्रथम दो प्रकार का स्वामित्व प्राचीन भारत मे प्रचलित था जिसका कुछ प्रमाण ग्रथो और अभिलेखो आदि में मिलता है।[19] साथ-ही-साथ इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि आदि मध्यकाल मे भूमि पर नरेश का स्वामित्व होता था अथवा वह किसी न किसी रूप में सामंती सपत्ति होती थी।[20]

प्राचीन काल में भी नरेश ही भूमि का स्वामी होता था, यह सिद्ध करना असभव लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर आधारित सर्वशक्तिमान राजा का स्वामित्व केवल बंजर और बेकार भूमि पर ही लागू किया जाता था। ऐसी भूमि को आबाद करने के लिए बस्तियां बसाई जाती थी और किसान को कृषि योग्य भूमि जीवनपर्यंत आबंटित की जाती थी। ईसा की दूसरी शताब्दी में महाराष्ट्र में, और गुप्तकाल के बाद देश के बड़े भाग मे, इस स्थिति में परिवर्तन होने लगा। नरेश को उस कृषि योग्य भूमि का अनुदान देने का अधिकार होता था जो उसके व्यक्तिगत स्वामित्व मे होती थी। दूसरी शताब्दी में सातवाहन द्वारा दिए गए एक दानपत्र मे 'राजकम् खेतम्' (नरेश के कब्जे की कृषि योग्य भूमि') शब्द का प्रयोग हुआ है।[21] अंततः, अनुदान देने का यह अधिकार उस भूमि पर भी कायम हो गया जो किसान के पास होती थी तथा जिस पर उससे राजस्व लिया जाता था। इस प्रकार तीनों प्रकार की भूमि पर राजा को स्वामित्व का सर्वोपरि अधिकार हो गया : बंजर और बेकार भूमि, राजा की व्यक्तिगत सपत्ति के रूप मे विद्यमान भूमि और ऐसी भूमि जिस पर किसान द्वारा राजस्व अदा किया जाता था (इनमें अंतिम दो प्रकार की भूमि कृषि योग्य होती थी)।

भूमि पर राजकीय स्वामित्व स्थापित होने की प्रक्रिया का प्रथम महत्वपूर्ण सकेत मनुस्मृति में मिलता है। मनु ने राजा को 'महिपति' अर्थात धरती का स्वामी कहा है।[22] कात्यायन ने नरेश के लिए 'भूस्वामी', अर्थात् पृथ्वी का स्वामी, शब्द का प्रयोग किया है।[23] संस्कृति और जैन साहित्य में प्रचलित 'नरेश' के पर्यायवाची शब्द उल्लेखनीय हैं। 'क्षितीन्द्र', 'क्षितीश', 'क्षितिपति', 'उर्वीपति', पृथ्वीपति', 'वसुधेश्वर', 'महिभुक्', 'महीपति' आदि शब्द इस तथ्य का बोध कराते हैं कि राजा मानवों का स्वामी और रक्षक होने से कही अधिक उनकी भूमि का स्वामी था। आदि मध्यकाल के धर्मशास्त्रो में इस प्रथा का आमतौर पर उल्लेख मिलता है। इन ग्रंथों में भूमि पर राजा के स्वामित्व को महत्त्व दिया गया है। आदि मध्यकाल की साहित्यिक रचनाओं मे भूमि की उपमा राजा की पत्नी से दी गई है जिसका वह अपनी इच्छानुसार उपभोग कर सकता था। इस काल में राजा को उचित अथवा अनुचित प्रकार के कर वसूल करने का दावा करता है उसका आधार प्रभुसत्ता, और राजा द्वारा जनसेवा तथा संरक्षण करने के सिद्धात पर उतना नही है जितना भूस्वामित्व और उपभोग के सिद्धात पर है।

आदि मध्यकाल में कृषि योग्य और राजस्व अर्जित करनेवाली भूमि पर राजा के स्वत्व की इस तथ्य से भी पुष्टि होती है कि राजा 'भोग', 'भोग-कर' अथवा 'राजकीय भोग' का अधिकारी होता था।[24] आरभ में 'भोग' के रूप में किसान राजा को ईंधन, फल-फूल इत्यादि वस्तुए भेंट करते थे; बाद में, 'भोग' में क्रमशः आठ अथवा ग्यारह प्रकार की वस्तुए सम्मिलित कर ली गईं जिनके कारण राजा सभी प्रकार की ग्रामीण सपदा का उपभोग कर सकता था।[25] यह उल्लेखनीय है कि कौटिल्य ने ग्रामीण क्षेत्रों से वसूल किए जानेवाले करों की सूची में भोग को शामिल नहीं किया है जबकि भूमि के अनुदान के सबध में सीता अर्थात् स्वय राजा के अधिकारियो द्वारा जोती जानेवाली भूमि से होनेवाली आय का उल्लेख किया है। अतः यह बहुत सभव है कि गुप्त और गुप्तोत्तर काल में राजा किसानों से इस आधार पर भोग की माग करता था कि भूमि, उसके सर्वोपरि स्वत्व (भोग, मुक्ति) की वस्तु थी।

आदि मध्यकाल मे भूमि पर राजा के स्वामित्व के अधिकार के साथ-साथ भूमि के सामती स्वामित्व की व्यवस्था भी विकसित हुई। राजा ने जिन बिचौलियों को जमीदार बनाया उनके कारण उसका निजी अधिकार सीमित हो गया। आरंभ के भूमि अनुदान शासनो के द्वारा राजा केवल अपने राजस्व सबधी अधिकारों का दानभोगियों के लिए परित्याग करता था। किंतु बाद के अनुदानपत्रों द्वारा समस्त ग्रामीण संपदा का उपभोग करने के राजकीय अधिकार ब्राह्मणों और अन्य अनुदानभोगियों को दिए जाने लगे। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि अनुदानभोगियों को ऐसा अधिकार दिया गया जिससे वे किसानों को भूमि से

बेदखल कर सकते थे और दूसरों द्वारा जोती और उपभोग की जा रही भूमि को अपने कब्जे में ला सकते थे। यह स्वाभाविक था कि राजा द्वारा दी गई ऐसी सनदों से, जिन्हें 'शासन' कहा जाता था, किसानों और अनुदानभोगियों के बीच भूमि-विवाद होने लगे; ऐसी स्थिति में राजा सनदों को ही मान्यता देता था। मध्यकालीन धर्मशास्त्रों में यह प्रावधान था कि यदि किसी वाद का विचारण करते समय धर्म, व्यवहार, चरित (परंपरा) और शासन के बीच विरोध दृष्टिगत हो तो 'शासन' को सर्वोपरि मान्यता दी जाए।[26] संभवतः यह नियम उन विवादों को निबटाने के लिए बना था जिनका संबंध अनुदानभोगियों की भूमि पर किसानों के पुश्तैनी दावों से पैदा होते थे। इन विवादों में राजशासन की निर्णायक भूमिका होती थी; भूमि पर और प्रकार के दावों का उतना ख्याल नहीं किया जाता था। धार्मिक अथवा अन्य अनुदानभोगी राजा से मिली अनुदान भूमि पर अपने विशिष्ट अधिकार स्थापित कर लेते थे; ये अधिकार नरेश और किसानों के अधिकारों से भिन्न होते थे। आदि मध्यकाल में राजा सबसे बड़ा भूस्वामी हो गया पर इससे राजतंत्र निरंकुशवादी नहीं बन पाया। अनुदान के द्वारा उसने जिन छोटे भूस्वामियों को खड़ा किया और राजस्व उगाहने के लिए जिन अधिकारियों को नियुक्त किया वे सब धीरे-धीरे वंशानुगत भूस्वामी बन गए और इस प्रकार राजा की शक्ति को उन्होंने सीमित कर दिया। संभव है कि किसानों और भूस्वामियों के बीच होनेवाले विवाद में राजा कारगर ढंग से हस्तक्षेप करता हो परंतु इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। साथ ही साथ गांवों में सामुदायिक अधिकार का जो अवशेष रह गया था उससे भी राजा की शक्ति सीमित होती थी। भूमि पर इन विभिन्न प्रकार के अधिकारों के कारण सरकार की स्थिरता कायम रखने की समस्या पैदा हो सकती थी। यह मत व्यक्त किया गया है कि राजा की प्रभुसत्ता और भूमि के स्वामित्व के संयोजन से प्राच्य निरंकुशवाद की उत्पत्ति हुई। तथापि, प्राचीन अथवा मध्यकालीन भारत का कोई ऐसा दृष्टांत उपलब्ध नहीं है जिससे इस मत की पुष्टि हो सके। राजा को भूमि में स्वत्व अवश्य था पर उस स्वत्व का सामना कभी सामंती स्वत्व और कभी किसानों के स्वत्व से होता था।

प्राच्य निरंकुशवाद का एक अन्य कारण और महत्वपूर्ण लक्षण ग्रामों की आत्मनिर्भरता बतलाई जाती है। कहा जाता है कि इसके कारण भारतीय समाज निरंकुश शासक के आधिपत्य में अपरिवर्तित रहा। यह विचार सर्वप्रथम प्रसिद्ध दार्शनिक हेगेल ने प्रस्तुत किया था। उसने ग्रामों में विद्यमान ऐसी स्थिर और अपरिवर्तनीय व्यवस्था का उल्लेख किया है, जो किसी की इच्छा के अधीन नहीं थी। फलतः, सामान्य हिंदू के लिए किसी भी प्रकार का राजनीतिक संकल्प अर्थहीन था 'क्योंकि उसकी दशा अपरिवर्तित रहती थी।' उक्त व्यवस्था का वर्णन हेगेल के निम्नलिखित शब्दों में किया जा सकता है :

'जैसा पहले बताया गया है, ग्राम की समस्त आय को दो भागों में विभाजित किया जाता है, जिसमें से एक भाग राजा का होता है और दूसरा किसानों का होता है; किंतु उसका आनुपातिक अंश स्थानीय दंडाधिकारी, न्यायाधीश, जल सर्वेक्षक, धार्मिक अनुष्ठान करानेवाले ब्राह्मण, ज्योतिषी (जो ब्राह्मण ही होता है और शुभ और अशुभ दिनों के संबंध में घोषणा करता है), बढ़ई, कुम्हार, धोबी, नाई, नर्तकी, संगीतकार और भाट (कवि) को भी वितरित किया जाता है।'[27]

जैसा कि सर्वविदित है, कार्ल मार्क्स ने हेगेल की इस उक्ति को अपना आधार बनाया। साथ ही उसने उन्नीसवी सदी में कुछ ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा दी गई रिपोर्टों पर इसी प्रकार का भरोसा किया। इन तथ्यों के आधार पर मार्क्स ने ग्रामों की आत्मनिर्भरता और स्वशासन का सिद्धांत विकसित किया। ग्रामों की आत्मनिर्भरता और स्वशासन, दस्तकारी और कृषि के उपयुक्त मिश्रण पर आधारित था जिसके कारण ग्रामों को बाहरी दुनिया की आर्थिक सहायता पर निर्भर रहने से मुक्ति मिली हुई थी। दस्तकारो को गावों के बाहर कोई 'मंडी' उपलब्ध नही थी। इस प्रकार प्रत्येक गांव अपने आप में सूक्ष्म विश्व बन गया, गांवों का जीवन गतिहीन तथा स्थावर हो गया। गांवों में परस्पर सयोजन की क्षमता नहीं थी जिसके फलस्वरूप प्राच्य निरकुशता का राज्य उन पर निर्विघ्न कायम रहता था।[28] अभी हाल ही में, मानव विज्ञानियों ने इसी सिद्धात को परिष्कृत कर 'जजमानी' अथवा 'यजमानी' व्यवस्था का सिद्धात विकसित किया है। किंतु यह कहना गलत होगा कि भारतीय समाज का ढाचा प्राचीन काल से ही इस व्यवस्था पर आधारित है। केवल मौर्यकाल में ही विस्तृत अफसरशाही तंत्र से युक्त प्राच्य निरकुशवादी व्यवस्था की सभावना दिखलाई पड़ती है, पर इसका प्रचलन गगा के मैदानी इलाको तक ही सीमित होगा। और फिर यह व्यवस्था केवल आत्मनिर्भर ग्रामों में रहनेवाले किसानों से वसूल किए गए करों पर आधारित नही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य में पर्याप्त कृषि तथा अन्य उत्पादन दासों और वेतनभोगी मजदूरों द्वारा किया जाता था। यद्यपि गावों से और राजकीय कृषि क्षेत्रो (सीता) से उत्पादन का काफी भाग इकट्ठा किया जाता था किंतु नगरीय बस्तियों (दुर्ग) से भी जिनमें शिल्पकार और व्यापारी रहते थे अच्छी आय होती थी। वस्तुतः, गावों की अपेक्षा नगरों से कही अधिक प्रकार के कर वसूल किए जाने का उल्लेख है। खनन (खनि)[29] गतिविधियों से भी आय प्राप्त होती थी। कौटिल्य के नीति विधान में शिल्पकारो की अवाछनीय गतिविधियों (कासक रक्षणय)[30] और व्यापारियों की अवाछनीय गतिविधियो (वैदेहक रक्षणय)[31] के विरुद्ध बनाए गए कानूनों का इतना विस्तृत वर्णन किया गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि शिल्पकारों के उत्पाद का बडा महत्त्व था। स्पष्टतः, राजकीय शिल्पकारों और शिल्पकार-संघों के उत्पादों का उपयोग नगरवासी ही नही वरन् ग्रामवासी भी करते थे।

सामान्यतः, गुप्तकाल तक शिल्पकारों और व्यापारियों का संबंध केवल नगरों से था जैसा कि नगरो की स्थापना के संबंध मे कौटिल्य की योजना से स्पष्ट होता है। ऐसा लगता है बसे हुए विकसित क्षेत्रों में नगरों के इर्द गिर्द समूहों में गांव भी बसे हुए होते थे। शहरों के द्वारा गांवो की वस्त्र, तेल, नमक और कृषि उपकरणों आदि शिल्प उत्पादों की आवश्यकता पूरी होती थी; बदले में वे शहरों को कच्चा माल, खाद्यान्न देते थे अथवा नकद देकर सामान खरीदते थे।[32] कौटिल्य ने गांवों के बीच में अनेक प्रकार के शहरी केंद्रों की स्थापना का प्रावधान अपनी योजना में किया है। यह सोचना कि नगर मुख्यतः राजाओं के निवास के लिए ऐसी आबादी के बीच निर्मित किए जाते थे जो मुख्यतः कृषिप्रधान होती थी और जिसका नगरों से कोई आधारभूत संबंध नही होता था प्राचीन काल के भारतीय समाज पर लागू नहीं होता है। इस विषय मे किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता है कि ईसा से पांच शताब्दी पूर्व से तीन शताब्दी बाद अथवा उससे भी बाद तक भारत में अनेक नगर कायम रहे। पुरावशेषो, अभिलेखों, सिक्कों और प्राचीन ग्रंथों से पता चलता है कि ईसा से दो शताब्दी पूर्व से दो शताब्दी बाद तक पश्चिमी भारत में अनेक ऐसे नगर थे जो शिल्प और वाणिज्य में समृद्ध थे। दक्कन के व्यापारियों ने अपने नगरों के नामो का सगर्व उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यापार का और नगरों का ह्रास गुप्तकाल में प्रारंभ हुआ जो बाद के काल में तीव्र हो गया। इसी काल मे राजाओं के सैनिक शिविरो का उल्लेख मिलता है जो 'स्कंधावार' कहलाते थे। पाल राजाओं के नौ और चंदेलों के इक्कीस स्कंधावार थे जहां से भूमि अनुदान सबधी सनद जारी की जाती थीं।

पूर्व मध्यकाल में नगरों में व्यापार की अवनति होने के बाद शिल्पकार ग्रामों मे फैल गए और उन्होने ग्रामो को आत्मनिर्भर बनाने मे योगदान किया। किसानो की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति गांव के शिल्पकार ही करते थे जिसके बदले में उन्हें फसल के अवसर पर निश्चित मात्रा में खाद्यान्न मिलता था। बडे-बड़े मंदिर और भूस्वामी, जिनकी आय किसानों से वसूल की गई मालगुजारी से होती थी, शिल्पकारों को भूमि का अनुदान दे देते थे और बदले मे उनकी सेवाएं प्राप्त करते थे। इस प्रकार, शिल्पकारो में गतिशीलता नही रही और वे कृषि की आवश्यकताओ की पूर्ति में ही लगे रहे और पूर्व मध्यकाल से किसानों को अपनी आवश्यकता की वस्तुओं के लिए अधिकांशतः जजमानी प्रथा पर निर्भर होना पड़ा। फिर भी समस्त आर्थिक गतिविधियां जजमानी व्यवस्था तक ही सीमित नही थीं और प्रायः हाटों का आयोजन होता था जिनमे फेरीवाले जाते थे। इन हाटों से ग्रामवासी आवश्यकता की वस्तुएं लेते थे। अतः ऐसा नही है कि भारतीय समाज के प्रत्येक युग में जजमानी व्यवस्था का जोर था। यहां तक कि मध्यकाल में भी यह प्रथा सर्वव्यापी नही थी। मध्यकाल में आबादी की आत्मनिर्भर इकाइयों की

उत्पत्ति और वृद्धि तो हुई किंतु ये इकाइया इतनी निश्चेष्ट नही थी जितना वर्णित किया गया है।

एशियाई निरकुशवाद की सकल्पना इस पूर्वानुमान पर आधारित है कि उस व्यवस्था में राजा और अफसरशाही के अतिरिक्त कोई अन्य शोषक वर्ग नही होता।[33] जो लोग धर्म की प्रतिबधक भूमिका के पक्षधर हैं वे भी उसके वर्गीय स्वरूप को भूल जाते हैं। प्राचीन भारतीय व्यवस्था मे राजा क्षत्रिय वंश का होता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही शोषक वर्गों के प्रतीक थे। आरंभ में इन दोनों वर्णों के हाथ मे उत्पादन के मुख्य साधन अर्थात् भूमि अधिकांशतः नही होती थी। किंतु वर्ण व्यवस्था की रचना कुछ इस प्रकार की गई थी कि किसानों, शिल्पकारों और व्यापारियों से वसूल किए गए करो और शुल्कों का उपयोग दो उच्च वर्ण के भरण पोषण के लिए होता था। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि गौतम बुद्ध और बाद के युग में इन दोनों ही उच्च वर्णों को सामान्यतः कोई कर नही देना पड़ता था। वैश्यों और शूद्रो की अपेक्षा राजा का दोनों ही वर्णों से अधिक निकट का संबंध होता था क्योंकि इसी से वर्णव्यवस्था द्वारा प्रदत्त उनके विशेषाधिकारों की रक्षा हो सकती थी। जब इन दोनों उच्च वर्णों के विशेषाधिकारो को ऊपर से खतरा आता था तो वे राजा का विरोध भी करते थे। फिर भी, सामान्यतः प्राचीन ग्रंथ यही बतलाते हैं कि इन वर्णों और राजा के बीच, जो क्षत्रिय वर्ण का होता था, सहयोग रहता था। राजा की सत्ता पर आजकल जैसा कोई संवैधानिक प्रतिबध नहीं था, पर उस पर धर्म के अनुसार शासन करने की जिम्मेवारी थी। धर्म की व्याख्या ब्राह्मण समुदाय करता था। राजा उन शक्तियों की उपेक्षा नही कर सकता था जिनके कारण समाज मे उसे मान्यता मिलती थी और समर्थन प्राप्त होता था। एशियाई समाज की रूढ़िबद्ध धारणा ने यह प्रतीत होता है कि ग्रामीण आबादी राजा के *निरकुश शासन के समक्ष असहाय होती थी। किंतु अनेक बौद्ध और ब्राह्मण ग्रंथों* मे ऐसी घटनाओ के उदाहरण मिलते हैं जिनमे ब्राह्मणों ने राजा के विरुद्ध जनविद्रोह का नेतृत्व किया। आरंभिक ईस्वी सदियों में अनुदान में दी गई भूमि के स्वामियों के रूप मे ब्राह्मणों का भूस्वामियों के वर्ग के रूप में क्रमशः उदय हुआ। यद्यपि इन भूस्वामियो का कोई सुसयुक्त वर्ग विकसित नही हुआ तथापि वे शासक पक्ष के महत्त्वपूर्ण अंग बन गए और इससे राजशक्ति को नियंत्रित करने की सभावना बनी।

पश्चिमी विद्वानो द्वारा प्राच्य निरकुशवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन करने का कारण भारतीय औपनिवेशिक इतिहास के अध्येताओं को स्पष्ट दिखाई देता है। इस सिद्धात के प्रतिपादन के द्वारा औपनिवेशिक आक्रमण से पूरा लाभ उठाने की चेष्टा की गई। आक्वेतिलदुपैरो नामक फ्रासीसी प्राच्यविद् ने, जो देशभक्ति से निराश था, लिखा है : "इन देशों का शासन निरंकुश है, वहा सम्राट अपनी प्रजा

की समस्त संपत्ति का स्वयं स्वामी होने की घोषणा कर देता है; हम भी ऐसे ही सम्राट बन जाएं, तो हम भी हिंदुस्तान की समस्त भूमि के स्वामी हो जाएंगे। लालच और लिप्सा की पूर्ति के लिए यही तर्क दिया जाता है यद्यपि इसे छिपाने के लिए कोई न कोई बहाना बनाया जाता है। बहाने के इस झूठे आवरण को नष्ट करना होगा।"[14] स्पष्ट है कि कार्ल मार्क्स ने हेगेल से और भारत के संबंध में औपनिवेशिक लेखकों की रचनाओं से प्रभावित होकर ही प्राच्य निरंकुशवाद के सिद्धांत को अपनाया। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि उसने प्राच्य निरंकुशवाद का अर्थ उत्पादन के साधनों के संदर्भ में खोजने का प्रयत्न किया और हिंदुओं की मानसिकता के संदर्भ में नहीं, जैसा कि मान्टेस्क्यू और हेगेल ने किया।

जिन सामाजिक-आर्थिक मान्यताओं पर 'प्राच्य निरंकुशवाद' का सिद्धांत आधारित है, हमने उनकी आद्य भारत के परिप्रेक्ष्य में परीक्षा करने का प्रयास किया है। हमने सिंचाई, भूमि पर राजा का स्वामित्व, ग्रामों की आत्मनिर्भरता, नगरों के अभाव, विधीलिए वर्गों का अभाव आदि कारणों का भी उल्लेख किया है। ऐसा लगता है कि प्राचीन भारत में निरंकुशवाद की विद्यमानता की पुष्टि के लिए तथ्यों की अवहेलना की गई और राजनीतिक प्रयोजन से इस सिद्धांत के गढ़ने में प्रेरणा मिली। इसमें संदेह नहीं कि ऐतिहासिक शोध में हुई परवर्ती प्रगति के आधार पर, अठारहवीं सदी में प्रतिपादित किए गए प्राच्य निरंकुशवाद के सिद्धांत की आज आलोचना करना सरल है। तथापि, यह सिद्धांत अभी पूर्णतः अस्वीकृत नहीं हुआ है और उसे धर्म की सहायता से फिर जीवित किया जा रहा है। कुछ विद्वान धर्म का सनातन रूप मान कर भारतीय सामाजिक व्यवस्था का वैसा ही रूप प्रस्तुत करते हैं। यदि हम प्राचीन भारत की आर्थिक और सामाजिक संरचना का अध्ययन करें तो विषय को और अच्छी तरह से समझ सकते हैं। इस संदर्भ में कार्ल मार्क्स को इस बात का श्रेय है कि उसने प्राच्य निरंकुशवाद को पश्चिमी प्राच्यविदों की तरह राजस्व पद तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि उसने उत्पादन प्रणाली के विश्लेषण के द्वारा इसके रूप को पहचानने का प्रयत्न किया। भारत के लंबे इतिहास और विस्तृत भूखंड में निरंकुशता कभी-कभी और कहीं-कहीं दिखाई दे सकती है, पर आमतौर पर हमारे मत में इसे देश के संपूर्ण इतिहास पर नहीं थोपा जा सकता है। अपने विश्लेषण द्वारा मार्क्स ने हमें प्राचीन काल में भारत में और एशिया के अन्य भागों में राज्य के सामाजिक-आर्थिक आधार के बारे में सोचने को प्रेरित किया। यदि प्राच्यविद्, जो स्रोतों के अधिक निकट पहुंच सकते हैं, 'निरंकुशवाद' के मुद्दसार पक्ष में रुचि लें तो वे इस विषय में प्रभावी योगदान कर सकते हैं।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 द स्पिरिट ऑफ द लाज, अनुवाद थामस न्यूगेन्ट (द हैफ्नर, न्यूयार्क 1949), 1, पृ 225
2 फिलासफी आफ हिस्ट्री, अनुवाद जे सिब्री (न्यूयार्क, 1944), पृ 154
3 वही, पृ 167
4 वही, पृ 173
5 द स्पिरिट आफ द लाज, 1, पृ 269
6 वही 2, पृ 224-25
7 वही, पृ 225
8 वही, पृ 224
9 कार्ल मार्क्स, हिस्टारिकल राइटिंग्ज, 1, (बंबई, 1944), पृ 593.
10 इरफान हबीब, 'एन एक्जामिनेशन आफ विट्टोफोगेल्स थियरी आफ ओरिएंटल डेस्पोटिज्म,' स्टडीज इन एशियन हिस्ट्री, दिल्ली में 1961 में संपन्न एशियाई इतिहास सम्मेलन (एशिया 1969), पृ 378-92
11 विलियम पी मिचेल, 'द हाइड्रालिक हाईपोथिसेस ए रिएप्रेजल', करेंट एंथ्रोपोलोजी, 14 (दिसंबर 1973), पृ 532-34
12 स्टिवर्ड ने, जिसने 1949 में सिंचाई सिद्धांत प्रतिपादित किया (विटफोगल ने 1955 में पहली बार इसी सिद्धांत को प्रतिपादित किया), कालांतर में उसमें संशोधन किया, देखिए वही, पृ 532 पाद टिप्पणी 11। विटफोगेल के जलीय निरंकुशवाद के संक्षिप्त विवरण और गुण-दोष-विवेचन के लिए देखिए बैरी हिंडस और पाल क्यू हर्स्ट, प्रि कैपिटलिस्ट मोड्स आफ प्रोडक्शन, (लंदन, 1975), पृ 207-20
13 आर एस शर्मा, लाइट आन अर्ली इंडियन सोसाइटी एंड इकानामी, (बंबई, 1966), अ 8
14 रेव रिचर्ड जोन्स, एन ऐसे आन द डिस्ट्रीब्यूशन आफ वेल्थ एंड आन द सोर्सेज आफ टैक्सेशन (पुन मुद्रित, न्यूयार्क, 1956), पृ 114
15 वही, पृ 114-15
16 वही, पृ 113
17 कैपीटल, 3, (मास्को, 1962), पृ 111-12
18 आर ए एल एच गुणवर्दन, द एनेलिसिस आफ प्रि कालोनियल सोशल फोर्मेशस इन एशिया इन द राइटिंग्ज आफ कार्ल मार्क्स, द इंडियन हिस्टारिकल रिव्यू, 2 (1976), पृ 337
19 आर एस शर्मा, इंडियन फ्यूडलिज्म—सन् 300-1200, (कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1965), अ 4
20 वही.
21 डी सी सरकार, सलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, I (कलकत्ता, 1965), न. 84, पंक्ति 4
22 मनुस्मृति, VIII, 39
23. कात्यायन, श्लोक 26.
24 संदर्भ के लिए देखिए यू एन घोषाल, कांट्रीब्यूशन टू द हिस्ट्री आफ द हिंदू रेवेन्यू सिस्टम, (कलकत्ता, 1972), पृ 394
25 वही
26 लक्ष्मण शास्त्री जोशी, धर्मकोश, खंड 1, भाग 1 (वाय 1937), कात्यायन का उद्धरण, पृ

103, हारित का उद्धरण, वही, पृ 106, बृहस्पति का उद्धरण, वही, पृ 99. अर्थशास्त्र, III, 1, में भी ऐसा ही श्लोक है जो मुझे बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है।

27. हेगेल, फिलासफी आफ हिस्ट्री, पृ 154.
28. कार्ल मार्क्स, हिस्टारिकल राइटिंग्ज, 1, पृ 594-96, कैपिटल, 1 (मास्को), पृ 315-52.
29. अर्थशास्त्र, 2, 6
30. वही, 4, 1
31 वही, 4, 2
32 आर एस शर्मा, अर्बन डिके इन इंडिया, लगभग 300-लगभग 1000, दिल्ली, 1987
33 सैद्धांतिक विवेचन के लिए देखिए हिंडस एंड हर्स्ट, प्रि-कैपिटलिस्ट मोड्स आफ प्रोडक्शन, पृ 197-99.
34. लेजिस्लेशन ओरिएंटल, (1778), पृ 178 पेरी एंडर्सन, ली नियेज आफ द सब्सोल्यूटिस्ट स्टेट, (लंदन, 1975) में उद्धृत, पृ 465-66, पाद टिप्पणी 9

परिशिष्ट : 2

गोपति से भूपति : राजा की बदलती हुई स्थिति का सिंहावलोकन

वैदिक ग्रथों मे 'राजन्' शब्द का प्रयोग अनेक बार होने के कारण यह भ्रांति पैदा होती है कि वैदिक काल मे राजा का पद उसी प्रकार से सुस्थापित था जैसे बाद के युगो मे राजतत्र सुप्रतिष्ठित था। वास्तव मे 'राजन्' शब्द की उत्पत्ति जनजातीय है। इसकी व्युत्पत्ति भारत-यूरोपीय मूल शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है बास की जमीन अथवा धार्मिक भवन निर्माण के लिए उपयुक्त स्थल को चुनने के लिए सीधी रेखा मे जाना।[1] 'राजन्' शब्द के समकक्ष लैटिन शब्द 'रेक्स' का अभिप्राय 'सर्वसत्ताधारी' व्यक्ति नही है। इस लैटिन शब्द से ऐसे व्यक्ति का बोध होता है जो रेखाकन करता है, मार्ग दर्शन करता है अर्थात् यह बताता है कि क्या सही है।[2] यद्यपि सस्कृत मे 'राजन्' शब्द की व्युत्पत्ति सामान्यतः 'राज्' (चमकना) अथवा रञ्ज्/रज् (लाल होना, रगना, सज्जित करना, अनुरक्त करना) धातुओं से होती है,[3] नैघुट 2.14 के अनुसार इस धातु का अर्थ जाना[4] भी होता है। इस शब्द का जो अर्थ नैघुट मे दिया गया है वह ग्रीक शब्द 'ओरेगो' के अर्थ के अधिक निकट है जिसका अनुवाद है, 'खीचना', 'लंबा खीचना'।[5] यह उल्लेखनीय है कि नैघुट ने रज्/रञ्ज शब्द का अर्थ 'जाना' बतलाया है, वह 'राजि' के अधिक निकट है। शतपथ ब्राह्मण मे इस शब्द का प्रयोग रेखा[6] के अर्थ में किया गया है और सभवतः इसकी व्युत्पत्ति राज्/रञ्ज्[7] धातु से हुई है। राज्/रञ्ज् और तद्परांत 'राजन्' शब्द का जो अर्थ लगाया गया है वह बिलकुल भिन्न मालूम पडता है। नैतिक और आदर्शवादी आधार पर बाद के ग्रथो मे यह बतलाया गया है कि राजा वह है जो लोगो को खुश रखता है अर्थात् उनका रजन करता है। पर वैदिक काल में 'राजन्' शब्द का यह अभिप्राय नही है। यदि हम 'राजन्' की व्युत्पत्ति 'राज्' (चमकना)[8] धातु से मानें तो भी इसका तात्पर्य होगा अनेक व्यक्तियो मे चमकनेवाला व्यक्ति जिससे राजा होने का उसका औचित्य सिद्ध हो। स्पष्ट है कि ऐसा व्यक्ति केवल अपने शारीरिक बल और सौष्ठव तथा सामरिक उपलब्धियो के कारण ही नही चमकता वरन् अपने बौद्धिक और भावात्मक गुणो के आधार पर भी चमकता है। इन गुणो के सयोग से ही लोग उसे जनजाति का नेता स्वीकार करते हैं।

चाहे हम 'राजन्' शब्द की व्युत्पत्ति रज्/रञ्ज् से माने अथवा राज् से, हमारी

धारणा के अनुसार आरंभ मे इस शब्द से जनजाति के नेता अथवा सरदार का बोध होता था न कि राजा अथवा शक्तिशाली राजतंत्र का जैसा कि सामान्यतः कहा जाता है। यदि भारतीय यूरोपीय[9] उदाहरणों के आधार पर हम 'राजन्' शब्द का अर्थ ऐसे व्यक्ति से लें जो बस्ती बसाने अथवा धर्मस्थल बनाने के लिए रेखा खींच कर जमीन का चुनाव करता है तो ऋग्वेद में सबसे पूर्व उल्लिखित 'राजन्' का आशय कुछ दूसरा ही निकलेगा। वह राजन् जनजातीय नेता होता था जो अपने समुदाय के और कामों के अलावा पुरोहित का काम भी करता था। देवापि और शतनु का उदाहरण इसकी पुष्टि करता है। 'निरुक्त' के अनुसार देवापि ने अपने छोटे भाई शतनु के लिए, जो राजा बन बैठा था, वर्षा का आह्वान किया।[10] 'राजन्' शब्द का अर्थ जनजातीय नेता होने की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि उसके लिए 'जनस्य गोपा'[11] अथवा 'गोपति'[12] बतलाया गया है। दोनों शब्दो का तात्पर्य गौपालक से है। इस शब्द का राजन् के लिए प्रयोग इस कारण होने लगा क्योंकि जाति अथवा 'जन' की रक्षा करना उसका कर्तव्य था। ऋग्वेद में 'जनराजन्' शब्द[13] का भी प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद मे उल्लिखित शब्द 'पञ्चजनाः' अर्थात्, पांच जनों, से हम भली-भांति परिचित हैं। ऋग्वेद में 'जन' शब्द का प्रयोग 275 बार[14] हुआ है जिससे उस काल में जनजातीय समाज के अस्तित्व का बोध होता है। स्पष्टतः, 'जन' शब्द का तात्पर्य जनजाति से है, जिसमें अनेक गोत्र अथवा वंश होते थे। उत्तर वैदिक काल में ये जनजातियां खेती करनेवाले कुटुंबों में और क्रमशः सामाजिक वर्गों में बंट गईं। पर ऐसा होने पर भी यदा-कदा 'जनेश्वर' शब्द का प्रयोग प्रायः राजा अर्थात् नरेश के लिए होता रहा जैसा कि हमें महाभारत के मूल पाठ[15] से और रामायण से भी ज्ञात होता है।

वैदिक काल के राजा के जनजातीय स्वरूप को प्रकट करनेवाला एक अन्य शब्द 'विश्पति'[16] था। विश्पति को प्रदेश अथवा आवास गृह का प्रधान माना जाता है, परंतु इसका वास्तविक तात्पर्य ऐसे वंश के प्रमुख से है जिसमें उसके अपने ही कुटुंब के लोग हों। यह अर्थ उन अनेक पाठ्यांशों से निकाला जा सकता है जिनमे राजा, स्पष्टतः प्रजाजन (अथवा केवल जनता) के 'अधिपति' या 'संरक्षक' के रूप मे आता है।[17] यह भी उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में 'विश्' शब्द का प्रयोग 170 बार किया गया है।[18] यद्यपि इस शब्द का अर्थ 'वंश' अथवा 'बस्ती' माना गया है, किंतु हमारे मतानुसार दोनों में से प्रथम अर्थ अधिकांश पाठ्यांशों के उपयुक्त है। जो भी हो, वैदिक शब्द 'विश्पति' महाकाव्यों में प्रयुक्त 'विशापति' का ही पूर्ववर्ती रूप है। महाभारत के मूल पाठ मे इस शब्द का अधिकतर प्रयोग संबोधन कारक के रूप में किया गया है (विशापति)।[19] यद्यपि महाभारत में उसका प्रयोग जनता के अधिपति के रूप में किया गया है तथापि इससे राजा के जनजातीय और पुरातन स्वरूप का उद्बोधन अधिक होता है। 'विश्पति' की

तुलना 'विट्पति' से भी की जा सकती है जिसका अर्थ है, मानवों में प्रधान अथवा राजा अथवा राजवंश का सदस्य। इस शब्द का प्रयोग महाभारत में मिलता है।[20] यह भी उल्लेखनीय है कि 'विशृम' को 'नाथः' अथवा 'ईश्वर' से मिलाकर संयुक्ताक्षर बनाया जाता है।[21] शतपथ ब्राह्मण और बाद के ग्रंथों में इन संयुक्ताक्षरों का वही अर्थ है जो 'विशांपति' का है। परवर्ती वैदिक काल और वैदिकोत्तर काल के ग्रंथों में 'विशांपति', विट्पति', 'विशमत्ता' अथवा 'विशामीश्वर' से यह प्रकट होता है कि ऋग्वेद में 'विश्पति' का प्रयोग सामान्यतः कुल प्रमुख के रूप में हुआ है, किसी बस्ती के अधिपति के रूप में नहीं। पर जब विश् या कुल किसी एक स्थान पर बस गया तब, स्वाभाविक रूप से, विश्पति को उस स्थान का अधिपति माना जाने लगा। यही बात 'ग्रामणी' के संबंध में हुई। ग्राम पहले वंशगत बंधुओं की टुकड़ी में आया। इसका प्रधान ग्रामणी लड़ाई में नेतृत्व करता था। पर जब ग्राम एक स्थान पर बस गया तो ग्रामणी उस स्थान का अधिपति माना जाने लगा।

वंशगत बस्तियों के प्रमुख का अर्थ दर्शानेवाले कुछ अन्य शब्द भी पाए जाते हैं। यद्यपि वे राजा के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त नहीं हुए तथापि वे दिखलाते हैं कि आरंभ में छोटे-मोटे कई प्रकार के सरदार होते थे। उदाहरणार्थ, 'व्रातपाः'[22] अर्थात् व्रात का संरक्षक प्रत्यक्षतः राजा के जैसा ही जनजातीय नेता रहा होगा। व्रात सैनिक समूह[23] के रूप में एक कुल के सदस्यों का संगठन था; वैदिक सेना ऐसी कुटुंबीय टुकड़ियों से बनती थी। 'पञ्चव्रात'[24] की तुलना 'पञ्चजना' से की जा सकती है, जिसका अर्थ है मानव की पांच जातियां। इससे प्रतीत होता है कि 'व्रात' और 'जन' समानार्थक शब्द थे। हो सकता है कि जन और व्रात प्रत्येक की संख्या पांच से अधिक हो। एक जन अथवा व्रात में कितने लोग होते थे यह कहना कठिन है। कहीं कहीं युद्ध में भाग लेनेवालों की संख्या एक सौ या सवा सौ के लगभग बतलाई गई है। यह अनुमान लगाना कठिन है कि 'गण' की तुलना में 'व्रात' का आकार क्या होता था। एक अवतरण जिसमें योद्धाओं को जमा करने की चर्चा है व्रात का जिक्र पहले करता है और गण का बाद में।[25] 'गण' के नेता को 'गणपति' कहते हैं जिसे एक स्थान पर 'राजन्' भी कहा गया है।[26] 'गणपति', जिसका उल्लेख ऋग्वेद में और उत्तर वैदिक काल के ग्रंथों में[27] प्रायः मिलता है, संभवतः जनजातीय नेता होता था।[28] पूर्व परंपरा के अनुसार महाकाव्यों में प्रयुक्त 'गणेश्वर'[29] भी इसी अर्थ में प्रयोग किया गया होगा।

अंतिम वैदिक काल के ग्रंथों में ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें राजा का क्षेत्रीय और करग्राहक रूप दर्शित होता है। राज्याभिषेक संबंधी संस्कार-विधि में राजा की क्षेत्रीय और जनजातीय भूमिकाओं में परस्पर विरोध दिखाई देता है क्योंकि क्षेत्र का स्थान स्थिर होता था जबकि जाति अपना स्थान बदलती रहती

थी।[30] किंतु क्रमशः राजा का क्षेत्रीय रूप राष्ट्र में सुस्थापित हो गया, राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्ति रज् से हुई है।[31] ऋग्वेद के दशम मंडल मे राजा से राष्ट्र की रक्षा करने का आग्रह किया गया है।[32] उत्तर वैदिक साहित्य मे 'राष्ट्रगोप' शब्द मिलता है जिसका प्रयोग, राज्य के संरक्षक के रूप में, पुरोहित के लिए किया गया है;[33] 'राष्ट्रपति'[34] अर्थात् 'राज्य का स्वामी' का भी इस्तेमाल किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में[35] राजा के लिए राज्य के पालक के रूप मे 'राष्ट्रभृत' शब्द का भी व्यवहार होता है। इसी ग्रंथ में 'राष्ट्रिन्' शब्द का भी प्रयोग है जिसका अर्थ है, 'राज्य पर अधिकार' अथवा 'कब्जा होना'। एक पुराण[36] मे राज्य के रक्षक के लिए 'राष्ट्रपाल' का भी प्रयोग किया गया है।

यद्यपि समुदाय के अर्थ मे, 'जनपद' शब्द का प्रयोग अनेक ब्राह्मणों मे किया गया है[37] किंतु परवर्ती वैदिक ग्रंथो मे ऐसे शब्द का प्रयोग प्रायः नही हुआ है जिससे राजा के जनपद का स्वामी अथवा सरक्षक होने का भाव प्रकट होता हो। महाभारत मे ऐसे शब्दो का प्रयोग अवश्य हुआ है जिनको परवर्ती वैदिक काल पर भी लागू किया जा सकता है। 'जनपदेश्वर' और 'जनपदस्य ईश'[39] शब्द मिलते हैं। रामायण में राजा के अर्थ में 'जनपदाधिप'[40] का प्रयोग हुआ है और पाणिनि ने 'जनपदिन्' का प्रयोग किया है।

परवर्ती वैदिक काल में प्रयुक्त 'राष्ट्रपति' 'राष्ट्रभृत', आदि शब्दों से पता चलता है कि राजा अपने क्षेत्र का संरक्षण करता था, किंतु ऐसे शब्द विरल हैं जो उसके कर-संग्रह प्रकार्यो को प्रदर्शित करते हों। राजा अथवा देवता को स्वेच्छा से दी गई भेंट का बोध करानेवाले शब्द 'बलि' के संयोग से ही संयुक्ताक्षर 'बलिहृत'[41] बना है। ऋग्वेद में कर देनेवाले राजाओं और जनजातियो के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है किंतु बाद के ग्रंथो में राजा के लिए 'विशमत्ता'[42] शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है, कृषकों का भक्षण करनेवाला अर्थात्, अपने भाई-बंधुओं से जबरन कर वसूल करनेवाला। राजा की यह भूमिका उसके अपने समस्त सजातों को संरक्षण प्रदान करने के दायित्व को कमजोर करने लगी; अब इस बात पर जोर दिया जाने लगा कि वह ब्राह्मणो की रक्षा करे। राजा द्वारा कर उगाहने का भाव वैदिक साहित्य में प्रयुक्त 'भोज' शब्द से भी प्रकट होता है। किंतु इस शब्द का प्रयोग उदार और दानशील व्यक्ति के लिए भी किया जाता है।[43] ऐतरेय ब्राह्मण में, जो कि अद्यतन ब्राह्मणों में से है और जिसकी रचना लगभग 600 ई. पू. हुई थी, 'भौज्य' का प्रयोग राज्य की विशिष्ट संरचना के लिए हुआ है।[44] 'भौज्य' की व्युत्पत्ति 'भोज' से ही हुई है।

राजा रक्षक के साथ-साथ भक्षक होता चला जा रहा था। उत्तर वैदिक काल के अनेक ग्रंथों में वर्णित अभिषेक अनुष्ठानों से स्पष्ट होता है कि जनजातीय कृषक वर्ग राजा के कर उगाहने के प्रयत्नों का विरोध करता था,[45] और प्रकटतः उससे

सरक्षण की अपेक्षा करता था। इस अंतर्द्वंद्व का समाधान वैदिकोत्तर काल में वैचारिक स्तर पर किया गया। उस काल के लौह-हल पर आधारित वर्ण विभाजित समाज मे धर्म सूत्रों ने यह सिद्धात प्रतिपादित किया कि प्रजा को सरक्षण प्रदान करने के पारिश्रमिक के रूप में राजा कर लेने का अधिकारी है।[46] वैदिकोत्तर काल के ग्रथों और शास्त्रों में ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनसे राजा का करग्राहक रूप उभर कर आता है। उदाहरणार्थ, 'बलि षड्भागहारिन्',[47] 'भागभुज्'[48], 'षड्भागभाक्'[49], 'षष्ठवृत्ति'[50] आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

वैदिकोत्तर काल में जनजातियां ऐसे अनेक पृथक कृषक परिवारों में बंट गईं जिनका अपना-अपना गृहपति होता था। अब जनजातियों की अपेक्षा कृषि उत्पादन करनेवाली इकाइयों के रूप में परिवारों का महत्त्व बढ़ गया। पेशे के आधार पर शिल्पियों और व्यापारियों के समूह बने। साथ ही क्षत्रियों और ब्राह्मणों का वर्चस्व कायम हुआ। नई स्थिति में राजा का जनजातीय रूप महत्त्व का नही रहा। अब समाज के विभिन्न वर्णों, पेशों इत्यादि को एक साथ चलाने की समस्या आई। अतएव राजा की छवि दूसरे रूप में दिखलाई गई। उसे नई उपाधियां मिली जिनमें इस तथ्य पर बल दिया गया कि वह सभी वर्गों के लोगों का नेता अथवा प्रधान था। 'नृप'[51], 'नृपति'[52], 'नरेश्वर'[53], 'नरेंद्र'[54], 'नराधिप'[55], 'मनुजाधिप'[56] आदि उपाधियों को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। यह उल्लेखनीय है कि जो शब्द राजा के संरक्षक स्वरूप को प्रदर्शित करते थे, उनका प्रयोग आधिपत्य और स्वामित्व के सदर्भ में किया जाने लगा। 'नृपति' में 'पति' शब्द का यही अर्थ प्रचलित था। राजा के लिए प्रयोग किए जानेवाले सभी शब्दों में सामान्यतः उसके स्वामित्व और प्रभुत्व को महत्त्व दिया गया है। उदाहरणार्थ, 'नरेश' का अर्थ है 'नर' का अनुशासक (ईश)।

जनजातीय अवस्था मे लगभग सभी लोग जीवनयापन के साधन जुटाने और उत्पादन कार्य में लगे रहते थे। पर वैदिकोत्तर काल आते-आते इस प्रकार का श्रमविभाजन सुनिश्चित हुआ जिसके अनुसार थोडे-से लोग अनुत्पादक और प्रबधकीय कार्य में लग गए और अधिकांश लोगों को खेती और शिल्प जैसे उत्पादन कार्य में लगाया गया। वर्ण व्यवस्था के द्वारा इस सामाजिक ढांचे को सुदृढ़ किया गया। ब्राह्मण और क्षत्रियों को धर्म और, शासन चलाने का दायित्व मिला और अन्य वर्णों को पैदा करने और कर देने का। विभिन्न वर्णों का धर्म क्या है, इसका प्रावधान धर्मशास्त्रों में किया गया। इस व्यवस्था के अनुसार राजा धर्म अर्थात् विधि का सरक्षक ही नही वरन् धर्म के नष्ट होने पर उसका प्रवर्तक भी बना। अर्थात् वह वर्ण विभाजित समाज का पोषक बना। इसी कारण उसके लिए 'धर्म महाराज' और 'धर्मप्रवर्तक'[57] जैसी पदवियों का प्रयोग किया जाने लगा। 'धर्मराज' की पदवी केवल युधिष्ठिर को ही नही दी गई वरन् जैसा कि ईसा की

प्रारंभिक शताब्दियों के अभिलेखों से प्रकट होता है, अनेक राजाओं ने अपना नाम ही 'धर्मराज'[58] रखा। ईसा की दूसरी शताब्दी के अभिलेख[59] बतलाते हैं कि राजा वर्णव्यवस्था का पोषक और सरक्षक है। इसके बाद राजा के इस कर्तव्य की चर्चा अभिलेखो मे आमतौर पर होने लगी। कलियुग का सामाजिक सकट आरभ होने के बाद राजा के इस दायित्व पर सबसे अधिक बल दिया जाने लगा। ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से चौथी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश के पौराणिक पाठ्यांशो से पता चलता है कि आतरिक सकट के कारण वर्णव्यवस्था बिखरने लगी। इस अवस्था को कलियुग की सज्ञा दी गई। कलि से लोगों का उद्धार करना राजा का पुनीत कर्तव्य बन गया। ईसा के बाद की 4-6 शताब्दियों के अभिलेखो मे स्पष्ट रूप से और बाद के पुरालेखों मे पारपरिक रूप से राजा को वर्णधर्म का पोषक बतलाया गया है। पल्लव राजा सिहवर्मन के लिए 'कलियुग दोषावसन्न—धर्मोद्धारेण सन्नद्ध'[60] (कलियुग के दोषो से अवसन्न धर्म के उद्धार के लिए सन्नद्ध) विशेषण का प्रयोग किया गया है।

राजा के लिए प्रयुक्त पर्यायों के विकास की प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन गुप्तकाल के बाद आया, यद्यपि उसका सूत्रपात मनु ने पहले ही कर दिया था। मनु के अनुसार राजा को कर वसूल करने का अधिकार इसलिए प्राप्त है क्योकि वह 'महीपति'[61] अर्थात्, भूमि का स्वामी है। 'महीपति' की व्याख्या भूमि के सरक्षक के रूप मे भी की जा सकती है; किंतु मनु द्वारा 'भूमेरधिपति' (धरती का स्वामी) शब्द का भी प्रयोग किया गया है।[62] क्षेत्रीय स्वामित्व का विचार पूर्व ग्रंथो[63] मे भी आया है किंतु राजा के कर वसूल करने के अधिकार से उसे, पहली बार, दूसरी शताब्दी मे जोड़ा गया। छठी शताब्दी के शास्त्रकार कात्यायन ने इस स्थिति को और भी स्पष्ट कर उसे निरपवाद रूप दे दिया। कात्यायन के अनुसार, 'भूस्वामिन्'[64] होने के नाते राजा उपज के चतुर्थांश का अधिकारी है। यहां हमे 'महीपति' और 'भूस्वामिन्' के बीच का अतर समझना होगा। स्वामिन् शब्द का रूप शास्त्रीय है और इस रूप मे उसका प्रयोग धर्मशास्त्रो मे किया गया है। अतः, शास्त्रानुसार 'भूस्वामिन्' राजा के भूमि के स्वामित्व को दर्शाता है जो कि गुप्तकाल से पूर्व के ग्रंथो[65] मे स्वामित्व के अर्थ में प्रयोग किए गए अनेक शब्दो से भिन्न हैं। 'स्व' और 'मिन्'[66] के सयोजन से 'स्वामिन्' शब्द की उत्पत्ति का अर्थ समझने से हमें विशेष सहायता नही मिलती क्योंकि पारिवारिक अथवा *भावनात्मक संबंध को दर्शानेवाले अर्थ मे 'स्व' और तत्सबद्ध शब्द का प्रयोग* अनेक भारतीय-यूरोपीय भाषाओं[67] में मिलता है। इससे स्वामित्व और आत्मभाव दोनो का ही बोध होता है। संभव है कि 'स्वामिन्' शब्द, तीन शब्दो अर्थात् स्वा+आम+इन के संयोजन से बना हो जिसका अर्थ होगा, कच्चे माल अथवा संसाधनी का स्वामी।[68] 'स्वामिन्' शब्द की व्युत्पत्ति कुछ भी रही हो, पर यह

शब्द मौर्य काल से पूर्व के ग्रथो मे बहुत कम दिखाई पडता है। अर्थशास्त्र के तीसरे अध्याय मे कौटिल्य ने इस शब्द का प्रयोग 'दास' और 'भृत्य' के विपरीत अर्थ में किया है।[69] अर्थशास्त्र के तीसरे अध्याय मे स्वामित्व के कानूनी (विधिपरक) आधार को सुस्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया गया है। छठे अध्याय में कौटिल्य ने राज्य के साथ अगों का विवरण देते समय राजा अर्थात् सर्वासत्ताधिकारी के पर्याय के रूप मे इसको और भी स्पष्ट कर दिया है।[70] किंतु सभव है कि अर्थशास्त्र का यह भाग बाद मे जोडा गया हो। राजा को स्वामी तो कहा गया है, पर यह स्पष्ट नही होता कि वह भूमि का स्वामी है अथवा नही। जूनागढ़ मे मिले लगभग 150 ई. रुद्रदामन् के अभिलेखों मे 'स्वामिन्' शब्द का प्रयोग किया गया है।[71] आध्र प्रदेश मे मिले 400 ई के अभिलेखो में इस शब्द की पुनरुक्ति हुई है। यद्यपि इन सभी अभिलेखो में राजा के लिए 'स्वामिन्' शब्द का प्रयोग यह दर्शाने के लिए किया गया है कि वह राज्य का मालिक है, भूमि के स्वामित्व के सदर्भ में उसका कही स्पष्ट रूप से प्रयोग नही किया गया है। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द में भूस्वामित्व का अर्थ भी निहित रहा होगा। कात्यायन के न्यायशास्त्र में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

राजा को 'भूस्वामिन्' की उपाधि देकर इस तथ्य को विधि द्वारा मान्यता दी गई कि वह भूमि का स्वामी है। दूसरी ओर, गुप्त काल मे विधि शास्त्रों[72] मे वर्णित भूसपत्ति के विभाजन से सबंधित नियमों से यह प्रकट होता है कि किसानो का भूमि पर वास्तविक कब्जा था। उससे एक प्रकार की न्यायिक द्वैधता उत्पन्न हुई। शबर स्वामी ने जैमिनी कृत मीमासा की टीका मे इस द्वैधता को सुलझाने का प्रयत्न किया है। जैमिनी के मतानुसार भूमि केवल राजा की सपत्ति न होकर[73] सार्वजनिक सपत्ति थी। किंतु इस विचार मे प्राचीन काल अर्थात् लगभग 400 ई पू. की स्थिति की अभिव्यक्ति हुई है। गुप्तकाल मे परिस्थिति बहुत बदल चुकी थी। अत. स्वाभाविक रूप से, शबर ने जैमिनी के मत का खडन किया है। शबर स्वामी का तर्क था कि राजा का भी भूमि पर उतना ही नियत्रण और अधिकार था जितना दूसरो का।[74] इस प्रकार से नारद और कात्यायन दोनों ने ही भूमि पर राजा के स्वामित्व और अन्य व्यक्तियों के कब्जे की बात कही है और इस प्रकार दोनो स्थितियो मे सामजस्य लाने का प्रयत्न किया है।

कात्यायन द्वारा भूमि पर राजा के स्वामित्व का प्रतिपादन किए जाने के अतिरिक्त, गुप्त काल और गुप्तोत्तर काल के काव्यो और अभिलेखो में ऐसे अनेक शब्दो का प्रयोग किया गया है। उनमे भूमि पर राजा के स्वामित्व और नियत्रण को जिस रूप मे अभिव्यक्त किया गया है उस रूप मे पूर्व ग्रथो और अभिलेखो में नही किया गया है। उदाहरणार्थ, 'अवनीश', 'अवनीद्र', 'क्षितिपति', 'क्षितीद्र', 'क्षितीश', 'क्षितेरधिप', 'पार्थिव', 'प्रभुर्भुवः', 'पृथ्वीनाथ', 'भूप', 'भूपति'.

'भुभुज्', 'भूमीश्वर', 'महीपति', 'महीपाल', 'महीद्र', 'महीमहेंद्र', 'उर्वीपति', 'वसुधापति', 'वसुधेश्वर', 'सामंत भूमीश्वर'[75] ऐसे ही शब्द हैं। ऐसे पर्यायवाची शब्द जिनके अंत में 'पो', 'पति' या 'पाल' जुड़ा है, केवल संरक्षण अथवा अधिपतित्व का बोध कराते हैं। महाभारत[76] के मूल पाठ में कुछ ऐसे शब्दों का भी समावेश हुआ है, जो भूमि पर अधिकार अथवा कब्जे का बोध कराते हैं, किंतु पाठ मे उनकी विद्यमानता से ही इस विषय में संदेह होता है कि तत्संबंधी अवतरण अधिकारिक हैं अथवा नही। जिन प्राचीन विशेषणों से राजा का मुख्य संरक्षक होना प्रकट होता हो परवर्ती श्रोतों में उनका परित्याग नहीं हुआ। पुरानी उपाधियों को नए पर्यायों और नई पदवियों से आच्छादित करने का प्रयत्न किया गया जिसके फलस्वरूप राजा द्वारा भूमि का उपभोग करने और उसका स्वामी होने को अधिक महत्त्व मिला।

आदि मध्यकाल के अनेक अभिलेखों, जैन और ब्राह्मणवादी में ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है जो राजा द्वारा भूमि का उपभोग करने और उसका स्वामी होना प्रदर्शित करते हैं। साहित्यिक रचनाओं में भूमि की उपमा राजा की पत्नी से दी गई है जिसका वही पत्नी के समान ही उपभोग करता है। तथापि राजा को भूमि के स्वामित्व की प्राप्ति अनायास ही नहीं हुई; वस्तुतः यह एक लंबी प्रक्रिया थी। इसमे संदेह नहीं कि सामाजिक विकास की आरंभिक अवस्था मे राजा कृषि कार्य करते थे। कहा जाता है कि कृषि का आविष्कार[77] पृथु वैन्य ने किया जो कि प्रथम राजा नियुक्त हुआ था और जिसने अपने शासनाधीन समस्त क्षेत्र का नाम 'पृथ्वी' रखा था। महाकाव्यो की कथा के अनुसार विदेह के राजा जनक ने हल चलाया था जिससे सीता निकली थी; और दुर्योधन से भी बलि की भूमि पर हल चलाने का आग्रह किया गया था। भूमि का कृषि के प्रयोजन के लिए उपयोग आरंभ होने के बाद समाज द्वारा राजा को उसके शौर्य तथा प्रशासनिक और अन्य गुणों के प्रति सम्मानस्वरूप सर्वश्रेष्ठ भूमि आबंटित की गई होगी। यह उसी प्रकार किया गया जिस प्रकार उसे लूट का सबसे बड़ा भाग मिलता था और सर्वश्रेष्ठ हाथी और घोड़े भी उसी के हिस्से में आते थे। अभी कुछ समय पूर्व तक जब जमींदार राजा अपने आसामी किसानों के पास जाता था तो प्रायः किसान, सबसे बढ़िया क़िस्म का धान उगाने के लिए, गांव की सबसे श्रेष्ठ भूमि उसे भेंट में देते थे। मिजोरम के लुशाई जनजातियों में प्रथा थी कि जो लोग खेती में निपुण थे और झुम खेती के लिए अच्छी ज़मीन का पता लगाते थे उनको अपने जनसमुदाय से सर्वश्रेष्ठ भूमि मिलती थी। प्राचीन प्रलेखों अथवा ग्रंथों में जनसमुदाय अथवा समाज द्वारा राजा को भूमि आबंटित किए जाने का उदाहरण नहीं मिला है। तथापि, उसके द्वारा भूमि पर हल चलाने की 'वप्पमंगल' नामक परंपरा जारी रही जिसका उल्लेख पालि ग्रंथों[78] में मिलता है। थाइलैंड का बौद्ध राजा हल चलाने का वार्षिक अनुष्ठान आज भी

संपन्न करता है।

समाज द्वारा भेंट में भूमि दिए जाने के अतिरिक्त युद्ध में भूमि पर जबरन कब्जे, नदी घाटियों की जलोढ़ भूमि और अन्य प्रकार की भूमि को कृषियोग्य बनाने में राजा की पहल के फलस्वरूप भी राजा की भूसंपत्ति में वृद्धि हुई होगी। बाद में, जब *जनजातिया विस्तृत और एकीकृत समुदायों के रूप में बस गई तब जनजातियों के* मुखिया, जो राजन कहलाते थे, भूमि पर जनसमुदाय के अधिकार का व्यक्तिगत प्रतीक बन गए। बहुत समय तक यह अधिकार राजा द्वारा अनुर्वर भूमि का अनुदान दिए जाने तक ही सीमित रहा; किंतु कालांतर में वह 'राजकम् खेतम्' अर्थात् राजा के कब्जे की कृषियोग्य भूमि[79] को भी अनुदान में देने लगा। आदि मध्यकाल में राजा, कृषियोग्य और राजस्व अर्जित करनेवाली भूमि का स्वामी होता था, इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि राजा, 'भोग', 'भोगकर' और 'राजकीय भोग'[80] वसूल करता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त कारणों से मध्यकाल आरंभ होने तक स्थिति मे मौलिक परिवर्तन आया और राजा, जो कि अपनी जाति का मुखिया होता था, एकमात्र भूस्वामी (भूस्वामिन्) मे परिवर्तित हो गया और सामान्यतः भूपति कहलाने लगा। वह अपने कर्मचारियो और समर्थको को अनुदान स्वरूप भूमि देता था किंतु समाज के अग्रणी व्यक्तियो की सहमति से ही ऐसा करता था। जिस लंबी प्रक्रिया के फलस्वरूप राजा, कम से कम सिद्धांत रूप में भूमि का स्वामी बन गया, कि वह प्रक्रिया किन चरणों से गुजरी, यह स्पष्ट नही है। किंतु राजा के लिए प्रयुक्त शब्दों और गुणवाचक विशेषणो के अध्ययन से हम यह अवश्य समझ पाए हैं कि जनजातीय अवस्था का गोपति गुप्तकाल मे भूपति कैसे हो गया।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 एमील बेनवेनिस्ते, इडो-यूरोपियन लैंगुएज एड सोसायटी (लदन, 1973), पृ 311/312
2 वही, पृ 312
3 एम मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इगलिश डिक्शनरी (एतदोपरात सकेत एस ई डी) शब्द देखिए, रज्जू अथवा रज्
4 वही
5 बेनवेनिस्ते, पूर्वोक्त रचना, पृ 309
6 देखिए, राजी, एस ई डी
7 वही
8 देखिए, राज, एस इ डी
9 बेनवेनिस्ते, उपरोक्त रचना, पृ 311-12

10. ए.ए मैकडोनेल तथा ए बी कैथ, वैदिक इंडेक्स आफ नेम्स एंड सब्जेक्ट्स, 2 खंड (लंदन), I, 377
11. वही, I, 269 और पाद टिप्पणी 2
12. सोम को 'गोपति जनस्य'—जनता का रक्षक—कहा गया है ऋ वे. IX, 35.5 वही
13. देखिए जन (ऋ वे I, 53 9) एस ई डी
14 आर एस शर्मा, एस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीट्यूशंस इन एंशिएंट इंडिया, दिल्ली, 1968, पृ 266
15 जय-संहिता अर्थात् उर-महाभारत, I, केशवराम के शास्त्री, गुजरात शोध संस्था द्वारा संशोधित (अहमदाबाद, 1977) (एतदोपरांत ज स), I 124 I, 187 15
16. वैदिक इंडेक्स, II, 308, पाद टिप्पणी 6-9 सहित
17 वैदिक इंडेक्स, II, 305-306
18 शर्मा, 264
19. ज स I 127 15; 145 4, 152 11, 176 33, 187 20, 22, 188 4, 192 17, 194 113 18, 196 23, 197 25, 198 13, 205 5
20 देखिए, विट, एस इ डी
21. देखिए, विश, एस इ डी
22. देखिए, व्रात, एस इ डी
23. वही
24 वही
25 ऋ वे III, 26 6, हमारा मत है व्रात्य ऐसे व्रात का सदस्य था जो आर्य अथवा संस्कृतभाषी नहीं थे, उसी प्रकार का अंतर जन और जन्य में था।
26 ऐतरेय ब्राह्मण, IX.6
27 ऋ वे II.23.2, X 113 9, तैत्तिरीय ब्राह्मण, III 11 4 2, ऐतरेय ब्राह्मण, I.21.
28 वही ऋ वे II 23 I
29 देखिए, गण, एस ई डी
30 शर्मा, पूर्वोक्त रचना, पृ 273
31 देखिए, राष्ट्र, एस ई डी.
32. ऋ वे X 173 1-2, ऋ वे के पूर्व भागों में भी 'राष्ट्र' शब्द का उल्लेख है, II 223.
33 ऐतरेय ब्राह्मण, VIII, 25, वैदिक इंडेक्स II, 223 में उद्धृत
34 देखिए, 'राष्ट्रपति', एस. ई डी
35 VII, 1.1 4
36 देखिए, राष्ट्र, एस ई डी
37. वही.
38. ज. स. I, 177.21.
39. वही, I, 148.3.
40 II, 63 48 एस ई. डी में उद्धृत, पृ 410, खंड 2
41. ऋ वे VII, 6 5, 173 6.
42. ऐतरेय ब्राह्मण, VIII, 17
43. देखिए भोज, एस. ई डी
44. ऐतरेय ब्राह्मण, एस. ई डी में उद्धृत, पृ 768, कालम 2.

45 तैत्तिरीय संहिता, VIII, 7 1 12, X, 4 3 22, XII, 7.3.15 'विश्' और 'क्षत्र' के बीच सघर्ष के अनेक उदाहरण उद्धृत हैं, वैदिक इडेक्स, II, 307 पाद टिप्पणी 12 इस समस्या की चर्चा 'द इडियन हिस्टारिकल रिव्यू', 2, स 1, जुलाई 1975 में प्रकाशित मेरे लेख 'क्लास फार्मेशन एड इट्स मटेरियल बेसिस इन द अपर गैजेटिक बेसिन' (1000-500 ईसा पूर्व) में की गई है।
46 पी वी काण, 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', 3 (द्वितीय आवृत्ति, पुणे, 1973), पृ 27, 189.
47 मनु, VIII, 308
48 मार्कण्डेय पुराण, शब्द भागभुज, एस ई डी में उद्धृत
49 मनु, VIII, 305
50 मोनियर विलियम्स, शाकुतला, पृ 187 शब्द षष्ठ वृत्ति, एस ई डी में उद्धृत
51 ज स I, 176 13, 180 4,12.
52 ज स I, 180 5, 205 16
53 ज स I, 127, II, 175 14
54 मनु, शब्द 'नरेंद्र', एस ई डी में उद्धृत
55 ज स I, 118 4, 136 8, 144 20, 180 4, 197 9, 200 3, 214 1
56 ज स I, 174 12
57 कौटिल्य का अर्थशास्त्र, III, 1 यह पदवी एक श्लोक में प्रयुक्त की गई है जो, सभवत अ शा का अत सबंधित श्लोक है।
58 डी सी सरकार, सलेक्ट इसक्रिपशस, (कलकत्ता,' 1965), I, खड 2, स 9, पंक्ति 2 व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप में इसका प्रयोग इसी ग्रथ के खड 3, स 71-बी, पंक्ति 5-6 में हुआ है। अनेक (बौद्ध) और कुशान राजाओं द्वारा 'धर्म स्थित' शब्द का प्रयोग किया गया (वही, पृ 110, 128)। तथापि, ईसा की दूसरी शताब्दी में अशोक के लिए 'धर्मराज' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है (वही, पृ 528)।
59 गतमीपुत्र शातकर्णि को प्राकृत भाषा में विनिवतित-चातुवण-सकरस कहा गया है सलेक्ट इसक्रिपशस, I, खड 2, स 8, पंक्ति 6
60 सलेक्ट इसक्रिपशस, I, खड 3, स 67, पंक्ति 13
61 VIII, 39 VII, 182
62 VIII, 439
63 पी वी काणे सपा , श्लोक 16
64 वही।
65 महीपति, ज स I 130 9, 177 8, 194 16, वसुधाधिप, I, 125 29
66 देखिए, स्वामिन्, एस ई डी
67 बेनवेनिस्ते, उपरोक्त रचना, पृ 269-272
68 मुझसे चर्चा के दौरान प्रो आर सी पाडेय ने 'स्वामिन्' की व्युत्पत्ति स्वा + आम + इन बताई जिसका तात्पर्य पर्याप्त धन के स्वामी से है। 'स्व' शब्द के भारतीय-यूरोपीय भाषाओं में प्रचलन को देखते हुए स्व+आम+इन अधिक स्वीकार्य व्युत्पत्ति है।
69 अर्थशास्त्र, III, 13
70 वही तथापि 6 1 खड 6 को अर्थशास्त्र का परवर्ती भाग माना गया है। अमरकोश में भी इसी प्रकार सात अगों का वर्णन है जिनमें स्वामिन् का उल्लेख आरभ में ही किया गया है, II 8.
71 सलेक्ट इसक्रिपशस, I, खड 2, स 67, पंक्ति 4
72 लक्ष्मण शास्त्री जोशी, सपा , धर्मकोश, I, 1251-1252, 1201 और 1207

73. VI.7.3 धर्मकोश में उद्धृत, I, 793.
74. VI. 7.3 की टीका उसी में उद्धृत
75. अमरकोश, II.8 में पार्थिव, भूप, महीक्षित, महीभुक्, चक्रवती सार्वभौम आदि पर्याय मिलते हैं।
76. महीक्षित, ज. सं I, 55.26, 179.8, 196 17, 205.1; वसुधाधिप, I, 125 29, पार्थिव, I, 127 17, 180.7; 192.6, 23 आदि; पृथ्वीपति, I, 133.14, पार्थिवेंद्र, I, 180 8, भूमिप, I, 175.13; महीप, I, 180 1; महीपति, I, 130 9; 177.8, 194 16, 205 14
77. देखिए, पृथ्वी, एस. ई डी
78. टी डब्ल्यू. रिह्स डेविड्स तथा विलियम स्टेड, पी टी एस पालि-अंग्रेजी कोश, देखिए, वपामगल।
79. सलेक्ट इसक्रिपशास, I, खंड 2, स 84, पंक्ति 4.
80. इन संदर्भों की चर्चा यू एन घोषाल कृत कंट्रीब्यूशंस टू द हिस्ट्री आफ द हिंद रेवेन्यू सिस्टम में की गई है (कलकत्ता, 1972), पृ 394.

ग्रंथसूची

वैदिक ग्रंथ

'अथर्ववेद संहिता' (शौनक शाखा),

सपा सी. आर लानमान, अनु डब्ल्यू. डी. ह्विट्‌ने, हा. ओ. सि., VII और VIII, हारवर्ड विश्वविद्यालय, 1905। सपा आर. रोथ और डब्ल्यू. डी ह्विटने, बर्लिन, 1856। सायण भाष्य सहित, सपा पंडित एस. पांडुरंग, 4 खंड, बबई, 1895-98/अनु आर टी एच ग्रिफिथ, 2 खड, बनारस, 1916-17.

'आपस्तब श्रौतसूत्र', रुद्रदत्त की टीका सहित, सपा. रिचर्ड गार्बे, 3 खड, कलकत्ता, 1882-1902/अनु डब्ल्यू. कालैंड, 3 खड, गार्ट्टिजन-लाइपजिग-आम्सटर्डम, 1921-1928

'ऋग्वेद ब्राह्मण' ऐतरेय और कौशीतकि ब्राह्मण', अनु ए बी. कीथ, हा. ओ. सि., XXV, हारवर्ड, 1920

'ऋग्वेद संहिता', सायण भाष्य सहित, 5 खड, वैदिक सशोधन मडल, पूना, 1933-51। प्रथम छ. मडल अनु. एच एच. विलसन, लदन, 1850-57/अनु के. एफ. गेल्डनर, कैंब्रिज, मैसाच्युसेट्स, 1951.

'काठक संहिता', अनु लेपोल्ड वान श्रोडर, लाइपजिग, 1900-1910

'कात्यायन श्रौतसूत्र', कर्काचार्य की टीका सहित, सपा मदनमोहन पाठक, बनारस, 1904

'खदिर गृह्यसूत्र', मैसूर, 1913 अनु. एच. ओल्डनबर्ग, से. बु. ई., XXIX, आक्सफोर्ड, 1886

'गोभिल गृह्यसूत्र' अनु एच. ओल्डनबर्ग, से बु ई., XXX ऑक्सफोर्ड, 1892.

'गोपथ ब्राह्मण', अनु. डिके गास्त्रा, लीडेन, 1919.

'छांदोग्य उपनिषद्' मूल अनुवाद और टीका एमिल.सेनर्ट, पेरिस, 1930.

जैमिनीय या तलवकार उपनिषद् ब्राह्मण', i, सपा. रामदेव, लाहौर, 1921.

'तैत्तिरीय ब्राह्मण', सपा एच. एन. आप्टे, आनदाश्रम सस्कृत सिरीज, म. 37, 1898

'तैत्तिरीय संहिता', सपा ए. वेबर, *इंडिश्चेम स्टुडिएन, बैंड 11 और 12*, लाइपजिग, 1871-72, अनु ए बी. कीथ, हा. ओ. सि., XVIII और XIX हारवर्ड, 1914

'(द)' 'तैत्तिरीय संहिता ऑफ दि कृष्ण यजुर्वेद', भट्ट भास्कर मिश्र की टीका सहित, III, मैसूर, 1895
'निघंटु और निरुक्त', संपा. और अनु. लक्ष्मणस्वरूप, मूल, पंजाब विश्वविद्यालय, 1927
अंगरेजी अनु. और टिप्पणी, ऑक्सफोर्ड, 1921
'पारस्कर गृह्यसूत्र', बंबई, 1917
'पंचविंश ब्राह्मण', अनु. डब्ल्यू. कालैंड, कलकत्ता, 1931
'बृहदारण्यक उपनिषद्', शांकरभाष्य सहित, अनु. स्वामी माधवानंद, अलमोड़ा, 1950
'बौधायन गृह्यसूत्र', संपा. आर. शामशास्त्री, मैसूर, 1927
'मैत्रायणी संहिता', संपा. लेपोल्ड वान श्रोडर, लाइपजिग, 1923.
'सामविधान ब्राह्मण', संपा. सत्यव्रत भट्टाचार्य, कलकत्ता 1895.

धर्मशास्त्र और संबद्ध साहित्य

'अभिलाषितार्थ चिंतामणि या मानसोल्लास', संपा. जी. के. श्रीगोंडेकर, गा. ओ. सि., XXVIII और XXXIV, बड़ौदा, 1925-29
'अर्थशास्त्र ऑफ कौटिल्य', संपा. आर. शामशास्त्री, तृतीय संस्क. मैसूर, 1924 (जब तक अन्यथा उल्लिखित न हो तब तक इस पुस्तक में इसी ग्रंथ का संदर्भ माना जाए.) अनु. आर. शामशास्त्री, तृतीय संस्क. मैसूर, 1929. सटीक संपा. टी. गणपति शास्त्री, तीन खंडों में, त्रिवेंद्रम, 1924-25. संपा. जे. जॉली और आर. स्मिट, खंड I, लाहौर, 1924. 'अर्थशास्त्र इलि नौका पॉलिटियी', रूसी में अनु. वी. आई. काल्यानोव, मास्को, 1959. आर. पी. कांगले, 'दि कौटिलीय अर्थशास्त्र', संपादित और अनूदित, 3 भाग, बंबई विश्वविद्यालय 1960-65.

अर्थशास्त्र की टीकाएं

(i) 'जयमंगला' (यह बीच में छोड़-छोड़कर प्रथम अधिकरण के अंत तक है), संपा. जी. हरिहर शास्त्री, ज. ओ. रि., XX-XXIII.
(ii) 'प्रतिपद पंचिका', भट्टस्वामी द्वारा (अधिकरण 2, प्रकरण 8 से), संपा. का. प्र. जायसवाल और ए. बनर्जी-शास्त्री, ज. बि. उ. रि. सो. XI-XII.
(iii) 'नयचंद्रिका', माधव यज्व द्वारा, (अधिकरण VII-XII), संपा. उदयवीर शास्त्री, लाहौर, 1924.
(iv) आचार्य योघ्यम उर्फ मुग्धविलास कृत 'नीतिनिर्णीति,' 'ए फ्रैगमेंट ऑफ दि कॉमेंट्रिऑन' ए फ्रेगमेंट ऑफ दि कौटिल्याज अर्थशास्त्र उर्फ 'राजसिद्धांत', संपा. मुनि जिन विजय, बंबई, 1959.

आपस्तब, गौतम, वशिष्ठ और बौधायन धर्मसूत्र का जी. बुलर कृत अनुवाद, से. बु. ई , II और XIV ऑक्सफोर्ड, 1879-82.

'आपस्तब धर्मसूत्र', सपा जी बुलर, बबई, 1932.

'कात्यायन स्मृति ऑन व्यवहार' (विधि और प्रक्रिया) पुनर्निर्मित पाठ सहित सपादित, टिप्पणी और भूमिका सहित अनु पी. वी काणे, बबई, 1933

'कामदक नीतिसार', त्रिवेंद्रम सस्कृत सिरीज, त्रिवेंद्रम, 1912

'कामदकीय नीतिसार', सपा रा ला. मित्र, बि. इ कलकत्ता, 1884 (अध्या. 3 में चौखभा सस्कृत सिरीज, बनारस के पाठ का अनुसरण हुआ है) अनु एम. एन. दत्त, कलकत्ता, 1896

'गौतम धर्मसूत्र', सपा. ए एस. स्टेंजलर, लदन, 1876, मस्करिन की टीका सहित, सपा एल श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, 1917

'तिरुक्कुरल', अनु वी आर. आर दीक्षितार, दि अड्यार लाइब्रेरी, 1949

'नारदस्मृति' असहाय की टीका के उद्धरण सहित, सपा. जे. जॉली, कलकत्ता, 1885. अनु जे जॉली, से बु ई , XXXIII ऑक्सफोर्ड, 1889

'बार्हस्पत्य सूत्रम्' (अर्थशास्त्र), सपा. एफ. डब्ल्यू थामस, पजाब सस्कृत सीरिज, लाहौर, 1922

'बृहस्पति स्मृति', सपा. के बी रगस्वामी अय्यगार, गा ओ सि , LXXXV, बड़ौदा, 1941. अनु जे. जॉली, से बु ई , आक्सफोर्ड, 1889.

'बौधायन धर्मसूत्र', सपा. ई. हुल्ट्ज, लाइपजिग, 1884

'मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र', सपा. व्ही. एन. माडलिक, बबई, 1886, अनु. जी बुलर, से बु ई , XXV, ऑक्सफोर्ड, 1886

'याज्ञवल्क्य', वीरमित्रोदय और मित्ताक्षरा सहित, चौखभा सस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1930

'वसिष्ठ धर्मशास्त्र', सपा ए ए फ्यूरर, बबई, 1916

'विष्णु स्मृति या वैष्णव धर्मशास्त्र' (नद पडित की टीका से उद्धरण सहित) सपा जे. जॉली, बि इ , कलकत्ता, 1881. अनु जे जॉली, से. बु ई , VII, ऑक्सफोर्ड, 1880.

'शुक्रनीतिसार', सपा जीवानद विद्यासागर, कलकत्ता, 1890.

'समरागन सूत्रधार', 2 खड, सपा टी गणपति शास्त्री, गा. ओ. सि , बड़ौदा, 1924-25.

महाकाव्य, पुराण और अन्य ग्रंथ

'अग्नि पुराण', कलकत्ता, 1882 इस ग्रथ का उपयोग अध्याय 2 को छोड़कर अन्य अध्यायों में किया गया है.

सपा. हरिनारायण आप्टे, आ स. सि , 1900 (इसका उपयोग अध्याय 2 में किया गया

है। अन्य अध्यायों में बि.इं., कलकत्ता वाला पाठ उपयोग में लाया गया है.)
'आदि पर्व', समीक्षित संस्क., भंडारकर, ओरियंटल इंस्टीट्यूट, पूना, 1933.
'कालकाचार्य कथानक', संपा. एच जैकोबी, जेड डी एम जी., 1880.
'कूर्म पुराण' बि.इं., कलकत्ता, 1890
'पदम चरित', बंबई, विक्रम संवत्, 1885
'पंचतंत्र', संपा. एफ एडगर्टन, पूना, 1930
'भागवत पुराण', कुंभकोणम, 1916
'बृहन्नारदीय पुराण', कलकत्ता 1891
'ब्रह्मवैवर्त पुराण', कृष्णजन्म खंड, इलाहाबाद, 1920.
'ब्रह्मपुराण', आ. सं सि , 1895
'ब्रह्मांड पुराण', वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, 1913
'महाभारत'. कलकत्ता संस्क , संपा एन शिरोमणि और अन्य, बि इं., कलकत्ता, 1834-39। अनु के.एम गांगुली, प्रकाशक, पी सी राय, कलकत्ता, 1884-96.
'कुंभकोणम' संस्क., संपा टी आर कृष्णाचार्य और टी आर व्यासाचार्य, बंबई, 1905-1910 समीक्षित संस्क संपा. विभिन्न व्यक्ति, पूना, 1927-1966.
'शांति पर्व', चित्रशाला प्रेस, पूना, 1932
'मार्कंडेय पुराण', संपा रेवरेंड के एम. बनर्जी, बि. इं., कलकत्ता, 1862. अनु. एफ. ई. पार्जीटर, कलकत्ता, 1904
'रामायण', अयोध्याकांड, बंबई, 1913.
'रामायण', बालकांड, बंबई, 1912.
'वायुपुराण', संपा. रा. ला. मित्र, 2 खंड, बि.इं., कलकत्ता, 1880.
'विष्णुपुराण', गीता प्रेस संस्क., गोरखपुर, अनु. एच. एच. विल्सन, 5 खंड, लंदन, 1864-70.
शूद्रक रचित 'मृच्छकटिक', संपा. और अनु. आर. डी. कर्मकार, पूना 1937. अनु. आर. पी. ओलिवर, इलिनोइस, 1938

बौद्ध ग्रंथ

'जातक', टीका सहित, संपा. वी. फॉसबॉल, 7 खंड, (खंड 7 डी. एँडर्सन की अनुक्रमणिका), लंदन, 1877-97. अनु विभिन्न व्यक्ति, 6 खंड, लंदन, 1895-1907.
'दि बुक ऑफ डिसिप्लिन', अनु. आई. बी. हार्नर, 5 भाग, से. बु. ई., लंदन, 1938-52.
'दि लाइफ ऑफ दि बुद्धा', डब्ल्यू. डब्ल्यू. रॉकहिल, लंदन, 1907.
'दीघ निकाय', संपा. टी. डब्ल्यू. राएस डेविड्स और जे. ई कार्पेंटर, 3 खंड, पा. टे. सो., लंदन, 1890-1911. अनु टी. डब्ल्यू राएस डेविड्स, तीन खंड, से. बु. बु., लंदन, 1899-1921.
'दीघ निकाय' (हिंदी), अनु राहुल सांकृत्यायन और जगदीश कश्यप, बनारस, 1936

'दिव्यावदान', सपा. ई. बी. कॉवेल और एफ. ए. नील, कैंब्रिज, 1886
'महावस्तु', सपा. ई. सेनर्ट, 3 खंड, पेरिस, 1882-97.
'मिलिंदपञ्हो', सपा. वी. ट्रेंकनर, लंदन 1928, अनु. टी. डब्ल्यू. डेविड्स, से. बु. ई., ऑक्सफोर्ड, 1890-94
'विनय पिटक', सपा. एच. ओल्डनबर्ग, 5 खंड, लंदन, 1879-1883
'सुमंगल-विलासिनी', (दीघ निकाय की टीका), सपा. टी. डब्ल्यू. राएस डेविड्स और अन्य, तीन खंड, पा. टे. सो., लंदन, 1886-1932.
'सुत्त निपात', सपा. वी. फॉसबॉल, 2 खंड, पा. टे. सो. लंदन, 1885-94

तकनीकी ग्रंथ

'अमरकोश', सपा. ए. डी. शर्मा और एन. जी. सर देसाई, पूना, 1941.
'पतंजलि महाभाष्य', सपा. एफ. किलहॉर्न, 3 खंड, बंबई, 1892-1909.
'पाणिनि-सूत्र-पाठ' और परिशिष्ट, शब्दानुक्रमणिका सहित, एस. पाठक और एस. चित्राओ द्वारा संकलित, पूना, 1935.
'वात्स्यायन कामसूत्र', यशोधर की जयमंगला टीका सहित, सपा. गोस्वामी दामोदर शास्त्री, बनारस, 1929.

सिक्के और अभिलेख

जे. एफ. फ्लीट, इंस्क्रिप्शंस ऑफ दि अर्ली गुप्ता किंग्स', कॉ. इ. इ., III, लंदन, 1885,
स्टेन कोनो 'खरोष्ठी इंस्क्रिप्शंस', कॉ. इ. इ. II, भाग 1, कलकत्ता, 1929.
डी. सी. सरकार, 'सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस बियरिंग ऑन इंडियन हिस्ट्री एंड सिविलाइजेशन', I, कलकत्ता, 1942
'इंडियन एपिग्राफिकल ग्लॉसरी', दिल्ली 1966
ल्यूडर्स लिस्ट ऑफ इंस्क्रिप्शंस, ए. इ., X.
वी. ए. स्मिथ, 'कैटेलॉग ऑफ दि क्वाएंस इन दि इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता', ऑक्सफोर्ड, 1906
वी. वी. मीराशी, 'इंस्क्रिप्शंस ऑफ दि कलचुरि-चेदि एरा', कॉ. इ. इ., IV, दो खंडों में, उटकमंड, 1955
हेनरिख ल्यूडर्स, 'मथुरा इंस्क्रिप्शंस', अप्रकाशित निबंध, सपा. क्लौस एल. जेनर्ट, ई. वाल्डस्मिट की परिचायक टिप्पणी सहित, गार्टिंजेन, 1961.

विदेशी स्रोत

(I) यूनानी

अरस्तू, 'पॉलिटिक्स', अनु. बी. जावेट, ऑक्सफोर्ड, 1905
जे. डब्ल्यू. मैकक्रिंडल, 'एंशियंट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगास्थनीज एंड एरियन',

कलकत्ता, 1926.

प्लेटो, 'लॉज', अनु. आर. जी बरी , 2 खड, दि लोएब क्लासिकल लाइब्रेरी, लदन, 1926.

'दि रिपब्लिक,' अनु. बी. जॉवेट, न्यूयार्क, 1946

हेरोडोट्स, 'दि हिस्ट्रीज.' अनु आबरी दि सेलिकोर्ट, पेंग्विन बुक्स, 1954

(II) चीनी

एच. ए गाइल्स, 'दि ट्रैवेल्स ऑफ फाहियान या रेकर्ड ऑफ बुद्धिस्ट किंगडम्स,' (अनूदित) कैंब्रिज, 1923

जेम्स लेगे, 'ए रेकॅर्ड ऑफ बुद्धिस्टिक किंगडम्स' (चीनी बौद्ध भिक्षु फाहियान का यात्रा वर्णन) अनूदित, ऑक्सफोर्ड, 1886

टी टाकाकुसु, 'ए रेकॅर्ड ऑफ बुद्धिस्ट रिलिजन', ऑक्सफोर्ड, 1896

टी. वाटर्स, 'आन युवान् च्वाङ्स ट्रैवेल्स इन इंडिया', सपा टी डब्ल्यू राएस डेविड्स और एस डब्ल्यू. बुशल, 2 खड, लदन, 1904-5.

सैमुएल बील, 'ट्रैवेल्स ऑफ फाहियान एड सुङ्‌-युन' (अनु) लदन, 1869

'दि लाइफ ऑफ ह्वेनत्साग', लदन, 1888.

हो चाग, चुन्, 'फाहियान्स पिलग्रिमेज टु बुद्धिस्ट कट्रीज', चाइनीज लिटरेचर, 1956, स. 3

संदर्भ ग्रंथ

ए. ए मैक्डोनल और ए. बी. कीथ, 'वेदिक इडेक्स ऑफ नेम्स एंड सब्जेक्ट्स' 2 खंड, लदन, 1912.

कार्ल ब्रमैन, 'एलिमेंट्स ऑफ दि कपरेटिव ग्रामर ऑफ दि इडो-जर्मनिक लैंग्वेजेज', जर्मन से अनु , विभिन्न व्यक्ति, 3 खड, न्यूयार्क, 1888-95.

टी. डब्ल्यू. राएस डेविड्स और डब्ल्यू. स्टेड, 'पालि-इगलिश डिक्शनरी', पा. टे. सो., लदन, 1921.

मोनियर मोनियर-विलियम्स, 'ए सस्कृत इगलिश डिक्शनरी', ऑक्सफोर्ड, 1951.

लक्ष्मण शास्त्री जोशी, 'धर्मकोश', I, (तीन भाग), वै., जिला सतारा, 1937-41.

वी आर. आर. दीक्षितार, 'पौराणिक इडेक्स' (अपूर्ण) मद्रास, 1952.

प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था और तत्संबंधी विषयों के सहायक ग्रंथ

अतीन्द्रनाथ बोस, 'सोशल एड रूरल इकोनॉमी ऑफ नार्दर्न इंडिया' (लग. 600 ई. पू -200 ई.), 2 खड, कलकत्ता, 1945.

अ. स. अल्तेकर, 'स्टेट एड गवर्नमेंट इन एंशियट इंडिया', बनारस, 1949.

'सोर्सेज ऑफ हिंदू धर्म', शोलापुर, 1952.

आर एन मेहता, 'प्री बुद्धिस्ट इंडिया', बम्बई, 1939.

आर. के मुखर्जी, 'अशोक', लदन, 1928.

लोकल गवर्नमेंट इन एंशियंट इंडिया, ऑक्सफोर्ड, 1620.

आगस्ट फिक्, 'इडोजर्मनिशेन', गार्टिजेन, 1871

आर जी बसाक, 'दि हिस्ट्री ऑफ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया, कलकत्ता', 1934

आर सी हाजरा, 'स्टडीज इन दि पौराणिक रेकर्ड्स ऑन हिंदू राइट्स एंड कस्टम्स', ढाका, 1940

'स्टडीज इन दि उपपुरानाज', कलकत्ता, 1958.

ई एम मेडवेडेव, 'के भाप्रोस् ओ फारमैख जेम्लेब्लादेनियाक्स सेबेर्नोए इंदि V, VI-VII वेकाख', 'प्राब्लेमि वोस्तोकोवेदेनिया, 1959 I,पृ. 49-61.

ई जे रैप्सन, संपा 'दि कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया', I, कैंब्रिज, 1922

ई डब्ल्यू हॉपकिंस, 'दि म्यूचुअल रिलेशंस ऑफ दि फोर कास्ट्स एकॉर्डिंग टु दि मानव धर्मशास्त्रम्' लाइपज़िग, 1881

'सोशल एंड मिलिटरी पोजीशन ऑफ दि रूलिंग कास्ट इन एंशियंट इंडिया', जा. अ ओ सो, III, 57-376.

ए एल. बाशम, 'द वडर दैट वाज इंडिया', लदन, 1954

एच आर हॉल, 'दि एंशियंट हिस्टी ऑफ दि नीयर ईस्ट', लदन, 1936

एच. एन सिन्हा, 'सोवरेंटी इन एंशियंट इंडियन पॉलिटी', लदन, 1936.

एच एम काडविक, 'दि हिरोइक एज', कैंब्रिज, 1912.

एच टी कोलब्रुक, मिसलेनियस एसेज', सपा. इ बी. कॉवेल, लदन, 1873.

एच सी राय, 'पोजीशन ऑफ दि ब्राह्मणाज इन दि अर्थशास्त्र', अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन की कार्यवाही, 1924

एच. सी. रायचौधरी, 'पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशियंट इंडिया', कलकत्ता 1950.

एच सी सेठ, 'दि स्पूरिअस इन कौटिल्याज अर्थशास्त्र' ए वॉल्यूम ऑफ इस्टर्न एंड इंडियन स्टडीज प्रेजेंटेड टु प्रोफेसर एफ डब्ल्यू थामस.

एन एन लॉ, 'आस्पेक्ट्स ऑफ एंशियंट इंडियन पॉलिटी', ऑक्सफोर्ड, 1921.

एन एन लॉ. 'रिप्लाइ टु दीक्षितार्स नोट ऑन पौर—जानपद' इ हि क्वा , VI, पृ 183

एन सी. बद्योपाध्याय, 'डेवलपमेंट ऑफ हिंदू पॉलिटी एंड पॉलिटिकल थीअरीज', कलकत्ता, 1927.

कौटिल्य ऑर ऐन एक्सपोजीशन ऑफ हिज सोशल एंड पॉलिटिकल थीअरी कलकत्ता, 1927

एफ ई पार्जीटर, 'इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन', लदन, 1922

एफ ऐंगेल्स, 'दि ऑरिजिन ऑफ दि फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी एंड दि स्टेट', मास्को, 1948

एफ डब्ल्यू कोकर, 'रीडिंग्स इन पॉलिटिकल फिलॉसफी', न्यूयार्क, 1938

एफ मैक्समूलर, 'ए हिस्ट्री ऑफ एंशियंट संस्कृत लिटरेचर', इलाहाबाद, 1917.

ए. बार्थ, 'रिलिजस ऑफ इंडिया', लदन, 1882.

ए. बी. कीथ, 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर', ऑक्सफोर्ड, 1928.

'रिलिजन एड फिलॉसफी ऑफ दि वेदाज', लंदन, 1925.

एमिल सेनर्ट, 'कास्ट इन इंडिया', डिनिसन राश द्वारा फ्रेंच सस्करण 'लेस कास्ट्स डांस एल इदे' (पेरिस 1896) का अनुवाद, लदन, 1939.

एम ई. ड्रोइन 'दि निंबस एड साइस ऑफ डीइफेकेशन ऑन दि क्वाइंस ऑफ दि इडो-सीथियन किंग्स,' रिव्यू न्यूमिज्मैटीक, 1901, पृ 154-66, अनु इ. ए ,1903, पृ. 427 एव आगे

एल. डी बार्नेट, 'एंटिक्विटीज ऑफ इंडिया,' लदन, 1913

एलेक्जेंडर गोल्डेनवाइजर 'एंथ्रोपोलॉजी', न्यूयार्क, 1946.

एस. के आय्यंगार, 'एंशियट इंडिया,' लदन, 1911.

'इवोल्यूशन ऑफ हिंदू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टिट्यूशस इन साउथ इंडिया', मद्रास, 1931.

एस के. चट्टोपाध्याय, 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया', कलकत्ता. 1958.

ए के मैती. 'दि इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नॉर्दर्न इंडिया इन दि गुप्ता पीरियड', कलकत्ता, 1957.

ए. सी. दास, 'लिमिटेड मोनार्की इन एंशियट इंडिया', मॉडर्न रिव्यू, II, 1907.

एस. डी. सिंह, 'एंशियट इंडियन वारफेयर विथ स्पेशल रेफ्रेंस टु दि वैदिक पीरियड', लीडेन, 1965.

एस वी विश्वनाथ, 'इंटरनेशनल लॉ इन एंशियंट इंडिया', लदन 1925.

का प्र. जायसवाल, हिंदू पॉलिटी', 2 भाग, कलकत्ता, 1924.

'हिंदू पॉलिटी'. बगलौर, 1943 (जब तक खास तौर से अन्यथा निर्दिष्ट नही हो, तब तक सभी सदर्भ इसी पुस्तक के होंगे.)

'मनु एड याज्ञवल्क्य', कलकत्ता 1930

के. ए नीलकंठ शास्त्री, सपा 'ए कंप्रिहेंसिव हिस्ट्री ऑफ इंडिया', I, 'दि मौर्याज एड सातवाहनाज', बबई 1957.

'दि प्लेस ऑफ अर्थशास्त्र इन दि हिस्ट्री ऑफ इंडियन पॉलिटी', ए. बी. ओ. आई. आर. XXVIII, 1941

'ऐड्रेस ऑफ दि जेनरल प्रेसिडेट', अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन के 16वें सत्र की कार्यवाही, I, लखनऊ, 1951.

के. जे. विर्जी, 'एंशियट हिस्ट्री ऑफ सौराष्ट्र', बबई, 1952

के. डी. वाजपेयी, 'न्यू फाइंड्स ऑफ दि कुषाण पीरियड फ्राम मथुरा', भारतीय इतिहास कांग्रेस की कार्यवाही, वल्लभविद्यानगर, 1957, पृ. 68-70.

के. वी. रंगस्वामी आय्यंगार, 'इंडियन कैमेरलिज्म', मद्रास, 1949. 'राजधर्म', मद्रास, 1941.

के. सी. ओझा, 'ओरिजिनल होम एड फैमिली ऑफ दि मात्र्याज', जा. गं. रि. इं., IX.

गुन्नर लैंडमैन, 'दि ओरिजिन ऑफ इनइक्वलिटी ऑफ सोशल क्लासेज', लंदन, 1938.

चार्ल्स ड्रेकमायर, 'किंगशिप एड कम्युनिटी इन अर्ली इंडिया,' कैलिफोर्निया, 1962.
जगदीश चद्र जैन, 'लाइफ इन एंशियट इंडिया ऐज डेपक्टेड इन दि जैन कैनस', बबई, 1947
जगदीशलाल शास्त्री, 'पॉलिटिकल थॉट्स इन दि पुराणाज', लाहौर, 1944.
जार्ज थाप्सन, 'एश्च्यूलस एड एथेंस', लदन, 1946.
'स्टडीज इन एंशियट ग्रीक सोसाइटी', I, लदन 1949.
जी एस घुर्ये, 'कास्ट एड क्लास इन इंडिया', बबई, 1950
'कास्ट एड रेस इन इंडिया', लदन, 1932
जे पी शर्मा, 'दि क्वेश्चन ऑफ विदथ इन वैदिक इंडिया', ज रा ए सो., 1065, भाग-1 और 2, 43-56
जे डब्ल्यू स्पेलमैन, 'पॉलिटिकल थीअरी ऑफ एंशियट इंडिया . ए स्टडी ऑफ किंगशिप फ्राम दि अर्लिएस्ट टाइम्स टु सर्का' ए डी. 300, लदन 1964
जेम्स जार्ज फ्रेजर, 'दि गोल्डेन बाउ', लदन, 1922.
जे.सी हीस्टरमैन, 'दि एंशियट इंडियन रॉएल कांसिक्रेशन', हेग, 1957.
टी वी महालिंगम, साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास, 1955.
डब्ल्यू डब्ल्यू टार्न, 'हेलेनिस्टिक सिविलाइजेशन', लेखक और जी. टी. ग्रिफिथ द्वारा पुनरीक्षित, तृतीय सस्क , लदन 1952
डी आर पाटिल, 'कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम दि वायु पुराण', पूना, 1946.
डी आर. भडारकर, 'कार्माइकेल लेक्चर्स', 1918.
'सम आस्पेक्ट्स ऑफ एंशियट हिंदू पॉलिटी', बनारस, 1929.
डी डी कोशाबी, 'एंशियट कोसल एड मगध', ज. ब. ब्रा. रा. ए. सो., न्यू सि , XXVII
'एन इट्रोडक्शन टु स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री', बबई 1956
'दि कलचर एड सिविलाइजेशन ऑफ एंशियंट इंडिया इन हिस्टॉरिकल आउटलाइन', लदन, 1965
द्वि ना झा, 'रेवेन्यु सिस्टम इन पोस्ट मौर्य एड गुप्ता टाइम्स', कलकत्ता, 1967
दशरथ शर्मा, 'डिजार्मिंग ऑफ दि पेजेंट्स अडर दि मौर्याज', इक्वाएरी, स 5, 114-19.
प्राणनाथ, 'इकोनॉमिक कडीशस ऑफ एंशियट इंडिया', लदन, 1929.
पी. एन बनर्जी, 'इटरनेशनल लॉ एड कस्टम इन एंशियट इंडिया', कलकत्ता, 1920
'पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन एंशियट इंडिया', लदन, 1916
पी वी काणे, 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र', II, पूना, 1941.
ब्रजदेव प्रसाद राय, 'पॉलिटिकल आइडियाज एड इंस्टिट्यूशस इन महाभारत' (पी-एच डी., पटना विश्वविद्यालय के लिए शोधप्रबध), 1925
बी. एन. दत्त, 'डाइलेक्टिक्स ऑफ हिंदू रीचुअलिज्म', कलकत्ता 1952. हिंदू लॉ ऑफ इनहेरिटेंस', कलकत्ता, 1957.
'स्टडीज इन इंडियन सोशल पॉलिटी', कलकत्ता 1944

बी. एन. पुरी, 'इंडिया इन दि टाइम ऑफ पतंजलि', बंबई, 1957.
'प्रॉविंशियल एंड लोकल ऐडमिनिस्ट्रेशन इन कुषाण पीरियड', भारतीय इतिहास कांग्रेस की कार्यवाही, अन्नामलाई, 1945, पृ. 62-66
'इंडिया अंडर दि कुषाणाज', बंबई, 1965.
बी. के. सरकार, 'पॉलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड थीअरीज ऑफ दि हिंदूज', कलकत्ता, 1939.
बी बी मिश्र, 'पॉलिटि इन दि अग्नि पुराण', कलकत्ता, 1965
बी. सी. लॉ, इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट ऑफ बुद्धिज्म एंड जैनिज्म', लंदन, 1941.
बी. सी सेन, 'सम हिस्टॉरिकल ऑस्पेक्ट्स ऑफ बंगाल', कलकत्ता, 1942.
बेनीप्रसाद, 'गवर्नमेंट इन एंशियंट इंडिया', इलाहाबाद, 1928
'दि स्टेट इन एंशियंट इंडिया', इलाहाबाद 1928.
यू. एन. घोषाल, 'दि कॉंस्टिट्यूशनल सिग्निफिकेंस ऑफ संघ गण इन दि पोस्ट वैदिक पीरियड', इंडियन कल्चर, VII, 1945
'कंट्रिब्यूशंस टु दि हिस्ट्री ऑफ हिंदू रेवेन्यू सिस्टम', कलकत्ता, 1929.
'हिंदू पॉलिटिकल थीअरीज', कलकत्ता 1923
'ए हिस्ट्री ऑफ हिंदू पब्लिक लाइफ', कलकत्ता 1945, II, (ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन पब्लिक लाइफ), बंबई, 1966.
'ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन पॉलिटिकल आइडियाज', बंबई, 1959.
'दि स्टेट्स ऑफ ब्राह्मणाज इन दि धर्मसूत्राज', इ हि क्वा, XXIII, पृ 83-92
योगेंद्र मिश्र, 'ऐन अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैशाली', दिल्ली, 1962
र. च. दत्त, 'सिविलाइजेशन इन दि ब्राह्मण पीरियड' कलकत्ता रिव्यू, LXXXV, 1887.
र. च. मजुमदार, 'कॉरपोरेट लाइफ इन एंशियंट इंडिया', कलकत्ता, 1918
संपा., 'हिस्ट्री ऑफ बंगाल', I, ढाका, 1943
और अ. स. अल्तेकर, संपा., 'दि. वाकाटक-गुप्ता एज', बनारस, 1954
और ए. डी पुसलकर, संपा., 'हिस्ट्री एंड कलचर ऑफ इंडियन पीपुल', I, दि वैदिक एज', लंदन 1951,
और—II, 'दि एज ऑफ इंपीरियल यूनिटी', बंबई, 1951.
रा. श. शर्मा, 'सम इकोनॉमिक आस्पेक्ट्स ऑफ दि कास्ट सिस्टम इन एंशियंट इंडिया', पटना, 1952.
शूद्राज इन एंशियंट इंडिया', दिल्ली, 1958, द्वितीय संशोधित संस्करण, दिल्ली, 1980
'इंडियन फ्यूडलिज्म', कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1965, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1980
'डिजार्मिंग ऑफ दि पेजेंट्स अंडर दि मौर्याज', इक्वाएरी, सं. 6, 129-33.
रिचर्ड फिक्, 'दि सोशल ऑर्गेनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम्स',

कलकत्ता, 1920.
रोमिला थापर, 'ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया', खंड I, पेंग्विन, 1966.
लेविस एच मॉर्गन, 'एंशियंट सोसाइटी', न्यूयार्क, 1907.
वा. श. अग्रवाल, 'इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि', लखनऊ, 1953.
विल डूराट, 'दि स्टोरी ऑफ सिविलाइजेशन', I, न्यूयार्क, 1942.
विल्हम राउ, 'स्टाट अंड गेसेलशाफ्ट इम अल्टेन इंडियन', वाइसबाडेन, 1957,
विलियम स्मिथ, 'ए स्मॉलर हिस्ट्री ऑफ रोम फ्रॉम दि अर्लिएस्ट टाइम्स टु दि डेथ ऑफ ट्राजन', लदन, 1887.
वी. आर. आर. दीक्षितार, 'दि गुप्ता पॉलिटी', मद्रास, 1952.
'हिंदु ऐडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशंस, मद्रास, 1929.
'मौर्यन पॉलिटी', मद्रास, 1932.
'नोट्स आन दि पौर—जानपद', इं. हि. क्वा., VI, 1930.
'वी. गॉर्डन चाइल्ड, 'मैन मेक्स हिमसेल्फ', लंदन, 1948.
'श्रीपाद अ. डांगे, 'इंडिया फ्रॉम प्रीमिटिव कम्युनिज्म टु स्लेवरी', बंबई, 1949.
श्रीमती एस. स्टिवेंसन, 'दि हार्ट ऑफ जैनिज्म', आक्सफोर्ड, 1915.
हीरेंद्रनाथ मुखर्जी, 'इंडिया स्ट्रगल्स फॉर फ्रीडम', बबई, 1946.
हेनरिख जिम्मर, 'एल्टिंडिश्चस लेबेन', बर्लिन, 1879.

अनुक्रमणी